



ॐ नमः सिद्धेभ्यः

श्रीमद्भगवत्पुष्पदंतभूतबलिसूरिप्रणीतः

षट्खण्डागमः

श्रीमद्भूतबलिसूरिवर्यविरचितः

चतुर्थो वेदनाखण्डः

अथ प्रथम कृति-अनुयोगद्वारम्

(चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारेषु प्रथमानुयोगद्वारम्)

नवमो ग्रन्थः

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका—गणिनीज्ञानमतीविरचिता

गणधरवलयमंत्रसमन्वित-मंगलाचरणनाम

प्रथमो महाधिकारः

मंगलाचरणम्

श्रीऋषभदेवस्तोत्रम्

श्रीछन्दः—(१ अक्षरी)

ॐ, मां। सोऽ-व्यात्॥१॥

मंगलाचरण

श्री ऋषभदेव स्तोत्र

ॐ (ओम्) यह पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्र है, वह मेरी रक्षा करे। अरहंत, अशरीरी—सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि—साधु इन पाँच परमेष्ठी के प्रथम अक्षर से “ओम्” मंत्र बना है, वह ॐ-ओम् मेरी रक्षा करे॥१॥ यह एकाक्षरी ‘श्री’ छन्द है।

स्त्रीछन्दः—(२ अक्षरी)

जैनी, वाणी। सिद्धिं, दद्यात्॥२॥

केसाछन्दः—(३ अक्षरी)

गणीन्द्र !, त्वदंघ्रिं। नमामि, त्रिकालं॥३॥

मृगीछन्दः—(३ अक्षरी)

श्री-जिनैः, संततं। मन्मनः, पूयताम्॥४॥

नारीछन्दः—(३ अक्षरी)

श्री-देवो, नाभेयः। वंदेऽहं, तं मूर्च्छा॥५॥

कन्याछन्दः—(४ अक्षरी)

पूः साकेता, पूता जाता। त्वत्सूतेः सा, सेंद्रैर्मान्या॥६॥

व्रीडाछन्दः—(४ अक्षरी)

महासत्यां, मरुदेव्यां। सुतोऽभूस्त्वं, जगत्पूज्यः॥७॥

लासिनीछन्दः—(४ अक्षरी)

युगादिजो, जिनेश्वरः। ददातु मे, शिवश्रियं॥८॥

सुमुखीछन्दः—(४ अक्षरी)

नाभिनृपः, तेऽस्ति पिता। आदिजिनः, पातु मम॥९॥

सुमतिछन्दः—(४ अक्षरी)

सुखकारी, भवहारी। पुरुदेवो, वस मेऽन्तः॥१०॥

जिनेन्द्रदेव की वाणीरूप शास्त्र मुझे सिद्धि प्रदान करे॥२॥ यह दो अक्षरी “स्त्री” छन्द है।

हे गणधर देव ! मैं आपके चरण कमलों को तीनों कालों में नमस्कार करता हूँ॥३॥ यह तीन अक्षरी “केसा” छन्द है।

श्री जिनेन्द्रदेव नित्य ही मेरा मन पवित्र करें॥४॥ यह तीन अक्षरी “मृगी” छन्द है।

श्री नाभिराजा के पुत्र प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ को मैं सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ॥५॥ यह तीन अक्षरी “नारी” छन्द है।

हे भगवन् ! आपके जन्म लेने से वह अयोध्या नगरी पवित्र हो गई और इन्द्रों तथा देवगणों से मान्य हो गई॥६॥ यह चार अक्षरी “कन्या” छन्द है।

सती शिरोमणि माता मरुदेवी के सुपुत्र आप तीन लोक में पूज्य हैं॥७॥ ये चार अक्षरी “व्रीडा” छन्द है। इस कर्मभूमि के प्रारंभ में जिन्होंने जन्म लिया है, ऐसे वे ऋषभ जिनेश्वर मुझे मुक्तिसम्पदा प्रदान करें॥८॥ यह चार अक्षरी “लासिनी” छन्द है।

अंतिम कुलकर महाराजा नाभिराय जिनके पिता हैं, ऐसे आदिब्रह्मा भगवान ऋषभदेव मेरी रक्षा करें॥९॥ यह चार अक्षरी “सुमुखी” छन्द है।

जो सम्पूर्ण सुखों को देने वाले हैं और संसार के दुःखों से छुड़ाने वाले हैं, ऐसे ऋषभदेव भगवान मेरे हृदय में सदा विराजमान रहें॥१०॥ यह चार अक्षरी “सुमति” छन्द है।

समृद्धिछन्दः—(४ अक्षरी)

ज्ञानसिंधुं, सर्वबंधुं। सर्व सिद्धयै, नौमि नित्यं॥११॥

पंक्तिछन्दः—(५ अक्षरी)

हाटकवर्ण, सदगुण-पूर्णम्। सिद्धिवधूस्त्वां, सा स्म वृणीते॥१२॥

शशिवदनाछन्दः—(६ अक्षरी)

मुनिनुतपादः, त्रिभुवननाथः।

विगलितमोहः, निजसुखमाप्नोत्॥१३॥

मदलेखाछन्दः—(७ अक्षरी)

देवेन्द्रैः परिपूज्यो, योगीन्द्रैरनुचिन्त्यः।

चक्रेशैरभिवंद्यो, वंदे तं वृषभेशम्॥१४॥

अनुष्टुप्छन्दः—(८ अक्षरी)

आषाढेऽसितपक्षे स्याद्, द्वितीया तिथिरुत्तमा।

सर्वार्थसिद्धितश्च्युत्वा, मातुर्गर्भे समागतः॥१५॥

नवम्यां चैत्रकृष्णे त्वं, जन्म प्राप्य प्रजापतिः।

ब्रह्मा सृष्टा विधाताभूद्, युगादौ तीर्थनायकः॥१६॥

चैत्रकृष्णे नवम्यां हि, स्वयंभूर्दीक्षितोऽभवत्।

फाल्गुनेऽसितपक्षेऽभू-देकादश्यां सुकेवली॥१७॥

जो केवलज्ञान के सागर हैं और सर्वजनों के अकारण बंधु हैं, उन्हें मैं सर्वदा अपनी मुक्ति प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ॥११॥ यह चार अक्षरी “समृद्धि” छन्द है।

भगवान् आदिनाथ का वर्ण सुवर्ण सदृश था, वे सर्वगुणों से परिपूर्ण थे अतः सिद्धिकन्या ने उनका वरण किया था, अर्थात् उन्होंने मुक्तिपद को प्राप्त किया है॥१२॥ यह पाँच अक्षरी “पंक्ति” छन्द है।

भगवान् आदिनाथ के चरणों को मुनियों ने भी नमस्कार किया है, वे तीनों लोकों के स्वामी हैं और उन्होंने मोह का सर्वथा नाश कर दिया है, तभी उन्होंने अपने आत्मसुख को प्राप्त किया है॥१३॥ यह छह अक्षरी “शशिवदना” छन्द है।

जो सौ इन्द्रों से पूज्य हैं, योगियों के अधिपति गणधर देव भी जिनका ध्यान करते हैं और चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी जिनकी वंदना करते हैं, ऐसे उन ऋषभदेव तीर्थंकर की मैं वंदना करता हूँ॥१४॥ यह सात अक्षरी “मदलेखा” छन्द है।

भगवान् आदिनाथ आषाढ़ कृष्णा द्वितीया तिथि में सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर माता मरुदेवी के गर्भ में आये॥१५॥

भगवान् आदिनाथ ने चैत्र कृष्णा नवमी के दिन जन्म लेकर इस युग की आदि में सर्वजगत् के प्रजापति, ब्रह्मा, धर्मसृष्टि के स्रष्टा, विधाता और तीर्थ के प्रवर्तक हुए हैं॥१६॥

चैत्र वदी नवमी के दिन ही भगवान् आदिनाथ स्वयं दीक्षा लेकर ‘स्वयंभू’ हुए, पुनः फाल्गुन वदी ग्यारस के दिन केवलज्ञान प्राप्तकर केवली हो गये॥१७॥

माघकृष्णे चतुर्दश्यां, कैलाशे गिरिमस्तके।
 निर्वृतिं परमां लब्ध्वा, सिद्धिकांतापति-र्बभौ॥१८॥
 आयुश्चतुरशीत्यामा, लक्षपूर्व-प्रमाणकः।
 इक्ष्वाकुवंशभास्वान् यो, पुरुदेवो पुनातु मे॥१९॥
 द्विसहस्रकरोत्तुंगो, वृषभो वृषलाञ्छनः।
 जीयात् त्रैलोक्यनाथोऽसौ, स्याद्वादामृतशासनः॥२०॥

शार्दूलविक्रीडितछन्दः — (१९ अक्षरी)

यः क्रोधादिरिपून् विजित्य सहसा, स्वात्मोत्थ-सौख्यामृतं।
 पायं पायमहर्निशं भवभयात्, स्वात्मानमुद्धृत्य वै॥
 त्रैलोक्याग्रपदे धृतश्च, निवसत्यद्याप्यन्तावधि।
 दिश्यात् श्रीऋषभो स एष भगवान्, मे ज्ञानमत्यै श्रियं॥२१॥
 ॥इति ऋषभदेवस्तोत्रम्॥

सिद्धान्तवार्हतः सूरी-नुपाध्यायान् मुनीनपि।

सर्वार्थसिद्धये चैते-ऽवधार्यन्ते स्वमूर्धनि॥१॥

वे माघ वदी चौदस के दिन कैलाश पर्वत से मोक्ष प्राप्तकर मुक्तिरूपी स्त्री के पति हो गये॥१८॥

जिनकी आयु चौरासी लाख वर्ष पूर्व थी, जो इक्ष्वाकु वंश कुल के सूर्य थे, ऐसे आदिनाथ भगवान् मुझे पवित्र करें॥१९॥

जिनके शरीर की ऊँचाई पाँच सौ धनुष — दो हजार हाथ (५००×४=२०००) प्रमाण थी, जिनका चिन्ह बैल का था और जिनका शासन स्याद्वादमयी अमृतमय है, ऐसे तीनलोक के नाथ भगवान् आदिनाथ सदा जयवंत होवें॥२०॥ श्लोक नं. १५ से यहाँ तक आठ अक्षरी “अनुष्टुप्” छन्द का प्रयोग है।

जिन्होंने क्रोध आदि भाव कर्मों को शीघ्र ही जीतकर नित्य ही आत्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृत को बार-बार पीकर संसार के दुःख से अपने आपको निकाल तीनलोक के मस्तक पर विराजमान हो गये हैं, वहाँ आज तक भी व अनंतानंत काल तक वैसे ही विराजमान रहेंगे, ऐसे वे श्री ऋषभदेव भगवान् मुझ ज्ञानमती को मोक्षलक्ष्मी प्रदान करें॥२१॥

भावार्थ — पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने “कल्याणकल्पतरुस्तोत्र” नामसे चौबीस तीर्थकर भगवन्तों का स्तोत्र सन् १९७५ में बनाया था। उसमें एक अक्षरी छंद से लेकर तीस अक्षरी तक छंदों का प्रयोग है। उस पूरे स्तोत्र में १४५ प्रकार के छंदों का प्रयोग है एवं कुल २१३ पद्य हैं। उसी में से यह प्रथम ऋषभदेव का स्तोत्र यहाँ लिया है, इसमें १६ प्रकार के छंद का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार श्री ऋषभदेव भगवान् का स्तोत्र समाप्त हुआ।

श्लोकार्थ — सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके अर्हन्त परमेशी एवं आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेशी को भी नमस्कार करके इन पाँचों परमेशियों को सर्वकार्यों की सिद्धि के लिए हम अपने मस्तक पर धारण करते हैं॥१॥

आदिदेवादिवीरान्तान्, नमामस्तीर्थनायकान्।
 तीर्थकरध्वनिश्चापि, हृदयाब्जेऽवतार्यते॥२॥
 श्रीगौतमगणाधीशं, स्तुमो विघ्नप्रहाणये।
 गणभृद्वलया मन्त्राः, संस्मर्यन्ते स्वबोधये॥३॥
 धरसेन - पुष्पदन्त - भूतबलिगुरुनपि।
 वीरसेनगुरुं नत्वा, धवलाटीकां संस्तुमः॥४॥
 चारित्रचक्रिणं सूरिं, प्रथमं शान्तिसागरम्।
 पट्टसूरिमपि त्रेधा, नुमः श्रीवीरसागरम्॥५॥
 षट्खण्डागमशास्त्रेषु, चतुर्थखण्डनामतः।
 वेदनाखण्डग्रन्थस्य, टीका प्रारभ्यते मया॥६॥

भगवतामादिब्रह्मणां श्रीऋषभदेवानां प्रयागक्षेत्रे वटवृक्षस्याधोऽध्यानस्थितानां दिव्यकेवलज्ञानोत्पत्तिर्बभूव। तत्क्षणे एव सौधर्मेन्द्राज्ञया गगनांगणे धनपतिरचिता समवसरणरचना संजाता। फाल्गुनकृष्णैकादश्यां भगवतां पुरुदेवानां युगादौ दिव्यध्वनिर्निर्जगाद अतएव प्रथमतः सैव तिथिः प्रथमं श्री ऋषभदेवदेशनातिथिः श्रीऋषभदेव-शासनजयंती पर्व बभूव। प्रभूणां प्रथमगणधरश्रीऋषभसेनग्रथितद्वादशाङ्गरचना आविर्बभूव। कर्मभूमेरादौ धर्मतीर्थस्योत्पत्तिर्बभूव, ततः प्रभृति अद्यावधि इदं धर्मतीर्थं जैनशासनं वर्तते, पुनश्च

आदिदेव — प्रथम तीर्थकर भगवान् आदिनाथ-ऋषभदेव से लेकर अंतिम चौबीसवें तीर्थकर भगवान् महावीर तक सभी भगवन्तों को हम नमस्कार करते हैं और तीर्थकर भगवान् की दिव्यध्वनिरूप सरस्वती माता को हृदयकमल में अवतीर्ण करते हैं अर्थात् हृदय में सरस्वती को स्थापित करते हैं॥२॥

समस्त विघ्नों को नष्ट करने हेतु गौतम गणधर की हम स्तुति करते हैं तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए गणधरवल्लय मंत्रों का बारम्बार स्मरण करते हैं॥३॥

श्रीधरसेनाचार्य को एवं पुष्पदन्त-भूतबलि गुरुओं को भी नमस्कार करके श्री वीरसेनाचार्य तथा उनके द्वारा रचित धवला टीका की हम स्तुति करते हैं॥४॥

चारित्रचक्रवर्ती बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य श्री शान्तिसागर महाराज को एवं उनके प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर जी महाराज को भी हम मन-वचन-काय से नमन करते हैं॥५॥

षट्खण्डागम ग्रंथ में वेदनाखण्ड नाम के चतुर्थ खण्ड की सिद्धान्तचिंतामणि टीका मेरे द्वारा प्रारंभ की जा रही है॥६॥

प्रयागक्षेत्र में वटवृक्ष के नीचे ध्यान में स्थित आदिब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान की उत्पत्ति — प्राप्ति हुई थी। उसी क्षण सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से आकाश में धनपति कुबेर द्वारा समवसरण की रचना बनाई गई। फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन युग की आदि में प्रथम बार पुरुदेव भगवान् की दिव्यध्वनि खिरी, इसलिए सर्वप्रथम वही तिथि श्री ऋषभदेव की प्रथमदेशनातिथि श्री ऋषभदेव शासनजयंती पर्व के नाम से प्रसिद्ध हो गई। तीर्थकर प्रभु के प्रथम गणधर श्री ऋषभसेन द्वारा ग्रथित द्वादशांग की रचना भी उसी दिन हुई थी।

कर्मभूमि की आदि में धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई थी, तब से लेकर आज तक यह धर्मतीर्थरूप जैन शासन

पंचकालान्त्यं श्रीवीराङ्गजमुनिपर्यंतं वर्तिष्यते।

यद्यपि श्रीपुष्पदंततीर्थकरात् श्रीधर्मनाथतीर्थकरपर्यंतं मध्ये-मध्ये धर्मतीर्थस्य व्युच्छित्तिरभवत्, तथापि भगवतः षोडशतीर्थकरश्रीशांतिनाथादद्यावधि धर्मतीर्थमव्युच्छिन्नमेव चलति।

संप्रति अन्तिमतीर्थकरस्य श्रीमहावीरस्वामिनः शासनं वर्तते। या दिव्यदेशना श्रीऋषभदेवभगवतां सैव देशना श्रीअजितनाथादिद्वाविंशतितीर्थकराणां, ततश्च सैव दिव्यदेशना श्रीमहावीरस्वामिनोऽस्ति। श्रावण-कृष्णाप्रतिपत्तिथौ राजगृहीतीर्थे विपुलाचलपर्वतस्योपरि प्रथमदेशनाऽभवत्। सा तिथिः वीरशासनजयंतीपर्व संजातम्। एषा षट्खण्डागमग्रंथानां साक्षात्संबंधः श्रीमहावीरस्वामिनो दिव्यध्वनेरस्ति।

प्रोक्तं च श्रीधवलाटीकाकारेण श्रीमद्वीरसेनाचार्येण अस्मिन्नेव वेदनाखण्डनाम्नि ग्रन्थे —

“तदो भूदबलिभडारण सुदण्डपवाहवोच्छदभीरण भवियलोगाणुगहट्टं महाकम्मपयडिपाहुडमुव-संहरिऊण छखंडाणि कयाणि। तदो तिकालगोयरासेसपयत्थविसयपच्चक्खाणंतकेवलणाणप्पभावादो पमाणीभूद-आइरियपणालेणागदत्तादो दिट्ठिडुविरोहाभावादो पमाणमेसो गंथो। तम्हा मोक्खकंखिणा भवियलोण अब्भसेद्वो। ण एसो थोवो त्ति मोक्खकज्जजणणं पडि असमत्थो, अमियघडसयवाणफलस्स चुलुवासियवाणे वि उवलंभादो।”

अतएव एष षट्खंडागमो ग्रंथो भगवन्महावीरदेशनायाः अंश एवेति निश्चेतव्यं अस्माभिः।

चल रहा है और पंचमकाल के अन्त तक श्री वीरांगजमुनिपर्यन्त चलता रहेगा।

यद्यपि श्री पुष्पदंततीर्थकर से श्री धर्मनाथ तीर्थकर तक बीच-बीच में धर्मतीर्थ की व्युच्छित्ति हुई है, फिर भी सोलहवें तीर्थकर श्री शांतिनाथ से लेकर आज तक धर्मतीर्थ अव्युच्छिन्न — अखण्डरूप से ही चल रहा है।

वर्तमान में अंतिम तीर्थकर श्री महावीर स्वामी का शासन चल रहा है। जो दिव्यदेशना श्री ऋषभदेव भगवान की थी, वही देशना श्री अजितनाथ से लेकर बाइस तीर्थकरों की रही और वही दिव्यदेशना श्री महावीरस्वामी की है। उन भगवान महावीर की प्रथम देशना श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन राजगृही तीर्थ के विपुलाचल पर्वत पर खिरी अतः वह तिथि वीरशासन जयंती पर्व के नाम से प्रसिद्ध हुई। इन षट्खण्डागम ग्रंथों का साक्षात् संबंध श्री महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि से है।

धवला टीकाकार श्रीमान् वीरसेनाचार्य ने इसी वेदनाखण्ड नाम के ग्रंथ में कहा है —

“पश्चात् श्रुतरूपी नदीप्रवाह के व्युच्छेद से भयभीत हुए भूतबली भट्टारक ने भव्य जनों के अनुग्रहार्थ महाकम्मपयडिपाहुड का उपसंहार कर छह खण्ड (षट्खण्डागम) रचे। अतएव त्रिकालविषयक समस्त पदार्थों को विषय करने वाले प्रत्यक्ष अनन्तकेवलज्ञान के प्रभाव से प्रमाणीभूत आचार्यरूप प्रणाली से आने के कारण प्रत्यक्ष व अनुमान से चूँकि विरोध से रहित है अतः यह ग्रंथ प्रमाण है। इस कारण मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को इसका अभ्यास करना चाहिए। चूँकि यह ग्रंथ स्तोक है अतः वह मोक्षरूपी कार्य को उत्पन्न करने के लिए असमर्थ है ऐसा विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि अमृत के सौ घड़ों के पीने का फल चुल्लूप्रमाण अमृत के पीने में भी पाया जाता है।”

इसलिए यह षट्खण्डागम ग्रंथ भगवान महावीर की देशना का अंश ही है, ऐसा हम सभी को निश्चय करना चाहिए।

अत्र षट्खण्डागमग्रन्थकर्ता श्रीमद्भूतबलिसूरिवर्यः त्रयखण्डग्रन्थरचनानन्तरं वेदनानाम्नि चतुर्थ-खण्डे प्रागेव श्रीमद्गौतमगणधररचित-णमो जिणाणमित्यादि गणधरवलयमंत्राणां चतुश्चत्वारिंशत्-मंगलसूत्रैर्मंगलाचरणं विधाय पंचचत्वारिंशत्तमे सूत्रे अग्रायणीयपूर्वनामद्वितीयपूर्वस्यान्तर्गतपंचमवस्तुनः चतुर्थप्राभूतकर्मप्रकृतिप्राभूतान्तर्गत-कृति-वेदना-स्पर्श-कर्म-प्रकृत्यादि-चतुर्विंशति-अनुयोगद्वाराणि कथयिष्यन्ति।

एषु अनुयोगद्वारेषु कृति-वेदनानामनी द्वे अनुयोगद्वारे वेदनाखण्डे स्तः, शेषद्वाविंशति-अनुयोगद्वाराणि वर्गणाखण्डे कथयिष्यन्ति।

अहमपि अधुना वेदनाखण्डस्य सिद्धान्तचिंतामणिटीकायां प्रथमकृति-अनुयोगद्वारस्य प्रारम्भे श्रीऋषभदेवस्तवनं अकार्षम्।

अग्रे-अग्रे प्रत्येकानुयोगद्वाराणामारम्भे क्रमशः श्रीअजितनाथादित्रयोविंशतितीर्थकराणां स्तवनेन मंगलाचरणं विधास्यामि इति भावनास्ति। अत एव चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारेषु चतुर्विंशतितीर्थकराणां स्तवनं भविष्यति, एतेषां भगवतां भक्तिरेव मम इमां गीर्वाणीटीकापूर्तिं करिष्यतीति मे विश्वासोऽस्ति।

अस्यां स्तवनरचनायां महापुराणोत्तरपुराणाधारेणैव भगवतां पित्रोर्नामानि जन्मस्थानं निर्वाणस्थानं पंचकल्याणकतिथ्यादयश्च सन्ति इति ज्ञातव्यम्।

वीराब्दे अष्टादशोत्तरपंचविंशतिशततमे कार्तिककृष्णात्रयोदश्यां भगवतां आदिब्रह्मणां शासनप्रचार-करणार्थं भावना संजाता, ततः प्रभृति अद्यावधि सर्वत्र भारते विश्वस्मिंश्च प्रचलति। अद्यत्वे “श्रीऋषभदेव-

यहाँ षट्खण्डागम ग्रंथ के कर्ता श्री भूतबलि आचार्य तीनखण्डरूप रचना के अनन्तर वेदना नाम के चतुर्थ खण्ड में पहले ही श्रीमान् गौतम गणधर द्वारा रचित ‘णमो जिणाणं’ इत्यादि गणधरवलय मंत्रों के चवालिस मंगलसूत्रों के द्वारा मंगलाचरण करके पैतालिसवें सूत्र में आग्रायणीयपूर्व नाम के द्वितीय पूर्व के अन्तर्गत पंचमवस्तु के चतुर्थ प्राभूत कर्मप्रकृति प्राभूत के अन्तर्गत कृति-वेदना-स्पर्श-कर्म-प्रकृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों को कहेंगे।

इन अनुयोगद्वारों में कृति और वेदना नाम के दो अनुयोगद्वार वेदनाखण्ड में हैं, शेष बाईस अनुयोगद्वार वर्गणाखण्ड में कहेंगे।

मैंने भी यहाँ इस वेदनाखण्ड की सिद्धान्तचिंतामणिटीका में प्रथम कृतिअनुयोगद्वार के प्रारंभ में श्री ऋषभदेव का स्तवन किया है।

आगे-आगे प्रत्येक अनुयोगद्वारों के प्रारंभ में क्रमशः श्री अजितनाथ आदि तेईस तीर्थकरों के स्तवन से मंगलाचरण करूँ यह भावना है। इसलिए चौबीस अनुयोगद्वारों में चौबीस तीर्थकरों का स्तवन हो जायेगा। इन भगवन्तों की भक्ति ही मेरी इस संस्कृत टीका की पूर्ति करेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस स्तवन रचना में महापुराण, उत्तरपुराण के आधार से ही भगवन्तों के माता-पिता के नाम, उनके जन्मस्थान, निर्वाणस्थान एवं पंचकल्याणक तिथियाँ आदि हैं, ऐसा जानना चाहिए।

वीर निर्वाण संवत् पच्चीस सौ अठारह (२५१८) में कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी (२३ अक्टूबर १९९२) को आदिब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव के शासन का प्रचार करने की भावना उत्पन्न हुई, तब से लेकर आज तक सर्वत्र भारत

समवसरणश्रीविहारः'' गुर्जरप्रदेशे विहरन् सन् जैनशासनस्य-सार्वभौम-अनादिनिधनत्वं घोषयति^१।

श्री ऋषभदेवादिमहावीरपर्यंतं जैनशासनं सर्वत्र सदैव जयतु इति भावयामहे।

अथ षट्खण्डागमस्य विषयः प्रतिपाद्यते —

अत्रागमे जीवस्थान-क्षुद्रकबंध-बंधस्वामित्वविचय-वेदनाखण्ड-वर्गणाखण्ड-महाबंधाश्चेति षट्खंडा सन्ति।

तेषु प्रथमे जीवस्थानखण्डे सत्प्ररूपणा-द्रव्यप्रमाणानुगम-क्षेत्रानुगम-स्पर्शनानुगम-कालानुगम-अन्तरानुगम-भावानुगम-अल्पबहुत्वानुगमनामानि अष्टौ अनुयोगद्वाराणि नवचूलिकाश्च प्ररूपिताः।

अस्मिन् प्रथमखण्डे षट्ग्रन्थाः सन्ति।

सप्तमे ग्रन्थे क्षुद्रकबंधनाम द्वितीयखण्डमस्ति।

अष्टमे ग्रन्थे बंधस्वामित्वविचयनाम तृतीयखण्डमस्ति।

संप्रति वेदनाखण्ड-वर्गणाखण्डयोर्विषयाः निर्धार्यन्ते —

द्वितीयस्य अग्रायणीय पूर्वस्य चतुर्दशाधिकाराः^२ सन्ति। पूर्वान्त^३-अपरान्त^४-ध्रुव^५-अध्रुव^६-चयनलब्धि^७-अध्रुवसंप्रणिधान^८-कल्प^९-अर्थ^{१०}-भौमावयाद्य^{११}-सर्वार्थ^{१२}-कल्पनिर्याण^{१३}-अतीतकालसिद्ध^{१४}-अनागतकालसिद्ध^{१५}-बुद्धाश्चेति।

में और विश्वभर में प्रचार-प्रसार चल रहा है। आजकल “श्री ऋषभदेवसमवसरण श्रीविहार” नाम का रथ गुजरात प्रदेश में विहार करता हुआ जैनशासन की सार्वभौमिकता और अनादिनिधनता को घोषित कर रहा है।

भगवान श्री ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त जैन शासन सर्वत्र सदैव जयशील होवे, ऐसी हमारी भावना है।

अब षट्खण्डागम का विषय प्रतिपादित किया जाता है —

यहाँ आगम में जीवस्थान-क्षुद्रकबंध-बंधस्वामित्वविचय-वेदनाखण्ड-वर्गणाखण्ड और महाबंध ये छह खण्ड हैं।

उनमें से प्रथम जीवस्थान खण्ड में सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम नाम के आठ अनुयोगद्वार हैं तथा नौ चूलिकाएँ प्ररूपित की गई हैं।

इस प्रथम खण्ड में छह ग्रंथ — पुस्तक हैं।

सप्तम ग्रंथ — पुस्तक में क्षुद्रकबंध नाम का द्वितीय खण्ड है।

अष्टम ग्रंथ — पुस्तक में बंधस्वामित्वविचय नाम का तृतीय खण्ड है।

अब वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्ड के विषय निर्धारित किये जा रहे हैं —

द्वितीय अग्रायणीय पूर्व के चौदह अधिकार हैं —

१. पूर्वान्त, २. अपरान्त, ३. ध्रुव, ४. अध्रुव, ५. चयनलब्धि, ६. अध्रुवसंप्रणिधान, ७. कल्प, ८. अर्थ, ९. भौमावयाद्य, १०. सर्वार्थ, ११. कल्पनिर्याण, १२. अतीतकालसिद्ध, १३. अनागतकालसिद्ध और १४. बुद्ध।

१. २३ अक्टूबर १९९२, धनतेरस के दिन प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में मुझे ध्यान में अयोध्या में विराजमान श्री ऋषभदेव के दर्शन हुए तथा ध्यान के अनन्तर भगवान के महामस्तकाभिषेक की भावना जाग्रत हुई। उसी दिन से लेकर आज तक प्रभु ऋषभदेव के नाम का एवं उनके शासन का प्रचार-प्रसार आज तक हो रहा है। मात्र भारत में ही नहीं, सारे विश्व में जैनधर्म में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव हुए हैं। भगवान महावीर अंतिम तीर्थंकर हैं आदि। २. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित, पु. ९, पृ. २२६।

एभ्यश्चतुर्दशाधिकारेभ्यः 'चयनलब्धि' नाम्नः पंचमवस्तुनः विंशतिप्राभृताः सन्ति। तेषु प्राभृतेषु चतुर्थ 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृतं' नाम कथ्यते।

अस्य महाकर्मप्रकृतिप्राभृतस्य चतुर्विंशति अर्थाधिकाराः सूत्रनिबद्धाः सन्ति।^१ इमानि चतुर्विंशत्यनुयोग-द्वाराणि अपि कथ्यन्ते। तेषां नामानि — कृति-वेदना-स्पर्श-कर्म-प्रकृति-बंधन-निबंधन-प्रक्रम-उपक्रम-उदय-मोक्ष-संक्रम-लेश्या-लेश्याकर्म-लेश्यापरिणाम-सातासात-दीर्घह्रस्व-भवधारणीय-पुद्गलात्त-निधत्तानिधत्त-निकाचितानिकाचित-कर्मस्थिति-पश्चिमस्कंध-अल्पबहुत्वानि चेति।

एतेषां संक्षिप्तलक्षणानि अग्रेऽस्मिन्नेव ग्रन्थे पंचचत्वारिंशत्तमे सूत्रे द्वितीयमहाधिकारे श्रीवीरसेनाचार्यैः कथयिष्यन्ते^२।

अत्र वेदनानाम्नि चतुर्थखण्डे नवमग्रन्थे कृति-अनुयोगद्वारमस्ति। दशमग्रन्थे एकादशग्रन्थे द्वादशग्रन्थे च वेदानुयोगद्वारं वक्ष्यते। एतेषु नवम-दशम-एकादश-द्वादशग्रन्थेषु — चतुःषुग्रन्थेषु वेदानुयोगद्वारापेक्षया वेदनाखण्डनाम चतुर्थखण्डोऽस्ति।

पुनश्चाग्रे-त्रयोदशग्रन्थादारभ्य षोडशपर्यंतं चतुःषु ग्रन्थेषु स्पर्श-कर्म-प्रकृति-बंधनादि-अल्पबहुत्व-पर्यन्तानि द्वाविंशत्यनुयोगद्वाराणि वर्णयिष्यन्ते। अतएव अयं वर्गणाखण्डः कथ्यते।

अस्मिन् वर्गणाखण्डे त्रयोदश-चतुर्दश-पंचदश-षोडशग्रन्थाः भविष्यन्ति इति ज्ञातव्यं भवद्भिः।

संप्रति ग्रन्थस्य पातनिका कथ्यते —

अथ षट्खंडागमे वेदनानामधेये चतुर्थखण्डे कृति-अनियोगद्वारे द्वौ महाधिकारौ स्तः। तत्रादौ प्रथमे

इन चौदह अधिकारों में 'चयनलब्धि' नाम की पंचम वस्तु के बीस प्राभृत हैं। उन प्राभृतों में चतुर्थ प्राभृत 'महाकर्मप्रकृति प्राभृत' नाम का कहा गया है।

इस महाकर्म प्रकृति प्राभृत के चौबीस अर्थाधिकार सूत्र निबद्ध हैं। उन चौबीसों अनुयोगद्वारों को भी कहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं —

कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, बंधन, निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सातासात, दीर्घह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्त, निधत्तानिधत्त, निकाचितानिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिमस्कंध और अल्पबहुत्व।

इन सभी के संक्षिप्त लक्षण आगे इसी ग्रंथ में द्वितीय महाधिकार के ४५वें सूत्र की धवला टीका में श्री वीरसेनाचार्य द्वारा कथित के अनुसार यहाँ भी कहेंगे।

यहाँ वेदना नाम के चतुर्थ खण्ड में इस नवमं ग्रंथ में कृति अनुयोगद्वार का वर्णन है। दशवें, ग्यारहवें और बारहवें ग्रंथ में वेदानुयोगद्वार कहेंगे। इन नवमं-दशवें, ग्यारहवें और बारहवें इन चार ग्रंथों में वेदानुयोगद्वार की अपेक्षा वेदनाखण्ड नाम का चतुर्थ खण्ड कहलाता है।

पुनः आगे तेरहवें ग्रंथ से लेकर सोलहवें तक चार ग्रंथों में स्पर्श-कर्म-प्रकृति-बंधनादि-अल्पबहुत्वपर्यन्त बाईस अनुयोगद्वारों का वर्णन करेंगे। अतएव यह वर्गणाखण्ड कहलाता है।

इस वर्गणाखण्ड में तेरह-चौदह-पन्द्रह और सोलह नम्बर के चार ग्रंथ रहेंगे, ऐसा समझना चाहिए।

अब इस नवमं ग्रंथ की पातनिका कही जा रही है —

इस षट्खण्डागम में वेदना नामक चतुर्थखण्ड में कृति अनुयोगद्वार नाम के पहले अनुयोगद्वार में दो

महाधिकारे गौतमस्वामिमुख-कमलविनिर्गतगणधरवलयमंत्रनामानि णमो जिणाणमित्यादि मंगलाचरणरूपाणि चतुश्चत्वारिंशत् सूत्राणि सन्ति। ततः परं द्वितीयमहाधिकारे अस्य ग्रन्थस्य प्रतिपाद्यविषयप्रतिपादनपराणि “अग्गेणियस्स पुव्वस्स” इत्यादीनि द्वात्रिंशत्सूत्राणि सन्तीति। एवं अनेकान्तरस्थलगर्भितषट्सप्ततिसूत्रैः एतौ द्वौ महाधिकारौ भवत इति कृतिअनियोगद्वारस्य व्याख्याने समुदायपातनिका भवति।

अत्रापि पंचदशस्थलैः चतुश्चत्वारिंशत्सूत्रैः प्रथममहाधिकारोऽस्ति तत्र प्रथमस्थले द्रव्यार्थिकनयप्रधानेन मंगलाचरणरूपेण जिननाम्ना संयतानां नमस्करणार्थं ‘णमो’ इत्यादि गाथासूत्रमेकं। ततः पर्यायार्थिकनय-प्रमुखत्वेन द्वितीयस्थले महामुनीनामवधिज्ञानविशिष्टानाम् वंदनाकरणार्थं ‘णमो ओहि’ इत्यादिना त्रीणि सूत्राणि कथयिष्यन्ते। तदनु तृतीयस्थले ‘अनन्तावधिनाम्ना केवलज्ञानिमहाप्रभूनां नमस्करणार्थं ‘णमो अणंतोहि’ इत्यादिना एकं सूत्रं। ततश्च चतुर्थस्थले मतिज्ञानर्द्धिसहितानां महामुनीनां वंदनार्थं ‘णमो कोट्टु’ इत्यादिचतुःसूत्राणि। पुनः पंचमस्थले मनःपर्ययज्ञानर्द्धिमुनीनां नमस्करणार्थं ‘णमो उजुमदीणं’ इत्यादिसूत्रद्वयं। तत्पश्चात् षष्ठस्थले श्रुतज्ञानर्द्धिसहित-पूर्वधराणां वंदनार्थं ‘णमो दस’ इत्यादिना सूत्रद्वयं। तदनंतरं सप्तमस्थले निमित्तविक्रियाद्यनेकर्द्धिसमन्वितमहासाधूनां भक्तिप्रदर्शनार्थं ‘णमो अट्टंग-’ इत्यादिना अष्टौ सूत्राणि। ततश्चाष्टमस्थले उग्रतपोदीप्त आदितपःऋद्धि विशेषधारकानां महर्षीणां तपःशुद्धिहेतुवंदनाकरणार्थं ‘णमो उग-’ इत्यादि पंच सूत्राणि। तत्पश्चात् नवमस्थले घोरपराक्रमादि-गुणर्द्धिसमन्वितमहातपस्विनां नानाभयनिवारणहेतुवंदनाभक्त्यर्थं ‘णमो घोर-’ इत्यादिसूत्रत्रयं। तदनु दशमस्थले औषधर्द्धिसम्पन्नमहर्षीणां

महाधिकार हैं। उसमें प्रारंभ में प्रथम महाधिकार के अन्दर श्री गौतमस्वामी के मुखकमल से विनिर्गत गणधरवलय मंत्र के नाम से “णमो जिणाणमित्यादि मंगलाचरणरूप चवालिस सूत्र हैं। इसके पश्चात् द्वितीय महाधिकार में इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय प्रतिपादन करने की मुख्यता वाले “अग्गेणियस्स पुव्वस्स” इत्यादि बत्तीस सूत्र हैं। इस प्रकार अनेक अन्तरस्थलों से सहित अठत्तर सूत्रों में ये दोनों महाधिकार निबद्ध हैं। इस प्रकार कृति अनुयोगद्वार के व्याख्यान में सूत्रों की समुदायपातनिका कही गई है।

यहाँ भी पन्द्रह स्थलों में चवालिस सूत्रों से सहित प्रथम महाधिकार है। उनमें से प्रथम स्थल में द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता से मंगलाचरण रूप जिननाम से संयतों — मुनियों को नमस्कार करने के लिए ‘णमो’ इत्यादि एक गाथा सूत्र है। पुनः पर्यायार्थिकनय की प्रमुखता वाले द्वितीय स्थल में अवधिज्ञान से सहित विशेष महामुनियों की वंदना करने हेतु “णमो ओहि” इत्यादि तीन सूत्र कहेंगे। आगे तृतीय स्थल में अनन्तावधि नाम से केवलज्ञानी महाप्रभु भगवन्तों को नमस्कार करने हेतु “णमो अणंतोहि” इत्यादिरूप से एक सूत्र है। पश्चात् चतुर्थस्थल में मतिज्ञान की ऋद्धियों से सहित महामुनियों की वंदना करने के लिए ‘णमो कोट्टु’ इत्यादि चार सूत्र हैं। पुनः पंचम स्थल में मनःपर्ययज्ञान की ऋद्धि से समन्वित मुनियों के नमस्कार हेतु ‘णमो उजुमदीणं’ इत्यादि दो सूत्र हैं। तत्पश्चात् छठे स्थल में श्रुतज्ञानऋद्धिसहित पूर्वधर मुनियों की वंदना हेतु “णमो दस” इत्यादि दो सूत्र हैं। तदनंतर सातवें स्थल में निमित्त, विक्रिया आदि अनेक ऋद्धि समन्वित महासाधुओं के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने हेतु “णमो अट्टंग” इत्यादि आठ सूत्र हैं। आगे आठवें स्थल में उग्रतप, दीप्ततप आदि तपोऋद्धि सहित महासाधुओं — महर्षियों को अपनी तपःशुद्धि हेतु वंदना करने के लिए ‘णमो उग’ इत्यादि पाँच सूत्र हैं। तत्पश्चात् नवमें स्थल में घोर-पराक्रम आदि गुणऋद्धि समन्वित महातपस्वियों को नाना प्रकार के भय निवारण हेतु वंदना-भक्ति करने हेतु “णमो घोर” इत्यादि तीन सूत्र हैं। उसके बाद दशवें स्थल में औषधि ऋद्धि सम्पन्न महर्षियों को अपने उत्तम आरोग्य की प्राप्ति हेतु वंदना करने

परमारोग्यप्राप्तिहेतवे वंदनार्थ 'णमो आमोसहि-' इत्यादि सूत्रपञ्चकं। ततश्चैकादशमस्थले आत्मबलवृद्धि-कारकानां त्रिविधबलवृद्धिप्राप्तमहातपस्विनां नमस्कारकरणार्थ 'णमो मण'-इत्यादिना सूत्रत्रयं। तत्पश्चाद् द्वादशमस्थले रसवृद्धिधारकमहामुनीनां वंदनार्थ 'णमो खीर' इत्यादिसूत्रचतुष्टयं। तदनंतरं त्रयोदशमस्थले भोज्यवस्तु-आवासाक्षीणकरणसमर्थ-अक्षीणवृद्धि-सहितानां साधूनां भक्त्यर्थ 'णमो अक्खीण-' इत्यादिसूत्रमेकं। पुनश्च चतुर्दशमस्थले सिद्धायतनस्वरूपकृत्रिमाकृत्रिमजिनमंदिरनिर्वाणभूम्यादीनां नमनकरणार्थ 'णमो सिद्धा-' इत्यादिसूत्रमेकं। तत्पश्चात् पंचदशमस्थले वर्तमानकाले जिनशासनस्वामिश्रीमद्भगवद्वर्धमान-नामान्तिमतीर्थकरप्रणमनार्थ कृतज्ञताज्ञापनहेतुश्च श्रीमद्गौतमस्वामिगणधरदेवेन नमस्कारास्यान्तिमसूत्रे 'णमो वड्डमाण' इत्यादिसूत्रमेकमिति पञ्चदशस्थलैः प्रथममहाधिकारे इयं समुदायपातनिका सूचिता भवति।

अधुना जिनशासनस्यान्तिमतीर्थकरवर्धमानसन्मतिवीरातिवीरमहावीरपञ्चनामसमन्वितान्तरंगानन्तचतुष्टय-बहिरंगसमवसरणविभूतिविभूषितदेवाधिदेवस्य प्रथमशिष्य-इन्द्रभूतिनामप्रथमगणधरदेवेन श्रीमद्गौतमभट्टारकेण महाकर्म-प्रकृतिप्राभृतस्यादौ कृतान् गणधरवलयमन्त्रान् संग्रहीतुकामेन श्रीमद्भूतबलिसूरिणा द्रव्यार्थिकनयाश्रित-जनानामनुग्रहार्थ नमस्कारसूत्ररूपोऽयं प्रथमो मन्त्रोऽवतार्यते —

णमो जिणाणं॥१॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — 'जिनेभ्यो नमः' एतेन मन्त्रेण पञ्चगुरूणां तेषां स्थापनानां च नमस्कारः

के लिए "णमो आमोसहि" इत्यादि पाँच सूत्र हैं। पुनः ग्यारहवें स्थल में आत्मबल की वृद्धि कराने वाले तीन प्रकार की बलवृद्धि को प्राप्त महातपस्वियों को नमस्कार करने हेतु "णमो मण" इत्यादि तीन सूत्र हैं। तत्पश्चात् बारहवें स्थल में रस वृद्धि धारक महामुनियों की वंदना करने हेतु "णमो खीर" इत्यादि चार सूत्र हैं। तदनंतरं तेरहवें स्थल में भोज्य वस्तु एवं आवास को अक्षीण करने में समर्थ अक्षीण वृद्धि सहित महासाधुओं की भक्ति करने के लिए "णमो अक्खीण" इत्यादि एक सूत्र है। पुनश्च चौदहवें स्थल में सिद्धायतनस्वरूप कृत्रिम-अकृत्रिम जिनमंदिर एवं निर्वाणभूमि आदि को नमन करने हेतु "णमो सिद्धा" इत्यादि एक सूत्र है। तत्पश्चात् पन्द्रहवें स्थल में वर्तमानकाल में जिनशासन के स्वामी श्रीमान् भगवान् वर्धमान नाम के अंतिम तीर्थकर भगवान् महावीर को प्रणमन करने हेतु और कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु श्री गौतम स्वामी गणधरदेव के द्वारा नमस्कार किये गये अंतिम सूत्र में 'णमो वड्डमाण' इत्यादि एक सूत्र है। इस प्रकार पन्द्रह स्थलों से सहित प्रथम महाधिकार में यह चवालिस सूत्रों की समुदायपातनिका सूचित की गई है।

अब जिनशासन के अंतिम तीर्थकर वर्धमान-सन्मति-वीर-अतिवीर और महावीर इन पाँच नामों से समन्वित, अन्तरंग में अनन्तचतुष्टय और बहिरंग समवसरण विभूति से विभूषित देवाधिदेव भगवान् के प्रथम शिष्य, इन्द्रभूति नाम के प्रथम गणधरदेव श्रीमान् गौतम स्वामी भट्टारक के द्वारा महाकर्म प्रकृति प्राभृत की आदि में रचित गणधरवलय मंत्रों को संग्रह करने की इच्छा से श्रीमद् भूतबली आचार्य के द्वारा द्रव्यार्थिक नय का आश्रय लेने वाले लोगों पर अनुग्रह करने हेतु नमस्कार सूत्ररूप यह प्रथम मंत्र अवतरित किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

जिनों को नमस्कार हो॥१॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — 'जिन को नमस्कार हो' इस मंत्र के द्वारा पंच परम गुरुओं को एवं उनकी

कृतः, सर्वेषामत्र संभवात्।

कथ्यते च श्रीवीरसेनाचार्येण — “एदेण पंचगुरूणं तद्ववणाणं च णमोक्कारो कदो, सव्वेसिमेत्थ संभवादो। तं जहा — जिणा दुविहा सयल-देसजिणभेएण। खवियघाइकम्मा सयलजिणा। के ते ? अरहंत-सिद्धा। अवरे आइरिय-उवज्झाय-साहू देसजिणा, तिब्बकसाइंदिय-मोहविजयादो।”

किमर्थमिदं नमस्कारसूत्रमुच्यते ?

मंगलार्थं कथ्यते।

किं मंगलम् ?

पूर्वसञ्चितकर्मणां विनाशो मंगलम्।

कश्चित् तर्कशीलः शिष्यः प्राह —

यद्येवं तर्हि जिनवचनविनिर्गतार्थात् अविसंवादेन केवलज्ञानसमानात् वृषभसेनादिगणधरदेवैर्विरचित-शब्दरचनारूपद्रव्यसूत्रात् तत्पठनमननक्रियायां व्यापृतानां सर्वजीवानां प्रतिसमयमसंख्यातगुणश्रेणीरूपेण पूर्वसञ्चितकर्मनिर्जरा भवतीति निष्फलमिदं सूत्रं। अथवा सफलमिदं, तर्हि निष्फलं सूत्राध्ययनं, किं च तस्मात् समुत्पद्यमानकर्मक्षयस्यात्रैवोपलम्भो भवेदिति ?

अस्य समाधानस्य चिकीर्षयाचार्यदेवेन उच्यते —

स्थापना को नमस्कार किया गया है, क्योंकि यहाँ सभी में उस जिनत्व की संभावना पाई जाती है।

जैसाकि श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है —

इस सूत्र के द्वारा पंचपरमगुरुओं और उनकी स्थापनाओं को नमस्कार किया गया है, क्योंकि यहाँ सभी की संभावना है। वह इस प्रकार है — सकलजिन और देशजिन के भेद से जिन के दो भेद हैं, जिन्होंने घातिया कर्मों का क्षय कर दिया है, वे सकलजिन कहलाते हैं।

वे कौन हैं ? अरिहंत और सिद्ध। इतर — अन्य आचार्य, उपाध्याय और साधु देशजिन होते हैं, क्योंकि उन्होंने तीव्र कषाय, इन्द्रिय एवं मोह पर विजय प्राप्त कर लिया है।

शंका — यह नमस्कारसूत्र किसलिए कहा गया है ?

समाधान — यह नमस्कार सूत्र मंगल के लिए कहा गया है।

शंका — मंगल का क्या अर्थ है ?

समाधान — जिससे पूर्व संचित कर्मों का विनाश होता है, वह मंगल कहलाता है।

यहाँ कोई तर्कशील शिष्य प्रश्न करता है —

यदि ऐसा है तो जिनसूत्रों का अर्थ जिनेन्द्र भगवान के मुख से निकला हुआ अर्थ है, जो विसंवादरहित होने के कारण केवलज्ञान के सदृश है तथा वृषभसेन आदि गणधरदेवों के द्वारा जिनकी शब्दरचना की गई है, ऐसे सब सूत्रों से उनके पढ़ने और मनन करने रूप क्रिया में प्रवृत्त हुए सभी जीवों के प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणीरूप से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए जिननमस्कारात्मक यह सूत्र निष्फल प्रतीत होता है। अथवा यदि यह सूत्र सफल है, तो सूत्रों का अध्ययन करके व्यर्थ हो जाएगा, क्योंकि सूत्र के अध्ययन से होने वाला कर्मक्षय का अन्तर्भाव इस नमस्कारात्मक सूत्र में ही हो जाता है ?

इसका समाधान करने की इच्छा से आचार्यदेव कहते हैं —

नैष दोषः, सूत्राध्ययनेन सामान्यकर्मनिर्जरा क्रियते, एतेन मन्त्रेण पुनः सूत्राध्ययनस्य विघ्नफल-कारकर्मविनाशः क्रियत इति भिन्नविषयत्वात् नैतन्मंगलसूत्रं निष्फलम्।

पुनः शिष्य आशंकते —

सूत्राध्ययने विघ्नफलकारिकर्मविनाशः सामान्यकर्मविरोधिसूत्राभ्यासाच्चैव भवतीति मंगलसूत्रारंभोऽ-नर्थकः किं न जायते ?

आचार्यदेवः समाधत्ते —

न जायते, सूत्रार्थावगमाभ्यासयोर्विघ्नोत्पादककर्माणि यावन्न विनश्यन्ति तावत्तदवगमाभ्यासौ न संभवतः। न च कारणपूर्वकालभावि कार्यमस्ति, अनुपलंभात्।

पुनरपि कश्चिदाशंकते —

यदि जिनेन्द्रनमस्कारः सूत्राध्ययनविघ्नफलकर्ममात्रविनाशकस्तर्हि नासौ जीवितावसाने कर्तव्यस्तस्य तत्र फलाभावात् ?

सूरिवर्यः समाधत्ते —

नैष दोषः, एतावन्मात्रमेव सूत्राध्ययनविघ्नकारिकर्माणि विनाशयतीति नियमाभावात्।

पुनरप्याह — एष जिनेन्द्रनमस्कारः पुनः एकश्चैव सन् कथं अनेककार्यकारकः ?

आचार्यः प्राह —

नैतद्वक्तव्यं, अनेकविधज्ञानचारित्रसहायतायुक्तस्यानेककार्योत्पादने विरोधाभावात्।

उक्तं च —

यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सूत्र के अध्ययन से तो सामान्य से कर्मों की निर्जरा की जाती है, किन्तु इस मंत्र से सूत्राध्ययन में विघ्न करने वाले कर्मों का विनाश किया जाता है, इस प्रकार दोनों का विषय भिन्न होने से यह मंगलसूत्र निष्फल नहीं है।

यहाँ शिष्य पुनः शंका करता है कि — चूँकि सूत्राध्ययन में विघ्न उत्पन्न करने वाले कर्मों का विनाश सामान्य कर्मों के विरोधी सूत्राभ्यास से ही हो जाता है, अतएव मंगलसूत्र का आरंभ करना व्यर्थ क्यों नहीं होगा ?

आचार्यदेव इसका समाधान देते हैं कि — ऐसा नहीं है, क्योंकि सूत्रार्थ के ज्ञान और अभ्यास में विघ्न उत्पन्न करने वाले कर्मों का जब तक विनाश नहीं होगा, तब तक उसका ज्ञान और अभ्यास दोनों संभव नहीं है और कारण से पूर्व काल में कार्य होता नहीं है, क्योंकि वैसा नहीं पाया जाता है।

पुनः कोई आशंका करता है कि — यदि जिनेन्द्र नमस्कार केवल सूत्राध्ययन में विघ्न करने वाले कर्मों का मात्र विनाशक है, तो उसे जीवन के अन्त समय में नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस समय में कोई फल नहीं प्राप्त होता है ?

तब आचार्यदेव समाधान देते हैं कि — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह केवल सूत्राध्ययन में विघ्न करने वाले कर्मों का ही विनाश करता है, ऐसा कोई नियम नहीं है।

पुनः शंका होती है कि — तो फिर यह जिनेन्द्र नमस्कार एक ही होकर अनेक कार्यों का करने वाला कैसे होता है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं कि — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अनेक प्रकार के ज्ञान व चारित्र की सहायतायुक्त होते हुए उसके अनेक कार्यों के उत्पादन में कोई विरोध नहीं है। कहा भी है —

एसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासओ।

मंगलेसु अ सव्वेसु, पढमं होदि मंगलं।।^१

न चैष एकाकी एव सर्वकर्मक्षयकारणसमर्थो, ज्ञानचारित्राभ्यासयोर्विफलत्वप्रसंगात्। ततः सर्वकार्यारंभेषु जिनेन्द्रनमस्कारः कर्तव्यः, अन्यथा प्रारब्धकार्यनिष्पत्तेरनुपपत्तेः।

उक्तं च—

आदी मंगलकरणं, सिस्सा लहु पारया हवंतु त्ति।

मज्झे अव्वोच्छित्ती, विज्जा विज्जाफलं चरिमे।।^२

मंगलं कृत्वा प्रारब्धकार्याणां कुत्रचिदपि विघ्नोपलंभात् तमकृत्वा प्रारब्धकार्याणामपि क्वापि विघ्नाभावदर्शनाद् जिनेन्द्रनमस्कारो न विघ्नविनाशक इति ?

नैष दोषः, कृतौषधीनां व्याधीनामविनाशदर्शनेनाकृतौषधीनां व्याधीनां विनाशदर्शनेन विज्ञातव्यभिचारस्यापि मारीचादिगणस्य भैषजत्वोपलंभात्।

औषधीनामौषधित्वं न विनश्यति, असाध्यव्याधिव्यतिरिक्तसाध्यव्याधिविषये चैव तेषां भैषजानां व्यापाराभ्युपगमात् इति चेत् ?

यद्येवं तर्हि जिनेन्द्रनमस्कारोऽपि विघ्नविनाशकः, असाध्यविघ्नफलकर्माण्युज्झित्वा साध्यविघ्नफलकर्मविनाशे व्यापारदर्शनात्। अन्यच्च—न च भैषजेन समानो जिनेन्द्रनमस्कारो, ज्ञानध्यानसहायस्य सतो

गाथार्थ—यह पंचनमस्कार मंत्र सर्व पापों का नाश करने वाला और सब मंगलों में प्रथम मंगल है।।

यह अकेला ही सब कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर ज्ञान और चारित्र के अभ्यास की विफलता का प्रसंग आता है। इस कारण सब कार्यों के आरंभ में जिनेन्द्र नमस्कार करना चाहिए, क्योंकि ऐसा किये बिना प्रारंभ किये हुए कार्य की सिद्धि घटित नहीं होती है। कहा भी है—

गाथार्थ—शास्त्र की आदि में मंगल इसलिए किया जाता है कि शिष्य शीघ्र ही शास्त्र के पारगामी हों। मध्य में मंगल करने से शास्त्र के स्वाध्याय आदि की व्युच्छित्ति नहीं होती है और अन्त में उसके करने से विद्या व विद्या के फल की प्राप्ति होती है।।

शंका—मंगल करके प्रारंभ किये गये कार्यों के कहीं पर विघ्न पाये जाने से और उसे न करके प्रारंभ किये गये कार्यों के भी कहीं पर भी विघ्नों का अभाव देखे जाने से जिनेन्द्र नमस्कार विघ्नविनाशक नहीं है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जिन व्याधियों की औषध की गई है उसका अविनाश और जिनकी औषध नहीं की गई है उनका विनाश देखे जाने से जिसने व्यभिचार जान लिया है, ऐसे जीव के भी मारिच (काली मिरच) आदि औषधि द्रव्यों में औषधित्व गुण पाया जाता है।

शंका—औषधियों का औषधित्व (उनके सर्वत्र अचूक न होने पर भी) इस कारण नष्ट नहीं होता, क्योंकि असाध्य व्याधियों को छोड़ करके केवल साध्य व्याधियों के विषय में ही उनका व्यापार माना जाता है ?

समाधान—यदि ऐसा माना जाये, तो जिनेन्द्रनमस्कार भी उसी प्रकार विघ्नविनाशक माना जा सकता है, क्योंकि उसका भी व्यापार असाध्य विघ्नों के कारणभूत कर्मों को छोड़कर साध्य विघ्नों से उत्पन्न कर्मों के विनाश में देखा जाता है।

दूसरी बात यह है कि औषधि के समान जिनेन्द्र नमस्कार नहीं है, क्योंकि निर्विघ्न अग्नि के होते हुए न

निर्विघ्नाग्नेरदह्येन्धनानामिवासाध्यविघ्नफलकर्मणामभावात्। अतो ज्ञानध्यानात्मको नमस्कारः संपूर्णः-
उत्कृष्टो, मन्दश्रद्धानुविद्धो जघन्यश्च बोधव्यः, शेषासंख्यातलोकप्रमाणभेदभिन्ना मध्यमाः। न च ते सर्वे
समानफलाः, अतिप्रसंगात्। तस्माद् न पूर्वोक्तदोषाणामत्र संभव इति सिद्धम्।

अथवा मोक्षार्थं सूत्राभ्यासः क्रियते। मोक्षोऽपि कर्मनिर्जरातः, सापि ज्ञानाविनाभाविध्यानचिन्ताभ्यः,
ता अपि सम्यक्त्वात्। न च सम्यक्त्वेन विरहितयोर्ज्ञानध्यानयोरसंख्यातगुणश्रेणीकर्मनिर्जराया
अनिमित्तयोर्ज्ञानध्यान-व्यपदेशः पारमार्थिकोऽस्ति, किंच-अर्थश्रद्धानरहितज्ञानेऽमोक्षार्थोद्यमे च
तद्व्यपदेशाभ्युपगमे सति अतिप्रसंगात्। तस्मात् सम्यग्दृष्टिमहापुरुषेण सम्यग्दृष्टीनामेव सूत्रं व्याख्यातव्यमिति
ज्ञापनार्थं जिननमस्कारः कृतः।

अधुना अप्रकृतनिवारणमुखेन प्रकृतार्थप्ररूपणार्थं निक्षेपः क्रियते। तद्यथा-नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन
चतुर्विधा जिनाः। जिनशब्दो नामजिनः। स्थापनाजिनः सद्भावासद्भावस्थापनाभेदेन द्विविधः।
जिनभगवदाकारसंस्थितं द्रव्यं सद्भावस्थापनाजिनः। जिनाकारविरहितमपि जिनरूपेण कल्पितं द्रव्यं
असद्भावस्थापनाजिनः। द्रव्यजिनः आगमनोआगमभेदेन द्विविधः।

जिनप्राभृतज्ञायकोऽनुपयुक्तोऽविनष्टसंस्कार आगमद्रव्यजिनः। नोआगमद्रव्यजिनो ज्ञायकशरीर-भावि-
तद्व्यतिरिक्तभेदेन त्रिविधः। तत्र ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्यजिनो भव्य-वर्तमान-समुज्झितभेदेन त्रिविधः।

जल सकने योग्य ईंधनों के समान ज्ञान व ध्यान की सहायतायुक्त उक्त नमस्कार के होने पर असाध्य
विघ्नोत्पादक कर्मों का भी अभाव होता है। अतः ज्ञान-ध्यानात्मक नमस्कार को सम्पूर्ण अर्थात् उत्कृष्ट एवं
मंद श्रद्धायुक्त नमस्कार को जघन्य मानना चाहिए। शेष असंख्यात लोकप्रमाण भेदों से भिन्न नमस्कार मध्यम
है और वे सब समान फल वाले नहीं होते, क्योंकि ऐसा मानने पर अति प्रसंग दोष आता है। इस कारण यहाँ
पूर्वोक्त दोषों की संभावना नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

अथवा मोक्ष के निमित्त सूत्रों का अभ्यास किया जाता है। मोक्ष भी कर्मों की निर्जरा से होता है। वह
कर्मनिर्जरा भी ज्ञान के अविनाभावी ध्यान और चिन्तन से होती है। ज्ञान के अविनाभावी ध्यान और
चिन्तन भी सम्यक्त्व से होते हैं। सम्यक्त्व से रहित ज्ञान-ध्यान के असंख्यात गुणश्रेणीरूप कर्मनिर्जरा
के कारण न होने से ज्ञान-ध्यान यह संज्ञा वास्तविक नहीं है, क्योंकि अर्थ श्रद्धान से रहित ज्ञान और
मोक्षार्थ न किये जाने वाले उद्यम में वह संज्ञा स्वीकार करने पर अतिप्रसंग दोष प्राप्त होता है। इसीलिए
सम्यग्दृष्टि महापुरुषों को सम्यग्दृष्टियों के लिए ही सूत्र का व्याख्यान करना चाहिए, इस बात के बतलाने
हेतु जिननमस्कार किया गया है।

अब अप्रकृत का निवारण करते हुए प्रकृत अर्थ के प्ररूपण करने हेतु निक्षेप कहा जाता है। वह इस
प्रकार है — नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से जिन चार प्रकार के होते हैं। 'जिन' शब्द नामजिन है।
स्थापनाजिन सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना के भेद से दो प्रकार के हैं। जिन भगवान के आकार रूप
से स्थित द्रव्य सद्भावस्थापनाजिन हैं। जिनाकार से रहित भी जिनरूप से कल्पित द्रव्य असद्भावस्थापनाजिन
हैं। द्रव्यजिन आगम और नोआगम के भेद से दो प्रकार के हैं।

जिनप्राभृत का जानकार, अनुपयुक्त और संस्कार के विनाश से रहित जीव आगमद्रव्यजिन हैं।
नोआगमद्रव्यजिन ज्ञायकशरीर, भव्य और तद्व्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार के हैं। उनमें ज्ञायकशरीर

एतेषां त्रयाणां शरीराणां निश्चेतनानां कथं जिनव्यपदेशः ?

नैतद्व्यक्तव्यं, धनुःसहचारपर्यायेणातीतानागतवर्तमानमनुष्याणां धनुःव्यपदेश इव जिनाकारपर्यायेणातीतानागतवर्तमानशरीराणां द्रव्यजिनत्वं प्रति विरोधाभावात्। भविष्यत्काले जिनपर्यायेण परिणमन् भव्यद्रव्यजिनः। तद्व्यतिरिक्तद्रव्यजिनःसचित्ताचित्ततदुभयभेदेन त्रिविधः। करभहयहस्तिनां विजेतारः सचित्तद्रव्यजिनाः, हिरण्यसुवर्णमणिमुक्तादीनां जेतारोऽचित्तद्रव्यजिनाः, ससुवर्णकन्यादीनां जेतारः सचित्तासचित्तद्रव्यजिनाः।

आगमनोआगमभेदेन द्विविधो भावजिनः। जिनप्राभृतज्ञायक उपयुक्त आगमभावजिनः। नोआगमभावजिनः—उपयुक्तस्तत्परिणतश्चेति द्विविधः। जिनस्वरूपपरिच्छेदिज्ञानपरिणत उपयुक्तभावजिनः। जिनपर्यायपरिणतस्तत्परिणतभावजिनः।

एतेषु जिनेषु एष नमस्कारः कस्य कृतः ?

तत्परिणतभावजिनस्य स्थापनाजिनस्य च।

अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य-विरति-क्षाधिकसम्यक्त्वादिगुणपरिणतजिनस्य नमस्कारं कर्तुमुचित एव, तत्रदेवत्वोपलंभात्। किन्तु जिनगुणविरहिताया अचेतनायाः स्थापनाया नमस्कारो न युज्यते, तत्र विघ्नफलकर्मविनाशनशक्तेरभावादिति ?

तत्रेदं तावदुपसंहारः क्रियते—

न तावद् जिनः स्वकवन्दनायां परिणतानां चैव जीवानां पापस्य प्रणाशको, वीतरागत्वस्याभावप्रसंगात्।

नोआगमद्रव्यजिन भावि, वर्तमान और समुज्झित के भेद से तीन प्रकार के हैं।

शंका—इन अचेतन तीनों शरीरों के जिन संज्ञा कैसे संभव है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार धनुषसहचाररूप पर्याय से अतीत, अनागत और वर्तमान मनुष्यों की धनुष संज्ञा होती है, उसी प्रकार “जिन” के आकाररूप पर्याय से अतीत, अनागत और वर्तमान शरीरों के द्रव्य जिनत्व के प्रति विरोध का अभाव पाया जाता है। भविष्यत् काल में जिन पर्यायरूप से परिणमन करने वाला भाविद्रव्यजिन हैं। तद्व्यतिरिक्तद्रव्यजिन सचित्त, अचित्त और तदुभय के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। ऊँट, घोड़ा और हाथियों के विजेता सचित्तद्रव्यजिन हैं। हिरण्य, सुवर्ण, मणि और मोती आदिकों के विजेता अचित्तद्रव्यजिन हैं। सुवर्णसहित कन्यादिकों के विजेता सचित्ताचित्तद्रव्यजिन हैं।

आगम और नोआगम के भेद से भावजिन दो प्रकार के हैं—जिनप्राभृत के जानकार और उसी में उपयुक्त जीव आगमभाव जिन हैं। नोआगमभाव जिन उपयुक्त और तत्परिणत के भेद से दो प्रकार के हैं। जिनस्वरूप को ग्रहण करने वाले ज्ञान से परिणत जीव उपयुक्त भावजिन हैं। जिनपर्याय से परिणत जीव तत्परिणत भावजिन हैं।

शंका—इन जिनों में किस जिन को यह नमस्कार किया गया है ?

समाधान—तत्परिणतभावजिन और स्थापनाजिन को यह नमस्कार किया गया है।

शंका—अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, विरति और क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणों से परिणत जिन को नमस्कार करना उचित ही है, क्योंकि उनमें देवत्व पाया जाता है। किन्तु जिनगुण से रहित अचेतनरूप स्थापना को नमस्कार करना ठीक नहीं है, क्योंकि उनमें विघ्नोत्पादक कर्मों के विनाश करने की शक्ति का अभाव पाया जाता है।

समाधान—उक्त शंका होने पर यहाँ उपसंहार करते हैं—जिनदेव अपनी वन्दना में परिणत जीवों के

न सर्वेषां पापमपहरति, जिननमस्कारस्य विफलत्वप्रसंगात्। पारिशेषन्यायेन जिनपरिणतभावो जिनगुणपरिणामश्च पापप्रणाशक इत्येषितव्यः, अन्यथा कर्मक्षयानुपपत्तेः। सोऽपि जिनगुणपरिणामभावो जिनेन्द्रादिवाध्यारो-पितानन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य-विरति-सम्यक्त्वादिगुणाया अध्याहारबलेनैव जिनेन सह एकत्वमुपगतायाः स्थापनाया अपि समुत्पद्यते इति जिनेन्द्रनमस्कार इव जिनस्थापनानमस्कारोऽपि पापप्रणाशक इति स्वीकर्तव्यमेव विशेषाभावात्। अस्यायमर्थः-अनन्तज्ञानादिगुणपरिणतानां साक्षात्केवलिभगवतां जिनानां जिनप्रतिमानां चात्र नमस्कारो विहितः।

कश्चिदाशङ्कते — नामजिन-द्रव्यजिन-नोआगमोपयुक्तभावजिनानां नमस्कारः किन्न क्रियते ?

आचार्यः समादधाति — न क्रियते, किं च तेषां जिनत्व-जिनस्थापनात्वाभावात्।

कुत एतत् ?

न तावद् जिनत्वं, अनन्तज्ञानादिजिननिबन्धनगुणविरहितानां जिनत्वविरोधात्। न तेषां स्थापनाभावोऽपि तत्र जिनत्वारोपाभावात्। यदि वा तेषामध्यारोपः स्वीक्रियते तर्हि न ते नामादयो जिनाः, स्थापनायां तेषामन्तर्भावात्। न चोभयवर्जितेषु नमस्कारः पापप्रणाशकोऽतिप्रसंगात्।^१

यद्येवं तर्हि त्रिकालविशेषितमुनिशरीर-जिनशरीर-ऊर्जयन्त-चंपापावानगरादिनमस्कारो निष्फलो भवति ?

ही पाप के विनाशक नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर उनमें वीतरागता के अभाव का प्रसंग आता है। वे सब जीवों के पापों को नष्ट करते हैं ऐसा भी नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर जिननमस्कार की विफलता का प्रसंग आता है। तब परिशेष रूप से जिनपरिणत भाव और जिनगुणपरिणाम को पाप का विनाशक स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा कर्मों का क्षय घटित नहीं होगा। वह भी जिनगुणपरिणमन भाव जिनेन्द्र के समान अनन्त दर्शन, ज्ञान, वीर्य, विरति और सम्यक्त्वादि गुणों के अध्याहार के बल से ही जिन के साथ एकता को प्राप्त हुई स्थापना से भी उत्पन्न होता है। इसी कारण जिनेन्द्र नमस्कार के समान जिस मूर्ति में जिन की स्थापना की गई है, उस स्थापनारूप जिन का नमस्कार भी पाप का विनाशक है, ऐसा स्वीकार करना ही चाहिए, क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नहीं है। इसका अर्थ यह है कि-अनन्तज्ञानादि गुण से परिणत साक्षात् केवलीभगवन्तों को एवं जिनप्रतिमाओं को यहाँ नमस्कार किया गया है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — नामजिन, द्रव्यजिन और नोआगम उपयुक्त भावजिन को नमस्कार क्यों नहीं किया गया है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं कि — नहीं किया है, क्योंकि उनमें जिनत्व और जिनस्थापनाने का अभाव है।

शंका — ऐसा क्यों है ?

समाधान — क्योंकि उन तीनों जिनों में जिनत्व तो बनता ही नहीं है, क्योंकि अनन्तज्ञानादि युक्त जिन के कारणभूत गुणों से रहित उनके जिनत्व का विरोध है। स्थापनापना भी उनके नहीं है, क्योंकि उनमें जिनत्व के गुणों की स्थापना का अभाव है और यदि स्थापना है तो वे नामादिक जिन नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उनका स्थापना में अन्तर्भाव होता है और जिनत्व व जिनस्थापना से रहित अन्य जिनों में किया गया नमस्कार पापप्रणाशक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने में अतिप्रसंग दोष आता है।

शंका — यदि ऐसा है तो तीन कालों से विशेषित मुनि का शरीर, जिन का शरीर एवं ऊर्जयन्त, चम्पापुर और पावापुरी आदि को किया जाने वाला नमस्कार निष्फल हो जाता है ?

इत्यपि नाशंकनीयं, तेषां सद्भावसद्भावस्थापनान्तर्भूतानां नमस्कारस्य निष्फलत्वविरोधात्। एवं सद्भावस्थापनाऽसद्भावस्थापनानमस्कारे फलवति सति सर्वेषां जिनस्थापनात्वमापन्नानां नमस्कारः फलवान् जायते।

उक्तं च —

आलंबणेहि भरिओ लोगो, झाइदुमणस्स खवयस्स।

जं जं मणसा पस्सइ, तं तं आलंबणं होई॥^१

बुद्ध्या जले स्थले आकाशे वा संकल्पितो जिनश्चतुर्विधेषु निक्षेपेषु कुत्र निपतते ?

नोआगमभावनिक्षेपेऽन्तर्भवति उपयोगस्वरूपात्। न चैषा स्थापना भवति, अन्यस्मिन् द्रव्ये जिनगुणारोपाभावात्। तस्मादेतस्यापि नमस्कारः फलवान् भवतीति सिद्धम्।

एतेनोपर्युक्तकथनेन पञ्चपरमेष्ठिनां तेषां प्रतिमानां च नमस्कारः कृतो भवति, सकलजिनदेशजिनभेदेनेति।

अत्र कश्चिदाशङ्कते —

भवतु नाम सकलजिननमस्कारः पापप्रणाशकस्तत्र सर्वगुणानामुपलंभात् न देशजिनानामेतेषु आचार्योपाध्यायसाधुषु तदनुपलंभात् इति ?

आचार्यः समाधत्ते —

नैतद् वक्तव्यं, सकलजिनेष्विव देशजिनेषु त्रयाणां रत्नानामुपलंभात्। न च त्रिरत्नव्यतिरिक्ता

समाधान — ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे उनकी सद्भावस्थापना या असद्भावस्थापना में अन्तर्भूत हैं, इसलिए उन्हें किया गया नमस्कार निष्फल मानने में विरोध आता है। सद्भावस्थापनानमस्कार और असद्भावस्थापना नमस्कार के फलवान् होने पर जिनस्थापनापने को प्राप्त सभी को किया गया नमस्कार फलवान् होता है। कहा भी है —

गाथार्थ — ध्यान में मन लगाने वाले क्षपक के लिए यह लोक ध्यान के आलम्बनों से परिपूर्ण है। ध्यान में ध्याता जो-जो मन से देखता है अर्थात् जिस-जिस वस्तु का मन से विचार करता है, वह-वह आलम्बन हो जाता है॥

शंका — बुद्धि से जल में, स्थल में अथवा आकाश में संकल्पित जिन चार प्रकार के निक्षेपों में से किसमें अन्तर्भूत हैं ?

समाधान — नोआगमभावनिक्षेप में, क्योंकि वह उपयोगस्वरूप हैं। यह नोआगम भावनिक्षेप स्थापना नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्य में जिन — जिनेन्द्र के गुणों के आरोप का अभाव है। इस कारण इनको अर्थात् संकल्पित जिन को भी किया गया नमस्कार सफल है, यह सिद्ध हुआ।

इस उपर्युक्त सूत्र के कथन से पंचपरमेष्ठियों को एवं उनकी प्रतिमाओं को नमस्कार किया गया है, क्योंकि उनमें सकलजिन और देशजिन दोनों भेद आ जाते हैं।

यहाँ कोई शंका करता है कि — सकलजिन को किया गया नमस्कार भले ही पाप का नाश करने वाला होवे, क्योंकि उनमें सभी गुण पाये जाते हैं, किन्तु देशजिन अर्थात् आचार्य-उपाध्याय और साधुओं में तो ये सभी गुण पाये नहीं जाते हैं, तो उनको किया गया नमस्कार पाप विनाशक कैसे हो सकता है ?

तब आचार्यदेव इसका समाधान करते हैं कि —

ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सकलजिनों के समान ही देशजिनों में भी तीनों रत्नों की उपलब्धता

देवत्वनिबंधनाः सकलजिनेषु केचिद् गुणाः सन्ति, अनुपलंभात्। ततः सकलजिननमस्कार इव देशजिन-
नमस्कारोऽपि सकलकर्मक्षयकारक इति द्रष्टव्यः।

पुनरप्याशंकते —

सकलासकलजिनस्थितत्रिरत्नानां न समानत्वं संपूर्णासंपूर्णानां समानत्वविरोधात्। किंच संपूर्णत्रिरत्न-
कार्यमसंपूर्णत्रिरत्नानि न कुर्वन्तीति चेत् ?

आचार्यदेवः परिहरति —

नैतत्, ज्ञानदर्शनचारित्राणामुत्पन्नं समानत्वं तत्रापि संभवात्। तथा च, असमानानां कार्यमसमानमेवेति
नियमो नास्ति, संपूर्णाग्निना क्रियमाणदाहकार्यस्य तदवयवेऽप्युपलंभात्, अथवामृतघटशतेन क्रियमाणनिर्विषी-
करणादिकार्यस्यामृतस्य चुलुकेऽप्युपलंभात्। अवलोकनीया इमाः पंक्तयः श्रीवीरसेनाचार्यस्य —

“ण च असमाणाणं कज्जं असमाणमेव त्ति णियमो अत्थि, संपुण्णगिणा कीरमाणदाहकज्जस्स तदवयवे
वि उवलंभादो, अमियघडसएण कीरमाणणिव्विसीकरणादिकज्जस्स अमियस्स चुलुवे वि उवलंभादो वा^१।”

अतएव त्रिरत्नानां देशजिनस्थितानां सकलजिनस्थितेभ्यो न भेदः, बाह्यान्तरंगाशेषार्थप्रतिबद्धत्वेन
समानत्वमुपलभ्यते। न चाविर्भावानाविर्भावकृतो विशेषस्तेषां स्वरूपेण समानत्वविनाशकः, आविर्भूतसूर्य-
मण्डलस्यानाविर्भूतसूर्यमण्डस्य सूर्यमण्डलत्वेन समानत्वोपलंभात्।

होती है और तीन रत्नों के सिवाय देवत्व के कारणभूत अन्य कोई भी गुण सकल जिनों में नहीं पाये जाते,
क्योंकि अन्य गुणों की उनमें उपलब्धि नहीं होती है। इसलिए सकलजिनों के नमस्कार करने के समान
देशजिनों को नमस्कार करना भी सब कर्मों का क्षयकारक है, ऐसा जानना चाहिए।

पुनः कोई शंका करता है कि — सकलजिनों और देशजिनों में स्थित तीन रत्नों के समानता नहीं हो
सकती है, क्योंकि सम्पूर्ण और असम्पूर्ण की समानता का विरोध है। सम्पूर्ण रत्नत्रय का कार्य असम्पूर्ण
रत्नत्रय नहीं करते हैं ?

आचार्यदेव इसका परिहार करते हैं कि — ऐसा नहीं है, क्योंकि ज्ञान, दर्शन और चारित्र के संबंध में
उत्पन्न हुई समानता उनमें भी पाई जाती है और असमानों का कार्य असमान ही हो, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि
सम्पूर्ण अग्नि के द्वारा किया जाने वाला दाहकार्य उसके अवयव में भी पाया जाता है, अथवा अमृत के सैकड़ों
घड़ों से किया जाने वाला निर्विषीकरणादि कार्य चुल्लूभर अमृत में भी पाया जाता है।

श्री वीरसेनाचार्य की ये पंक्तियाँ वास्तव में देखने योग्य हैं —

“असमानों का कार्य असमान ही होवे, ऐसा कोई नियम नहीं देखा जाता है, क्योंकि जो जलाने का
दाहकरूप कार्य सम्पूर्ण अग्नि में होता है, वह उसके अवयवरूप अंशात्मक अग्नि में भी दाहकपना पाया
जाता है तथा अमृत के सैकड़ों घड़ों के द्वारा जो किसी का विष निर्विषरूप किया जाता है, वह निर्विष करने
का कार्य चुल्लूभर — थोड़े से अमृत में भी देखा जाता है।”

अतएव देशजिनों में स्थित तीनों रत्नों का सकलजिनों में स्थित तीनों रत्नों से भेद नहीं है, क्योंकि बाह्य
और आभ्यन्तर सभी पदार्थों से संबंध होने की अपेक्षा उनमें समानता पाई जाती है। और आविर्भाव व
अनाविर्भाव से किया गया भेद स्वरूप से उनकी समानता का विनाशक नहीं है, क्योंकि आविर्भूत
सूर्यमण्डल और अनाविर्भूत सूर्यमण्डल के सूर्य मण्डलपने की अपेक्षा समानता पाई जाती है।

अन्यत्र प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयीषु जिनशब्दस्य व्युत्पत्तिर्विधीयते —

“अनेकभगवहनविषमव्यसनप्रापणहेतून् कर्मांरातीञ्जयन्तीति जिनाः साकल्येन घातिकर्मक्षयात्प्राप्त-
केवलज्ञानादिचतुष्टया अर्हन्तः। तेषां नमो नमस्कारोऽस्तु। ननु नमःशब्दयोगे ‘नमः स्वस्तीत्यादिना’ चतुर्थी
प्राप्नोति, तदयुक्तं प्राकृते चतुर्थ्या विधानासंभवात्। अतः संबंधमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव भवति।”^१

श्रीपूज्यपादस्वामिनाप्युक्तमीर्यापथशुद्धिभक्तौ —

जितमदहर्षद्वेषा, जितमोहपरीषहा जितकषायाः।

जितजन्ममरणरोगा, जितमात्सर्या जयन्तु जिनाः।।^२

तात्पर्यमेतत् — यद्यपि जिनशब्देन सामान्येन अर्हन्तो भगवन्तः केवलिनः गृह्यन्ते तथापि धवलाटीकायां
श्रीवीरसेनाचार्येण पञ्चपरमेष्ठिनस्तेषां प्रतिमाश्च गृहीताः। रत्नत्रयसमन्वितानामाचार्योपाध्यायसाधूनां च
देवत्वं कथयित्वा तेषां पूज्यत्वमुद्घोषितं, एतेषां प्रतिमानां चापि स्थापनानिक्षेपेण मंत्रस्याध्यारोपणेन
जिनभगवतामिव वंद्यं ख्यापितं। एवं सद्भावसद्भावस्थापनान्तर्गततीर्थकरादिनिर्वाणभूमिकैलाशगिरि-
चंपापुर-पावापुरोर्जयंत-सम्मेदगिर्यादि-क्षेत्राणामपि पूज्यत्वं कथितं। अतएवायं ‘णमो जिणाणं’ मंत्रः सर्वेषां
नमस्कारयोग्यानां संग्राहको वर्तते संग्रहनयापेक्षया द्रव्यार्थिकनयापेक्षया वा।

अन्यत्र प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी में जिनशब्द की व्युत्पत्ति बतलाई गई है —

“अनेक भवरूपी वन में विषम व्यसन-दुःख को प्राप्त कराने में हेतु जो कर्म हैं, उन कर्मरूपी शत्रुओं
को जीतने वाले जिन कहलाते हैं, वे जिन सम्पूर्ण घातिया कर्मों के क्षय से प्राप्त केवलज्ञानादि चतुष्टय से
समन्वित अर्हन्त कहलाते हैं। उन अर्हन्त भगवन्तों को नमस्कार होवे।

प्रश्न — नमः शब्द के योग में ‘नमः स्वस्ति’ इत्यादि सूत्र के अनुसार चतुर्थी विभक्ति होनी चाहिए ?

उत्तर — ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्राकृत में चतुर्थी विभक्ति का विधान असंभव है। अतः
संबंध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति ही होती है।

श्री पूज्यपादस्वामी ने भी ईर्यापथशुद्धि भक्ति में ‘जिन’ शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है —

गाथार्थ — जिन्होंने मद, हर्ष, द्वेष, मोह, परीषह, कषाय, जन्म, मरण, रोग, मात्सर्य को जीत लिया है,
ऐसे वे जिन भगवान जयशील होंगे।।

तात्पर्य यह है कि — यद्यपि जिनशब्द से सामान्यरूप से अर्हन्त भगवन्त केवली का ग्रहण किया
जाता है, फिर भी धवला टीका में श्रीवीरसेनाचार्य ने पंच परमेष्ठियों को एवं उनकी प्रतिमाओं को भी जिन
शब्द से ग्रहण किया है। रत्नत्रय से समन्वित आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के देवपना कहकर उनकी
पूज्यता को घोषित किया है और उन पाँचों परमेष्ठियों की प्रतिमाओं के भी स्थापना निक्षेप से मंत्र के
अध्यारोपण से जिन भगवान के समान ही उन्हें वंद्य — पूज्य बतलाया है। इस प्रकार से सद्भाव,
असद्भाव स्थापना के अन्तर्गत तीर्थकर आदि की निर्वाणभूमि कैलाशपर्वत, चंपापुर, पावापुर, ऊर्जयन्त-
गिरिनार पर्वत, सम्मेदशिखर पर्वत आदि क्षेत्रों की भी पूज्यता कही है। इसलिए “णमो जिणाणं” अर्थात्
“जिनों को नमस्कार हो” यह मंत्र सभी नमस्कार के योग्य महापुरुषों का संग्रहनय की अपेक्षा अथवा
द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा संग्राहक — संग्रह करने वाला है।

१. प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी पृ. ८९ (चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था से
प्रकाशित फलटन से) २. ईर्यापथशुद्धि भक्ति।

अस्मात् कारणाद् वयमपि प्रार्थयामहे —

जिनपतयस्तत्प्रतिमास्तदालयास्तन्निषद्याकास्थानानि।

ते ताश्च ते च तानि च भवन्तु भवघातहेतवो भव्यानाम्^१॥३६॥

एतादृशस्य जिनस्य महिमा काव्यग्रन्थेष्वपि गीयते। तथाहि —

कोऽयं नाथ! जिनो भवेत्तव वशी हुँ हुँ प्रतापी प्रिये!

हुँ हुँ तर्हि विमुञ्च कातरमते! शौर्यावलेपक्रियाम्॥

मोहोऽनेन विनिर्जितः प्रभुरसौ तत्किंकरा के वयम्।

इत्येवं रतिकामजल्पविषयः पार्श्वप्रभुः पातु नः^२॥

एवं प्रथमस्थले मंगलाचरणकथनत्वेन प्रथमं एकं सूत्रं गतम्।

संप्रति पर्यायार्थिकनयापेक्षया नमस्कार सूत्रमवतार्यते —

णमो ओहिजिणाणं॥२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अवधिशब्द आत्मनि वर्तते, प्राकृतभाषायां 'ओहि त्ति आह, इत्यत्रात्मनि प्रवृत्तिदर्शनात्। सद्भाववासद्भावस्थापनयोरपि वर्तते 'एसो सो ओहि' इत्यारोपितबलेनावधिना एकत्वं गतद्रव्याणामुपलम्भात्। कुत्रापि मर्यादायां वर्तते, यथा 'माणुसखेत्तोही माणुसुत्तरसेलो' 'लोगोही तणुवायपेरंतो'

इस कारण से हम भी यह प्रार्थना करते हैं कि —

गाथार्थ — जिनपति — जिनेन्द्र भगवान्, उनकी प्रतिमाएँ, उनके मंदिर एवं उनके निषद्या स्थान आदि ये सभी भव्यप्राणियों के संसार को नष्ट करने में निमित्त होंगे॥३६॥

इस प्रकार की जिनेन्द्र भगवान् के जिनत्व की महिमा काव्यग्रंथों में भी गाई गई है। वह इस प्रकार है —

श्लोकार्थ — भगवान् पार्श्वनाथ को ध्यान में लीन देखकर रति अपने पति कामदेव से प्रश्न करती है कि हे नाथ! यह कौन हैं? तब कामदेव ने कहा — हे प्रिये! यह जिन हैं। तब रति ने पूछा — क्या ये आपके वश में हैं? कामदेव ने कहा — हुँ हुँ अर्थात् नहीं-नहीं, क्योंकि ये बड़े प्रतापी हैं। पुनः रति कामदेव से कहती है — हे कायर! तू हुँ हुँ करता है अर्थात् इन्हें जीत नहीं पाया अतः शौर्य — पराक्रम का अभिमान छोड़ दे। तब कामदेव रति को समझाता हुआ कहता है कि हे देवि! हमारा स्वामी जो मोह राजा है उसको ही इन्होंने जीत लिया है तो हम सभी तो उस मोहराजा के किंकर हैं, हम भला इन्हें कैसे जीत सकते हैं। इस प्रकार से रति और कामदेव जिन ध्यानस्थ भगवान् पार्श्वनाथ जिनेन्द्र के विषय में वार्ता करते हैं वे जिनेन्द्र पार्श्वनाथ हमारी रक्षा करें।

इस प्रकार प्रथम स्थल में मंगलाचरणरूप प्रथम एक सूत्र पूर्ण हुआ।

अब पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा नमस्कारसूत्र अवतरित होता है —

सूत्रार्थ —

अवधिज्ञानी जिनों को नमस्कार हो॥२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अवधि शब्द आत्मा में — अपने में प्रवृत्त है, जो कि प्राकृतभाषा में "ओहि" नाम से कहा गया है, इस प्रकार यहाँ अपने में उसकी प्रवृत्ति देखी जाती है। सद्भाव और असद्भाव स्थापना में भी यह अवधि शब्द रहता है, क्योंकि 'यह वह अवधि है', इस प्रकार अध्यारोपित — स्थापना के

त्ति। क्वचिदपि ज्ञाने वर्तते 'ओहिणा जाणदि' ति। अवधिना जानातीति। अत्र ग्रन्थे श्रीगौतमस्वामिरचितगणधर-
वल्लयसूत्रेषु अवधिज्ञानिनां संयमिनां महामुनीनां नमस्कारो वर्तते।

यद्यपि मर्यादायां रूढोऽवधिशब्दोऽस्ति तथाप्युपचारेण ज्ञाने गृहीतव्यं। अथवा अवाग्धानादवधिरिति
व्युत्पत्तेर्ज्ञानस्यावधित्वं घटते। एतेन व्याख्यानेन मतिश्रुतज्ञानयोरवधित्वमपसारितं।

अवधिज्ञानेऽवधिव्यवहारः किन्न प्रसज्यते ?

अवधिज्ञानादधस्तनसर्वज्ञानानि सावधिकानि, उपरिमकेवलज्ञानं निरवधिकमिति ज्ञापनार्थमवधिव्यवहारः
कृतः। एष द्रव्यार्थिकनयनिर्देशो न भवति, पर्यायार्थिकनयाधिकारात्। अत्र परमसर्वानंतावधीनामपि ग्रहणं
न भवति, उपरि तेषां पृथक्सूत्रदर्शनात्। अतएव देशावधेः एष निर्देश इति द्रष्टव्यः।

कथमवधिरिति नामैकदेशेन देशावधिरवगम्यते ?

न, सत्यभामा भामा, भीमसेनः सेनः, बलदेवो देव इत्यादिषु नामैकदेशादपि नामवद्विषयज्ञानोत्पत्तिदर्शनात्।
सा च देशावधिसंविधा-जघन्या उत्कृष्टा अजघन्यानुत्कृष्टा चेति।

तद्यथा — विषयश्चतुर्विधो द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन। एष विशेषो धवलाटीकातो ज्ञातव्यः।

अवधयश्च ते जिनाश्च अवधिजिनाः।

बल से अवधि के साथ एकता को प्राप्त द्रव्य पाये जाते हैं। कहीं पर मर्यादा के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग
होता है, जैसे मानुषक्षेत्र की अवधि (मर्यादा) मानुषोत्तर पर्वत है, लोक की अवधि तनुवातवल्लय पर्यन्त रहती
है। कहीं पर ज्ञान अर्थ में भी यह शब्द आता है, जैसे अवधिज्ञान से जानता है। यहाँ इस ग्रंथ में श्री गौतम
स्वामी द्वारा रचित गणधरवल्लय सूत्रों में अवधिज्ञानी संयमी महामुनियों को नमस्कार किया गया है।

यद्यपि अवधि शब्द मर्यादा — सीमा के अर्थ में प्रचलित है, फिर भी उपचार से ज्ञान में उसे ग्रहण
करना चाहिए। अथवा “अवाग्धानात् अवधिः” अर्थात् जो अधोगत पुद्गल को अधिकता से ग्रहण करे, वह
अवधि है, इस व्युत्पत्ति से ज्ञान को अवधिपना घटित होता है, इस व्याख्यान से मति और श्रुत ज्ञान के
अवधिपने का निराकरण किया गया है।

शंका — अवधिज्ञान में 'अवधि' शब्द के व्यवहार का प्रसंग क्यों नहीं प्राप्त होता है ?

समाधान — अवधिज्ञान से नीचे के सब ज्ञान अवधि से सहित और उपरिम केवलज्ञान अवधि से रहित
है, यह बतलाने के लिए 'अवधि' शब्द का व्यवहार किया गया है।

यह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा निर्देश — कथन नहीं है, क्योंकि यहाँ पर्यायार्थिक नय का अधिकार है।
यहाँ परमावधि, सर्वावधि और अनन्तावधि का भी ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि, आगे इनके पृथक् सूत्र देखे
जाते हैं। इसी कारण यह देशावधि का निर्देश है, ऐसा समझना चाहिए।

शंका — अवधि नाम के एकदेश अवधि से देशावधि कैसे जाना जाता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि भामा से सत्यभामा, सेन से भीमसेन और देव से बलदेव इत्यादिकों में नाम
से एक देश से भी नाम वालों को विषय करने वाले ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है। वह देशावधि तीन प्रकार
का है — जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्यानुत्कृष्ट।

वह इस प्रकार है — द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के भेद से विषय चार प्रकार का होता है। इसका
विशेष वर्णन धवला टीका से जानना चाहिए।

अवधिज्ञान और जिन इन दोनों में द्वन्द्व समास होकर अवधिजिन शब्द बना है।

किमर्थमवधिना जिना विशेष्यन्ते ?

अन्यावधिजिनप्रतिषेधार्थः।

केऽवधिजिनाः ?

रत्नत्रयसहितावधिज्ञानिनः। तेभ्यो नमो नमस्कारो भवतीति प्रोक्तं भवति।

महाव्रतविरहितद्विरत्नधराणां अवधिज्ञानिनामवधिज्ञानरहितानां च किमर्थं नमस्कारो न क्रियते ?

गारवगरुकेषु जीवेषु चरणाचारप्रवृत्तिकरणार्थं प्रवृत्तिमार्गविषयभक्तिप्रकाशनार्थं च न क्रियते।

तात्पर्यमेतत् — ये केचित् भवप्रत्ययावधिज्ञानिनो मनुष्याः, देवनारकाश्च गुणप्रत्ययावधिज्ञानिनो देशव्रतिनः सम्यक्त्वसहिता अव्रतिनो वा मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च तेषां नास्त्यत्राधिकारो जिनविशेषणत्वात् अतो देशावधि-संयमिनामेव नमस्कारो ज्ञातव्यः।

अधुना परमावधिजिनानां नमस्करणार्थमुत्तरसूत्रं भण्यते श्रीमद् भगवद्गौतमस्वामिना गणधरदेवेन —

पमो परमोहिजिणाणं॥३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — परमो ज्येष्ठः, परमश्चासौ अवधिश्च परमावधिः।

कथमस्यावधिज्ञानस्य ज्येष्ठता ?

शंका — जिनों को अवधि से विशेषित किसलिए किया जाता है ?

समाधान — जो अवधिज्ञान से रहित जिन हैं उनका निषेध करने के लिए जिनों को अवधि से विशेषित किया गया है।

शंका — अवधि जिन कौन हैं ?

समाधान — रत्नत्रय सहित अवधिज्ञानी मुनि अवधिजिन कहलाते हैं। ऐसे अवधिजिनों को नमः अर्थात् नमस्कार हो यह अभिप्राय है।

शंका — महाव्रतों से रहित दो रत्नों अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के धारक अवधिज्ञानी तथा अवधिज्ञान से रहित जीवों को भी क्यों नहीं नमस्कार किया जाता है ?

समाधान — अहंकार से महान जीवों में चरणाचार अर्थात् सम्यक्चारित्ररूप प्रवृत्ति कराने के लिए तथा प्रवृत्तिमार्गविषयक भक्ति के प्रकाशनार्थ उन्हें नमस्कार नहीं किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि — जो कोई भवप्रत्यय अवधिज्ञानी मनुष्य, देव और नारकी हैं, गुणप्रत्यय अवधिज्ञानी देशव्रती हैं, सम्यक्त्व से सहित अव्रती मनुष्य और तिर्यच हैं, उनका यहाँ अधिकार नहीं है अर्थात् यहाँ उनको ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि यहाँ अवधिज्ञान के साथ 'जिन' विशेषण सूत्र में लगा हुआ है अतः यहाँ देशावधिज्ञानधारी संयमियों को ही नमस्कार किया गया है, ऐसा जानना चाहिए।

अब श्रीमान् गौतम गणधर स्वामी के द्वारा परमावधि जिनों को नमस्कार करने हेतु उत्तर सूत्र कहा जा रहा है —

सूत्रार्थ —

परमावधिज्ञानधारी जिनों को नमस्कार हो॥३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — परम शब्द का अर्थ है ज्येष्ठ, परम — उत्कृष्ट ऐसा जो अवधि है, वह परमावधि कहलाता है। यह कर्मधारय समास है।

शंका — इस अवधिज्ञान के ज्येष्ठपना कैसे है ?

देशावधिमपेक्ष्य महाविषयत्वात्, मनःपर्ययज्ञानमिव संयतेष्वेव समुत्पत्तेः, स्वकोत्पन्नभवे चैव केवलज्ञानोत्पत्तिकारणत्वात्, अप्रतिपातित्वाद्वा ज्येष्ठता। परमावधयश्च ते जिनाश्च परमावधिजिनाः तेभ्यो नमः।

यदि देशावधिज्ञानात् परमावधिज्ञानं ज्येष्ठं भवति तर्हि एतस्यैव पूर्वं नमस्कारः किन्न कृतः ?

नैतद् वक्तव्यं, देशावधिज्ञानादेव परमावधिस्वरूपावगमो जायते नान्यथेति ज्ञापनार्थं देशावधेः पूर्वं नमस्कारकरणात्, परमावधिस्वरूपावगमनिमित्तत्वेन परमावधिमपेक्ष्य महत्त्वाद्वा।

कथं देशावधिज्ञानात् परमावधिस्वरूपमवगम्यते ?

उच्यते अत्र सूत्रगाथा —

परमोहि असंखेज्जाणि, लोगमेत्ताणि समयकालो दु।

रूवगद लहइ दव्वं, खेत्तोवम अगणिजीवेहिं।।

तात्पर्यमत्र — परमावधिरसंख्येयानि लोकमात्राणि लोकप्रमाणानि लभते जानातीत्यर्थः।

संप्रति सर्वावधिसंयतनमस्कारकरणार्थं श्रीमद्भट्टारकगौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

णमो सव्वोहिजिणाणं।।४।।

समाधान — चूँकि यह परमावधि ज्ञान देशावधि की अपेक्षा महाविषय वाला है, मनःपर्ययज्ञान के समान संयत मनुष्यों में ही उत्पन्न होता है, अपने उत्पन्न होने के भव में ही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण होता है और अप्रतिपाती है अर्थात् सम्यक्त्व व चारित्र से च्युत होकर मिथ्यात्व एवं असंयम को प्राप्त होने वाला नहीं है, इसीलिए उसके ज्येष्ठपना संभव है। परमावधिरूप ऐसे वे जिन परमावधि जिन हैं। उनके लिए नमस्कार होवे।

शंका — यदि देशावधि ज्ञान से परमावधि ज्ञान ज्येष्ठ है, तो इसको ही पहिले नमस्कार क्यों नहीं किया ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि देशावधि से ही परमावधि के स्वरूप का ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं होता, इस बात के ज्ञापनार्थ देशावधि को पूर्व में नमस्कार किया है। अथवा परमावधि के स्वरूप के जानने का निमित्त होने से परमावधि की अपेक्षा चूँकि देशावधि महान् है, अतः उसे पहले नमस्कार किया है।

शंका — देशावधि से परमावधि के स्वरूप का ज्ञान कैसे होता है ?

समाधान — यहाँ गाथा सूत्र कहते हैं —

गाथार्थ — परमावधि उत्कृष्ट से क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात लोकमात्र क्षेत्र को, काल की अपेक्षा असंख्यात लोकमात्र समयरूप काल को जानता है। वही (शलाकाभूत) क्षेत्रोपम अग्निकायिक जीवों से परिच्छिन्न रूपगत द्रव्य को उत्कृष्ट से विषय करता है।

‘तात्पर्य यह है कि — परमावधि ज्ञानधारी जिन असंख्यात लोकप्रमाण को प्राप्त करते — जानते हैं, ऐसा सूत्र का अर्थ है।

अब श्रीमान् गौतमस्वामी भट्टारक के द्वारा सर्वावधिज्ञानधारी संयतों को नमस्कार करने हेतु सूत्र अवतीर्ण किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

सर्वावधिज्ञानधारी जिनों को नमस्कार हो।।४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सर्वं विश्वं कृत्स्नमवधिर्मर्यादा यस्य बोधस्य स बोधः सर्वावधिः। अत्र सर्वशब्दः सकलद्रव्यवाचको न गृहीतव्यः, परतोऽविद्यमानद्रव्यस्यावधित्वानुपपत्तेः। किन्तु सर्वशब्दः सर्वैकदेशे रूपिद्रव्ये वर्तमानो गृहीतव्यः। तेन सर्वरूपगतं अवधिर्यस्येति संबंधः कर्तव्यः। अथवा, सरति गच्छति आकुंचनविसर्पणादीनीति पुद्गलद्रव्यं सर्वं, तदवधिर्मर्यादा यस्य सा सर्वावधिः।

परमावधिकालमपि तत्प्रायोग्यासंख्यातरूपैः गुणिते सर्वावधेः उत्कृष्टकालो भवति।

लोकोऽयं एक एव, पुनः परमावधिसर्वावधिज्ञाने असंख्यातलोकान् जानीत इति कथं घटते ?

नैष दोषः, सर्वः पुद्गलराशिर्यदि असंख्यातलोकानांपूर्यावत्तिष्ठति तर्ह्यपि ते ज्ञाने जानीत इति तयोर्ज्ञानयोः शक्तिप्रदर्शनं कृतं।^१

कश्चिदाह — परमावधि-सर्वावधिज्ञानिनो जिनत्वाविनाभावित्वं वर्तते पुनः किमर्थमनयोः जिनविशेषणं क्रियते ?

आचार्यः प्राह — सत्यमेतत्, किन्त्वत्र सर्वावधिपरमावधि विशेषणं जिना विशेष्यं, अनेकप्रकाराणामाधारत्वात्। तेन न दोष इति सिद्धम्। सर्वावधयश्च ते जिनाश्च सर्वावधिजिनाः, तेभ्यो नमः।

एवं द्वितीयस्थले पर्यायार्थिकनयमाश्रित्य नमस्कारपरत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सर्व, विश्व और कृत्स्न ये शब्द सर्व — सम्पूर्ण शब्द के ही वाचक हैं। यह सर्व है मर्यादा जिस ज्ञान की वह सर्वावधि कहलाता है। यहाँ सर्व शब्द समस्त द्रव्य का वाचक नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जिसके परे अन्य द्रव्य न हो, उसके अवधिपना नहीं बनता है। किन्तु सर्व शब्द सबके एकदेशरूप रूपी द्रव्य में वर्तमान है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। इसलिए सर्वरूपगत है अवधि जिसकी, इस प्रकार संबंध करना चाहिए, अथवा जो आकुंचन और विसर्पणादिकों को प्राप्त हो वह पुद्गल द्रव्य सर्व है, वही जिसकी मर्यादा है वह सर्वावधि है।

‘परमावधि काल को भी तत्प्रायोग्य असंख्यात रूपों से गुणित करने पर सर्वावधि का उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है।

शंका — यह लोक तो एक ही है, तो फिर परमावधि और सर्वावधिज्ञानी असंख्यात लोक को जानते हैं, यह कैसे घटित होता है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यद्यपि सब पुद्गलराशि असंख्यात लोकों को भरकर स्थित हो, तो भी वे जान सकते हैं। इस प्रकार उनकी शक्ति का प्रदर्शन किया गया है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — जिनत्व के साथ अविनाभाव रखने वाले परमावधि और सर्वावधिज्ञानी को जिन का विशेषण किसलिए किया जाता है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं — आपका कहना सत्य है किन्तु यहाँ सर्वावधि और परमावधि विशेषण है और जिन विशेष्य है, क्योंकि वे अवधिज्ञान के अनेक प्रकारों के आधार हैं, अतएव उक्त विशेषण-विशेष्य भाव में कोई दोष नहीं है, यह सिद्ध है। सर्वावधिरूप जो जिन हैं, उनके लिए नमस्कार हो।

इस प्रकार द्वितीय स्थल में पर्यायार्थिक नय के आश्रयपूर्वक नमस्कार की मुख्यता वाले तीन सूत्र पूर्ण हुए।

संप्रति अनन्तावधिप्रतिपादनार्थं श्रीमद्गौतमभट्टारकेण सूत्रमवतार्यते —

णमो अणंतोहिजिणाणं॥५॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अनन्त इति कथनेन उत्कृष्टानन्तस्य ग्रहणं, द्रव्यार्थिकनयावलंबनात्। स उत्कृष्टानन्तोऽवधिर्यस्यासौ अनन्तावधिः।

अवधिर्नामवस्तुनिबंधना। न चात्रोत्कृष्टानन्ताद् बाह्यं किमप्यस्ति, तस्मादुत्कृष्टानन्तस्यावधित्वं न युज्यते?

नैतद् वक्तव्यं, अवधिरिव अवधिरिति उपचारेणोत्कृष्टानन्तस्यावधित्वविरोधाभावात्। अन्तश्चावधि-
श्चान्तावधी, न विद्यते तौ यस्य स अनन्तावधिः। अभेदाज्जीवस्यापीयं संज्ञा। अनन्तावधयश्च ते जिनाश्च
अनन्तावधिजिनास्तेभ्यो नमः।

अत्रानन्तावधिजिनानां कथनेन केवलज्ञानिनो गृह्यन्ते।

कश्चिदाशंकते — अनन्तावधिजिना नाम केवलजिनास्ततस्ते सर्वजिनेभ्यो महान्तः, तेषां नमस्कारः
पूर्वं किन्न कृतः?

आचार्यः प्राह — नैतद् वक्तव्यं, केवलज्ञानमहत्वज्ञापनगुणेन केवलज्ञानात् सर्वावधिज्ञानं महत्वपूर्णं
ततः पूर्वमेव सर्वावधिजिनानां नमस्कारकरणे विरोधाभावात्।

अब अनन्तावधिज्ञानी जीवों का प्रतिपादन करने हेतु श्री गौतमस्वामी भट्टारक सूत्र का अवतार
करते हैं —

सूत्रार्थ —

अनन्तावधिज्ञान सहित जिनों को नमस्कार हो॥५॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ‘अनन्त’ इस प्रकार कहने से उत्कृष्ट अनन्त का ग्रहण होता है, क्योंकि
यहाँ द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन है। वह उत्कृष्ट अनन्त अवधि जिसके होती है, वह अनन्तावधि जिन
कहलाते हैं।

शंका — अवधि यह नाम की अपेक्षा वस्तु निमित्तक संज्ञा है और यहाँ उत्कृष्ट अनन्त से बाह्य कुछ भी
वस्तु नहीं है, अतः उत्कृष्ट अनन्त को अवधिपना उचित नहीं है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ‘अवधि के समान जो है’ वह अवधि है इस प्रकार
उपचार से उत्कृष्ट अनन्त को अवधि मानने में कोई विरोध नहीं है। अन्त सहित अवधि अन्तावधि है और
जिसके अन्त और अवधि नहीं देखी जाती है वह अनन्तावधि है। अभेद की अपेक्षा जीव की भी यह संज्ञा है।
अनन्त है अवधि जिनके ऐसे अनन्तावधि जिनों को नमस्कार हो।

यहाँ अनन्तावधि जिनों के कथन से केवलज्ञानी ग्रहण किये गये हैं।

कोई शंका करता है कि —

अनन्तावधि जिन नाम से केवलज्ञानी होते हैं, इसलिए वे सब जिनों से महान् होते हैं। उनको पहले ही
नमस्कार क्यों नहीं किया ?

तब आचार्यदेव समाधान देते हैं — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि केवलज्ञान के माहात्म्य का ज्ञान
करानेरूप गुण की अपेक्षा केवलज्ञान से सर्वावधि महान् है। अतएव उन्हें पहले ही नमस्कार करने में कोई
विरोध नहीं है।

पुनरपि कश्चिदाह —

भवतां अनेन कथनेन मिथ्यात्वात् सम्यक्त्वस्य माहात्म्यं ज्ञायते इति सम्यक्त्वभक्तौ मिथ्यात्वस्य नमस्कारः किन्न कृतः ?

आचार्यदेवः समाधत्ते —

नैष दोषः, यथा मतिश्रुतावधिभ्यः केवलज्ञानमाहात्म्यमवगम्यते तथा मिथ्यात्वात् सम्यक्त्वमाहात्म्या-वगमाभावात्।

उच्यते च श्रीवीरसेनस्वामिना — “ण च जो जस्स भत्तो मित्तो वा सो तत्विरोहीणं भत्तिं कुणइ, विरोहादो।”^१ अथवा पश्चादानुपूर्विक्रमप्रदर्शनार्थं देशावधिजिनादीनां पूर्वं नमस्कारः कृतः।

संप्रति श्रुतज्ञानमनःपर्ययतपश्चरणादीनि मतिज्ञानपूर्वाणि इति कृत्वा मतिज्ञाने समुत्पन्नश्रद्धाः श्रीमद्गौतमभट्टारक उत्तरसूत्रैर्मतिज्ञानिनां नमस्कारं करोति। इमे मतिज्ञानिनोऽपि संयमिनो विशेषतपोबलेन नानाविधवर्द्धिधारिण एवेति ज्ञातव्यम्।

एवं तृतीयस्थले अनन्तावधिनाम्ना केवलज्ञानिनमस्कारत्वेन एकं सूत्रं गतम्।

अधुना श्रीमदिन्द्रभूतिगणधरदेवः कोष्ठबुद्धिधारिणां नमस्करणार्थं सूत्रमवतारयति —

णमो कोष्ठबुद्धीणं॥६॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — कोष्ठः शालि-ब्रीहि-यव-गोधूमादीनामाधारभूतः कुस्थली पल्यादिः। सा

पुनः कोई शंका करता है — आपके इस कथन से मिथ्यात्व से चूँकि सम्यक्त्व का माहात्म्य जाना जाता है, अतः सम्यक्त्व की भक्ति की अपेक्षा मिथ्यात्व को नमस्कार क्यों नहीं किया जाता है ?

आचार्यदेव समाधान देते हैं कि — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार मति, श्रुत और अवधिज्ञानों से केवलज्ञान का माहात्म्य जाना जाता है उस प्रकार मिथ्यात्व से सम्यक्त्व का माहात्म्य नहीं जाना जाता है।

श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है — जो जिसका भक्त अथवा मित्र होता है, वह उसके विरोधियों की भक्ति नहीं करता है, क्योंकि ऐसा करने में विरोध ही आता है” अथवा पश्चादानुपूर्वी अर्थात् विपरीत क्रम दिखलाने के लिए देशावधि जिनादिकों को पूर्व में नमस्कार किया है।

अब श्रुत और मनःपर्ययज्ञान तथा तप आदि चूँकि मतिज्ञानपूर्वक होते हैं अतः मतिज्ञान में उत्पन्न हुई श्रद्धा से युक्त गौतम भट्टारक उत्तर सूत्रों के द्वारा मतिज्ञानियों को नमस्कार करते हैं। ये मतिज्ञानी भी संयमी विशेष तपोबल से नाना प्रकार की ऋद्धियों के धारी ही होते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार तृतीय स्थल में अनन्तावधि नाम से केवलज्ञानी भगवन्तों के नमस्कार की मुख्यता वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ।

अब श्रीमान् इन्द्रभूति गणधर देव कोष्ठबुद्धि ऋद्धिधारियों को नमस्कार करने हेतु एक सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

कोष्ठबुद्धि ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥६॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — शालि, ब्रीहि, जौ और गेहूँ आदि के आधारभूत कोथली, पल्ली आदि का

चाशेषद्रव्यपर्यायधारणगुणेन कोष्ठसमाना बुद्धिः कोष्ठः, कोष्ठा च सा बुद्धिश्च कोष्ठबुद्धिः। एतस्या अर्थधारणकालो जघन्येन संख्यातानि उत्कृष्टेनासंख्यातानि वर्षाणि। 'कालमसंखं संखं च धारणा' इति सूत्रोपलंभात्।

कुत एतद् भवति ?

धारणावरणीयस्य कर्मणस्तीव्रक्षयोपशमात्। उक्तबुद्धिमतामपि कोष्ठबुद्धिः संज्ञा, गुणगुणिनोर्भेदाभावात्। जिनशब्दस्य प्रवाहस्वरूपेणोपरि सर्वत्रानुवृत्तिर्ज्ञातव्या, अन्यथा सूत्रार्थानुपपत्तेः। ततः कोष्ठबुद्धिधारिणां जिनानां संयमिनां नमस्कारोऽस्ति।

धारणामतिज्ञानिनां जिनानां नमस्कारः किन्न कृतः ?

नैतत् वक्तव्यं, कोष्ठबुद्धौ अवगाहिताशेषधारणाज्ञानविकल्पायां नमस्कारे कृते सर्वधारणानां नमस्कारसिद्धेः।

मतिज्ञानात् अवधिकेवलज्ञानयोर्विषयविशेषावगमात् तदुत्पत्तिकारणाच्च पूर्वमेव मतिज्ञानिनां नमस्कारः किन्न क्रियते ?

न क्रियते, श्रीमद्गौतमस्थविराणामत्र एवंविधभावाभावात्।

तदभावः कुतोऽवगम्यते ?

मतिज्ञानिनां पूर्व कृतिकर्माकरणादेवावगम्यते।

उक्तं च श्रीमद्वीरसेनस्वामिना —

“परोक्खं मदिणाणं, ओहि-केवलाणि पच्चक्खाणि, इंदियजं मदिणाणं, ओहि-केवलाणाणि

नाम कोष्ठ है। वह समस्त द्रव्य व पर्यायों को धारण करनेरूप गुण से कोष्ठ के समान होने से उस बुद्धि को भी कोष्ठ कहा जाता है। कोष्ठरूप जो बुद्धि वह कोष्ठबुद्धि है। इसके अर्थ को धारण करने का काल जघन्य से संख्यात वर्ष और उत्कृष्ट से असंख्यातवर्ष है, क्योंकि असंख्यात और संख्यातकाल तक धारणा रहती है, ऐसा सूत्र पाया जाता है।

शंका — यह किस कारण से होता है ?

समाधान — धारणावरणीय कर्म के तीव्र क्षयोपशम से होता है।

उक्त बुद्धि के धारकों की भी कोष्ठबुद्धि संज्ञा है, क्योंकि गुण और गुणी में सर्वत्र भेद नहीं है। जिन शब्द की आगे सर्वत्र प्रवाहरूप से अनुवृत्ति कर लेना चाहिए, क्योंकि उसके बिना सूत्रों का अर्थ नहीं बनता है।

इसलिए कोष्ठबुद्धि धारक जिनों को — संयमियों को नमस्कार हो यह सिद्ध हुआ।

शंका — धारणामतिज्ञानी जिनों को नमस्कार क्यों नहीं किया है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि समस्त धारणाज्ञान के विकल्पों को अवगाहना करने वाली कोष्ठबुद्धि को नमस्कार करने पर सब धारणाज्ञानियों को नमस्कार सिद्ध हो जाता है।

शंका — मतिज्ञान से अवधि और केवलज्ञान के विषय की विशेषता का ज्ञान होने से तथा उनकी उत्पत्ति का कारण होने से पहले ही मतिज्ञानियों को नमस्कार क्यों नहीं करते हैं ?

समाधान — नहीं किया गया है, क्योंकि गौतम स्थविर का यहाँ ऐसा भाव नहीं है।

शंका — उनका ऐसा भाव नहीं है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान — मतिज्ञानियों का पहले कृतिकर्म नहीं करने से उनके उक्त भाव का अभाव जाना जाता है। श्रीमान् वीरसेन आचार्य स्वामी ने कहा है — “मतिज्ञान परोक्ष है, किन्तु अवधि और केवलज्ञान प्रत्यक्ष

अणिंदियाणि त्ति मदिणाणादो ओहि-केवलणाणमाहणं पेक्खिय तेसिमग्गपूजा कदा।^{१९}

श्रीमद्गौतमस्थविरस्य एषोऽभिप्राय इति कथं ज्ञायते ?

अभिप्रायाविनाभाविवचनकार्यादेव ज्ञायते।

बीजबुद्ध्यादीनामग्रपूजा किन्न कृता ?

न कृता, तस्मात् बीजबुद्ध्याद्यपेक्षया धारणाया गुणगरिमोपलंभात्। किञ्च धारणाया विना बीजबुद्ध्यादीनां विफलत्वोपलंभात्।

तात्पर्यमेतत् — धारणावरणीयमतिज्ञानस्य क्षयोपशमविशेषेण बाह्यतपश्चर्यामाहात्म्येन च कोष्ठबुद्ध्यादयः ऋद्धय उत्पद्यन्ते इति विज्ञाय सम्यक्प्रकारेण बाह्यमपि तपश्चरणं यथाशक्ति विधातव्यम् अध्यात्मज्ञानिभिरिति।

अधुना बीजबुद्धिजनानां नमस्कारकरणार्थं सूत्रमवतार्यते श्रीमद्गणधरदेवेन —

णमो बीजबुद्धीणं।।७।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — जिणाणमित्यनुवर्तते। ततो 'णमो बीजबुद्धीणं जिणाणं' इत्येतावत्सूत्रं गृहीतव्यं। बीजमिव बीजं। यथा बीजं मूलांकुर-पत्र-पर्व-स्कंध-प्रसव-तुष-कुसुम-क्षीर-तंदुलादीनामाधारं तथा द्वादशांगार्थाधारं यत्पदं तद्बीजतुल्यत्वाद् बीजं। बीजपदविषयमतिज्ञानमपि बीजं, कार्ये कारणोपचारात्।

हैं, मतिज्ञान इन्द्रियजन्य है और अवधि व केवलज्ञान अतीन्द्रिय है, इस प्रकार मतिज्ञान से अवधि और केवलज्ञान के माहात्म्य की अपेक्षा करके उनकी पहले पूजा की है।"

शंका — गौतम स्थविर का ऐसा अभिप्राय रहा है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान — उक्त अभिप्राय के अविनाभावी वचनरूप कार्य से ही यह जाना जाता है।

शंका — बीजबुद्धि आदि के धारकों की पहले पूजा क्यों नहीं की गई है ?

समाधान — नहीं की गई है, क्योंकि बीजबुद्धि आदि की अपेक्षा धारणा की गुणगरिमा अधिक पाई जाती है, क्योंकि धारणा के बिना बीजबुद्धि आदिकों की विफलता देखी जाती है।

तात्पर्य यह है कि — धारणावरणीय मतिज्ञान के क्षयोपशम विशेष से और बाह्य तपश्चर्या के माहात्म्य से कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, ऐसा जानकर अध्यात्मज्ञानियों को सम्यक् प्रकार से यथाशक्ति बाह्य तपश्चरण भी करना चाहिए।

अब बीजबुद्धि ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करने हेतु श्रीमान् गणधरदेव के द्वारा सूत्र अवतरित किया जाता है —

सूत्रार्थ —

बीजबुद्धि ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो।।७।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — यहाँ 'जिनों को' इस पद की अनुवृत्ति चल रही है। इस कारण 'बीजबुद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो', इस प्रकार इतना सूत्र ग्रहण करना चाहिए। बीज के समान जो होता है, वह बीज कहा जाता है। जिस प्रकार बीज, मूल, अंकुर, पत्र, पोर, स्कंध, प्रसव, तुष, कुसुम, क्षीर और तंदुल आदिकों का आधार है। उसी प्रकार बारह अंगों के अर्थ का आधारभूत जो पद है, वह बीज तुल्य होने से बीज है। बीज पदविषयक मतिज्ञान भी कार्य में कारण के उपचार से बीज कहलाता है। संख्यात शब्दों के द्वारा अनन्त अर्थों

संख्यात-शब्दानन्तार्थप्रतिबद्धानन्तलिंगैः सह बीजपदं जानन्ती बीजबुद्धिरिति भणितं भवति।

कश्चिदाशङ्कते — न बीजबुद्धिरनन्तप्रतिबद्धानन्तलिंगबीजपदमवगच्छति, क्षायोपशमिकत्वादिति ?

आचार्यो वक्ति — नैतद् वक्तव्यं, क्षायोपशमिकेन परोक्षेण श्रुतज्ञानेन केवलज्ञानविषयीकृतानन्तार्थानां यथा परिच्छेदः क्रियते परोक्षस्वरूपेण, तथा मतिज्ञानेनापि अनन्तार्थपरिच्छेदः सामान्यस्वरूपेण क्रियते, विरोधाभावात्।

यदि श्रुतज्ञानिनो विषयोऽनन्तसंख्या भवति तर्हि “जमुक्कस्ससंखेज्जं विसओ चोदसपुव्विस्स” इति परिकर्मणि उक्तं तत्कथं घटते ?

नैष दोषः, श्रुतज्ञानी उत्कृष्टसंख्यातमेव जानातीति तत्र नियमाभावात्।

नाशेषपदार्थाः श्रुतज्ञानेन परिच्छिद्यन्ते। गाथायामप्युक्तं —

पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।

पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुदण्णिबद्धो।।^१ इति वचनात् ?

अस्यामाशङ्कयामुच्यते —

भवतु नाम सकलपदार्थानामनन्तिमभागो द्रव्यश्रुतज्ञानविषयः, भावश्रुतज्ञानविषयः पुनः सकलपदार्थाः, अन्यथा तीर्थकराणां वागतिशयत्वाभावप्रसंगात्। ततो बीजपदपरिच्छेदकारिणी बीजबुद्धिरिति सिद्धं।

से प्रतिबद्ध — संबद्ध अनन्त लिंगों के साथ बीज पद को जानने वाली बीजबुद्धि ऋद्धि है, यह कहा गया है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — बीजबुद्धि अनन्त अर्थों से संबद्ध अनन्त लिंगरूप बीजपद को नहीं जानती है, क्योंकि वह क्षायोपशमिक है ?

आचार्यदेव इसका समाधान देते हैं कि — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार क्षायोपशमिक परोक्ष श्रुतज्ञान के द्वारा केवलज्ञान से विषय किये गये अनन्त अर्थों का परोक्षरूप से ज्ञान ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार मतिज्ञान के द्वारा भी सामान्यरूप से अनन्त अर्थों का ज्ञान ग्रहण किया जाता है, क्योंकि इसमें विरोध का अभाव है अर्थात् कोई विरोध नहीं है।

शंका — यदि श्रुतज्ञान का विषय अनन्तसंख्या है, तो चौदहपूर्वी का विषय उत्कृष्ट संख्यात है, ऐसा जो परिकर्म में कहा है, वह कैसे घटित होगा ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि श्रुतज्ञानी उत्कृष्ट संख्यात को ही जानता है, ऐसा यहाँ नियम नहीं है।

शंका — श्रुतज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को नहीं जाना जाता है, क्योंकि निम्न गाथा में भी कहा है —

गाथार्थ — वचन के अगोचर ऐसे जीवादिक पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रज्ञापनीय अर्थात् तीर्थकर की सातिशय दिव्यध्वनि में प्रतिपाद्य होते हैं तथा प्रज्ञापनीय पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण द्वादशांग श्रुत में निबद्ध किये जाते हैं।। इस प्रकार का वचन है ?

समाधान — इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि — समस्त पदार्थों का असंख्यातवाँ भाग द्रव्यश्रुतज्ञान का विषय भले ही हो, किन्तु भावश्रुतज्ञान के विषय तो समस्त पदार्थ हैं, क्योंकि ऐसा माने बिना तीर्थकरों के वचनातिशय में अर्थ के अभाव का प्रसंग आता है। उनके वचन की सार्थकता नहीं बनती है इसलिए बीजपदों का ज्ञान कराने वाली बीजबुद्धि ऋद्धि है, यह सिद्ध हुआ।

बीजप्रतिष्ठितप्रदेशात् अधस्तनश्रुतज्ञानोत्पत्तेः कारणं भूत्वा पश्चादुपरिमश्रुतज्ञानोत्पत्तिनिमित्ता बीजबुद्धिरिति केऽप्याचार्या भणन्ति। तन्न घटते, एतन्मन्यमाने कोष्ठबुद्ध्यादिचतुर्णां ज्ञानानामक्रमेणैकस्मिन् जीवे सर्वदानुत्पत्तिप्रसंगात्।

तत्कथं ?

बीजबुद्धिसहितजीवे न तावदनुसारी प्रतिसारी वा संभवति, उभयदिशाविषयश्रुतज्ञानजननक्षमबीज-बुद्धिमधिष्ठितजीवे बीजबुद्धिविरुद्धयोरनुसारिप्रतिसारिबुद्धयोरवस्थानविरोधात्। उभयसारिबुद्धिरपि न संभवति, अधस्तनश्रुतज्ञानोत्पत्तेः कारणं भूत्वा उपरिमश्रुतज्ञानोत्पत्तेः कारणं भवतीति नियमप्रतिबद्धबीजसहित-जीवेऽनियमे-नोभयदिशाविषयश्रुतज्ञानोत्पादनस्वभावोभयसारिबुद्धेरवस्थानविरोधात्। न चैकस्मिन् जीवे सर्वदा चतसृणां बुद्धीनामक्रमेणानुत्पत्तिश्चैव,

बुद्धि तवो वि य लब्धी, विउव्वणलब्धी तहेव ओसहिया।

रस बल अक्खीणा वि य, लब्धीओ सत्त पण्णत्ता।^१

इति गाथाया व्याख्याने गणधरदेवानां चतुरमलबुद्धीनां दर्शनात्। किंच सन्ति गणधरदेवेषु चतस्रो बुद्ध्यः, अन्यथा द्वादशाङ्गानामनुत्पत्तिप्रसंगात्।

एतत्कथम् ?

तदेवोच्यते, न तावत्तत्र गणधरदेवेषु कोष्ठबुद्धेरभावः उत्पन्नश्रुतज्ञानस्यावस्थानेन विना विनाशप्रसंगात्।

बीजपद में स्थित प्रदेश से अधस्तन श्रुतज्ञान की उत्पत्ति का कारण होकर पीछे उपरिम श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त होने वाली बीजबुद्धि है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु वह घटित नहीं होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर कोष्ठबुद्धि आदि चार ज्ञानों की युगपत् एक जीव में सर्वदा उत्पत्ति न हो सकने का प्रसंग आता है।

शंका — वह कैसे ?

समाधान — बीजबुद्धि सहित जीव में न तो अनुसारी बुद्धि संभव है और न प्रतिसारी बुद्धि संभव है। क्योंकि उभय (अधस्तन व उपरिम) दिशा विषयक श्रुतज्ञान के उत्पन्न करने में समर्थ ऐसी बीजबुद्धि को प्राप्त जीव में बीजबुद्धि के विरुद्ध अनुसारी और प्रतिसारी बुद्धियों के अवस्थान का विरोध है। उभयसारि बुद्धि भी संभव नहीं है, क्योंकि वह अधस्तन श्रुतज्ञान की उत्पत्ति का कारण होकर उपरिम श्रुतज्ञान की उत्पत्ति का कारण होती है। ऐसे नियम में प्रतिबद्ध बीजबुद्धि युक्त जीव में अनियम से उभय दिशा विषयक श्रुत ज्ञान को उत्पन्न करने का स्वभाववाली उभयसारि बुद्धि के अवस्थान का विरोध है और एक जीव में सर्वदा चार बुद्धियों की एक साथ उत्पत्ति नहीं ही है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि कहा भी है —

गाथार्थ — बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण इस प्रकार ऋद्धियाँ सात कही गई हैं।

यहाँ पर उक्त गाथा के व्याख्यान में गणधर देवों के चार निर्मल बुद्धियाँ देखी जाती हैं। दूसरी बात यह है कि गणधर देवों के चारों बुद्धियाँ होती हैं, क्योंकि उनके बिना बारह अंगों की उत्पत्ति न हो सकने का प्रसंग आता है।

शंका — बारह अंगों की उत्पत्ति न हो सकने का प्रसंग कैसे आता है ?

समाधान — उसी को कहते हैं कि गणधर देवों में कोष्ठबुद्धि का अभाव तो हो नहीं सकता, क्योंकि

न बीजबुद्धेरभावः, तथा विनानवगततीर्थकरवचनविनिर्गताक्षरानक्षरात्मकलिङ्गालिङ्गिकबीजपदानां गणधरदेवानां द्वादशाङ्गाभावप्रसंगात्।

बीजपदस्वरूपावगमो बीजबुद्धिः, ततो द्वादशाङ्गोत्पत्तिः। न च तथा विना तद्द्वादशाङ्गज्ञानमुत्पद्यते, अतिप्रसंगात्। न च तत्र पदानुसारिसंज्ञितज्ञानाभावः, बीजबुद्धेरवगतस्वरूपेभ्यः कोष्ठबुद्धेः प्राप्तावस्थानेभ्यो बीजपदेभ्यः ईहावायाभ्यां विना बीजपदोभयदिशाविषयश्रुतज्ञानाक्षर-पद-वाक्य-तदर्थविषयक-श्रुतज्ञानोत्पत्तेरनुपपत्तेः। न संभिन्नश्रोतुरभावस्तेन विना अक्षरानक्षरात्मकसप्तशतलघुभाषा-अष्टादशमहाभाषा-स्वरूपाया नानाभेदभिन्नबीज-पदस्वरूपायाः प्रतिक्षणमन्यान्यभावमुपगच्छन्त्या दिव्यध्वनेर्ग्रहणाभावात् द्वादशाङ्गोत्पत्तेरभावप्रसंगोऽस्ति। तस्मात् बीजपदस्वरूपावगमो बीजबुद्धिरिति सिद्धम्। तद् बुद्धेर्भेदाभावाद् जीवोऽपि बीजबुद्धिः। तेभ्यो बीजबुद्धिभ्यो जिनेभ्यो नमः इत्युक्तं भवति।

एषा बीजबुद्धिः कुतो भवति ?

इयमृद्धिः विशिष्टावग्रहावरणीयक्षयोपशमाद् भवतीति ज्ञातव्यम्।

अस्याः ऋद्धेः वर्णनं तिलोयपण्णत्तिग्रंथे एवं वर्तते—

णोइंदियसुदणाणावरणाणं वीरअंतरायाए।

तिविहाणं पगदीणं उक्कस्सखउवसमविसुद्धस्स।।९७५।।

ऐसा होने पर अवस्थान के बिना उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान के विनाश का प्रसंग आता है। बीजबुद्धि का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उसके बिना गणधर देवों को तीर्थकर के मुख से निकले हुए अक्षर और अनक्षर स्वरूप बहुत लिङ्गालिङ्गिक बीज पदों का ज्ञान न होने से द्वादशाङ्ग के अभाव का प्रसंग आता है।

बीजपदों के स्वरूप का जानना बीजबुद्धि है, उससे द्वादशाङ्ग की उत्पत्ति होती है और उस बीजबुद्धि के बिना द्वादशाङ्ग की उत्पत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि ऐसा होने में अतिप्रसंग दोष आता है। उनमें पदानुसारी नामक ज्ञान का अभाव नहीं है, क्योंकि बीजबुद्धि से जाना है स्वरूप जिनका तथा कोष्ठबुद्धि से प्राप्त किया है अवस्थान जिन्होंने ऐसे बीजपदों से ईहा और अवाय के बिना बीजपद की उभय दिशा विषयक श्रुतज्ञान तथा अक्षर, पद, वाक्य और उनके अर्थ विषयक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति नहीं बन सकती है। उनमें संभिन्नश्रोतृत्व का अभाव नहीं है, क्योंकि उसके बिना अक्षरानक्षरात्मक, सात सौ लघुभाषा और अठारह महाभाषा स्वरूप नाना भेदों से भिन्न बीजपदरूप व प्रत्येक क्षण में भिन्न-भिन्न भाव प्राप्त होने वाली ऐसी दिव्यध्वनि का ग्रहण न होने से द्वादशाङ्ग की उत्पत्ति के अभाव का प्रसंग आता है।

इस कारण बीजपदों के स्वरूप का जानना बीजबुद्धि है, ऐसा सिद्ध हुआ। उक्त बुद्धि से भिन्न न होने के कारण जीव भी बीजबुद्धि है। उन बीजबुद्धि के धारक जिनों को नमस्कार हो, यह सूत्र में कहा गया है।

शंका—यह बीजबुद्धि ऋद्धि किस कारण से होती है ?

समाधान—वह ऋद्धिविशिष्ट अवग्रहावरणीय के क्षयोपशम से होती है, ऐसा जानना चाहिए।

इस ऋद्धि का वर्णन तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में इस प्रकार आया है—

गाथार्थ—नो इन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन तीन प्रकार की प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से विशुद्ध हुए किसी भी महर्षि की जो बुद्धि, संख्यातरूप शब्दों के बीच में से लिङ्गसहित एक ही

संखेज्जसरूवाणं सहाणं तत्थ लिंगसंजुत्तं।
 एककं चिय बीजपदं लब्धुण परोपदेसेणं॥१७६॥
 तम्मि पदे आधारे सयलसुदं चिंतिऊण गेणहेदि।
 कस्स वि महेसिणो जा बुद्धी सा बीजबुद्धि त्ति॥१७७॥

अन्यत्रापि कथितं—

“एकबीजाक्षरात् शेषशास्त्रज्ञानं बीजबुद्धिः^१।”

तथैवोक्तं प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयीग्रन्थे—

“विशिष्टक्षेत्रे कालादिसहायमेकमप्युत्तं बीजमनेकबीजप्रदं यथा भवति, तथैकबीजपदग्रहणादनेकपदार्थ-
 प्रतिपत्तिर्यस्यां बुद्धौ सा बीजबुद्धिः।^३”

अधुना पदानुसारि-ऋद्धिधारिणां नमस्कर्तुं श्रीमद्गौतमस्वामिगणधरदेवेन सूत्रमवतार्यते—

णमो पदानुसारीणं॥८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—अत्र जिनशब्दोऽनुवर्तते, तेन “णमो पदानुसारीणं जिणाणं” इति वक्तव्यं।
 प्रमाण-मध्यमादिपदैः अत्र प्रयोजनाभावाद् बीजपदस्य ग्रहणं अस्ति। तथाहि—“पदमनुसरति अनुकुरुते
 इति पदानुसारी बुद्धिः।^४” बीजबुद्धेः बीजपदमवगम्यात्र इदं एतेषामक्षराणां लिंगं भवति न भवतीति
 ईहित्वा सकलश्रुताक्षरपदान्यवगच्छन्ती पदानुसारी। तेभ्यः पदेभ्यः समुत्पद्यमानं ज्ञानं श्रुतज्ञानं न अक्षरपदविषयं,
 बीजभूत पद को पर के उपदेश से प्राप्त करके उस पद के आश्रय से सम्पूर्ण श्रुत को विचार करके ग्रहण
 करती है, वह बीजबुद्धि है॥१७५-१७६-१७७॥

अन्यत्र भी तत्त्वार्थवृत्ति में कहा है—

“एक बीजाक्षर से शेष शास्त्रों का ज्ञान हो जाना बीजबुद्धि है।”

यही बात प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी में कही है—

“जैसे कालादि की सहायता से—अनुकूल समय के अनुसार विशिष्ट क्षेत्र—खेत में बोया गया एक
 बीज अनेक बीज को प्रदान करने वाला होता है, उसी प्रकार एक बीजपद को ग्रहण करने से अनेक पदार्थों का
 ज्ञान जिस बुद्धि में उत्पन्न हो जाता है, उसे बीजबुद्धि कहते हैं।”

अब पदानुसारि ऋद्धि के धारक मुनियों को नमस्कार करने हेतु श्रीमान् गौतमस्वामी गणधरदेव के द्वारा
 सूत्र अवतरित किया जा रहा है—

सूत्रार्थ—

पदानुसारी ऋद्धि के धारक जिनों को नमस्कार हो॥८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—यहाँ सूत्र में “जिन” शब्द की अनुवृत्ति पूर्व से ही चली आ रही है,
 इसलिए “पदानुसारी ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो” ऐसा कथन करना चाहिए। प्रमाण और मध्यम
 आदि पदों से यहाँ प्रयोजन न होने के कारण बीजपद का ग्रहण किया है। वह इस प्रकार है—“पद का जो
 अनुसरण अर्थात् अनुकरण करती है वह पदानुसारी बुद्धि है।” बीजबुद्धि से बीजपद को जानकर यहाँ यह इन
 अक्षरों का लिंग होता है और इनका लिंग नहीं होता है इस प्रकार का विचार करके समस्त श्रुत के अक्षर और
 १. तिलोपपण्णत्ति अ. ४, पृ. २७२। २. तत्त्वार्थवृत्ति अ. ४, सूत्र ३६ के अन्तर्गत। ३. प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी।
 ४. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. ९, पृ. ६०।

तेषामक्षरदानां बीजपदान्तर्भावात्। सा च पदानुसारी बुद्धिः अनुसारप्रतिसारि-तदुभयसारि भेदेन त्रिविधा। या बीजपदादधस्तनपदानि चैव बीजपदस्थितलिंगेन जानन्ती सा प्रतिसारी नाम। उपरिमाणि च पदानि जानन्ती सानुसारी नाम। द्विपार्श्वस्थितपदानि नियमेन विना नियमेन वा जानन्ती सा उभयसारी नाम। एतेषां पदानुसारिजनानां भूमौ पतित्वा कृतिकर्मविधिपूर्वकं नमस्करोमि इति भणितं भवति।

इयमृद्धिः कुतो भवति ?

ईहावायावरणीयानां तीव्रक्षयोपशमेन भवतीति ज्ञातव्यम्।

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयीनाम्नि ग्रन्थे वर्तते —

“आदावन्ते यत्र तत्र चैकपदग्रहणात्समस्तग्रन्थार्थस्यावधारणं यस्यां बुद्धौ सा पदानुसारिणी बुद्धिः^१।”

श्रीमद्यतित्वृषभाचार्येण कथ्यते —

“बुद्धी वियक्खणाणं, पदाणुसारी हवेदि तिविहण्णा।

अणुसारी पडिसारी, जहत्थणामा उभयसारी॥१८०॥

आदिअवसाणमज्झे, गुरुवदेसेण एक्कबीजपदं।

गेण्हिय उवरिम गंथं, ज गिण्हदि सा मदी हु अणुसारी^२॥१८१॥

तथैव याधस्तनग्रन्थं बुद्ध्यति सा प्रतिसारी। नियमेनानियमेन च युगपदेकस्य बीजपदस्य उपरिमाधस्तन-

पदों को जानने वाली पदानुसारी बुद्धि है। उन पदों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। वह अक्षर-पद विषयक नहीं है, क्योंकि उन अक्षर और पदों का बीजपद में अन्तर्भाव हो जाता है। वह पदानुसारी बुद्धि ऋद्धि अनुसारी, प्रतिसारी और तदुभयसारी के भेद से तीन प्रकार की है। जो बीजपद से अधस्तन पदों को ही बीजपदस्थित लिंग से जानती है वह प्रतिसारी बुद्धि है। जो उपरिम पदों को ही जानती है वह अनुसारी बुद्धि है। दोनों पार्श्वस्थ पदों को नियम से अथवा बिना नियम के भी जो जानती है वह उभयसारी बुद्धि है। इन पदानुसारी जिनों को भूमिपतित होकर — साष्टांग या पंचांग से कृतिकर्म विधिपूर्वक नमस्कार करता हूँ, ऐसा सूत्र में कहा गया है।

शंका — यहाँ ऋद्धि कैसे होती है ?

समाधान — ईहावरणीय और अवायावरणीय मतिज्ञान के तीव्र क्षयोपशम से यह-यह ऋद्धि होती है, ऐसा जानना चाहिए।

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी नाम के ग्रंथ में (श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने) कहा है —

“आदि के या अन्त के या जिस किसी एक पद के ग्रहण से समस्त ग्रंथ के अर्थ का अवधारण जिस बुद्धि में होता है, वह पदानुसारी बुद्धि कहलाती है।”

श्री यतित्वृषभ आचार्य ने तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में भी कहा है —

गाथार्थ — विचक्षण पुरुषों की पदानुसारिणी बुद्धि अनुसारिणी, प्रतिसारिणी और उभयसारिणी के भेद से तीन प्रकार की है, इस बुद्धि ऋद्धि के ये यथार्थ नाम हैं॥१८०॥

जो बुद्धि आदि, मध्य अथवा अन्त में गुरु के उपदेश से एक बीज पद को ग्रहण करके उपरिम ग्रंथ को ग्रहण करती है, वह अनुसारिणी बुद्धि कहलाती है॥१८१॥

उसी प्रकार से जो अधस्तन ग्रंथ को जानती है, वह प्रतिसारी है। नियम और अनियम से एक साथ

ग्रन्थानपि या बुद्ध्यति सा उभयसारी पदानुसारी बुद्धिः ऋद्धिर्वर्तते एष अभिप्रायः श्रीमद्यतिवृषभसूरिवर्यस्य।
संप्रति संभिन्नश्रोतुबुद्धिर्नमस्कारकरणार्थं श्रीमद् गौतमगणधरदेवेन सूत्रमवतार्यते —

णमो संभिण्णसोदाराणं ।।९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ‘जिणाणं’ इति अनुवर्तते। सम्यक् श्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमेन भिन्नाः अनुविद्धाः संभिन्नाः, संभिन्नाश्च ते श्रोतारश्च संभिन्नश्रोतारः। अनेकशब्दानामक्षरानक्षरस्वरूपाणां कथंचित् युगपद प्रवृत्तानां श्रोतारः संभिन्नश्रोतार इति निर्दिष्टाः।

एकस्या अक्षौहिणीसेनायाः प्रमाणमत्र कथ्यते —

नवनागसहस्राणि, नागे नागे शतं रथाः।

रथे रथे शतं तुर्गाः, तुर्गे तुर्गे शतं नराः ।।^१

एतादृश्यश्चतस्रोऽक्षौहिणीसेनाः स्वक-स्वकभाषाभिरक्षरानक्षरस्वरूपाभिरक्रमेण यदि भणन्ति तर्ह्यपि संभिन्नश्रोतारो मुनयः अक्रमेण सर्वभाषाः गृहीत्वा प्रत्युत्तरं ददति। एतेभ्यः संख्यातगुणभाषासंभृततीर्थकर-वचनविनिर्गतध्वनिसमूहमक्रमेण ग्रहणक्षमे संभिन्नश्रोतरि न चेदमाश्चर्यम्।

कुत एषा ऋद्धिर्जायते ?

बहु-बहुविध-क्षिप्रमतिज्ञानावरणीयाणां क्षयोपशमेन जायते। एतेषां संभिन्नश्रोतृणां जिनानां नमस्कारोऽस्तु इति उक्तं भवति। संप्रति अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणजिनानामेतेष्वेवान्तर्भावो भवतीति

बीजपद के उपरिम-अधस्तन ग्रंथों को जो बुद्धि जानती है, वह उभयसारी पदानुसारी बुद्धि ऋद्धि कहलाती है, यही श्रीमान् यतिवृषभआचार्य का यहाँ अभिप्राय है।

अब संभिन्नश्रोतुबुद्धि ऋद्धिधारकों को नमस्कार करने हेतु श्रीमान् गणधरदेव सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

संभिन्नश्रोतुबुद्धि ऋद्धि के धारक जिनों को नमस्कार हो ।।९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ‘जिनों को’ इस पद की अनुवृत्ति यहाँ भी चल रही है। सं अर्थात् सम्यक् प्रकार से श्रोत्रेन्द्रियावरण के क्षयोपशम से जो भिन्न— अनुविद्ध हैं, वे संभिन्न कहलाते हैं, संभिन्न ऐसे जो श्रोता वे संभिन्नश्रोता हैं। कथंचित् युगपत् प्रवृत्त हुए अक्षर-अक्षर स्वरूप अनेक शब्दों के श्रोता संभिन्न श्रोता हैं, ऐसा निर्देश किया गया है।

यहाँ एक अक्षौहिणी सेना का प्रमाण कहते हैं —

श्लोकार्थ — एक अक्षौहिणी में नौ हजार हाथी, एक हाथी के आश्रित सौ रथ, एक-एक रथ के आश्रित सौ घोड़े और एक-एक घोड़े के आश्रित सौ मनुष्य होते हैं। यह एक अक्षौहिणी सेना का प्रमाण है।।

ऐसी चार अक्षौहिणी सेना अक्षर-अक्षर स्वरूप अपनी-अपनी भाषाओं से यदि युगपत् बोलें तो भी संभिन्नश्रोता युगपत् सब भाषाओं को ग्रहण करके इनका उत्तर दे देते हैं इनसे संख्यातगुणी भाषाओं से भरी हुई तीर्थकर के मुख से निकली हुई ध्वनि के समूह को युगपत् ग्रहण करने में समर्थ ऐसे संभिन्नश्रोता के विषय में यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

शंका — यह ऋद्धि कैसे होती है ?

समाधान — बहु, बहुविध और क्षिप्र मतिज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से यह ऋद्धि होती है। इन संभिन्नश्रोता जिनों को नमस्कार हो, यह सूत्र का अभिप्राय बताया है। यहाँ अवग्रह, ईहा, अवाय और

पृथक् नमस्कारो न कृतः।

उक्तं चान्यत्र —

“सं सम्यक् संकरव्यतिकरव्यतिरेकेण भिन्नं विविक्तं शब्दस्वरूपं शृणोतीति संभिन्नश्रोत्री ऋद्धिः द्वादशयोजनायाम-नवयोजनविस्तारचक्रवर्तिस्कन्धावारोत्पन्नरकरभाद्यक्षरानक्षरात्मक शब्दसंदोहस्यान्योन्यं विभिन्नस्यापि युगपत्प्रतिभासो यस्यामृद्धौ सत्यां भवति स संभिन्नश्रोत्रीत्यर्थः। सा तपःप्रभावाद्विद्यते येषां ते संभिन्न श्रोतारः^१,” तेभ्यो नमोऽस्तु।

श्रीयतिवृषभाचार्येण कथ्यते —

सोदिंदियसुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए।
उक्कस्सक्खउवसमे उदिदंगोवंगणामकम्ममि।।
सोदुक्कस्सखिदीदो वाहिं संखेज्जजोयणपदेसे।
संठियणरतिरियाणं, बहुविहसदे समुट्ठंते।।
अक्खरअणक्खरमए सोदूणं दसदिसासु पत्तेक्कं।
जं दिज्जदि पडिवयणं, तं चिय संभिण्णसोदिंतं।।^२

तात्पर्यमत्र — एतेषां ऋद्धिसमन्वितानां नमस्कारेण ममापि बुद्धिर्विशुद्धा भवेदिति भावयेऽहम्।

अत्र विशेषः —

अस्य नवमसूत्रस्यानन्तरं त्रीणि सूत्राण्यपि वर्तन्ते अन्यत्र पाक्षिकप्रतिक्रमणसूत्रग्रन्थे। तथाहि —

धारणारूप जिनों का चूँकि इन्हीं में अन्तर्भाव होता है, अतः इन्हें पृथक् नमस्कार नहीं किया गया है।

अन्यत्र भी कहा है —

सं का अर्थ है सम्यक् प्रकार से संकर और व्यतिकर दोष से रहित भिन्न-भिन्न शब्द के स्वरूप को जो सुनता है, वह संभिन्नश्रोत्री ऋद्धि है। बारह योजन लम्बे और नौ योजन चौड़े चक्रवर्ती के स्कन्धावार के मनुष्य-घोड़े-ऊँट आदि से उत्पन्न अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक परस्पर विभिन्न भी शब्दसमूह का एक साथ प्रतिभास जिस ऋद्धि के होने पर होता है, वह संभिन्नश्रोत्री है। वह ऋद्धि तप के प्रभाव से जिनके होती है, वे संभिन्न श्रोता कहलाते हैं, उन सभी को नमस्कार होवे।

श्री यतिवृषभाचार्य ने भी कहा है —

गाथार्थ — श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर श्रोत्र इन्द्रिय के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहिर दशों दिशाओं में संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्य एवं तिर्यचों के अक्षरानक्षरात्मक बहुत प्रकार के उठने वाले शब्दों को सुनकर जिससे प्रत्युत्तर दिया जाता है, वह संभिन्नश्रोतृत्व नामक बुद्धिऋद्धि कहलाती है।।

यहाँ तात्पर्य यह है कि — इन ऋद्धि समन्वित महामुनिराजों के नमस्कार से मेरी भी बुद्धि विशुद्ध — निर्मल होवे, यही मेरी भावना है।

यहाँ विशेष बात यह है कि —

पाक्षिक प्रतिक्रमण सूत्रग्रंथ में इस नवमें सूत्र के अनन्तर तीन सूत्र और भी आए हैं, जो इस प्रकार हैं —

“णमो स्वयंबुद्धाणं” वैराग्यकारणं किञ्चिद् दृष्ट्वा परोपदेशं चानपेक्ष्य स्वयमेव ये वैराग्यं गतास्ते स्वयंबुद्धाः, तेषां नमः।

“णमो पत्तेयबुद्धाणं” प्रत्येकान्निमित्ताद् बुद्धाः प्रत्येकबुद्धा यथा नीलाञ्जनाविलयाद् वृषभादयः, तेषां नमः।

“णमो बोधियबुद्धाणं” ये भोगासक्ताः शरीरादिष्वशास्त्रादिस्वरूपं प्रदर्श्य वैराग्यं नीतास्ते बोधितबुद्धाः, तेषां नमः।^१

तात्पर्यमत्र — एतेषां नामस्मरणेन मम वैराग्यं दृढीभवेदिति आ मोक्षपर्यंतमिति याच्यते मया।

एवं चतुर्थस्थले मतिज्ञानद्विसमन्वितानां महामुनीनां नमस्कारत्वेन चत्वारि सूत्राणि गतानि।

अधुना ऋजुमतिमुनीनां नमस्कारकरणार्थं श्रीगौतमभट्टारकेण सूत्रमवतार्यते —

णमो उजुमदीणं॥१०॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — परकीयमतिगतोऽर्थः उपचारेण मतिः। ऋज्वी अवक्रा।

कथमृजुत्वम् ?

यथार्थमत्यारोहणात् यथार्थमभिधानगतत्वात् यथार्थमभिनयगतत्वाच्च। ऋज्वी मतिर्यस्य सः ऋजुमतिः।

“स्वयंबुद्ध ऋद्धिधारकों को नमस्कार हो” अर्थात् जो वैराग्य का किञ्चित् मात्र कारण देखकर परोपदेश की अपेक्षा न करके स्वयं वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं, वे स्वयंबुद्ध कहलाते हैं, उन्हें नमस्कार होवे।

“प्रत्येकबुद्ध जिनों को नमस्कार हो” अर्थात् जो परोपदेश के बिना किसी एक निमित्त से वैराग्य को प्राप्त होते हैं, वे प्रत्येक बुद्ध ऋद्धि के धारक कहलाते हैं, जैसे — नीलाञ्जना के विलय से वृषभादिक तीर्थकर वैराग्य को प्राप्त हुए हैं, उन प्रत्येकबुद्धजिनों को नमस्कार होवे।

“बोधितबुद्ध ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार हो” अर्थात् जो भोगों में आसक्त महापुरुष अपने शरीर आदि में अशाश्वत रूप देखकर वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं, वे बोधितबुद्ध ऋद्धि के धारक कहलाते हैं, उन्हें मेरा नमस्कार होवे।

यहाँ तात्पर्य यह है कि — इन सभी के स्मरण से मेरा वैराग्य दृढ़ होवे, यही मोक्ष जाने पर्यन्त मेरे द्वारा याचना की जाती है।

इस प्रकार से चतुर्थ स्थल में मतिज्ञान की ऋद्धि से समन्वित महामुनियों के नमस्कार की मुख्यता वाले चार सूत्र पूर्ण हुए।

अब ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी मुनियों को नमस्कार करने हेतु श्री गौतमगणधर भट्टारक के द्वारा सूत्र अवतरित किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी महामुनियों को नमस्कार हो॥१०॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — परकीयमति — दूसरे की मति अर्थात् मन में अर्थ-पदार्थ उपचार से मति कहलाता है। ऋजु का अर्थ वक्रता रहित है।

शंका — ऋजुता किस कारण से है ?

समाधान — यथार्थ मति का विषय होने से, यथार्थ वचनगत होने से और यथार्थ अभिनय अर्थात्

ऋजुकेन मनोगतं ऋजुकेन वचन-कायगतमर्थमृजुकं जानन् तद्विपरीतमनृजुकमर्थमजानन् मनःपर्ययज्ञानी ऋजुमतिरिति भण्यते।

ऋजुमतिर्मनःपर्ययज्ञानी मनसाऽचिन्तितं वचनेनानुक्तं कायेनानभिनीतमर्थं किमिति न जानाति ?

न ज्ञायते, विशिष्टक्षयोपशमाभावात्।

मतिज्ञानेन वा श्रुतज्ञानेन वा मनोवचनकायभेदं ज्ञात्वा पश्चात्तत्रस्थितमर्थं प्रत्यक्षेण जानतो मनःपर्ययज्ञानस्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावभेदेन विषयश्चतुर्विधः।

द्रव्येण तत्र ऋजुमतिरेकसमयिकमौदारिकशरीरस्य निर्जराद्रव्यं जघन्येन जानाति। उत्कर्षेण एकसमयिक-मिन्द्रियनिर्जराद्रव्यं जानाति। जघन्योत्कृष्टद्रव्याणां मध्यमद्रव्यविकल्पान् तद्व्यतिरिक्ता ऋजुमतिर्जानाति।

क्षेत्रेण जघन्यं गव्यूतिपृथक्त्वं उत्कर्षेण योजनपृथक्त्वं, जघन्योत्कृष्टक्षेत्राणां मध्यमविकल्पान् तद्व्यतिरिक्ता ऋजुमतिर्जानाति।

कालापेक्षया जघन्येन द्वौ भवौ त्रींश्च जानाति। अतीतानागतौ द्वावेव भवौ गृण्हाति, वर्तमानभवेन सह त्रीन् भवान् जानाति। किन्तु वर्तमानभवग्रहणं सुष्ठु न जानाति, अतीतानागतयुः-संपदसंपद-भुक्त-कृत-प्रतिसेविता-दिनानासूक्ष्मार्थाकीर्णस्य सुज्ञातत्वविरोधात्। उत्कर्षेण सप्ताष्टभवान् जानाति। अतीतानागतान् सप्त, वर्तमानेन सहाष्टौ भवान् जानाति। जघन्योत्कृष्टकालानां मध्यमविकल्पं तद्व्यतिरिक्त-ऋजुमतिर्मनःपर्ययज्ञानी जानाति।

शारीरिक चेष्टागत होने से उक्त मति में ऋजुता है।

ऋजु है मति जिसकी वह ऋजुमति कहा जाता है। ऋजुता से — सरलता से, मनोगत, वचनगत व कायगत से अर्थ को सरलता से जानने वाला और उससे विपरीत वक्र अर्थ को न जानने वाला मनःपर्ययज्ञानी ऋजुमति का धारक कहा जाता है।

शंका — ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी मन से अचिन्तित, वचन से अनुक्त और काय से अनभिनीत अर्थात् शारीरिक चेष्टा के अविषयभूत अर्थ को क्यों नहीं जानता है ?

समाधान — नहीं जानता है, क्योंकि उसके विशिष्ट क्षयोपशम का अभाव पाया जाता है।

मतिज्ञान अथवा श्रुतज्ञान से मन, वचन व काय के भेद को जानकर पश्चात् वहाँ स्थित अर्थ को प्रत्यक्ष से जानने वाले मनःपर्ययज्ञानी का विषय द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के भेद से चार प्रकार का है। द्रव्य की अपेक्षा इनमें ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जघन्य से एक समय संबंधी औदारिक शरीर की निर्जरा द्रव्य को जानता है। उत्कृष्ट से एकसमय की इन्द्रिय निर्जरा के द्रव्य को जानता है।

जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यों के मध्यम द्रव्य विकल्पों को तद्व्यतिरिक्त ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है।

क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से वह गव्यूतिपृथक्त्व (३ कोश से ६ कोश तक) और उत्कृष्ट से योजन पृथक्त्व (३ योजन से ६ योजन तक) को जानता है। जघन्य व उत्कृष्ट क्षेत्र के मध्यम विकल्पों को तद्व्यतिरिक्त ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है।

काल की अपेक्षा जघन्य से दो और तीन भव को जानता है। अतीत और अनागत इन दो ही भव को ग्रहण करता है। वर्तमान भव के साथ तीन भवों को जानता है। किन्तु इसमें वर्तमान भव के ग्रहण को ठीक से नहीं जानता है, क्योंकि अतीत और अनागत आयु, सम्पत्, असम्पत्, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित आदि नाना सूक्ष्म अर्थों से आकीर्ण भव के अच्छी तरह जानने में विरोध आता है। उत्कृष्ट से सात-आठ भव को जानता है। अतीत और अनागत सात तथा वर्तमान के साथ आठ भव को जानता है। जघन्य और उत्कृष्ट काल के

भावेन जघन्योत्कृष्टद्रव्येषु तत्प्रायोग्यान् असंख्यातान् भावान् जघन्योत्कृष्ट-ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानिनो जानन्ति।
एतेभ्यः ऋजुमतिजिनेभ्यो नमः।

अधुना विपुलमतिज्ञानिनां नमस्कारकरणार्थं श्रीमद्गौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

णमो विउलमदीणं॥११॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — परकीयमतिगतोऽर्थो मतिः। विपुला विस्तीर्णा।

कुतो वैपुल्यम् ?

यथार्थं मनोगमनात् अयथार्थं मनोगमनात् उभयथापि तदवगमनात्। यथार्थं वचोगमनात् अयथार्थं वचोगमनात् उभयथापि तत्र गमनात्। यथार्थं कायगमनात् अयथार्थं कायगमनात् ताभ्यां तत्र गमनात् वैपुल्यम्। विपुला मतिर्यस्य सः विपुलमतिः। तद्योगाज्जिनोऽपि विपुलमतिः। ऋजु अनृजु वा मनोवचनकायगतं तैर्द्वाभ्यां अपि प्रकारैः तेषामप्राप्तमर्द्धप्राप्तं च वस्तु जानतो विपुलमतेर्जघन्योत्कृष्ट तद्व्यतिरिक्तद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानां प्ररूपणा क्रियते —

द्रव्यतो जघन्येन एकसमयमिन्द्रियनिर्जरां जानाति।

उत्कृष्टद्रव्यज्ञापनार्थं तत्प्रायोग्यासंख्यातानां कल्पानां समयां शलाकाभूतान् स्थापयित्वा मनोद्रव्यवर्गणाया अनन्तिमभागं विरलव्य अजघन्योत्कृष्टमेकसमयप्रबद्धं विस्त्रसोपचयविरहितमष्टकर्मप्रतिबद्धं समखण्डं कृत्वा

मध्यम विकल्प को तद्व्यतिरिक्त ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है। भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यों में उसके योग्य असंख्यात भावों को जघन्य व उत्कृष्ट ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानते हैं।

इन ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जिनों के लिए नमस्कार हो।

अब विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी मुनियों को नमस्कार करने हेतु श्रीमान् गौतम स्वामी सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी जिनों को नमस्कार हो॥११॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — दूसरे की मति में स्थित पदार्थ मति कहा जाता है। विपुल का अर्थ विस्तीर्ण है।

शंका — विपुलता किस कारण से है ?

समाधान — जैसा पदार्थ है, उस प्रकार मन को प्राप्त होने से, जैसा पदार्थ है उसके विरुद्ध मन को प्राप्त होने से और दोनों प्रकार से भी मन को प्राप्त होने से, तथा यथार्थ वचन को प्राप्त होने से, अयथार्थ वचन को प्राप्त होने से और दोनों प्रकार से भी उसमें प्राप्त होने से एवं यथार्थ काय को प्राप्त होने से, अयथार्थ काय को प्राप्त होने से तथा उन दोनों प्रकारों से भी वहाँ प्राप्त होने से विपुलता है। विपुल है मति जिसकी वह विपुलमति कहा जाता है। विपुलमति के योग संबंध से जिन (मुनि) भी विपुलमति कहलाते हैं। ऋजु या अनृजु मन, वचन व काय में स्थित उन दोनों ही प्रकारों से उनको अप्राप्त और अर्धप्राप्त वस्तु को जानने वाले विपुलमति के जघन्य, उत्कृष्ट और तद्व्यतिरिक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की प्ररूपणा करते हैं —

द्रव्य की अपेक्षा वह जघन्य से एक समय में होने वाली इन्द्रिय निर्जरा को जानता है।

उत्कृष्ट द्रव्य के ज्ञापनार्थ उसके योग्य असंख्यात कल्पों के समयों को शलाकारूप से स्थापित करके मनोद्रव्यवर्गणा के अनन्तर्वे भाग का विरलन कर विस्त्रसोपचयरहित आठ कर्मसंबंधी अजघन्यानुत्कृष्ट एक

दत्ते तत्रैकखण्डं द्वितीयविकल्पो भवति। शलाकाराशितः एकरूपमपनेतव्यं। एवमनेन विधानेन नेतव्यं यावत्शलाकाराशिः समाप्त इति। अत्रापश्चिमद्रव्यविकल्पमुत्कृष्टविपुलमतिर्जानाति। जघन्योत्कृष्टद्रव्याणां मध्यमविकल्पान् तद्व्यतिरिक्तविपुलमतिर्जानाति।

क्षेत्रेण जघन्यं योजनपृथक्त्वम्। न च ऋजुमत्युत्कृष्टक्षेत्रेण विपुलमतिजघन्यक्षेत्रं समानं। योजन-पृथक्त्वेऽनेकभेददर्शनात्।

उत्कर्षेण मानुषोत्तरशैलस्याभ्यन्तरतो न बाह्ये। पंचचत्वारिंशद्व्योजनलक्षणधनप्रतरं जानातीत्युक्तं भवति।

उक्तं च श्रीमद्वीरसेनाचार्येण — “तदो माणुसुत्तरसेलब्धंतरवयणं ण खेत्तणियामयं, किन्तु माणुसुत्तर-सेलब्धतरपणदालीसजोयणलक्खणियामयं, विउलमदिमणपज्जवणाणुज्जोयसहिदखेत्तं घणागारेण ठइदे पणदालीसलक्खमेत्तं चेव होदि त्ति। अधवा उवदेसं लब्धूण वत्तव्वं।”

कालतो जघन्येन सप्ताष्टभवग्रहणानि, उत्कर्षेणासंख्यातानि भवग्रहणानि जानाति।

भावेन यद् यद् दृष्टं द्रव्यं तस्य तस्यासंख्यातपर्यायान् जानाति। एवंविधेभ्यो विपुलमतिभ्यो नमः। अत्रापि विपुलमतिजिनानां महामुनीनां नमस्कारो ज्ञातव्यः।

इतो विस्तरः — “तत्र विशुद्ध्या तावदृजुमतेर्विपुलमतिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विशुद्धतरः। प्रकृष्टक्षयोपशम-

समय प्रबद्ध को समखण्ड करके देने पर उनमें एक खण्ड द्रव्य का द्वितीय विकल्प होता है। इस समय शलाका राशि में से एक कम करना चाहिए। इस प्रकार इस विधान से शलाका राशि समाप्त होने तक ले जाना चाहिए। इनमें अन्तिम द्रव्यविकल्प को उत्कृष्ट विपुलमति जानता है। जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्य के मध्यम विकल्पों को तद्व्यतिरिक्त विपुलमति जानता है।

क्षेत्र की अपेक्षा विपुलमति का जघन्य से योजनपृथक्त्व विषय है। ऋजुमति का उत्कृष्ट और विपुलमति का जघन्य क्षेत्र यहाँ समान नहीं है, क्योंकि योजनपृथक्त्व में अनेक भेद देखे जाते हैं।

उत्कृष्ट से वह मानुषोत्तर पर्वत के भीतर की बात जानता है, बाहर की नहीं। तात्पर्य यह है कि पैतालीस लाख योजन घन प्रतर को जानता है, ऐसा कहा गया है।

श्री वीरसेनाचार्य ने (धवला टीका में) कहा है —

अतएव “मानुषोत्तर पर्वत के भीतर” यह वचन क्षेत्र का नियामक नहीं है, किन्तु मानुषोत्तर पर्वत के भीतर पैतालीस लाख योजनों का नियामक है, क्योंकि विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के उद्योत सहित क्षेत्र को घनाकार से स्थापित करने पर पैतालीस लाख योजन मात्र ही होता है। अथवा उपदेश प्राप्त करके इस विषय का व्याख्यान करना चाहिए।”

काल की अपेक्षा वह जघन्य से सात-आठ भवग्रहणों को और उत्कृष्ट से असंख्यात भवग्रहणों को जानता है।

भाव की अपेक्षा जो जो द्रव्य ज्ञात है, उस उसकी असंख्यात पर्यायों को जानता है। इस प्रकार के विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी जिनों को नमस्कार हो। यहाँ भी विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी जिनों को अर्थात् महामुनियों को नमस्कार किया है, ऐसा जानना चाहिए।

इसका विस्तार करते हैं —

“ऋजुमति और विपुलमति इन दोनों मनःपर्ययज्ञानों में विशुद्धि की अपेक्षा ऋजुमति से विपुलमति में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सभी के द्वारा अधिक विशुद्धि पाई जाती है। प्रकृष्ट — उत्कृष्ट क्षयोपशम और विशुद्धिभाव

विशुद्धिभावयोगादप्रतिपातेनापि विपुलमतिर्विशिष्टा, स्वामिनां प्रवर्धमानचारित्रोदयत्वात्। ऋजुमतिः पुनः प्रतिपाती स्वामिनां कषायोद्रेकाद् हीयमानचारित्रोदयत्वात्।^१”

अनेनैतद् ज्ञातव्यं — विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी नियमेन तद्भवेनैव मोक्षं प्राप्नोति न च ऋजुमतिमनःपर्यय-ज्ञानिनां नियमः। इति ज्ञात्वा केवलं केवलज्ञानप्राप्त्यर्थमेव प्रयत्नो विधातव्यः।

एवं पंचमस्थले मनःपर्ययज्ञानभेदस्वरूप कथनत्वेन सूत्रद्वयं गतम्।

अधुना दशपूर्विमुनीनां नमस्कारकरणार्थं श्रीमद्गौतमगणधरदेवेन सूत्रमवतार्यति —

णमो दसपुर्व्वियाणं॥१२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अत्र दशपूर्विणौ भिन्नाभिन्नभेदेन द्विविधौ भवतः। तत्र एकादशांगानि पठित्वा पुनः परिकर्म-सूत्र-प्रथमानुयोग-पूर्वगत-चूलिका इति पञ्चाधिकार निबद्धदृष्टिवादे पठ्यमाने उत्पादपूर्वमादिं कृत्वा पठतो दशमपूर्वनाम्नि विद्यानुप्रवादे समाप्ते सप्तशतलघुविद्याभिरनुगता रोहिण्यादिपञ्चशतमहाविद्याः आगत्य “भगवन्! किं आज्ञापयसि।” इति पृच्छन्ति। एवं उपस्थितानां सर्वविद्यादेवतानां यो महामुनिर्लोभं गच्छति सः भिन्नदशपूर्वी। यः पुनः न तासु लोभं करोति कर्मक्षयी भवन् सः अभिन्नदशपूर्वी नाम। तत्र अभिन्नदशपूर्विजिनानां नमस्कारं करोमीति कथितं भवति।

अस्मिन् सूत्रे भिन्नदशपूर्विणां प्रतिनिवृत्तिः कथं भवति ?

के कारण अप्रतिपाती होने से भी विपुलमति में विशेषता है, क्योंकि उसके धारक स्वामी के प्रवर्धमान चारित्र का उदय होता है और ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान प्रतिपाती होता है, क्योंकि इसके धारक स्वामी के कषाय का उद्रेक होने से हीयमान चारित्र का उदय पाया जाता है।”

इससे यह जानना चाहिए कि विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी मुनि नियमपूर्वक उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी का ऐसा नियम नहीं है, ऐसा निष्कर्ष समझकर हमें मात्र केवलज्ञान की प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार पंचम स्थल में मनःपर्ययज्ञान के भेदों का स्वरूप बतलाने वाले दो सूत्र पूर्ण हुए।

अब दशपूर्व के ज्ञानधारक मुनियों को नमस्कार करने के लिए श्री गौतम गणधर देव सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

दशपूर्व ज्ञानधारक जिनों को नमस्कार हो॥१२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — यहाँ भिन्नदशपूर्वी और अभिन्न दशपूर्वी इन प्रकारों से दशपूर्वी के दो भेद किये हैं। उनमें जो महामुनि ग्यारह अंगों को पढ़कर पश्चात् परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका, इन पाँच अधिकारों में निबद्ध दृष्टिवाद के पढ़ते समय उत्पादपूर्व से लेकर पढ़ने वालों के दशम पूर्व विद्यानुप्रवाद के समाप्त होने पर अंगुष्ठप्रसेनादि सात सौ क्षुद्र विद्याओं से अनुगत रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याएं ‘भगवान क्या आज्ञा है?’ ऐसा कहकर उपस्थित होती हैं। इस प्रकार उपस्थित हुई सब विद्याओं के लोभ को प्राप्त हो जाते हैं, वह भिन्नदशपूर्वी कहलाते हैं। किन्तु जो कर्मक्षय के अभिलाषी होकर उनमें लोभ नहीं करते हैं, वे अभिन्नदशपूर्वी कहलाते हैं। उनमें अभिन्नदशपूर्वी जिनों को नमस्कार करता हूँ, यह सूत्र का अभिप्राय कहा गया है।

शंका — इस सूत्र में भिन्नदशपूर्वियों की प्रतिनिवृत्ति — व्यावृत्ति कैसे होती है ?

जिनशब्दानुवृत्तित्वात् व्यावृत्तिर्जायते।

उक्तं च श्रीवीरसेनाचार्येण — “ण च तेसिं जिणत्तमत्थि, भग्गमहव्वएसु जिणत्ताणुववत्तीदो^१।”

कश्चिदाह — आचारांगाद्यधस्तनांग-पूर्वधराणां नमस्कारः किं न कृतः ?

आचार्यःप्राह — नैतद् वक्तव्यं, तेषामपि नमस्कारः कृतश्चैव, किंच तेषामत्रोपलंभात्।

चतुर्दशपूर्वधराणां पूर्वं नमस्कारः किं न कृतः ?

न, जिनवचनप्रत्ययस्थानोत्पादनद्वारेण दशपूर्विणां त्यागमहत्वप्रदर्शनार्थं पूर्वं तन्मस्कारकरणात्।
श्रुतपरिपाट्या वा पूर्वं दशपूर्विणां नमस्कारः कृतः।

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयीषु ‘अभिण्णदसपुव्वीणं’, इति सूत्रं वर्तते। अन्यत्रापि दशपूर्विणां लक्षणं — “महारोहिण्यादि-
भिस्त्रिरागताभिः प्रत्येकमात्मीयरूपसामर्थ्याविष्करणकथनकुशलाभिर्वेगवतीभिर्विद्यादेवताभिरविचलितचारित्रस्य
दशपूर्वदुस्तरसमुद्रोत्तरणं दशपूर्वित्वम्^३।”

एतेभ्यो महामुनिभ्यो नमो नमः।

अधुना चतुर्दशपूर्विमहासाधूनां नमस्कारकरणार्थं श्रीमद्गौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

णमो चोदसपुव्वियाणं॥१३॥

समाधान — जिनशब्द की अनुवृत्ति होने से उनकी व्यावृत्ति होती है।

श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है — भिन्नदशपूर्वियों के जिनत्व नहीं पाया जाता है, क्योंकि जिनके महाव्रत
नष्ट हो चुके हैं, उनमें जिनत्व घटित नहीं होता है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — आचारांगादि अधस्तन अंग और पूर्व के धारकों को नमस्कार क्यों नहीं
किया है ?

आचार्यदेव इसका समाधान देते हैं कि — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उनको भी नमस्कार किया
ही है, क्योंकि वे इनमें ही गर्भित रहते हैं।

शंका — चौदह पूर्वों के धारकों को पहले नमस्कार क्यों नहीं किया है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि जिनवचनों पर प्रत्ययस्थान अर्थात् विश्वास उत्पादन द्वारा दशपूर्वियों के
त्याग की महिमा दिखलाने के लिए पूर्व में उन्हें नमस्कार किया है। अथवा श्रुतपरिपाटी की अपेक्षा पहले
दशपूर्वियों को नमस्कार किया है।

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी में “अभिण्णदसपुव्वीणं” ऐसा सूत्र आया है। अन्यत्र भी (तत्त्वार्थवार्तिक ग्रंथ में)
दशपूर्वियों का लक्षण बताया है — “महारोहिणी आदि रागोत्पादक विद्याओं के प्राप्त हो जाने पर प्रत्येक के
अपने-अपने रूप, सामर्थ्य, आविष्करण, कथन कुशलता से सहित वेगवती विद्यादेवताओं के द्वारा विचलित
किये जाने पर भी जो बिल्कुल दृढ़ — अविचल रहते हैं, ऐसे अविचल चारित्रधारक महामुनि दशपूर्वरूपी
दुस्तर समुद्र को पार कर लेते हैं उनके ही दशपूर्वित्व — दशपूर्वी ऋद्धि होती है।”

ऐसे दशपूर्वी ऋद्धिधारक महामुनियों को बारम्बार नमस्कार होवे।

अब चौदहपूर्वी महासाधुओं के नमस्कार हेतु श्रीमान् गौतम स्वामी सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

चौदहपूर्व ऋद्धि के धारक जिनों को नमस्कार हो॥१३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जिनानामिति अत्रानुवर्तते। सकलश्रुतज्ञानधारिणश्चतुर्दशपूर्विणः। तेषां चतुर्दशपूर्विणां जिनानां नमः इत्युक्तं भवति।

शेषाधस्तनपूर्विणां नमस्कारः किन्न कृतः ?

न, तेषामपि कृत एव, तैर्विना चतुर्दशपूर्वानुपपत्तेः।

चतुर्दशपूर्विणामेव नामनिर्देशं कृत्वा किमर्थं नमस्कारः क्रियते ?

विद्यानुप्रवादस्य समाप्तेरिव चतुर्दशपूर्वसमाप्तावपि जिनवचनप्रत्ययदर्शनात्।

चतुर्दशपूर्वसमाप्तौ कः प्रत्ययः ?

उच्यते श्रीवीरसेनाचार्येण —

“चोहसपुव्वाणि समाणिय रत्तिं काओसग्गेण ढिदस्स पहादसमए भवणवासिय-वाणवेंतर-जोदिसिय-कप्पवासियदेवेहि कयमहापूजा संख-काहला-तुरवसंकुला होदु। एदेसु दोसु द्वाणेषु जिणवयणपच्चओवलंभो।”

कश्चिदाशंकते — जिनवचनत्वं प्रति सर्वाङ्गपूर्वाणि समानानीति तेषां सर्वेषां नामनिर्देशं कृत्वा नमस्कारः किन्न कृतः ?

आचार्यदेवः प्राह — नैतद् वक्तव्यं, जिनवचनत्वेन सर्वाङ्गपूर्वैः सदृशत्वे सत्यपि विद्यानुप्रवाद-लोकबिन्दु-सारयोर्महत्त्वमस्ति, अत्रैव देवपूजोपलंभात्। चतुर्दशपूर्वधरो महामुनिर्मिथ्यात्वं न गच्छति, तस्मिन् भवेऽसंयमं च न प्रतिपद्यते, एष एतस्य विशेषो ज्ञातव्यः।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — यहाँ भी ‘जिनों को’ यह शब्द अनुवृत्ति-पीछे से चला आ रहा है। सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के धारी चौदहपूर्वी कहलाते हैं। उन चौदहपूर्वी जिनों को नमस्कार हो, ऐसा कहा गया है।

शंका — शेष अधस्तन पूर्वधारी को नमस्कार क्यों नहीं किया है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना, उनको भी नमस्कार किया ही है, क्योंकि अधस्तन पूर्वों के बिना चौदह पूर्व घटित ही नहीं होते हैं।

शंका — चौदह पूर्व का ही नाम निर्देश करके किसलिए नमस्कार किया जाता है ?

समाधान — क्योंकि विद्यानुप्रवाद पूर्व की समाप्ति के समान चौदहपूर्वों की समाप्ति में भी जिनवचन पर विश्वास देखा जाता है।

शंका — चौदह पूर्व की समाप्ति में कौन सा कारण है ?

इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं कि— चौदह पूर्वों को समाप्त करके रात्रि में कायोत्सर्ग से स्थित साधु की प्रभात समय में भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवों द्वारा शंख, काहला और तूर-तुरही के शब्द से व्याप्त महापूजा की जाती है। इन दो स्थानों में जिनवचनों को ही निमित्त माना जाता है।”

यहाँ कोई शंका करता है कि — जिनवचन की अपेक्षा से सब अंग और पूर्व समान हैं, अतएव उन सबका नाम निर्देश करके नमस्कार क्यों नहीं किया गया है ?

आचार्यदेव इसका समाधान देते हैं कि — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जिनवचनरूप से सब अंग और पूर्वों में सदृशता के होने पर भी विद्यानुप्रवाद और लोकबिन्दुसार का महत्त्व है, क्योंकि इनमें ही देवों द्वारा की गई पूजा पाई जाती है। चौदह पूर्व के धारक महामुनि मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होते और उस भव में असंयम को भी नहीं प्राप्त होते हैं, यह इनकी विशेषता जानना चाहिए।

तात्पर्यमेतत् — चतुर्दशपूर्वधारिणो महामुनयो द्वादशाङ्गसकलश्रुतधराः श्रुतकेवलिनो भवन्ति। एतेषां श्रुतज्ञाने पूर्णं संजाते चतुर्विधदेवा वाद्यादिभिर्मुनीनां महापूजां कुर्वन्ति, एते नियमेन मोक्षं प्राप्नुवन्ति इति तेषां विशेषेण माहात्म्यं ज्ञातव्यम्।

अस्मिन् वेदनाखण्डे “दस पुव्वियाणं, चोद्दसपुव्वियाणं” पाठोऽस्ति, अन्यस्मिन् ग्रन्थे “दसपुव्वीणं, चोद्दसपुव्वीणं” इति पाठो वर्तते।

एभ्यो दशपूर्विभ्यः चतुर्दशपूर्विभ्यश्च नमो नमः।

एवं षष्ठस्थले दशचतुर्दशपूर्विश्रुतज्ञानद्धिं महामुनिनमस्कारत्वेन सूत्रद्वयं गतम्।

अधुना अष्टांगमहानिमित्तज्ञानसाधूनां भक्तिकरणार्थं श्रीगणधरदेवेन सूत्रमवतार्यते —

पमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाणं॥१४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अष्टाङ्गमहानिमित्तकुशलमहामुनिभ्यो नमः। अङ्ग-स्वर-व्यंजन-लक्षण-छिन्न-भौम-स्वप्न-अन्तरिक्षनामानि महानिमित्तानामष्टाङ्गानि।

तत्रांगगतमहानिमित्तं नाम — मनुष्यतिरश्चोः सत्त्व-स्वभाव-वात-पित्त-श्लेष्म-रस-रुधिर-मांस-मेदा-अस्थि-मज्जा-शुक्राणि-शरीरवर्ण-गंध-रस-स्पर्शनिम्नोन्नतानि विलोक्य जीवित-मरण-सुख-दुःख-लाभ-अलाभ-प्रवासादिविषयावगमो येषां ते अंगनिमित्तज्ञाः।

खर-पिंगल-उल्लूक-वायस-शिवा-शृगाल-नर-नारीस्वरं श्रुत्वा लाभालाभ-सुख-दुःख-जीवितमरणादी-नामवगमः स्वरमहानिमित्तं नाम।

तात्पर्य यह है कि — चौदहपूर्व के धारक महामुनि द्वादशांगरूप सकलश्रुत के धारी श्रुतकेवली होते हैं। इन मुनियों के श्रुतज्ञान पूर्ण हो जाने पर चारों प्रकार के देव वाद्य आदि के द्वारा उन मुनियों की महापूजा करते हैं, ये श्रुतकेवली महामुनि नियमपूर्वक मोक्ष को प्राप्त करते हैं यह उनका विशेष माहात्म्य जानना चाहिए।

इस वेदनाखण्ड में “दश पुव्वियाणं, चोद्दसपुव्वियाणं” पाठ है और दूसरे ग्रंथ में “दसपुव्वीणं, चोद्दसपुव्वीणं” यह पाठ है। इन दशपूर्वी एवं चतुर्दशपूर्वी मुनियों को मेरा नमस्कार होवे।

इस प्रकार छठे स्थल में दश एवं चौदहपूर्वरूप श्रुतज्ञान की ऋद्धि वाले महामुनियों के नमस्कार वाले दो सूत्र पूर्ण हुए।

अब अष्टांगमहानिमित्तज्ञानी साधुओं की भक्ति करने के लिए गणधरदेव सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

अष्टांगमहानिमित्त में कुशल जिनों को नमस्कार हो॥१४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अष्टांग महानिमित्तों का ज्ञान प्राप्त करने में जो कुशल हैं, ऐसे महामुनियों को नमस्कार हो। अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष ये महानिमित्त के आठ अंग हैं।

उनमें अंगगत महानिमित्त की व्याख्या — मनुष्य और तिर्यचों के सत्त्व-स्वभाव, वात, पित्त व कफ तथा रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र तथा शरीर के निम्न व उन्नत वर्ण, गंध, रस और स्पर्श को देखकर जीवित, मरण, सुख, दुःख, लाभ, अलाभ और प्रवासादि विषयक ज्ञान जिनके होता है, वे अंगनिमित्तज्ञ कहलाते हैं।

खर, पिंगल (नेवला, बन्दर या सर्प विशेष) उल्लू, काक, शिवा, शृगाल, नर और नारी के स्वर को सुनकर लाभालाभ, सुख-दुःख और जीवित-मरणादि को जानना स्वरमहानिमित्त कहा जाता है।

तिल-आनुअ-मशकादिकं दृष्ट्वा तेषां सुखदुःखादीनामवगमो व्यंजनं नाम महानिमित्तम्।

स्वस्तिक-नंद्यावर्त-श्रीवृक्ष-शंख-चक्र-अंकुश-चन्द्र-सूर्य-रत्नाकरादिलक्षणानि उरो-ललाट-हस्त-पादतलादिषु यथाक्रमेण अष्टोत्तरशत-चतुःषष्टि-द्वात्रिंशत् प्रमाणानि दृष्ट्वा तीर्थकर-चक्रवर्ति-बलदेव-वासुदेवत्वावगमो लक्षणं नाम महानिमित्तम्।

अंगच्छायविपर्यास-वस्त्रालंकारछिद्रं मनुष्यतिरश्चादीनां चेष्टा-संस्थानानि दृष्ट्वा शुभाशुभावगमः छिन्नं नाम महानिमित्तं।

भूमिगतलक्षणानि विलोक्य ग्राम-नगर-खेट-कर्वट-गृह-पुरादीनां वृद्धिहानिप्रतिपादनं भौमं नाम महानिमित्तम्।

छिन्न-मालास्वप्नानां स्वरूपं विलोक्य भाविकार्यावगमः स्वप्नं नाम महानिमित्तम्। तत्र वृषभ-मातंग-सिंह-सागर-चन्द्र-आदित्य-जलकलितकलश-पद्माभिषेक-अग्नि-पद्माकर-देवविमान-नागेन्द्रभवन-रत्नराशि-सिंहासन-क्रीडदमत्स्य-प्रफुल्लदामयुगलानां अन्योन्यसंबंधविरहितानां सुप्ततीर्थकरमातुः षोडशस्वप्नानां दर्शनं छिन्नस्वप्ननाम। पूर्वापरसंबंधसहितभावानां स्वप्नान्तरेण दर्शनं मालास्वप्ननाम महानिमित्तं।

चन्द्रसूर्यग्रहाणामुदयास्तमन-जय-पराजय-ग्रहघर्षण-विद्युद्ध्वनि-कर्कधायुध-चन्द्रादित्यपरिवेष-उपराग-बिंबभेदादीनि दृष्ट्वा शुभाशुभावगमोऽन्तरिक्षं नाम महानिमित्तं।

अन्यत्रापि विस्तरेण कथितमस्ति, तथाहि—

“तत्र रविशशिग्रहनक्षत्रभगणोदयास्तमयादिभिरतीतानागतफलप्रविभागप्रदर्शनमन्तरिक्षम्। भुवो

तिल, आनुअ और मशा आदि को देखकर उनके सुख-दुःखादिक का जानना व्यंजन महानिमित्त है।

स्वस्तिक, नंद्यावर्त, श्रीवृक्ष, शंख, चक्र, अंकुश, चन्द्र, सूर्य एवं रत्नाकर आदि लक्षणों को उर, ललाट, हस्ततल और पादतलादिक में यथाक्रम से एक सौ आठ, चौंसठ व बत्तीस देखकर तीर्थकरत्व, चक्रवर्तित्व एवं बलदेवत्व व वासुदेवत्व जानना लक्षण नामक महानिमित्त है।

शरीरछाया की विपरीतता, वस्त्र व अलंकार का छेद तथा मनुष्य और तिर्यच आदिकों की चेष्टा व आकार को देखकर शुभाशुभ का जानना छिन्न महानिमित्त कहा जाता है।

भूमिगत लक्षणों को देखकर ग्राम, नगर, खेड, कर्वट, घर व पुर आदिकों की वृद्धि-हानि को कहना भौम नामक महानिमित्त है।

छिन्न स्वप्न और माला स्वप्न के स्वरूप को देखकर भावी कार्य को जानना स्वप्न नामक महानिमित्त है। उनमें वृषभ, हाथी, सिंह, समुद्र, चन्द्र, सूर्य, जल से परिपूर्ण कलश, लक्ष्मी का अभिषेक, अग्नि, तालाब, भवनविमान, रत्नराशि, सिंहासन, क्रीड़ा करते मछलियों का युगल और पुष्पमालाओं का युगल, इन परस्पर के संबंध से रहित सोती हुई तीर्थकर माता के सोलह स्वप्नों का देखना छिन्न स्वप्न कहलाता है। पूर्वापर-संबंध से सहित भावों का स्वप्नान्तर से देखना माला स्वप्न नाम का महानिमित्त ज्ञान है।

चन्द्र, सूर्य एवं ग्रह के उदय व अस्तमन तथा जय-पराजय, ग्रहघर्षण, बिजली का कड़कना, इन्द्रधनुष, चन्द्रमा व सूर्य के परिवेष, उपराग एवं बिम्ब भेदादि को देखकर शुभाशुभ का जानना अन्तरिक्ष नामक महानिमित्त है।

अन्यत्र (राजवार्तिक ग्रंथ में) भी विस्तार से इस विषय को कहा गया है, जो इस प्रकार है—

“उनमें आकाश के सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र और तारा इन ज्योतिषी देवों के उदय-अस्तादिक के द्वारा

घनशुषिरस्निग्धरूक्षादि विभावनेन पूर्वादिकसूत्रनिवासेन वा वृद्धिहानिजयपराजयादिविज्ञानं भूमेरन्तर्निहितसुवर्ण-
रजतादिसंसूचनं च भौमम्। अंगप्रत्यंगदर्शनस्पर्शनादिभिस्त्रिकालभाविसुखदुःखादिविभावनमंगं। अक्षरानक्षरशुभा-
शुभशब्दश्रवणेनेष्टानिष्टफलाविर्भावनं महानिमित्तं स्वरम्। शिरोमुखग्रीवादिषु तिलकमशकलक्षमव्रणादिवीक्षणेन
त्रिकालहिताहितवेदनं व्यंजनं। श्रीवृक्ष-स्वस्तिक-भृंगार-कलशादिलक्षणवीक्षणात् त्रैकालिकस्थानमानैश्वर्यादि-
विशेषज्ञानं लक्षणम्। वस्त्र-शस्त्र-छत्रोपानदासनशयनादिषु देवमानुषराक्षसादिविभागैः शस्त्रकण्टकमूषिकादिकृत-
छेदनदर्शनात् कालत्रयविषयलाभालाभसुखदुःखादिसूचनं छिन्नम्। वातपित्तश्लेष्मदोषोदयरहितस्य पश्चिमरात्रिभागे
चन्द्रसूर्यधराद्रिसमुद्रमुखप्रवेशनसकलमहीमण्डलोपगृहनादिशुभ-घृततैलाक्तात्मीय देहखर-करभारूढापागृदिग्ग-
मनाद्यशुभस्वप्नदर्शनात् आगामिजीवितमरणसुखदुःखाद्याविर्भावकः स्वप्नः। एतेषु महानिमित्तेषु कौशलमष्टांग-
महानिमित्तज्ञता^१।”

एतेषु महानिमित्तकुशलानां जिनानां नमस्कारोऽस्तु इत्युक्तं भवति। अत्र सूत्रे जिनशब्दानुवृत्तेर्नासंयत-
संयतासंयतयोर्ग्रहणम्।

ज्ञानेन विशेषितजिनानां पूर्वमेव नमस्कारः किमर्थं कृतः ?

चारित्राद् ज्ञानस्य प्रधानत्वप्रतिपादनार्थं कृतः।

अतीतानागत फल के विभाग को जान लेना अंतरिक्ष निमित्त है। पृथ्वी की कठोरता, कोमलता, स्निग्धता
रूक्षतादि के द्वारा वा पूर्वादि दिशाओं में सूत्र पढ़ते देखकर अमुक की वृद्धि-हानि, जय-पराजयादि का
परिज्ञान तथा भूमितल में निहित (गड़े हुए) सुवर्ण-चाँदी का ज्ञान करना भौम नाम का निमित्त है। शरीर के
अंग-प्रत्यंग के दर्शन-स्पर्शन आदि से त्रिकालभावी सुख-दुःख आदि का निश्चय करना अंग निमित्त है।
अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक सभी प्रकार के शुभ-अशुभ शब्दों को सुनकर इष्टानिष्ट फल का निश्चय करना
स्वरनिमित्त है। सिर, मुख, ग्रीवा आदि स्थानों पर तिल, मसा आदि चिन्ह वा व्रण आदि को देखकर त्रिकाल
संबंधी हिताहित को जान लेना व्यंजन निमित्त है। श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, कलश, झारी आदि को देखकर त्रिकाल
संबंधी स्थान, मान, ऐश्वर्य आदि का विशेष ज्ञान होना लक्षण निमित्त है। वस्त्र, शस्त्र, छत्र, जूता, आसन और
शय्या आदि की जगह पर देव, मानव, आदि के विभाग द्वारा अथवा शस्त्र द्वारा और चूहा आदि से छिदना
देखकर अतीतानागत काल में होने वाले, लाभ, अलाभ, सुख-दुःख आदि का ज्ञान करना छिन्न नाम का
निमित्त है। वात, पित्त, कफ आदि दोषरहित पुरुष के रात्रि के पिछले भाग में चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत और
समुद्र का मुख में प्रवेश अथवा सकल महीमण्डल का आलिंगन आदि शुभ स्वप्न है और घी तैलादि से अपने
शरीर का विलेपन, गंधे, ऊँट आदि पर आरूढ़ होकर दक्षिण दिशा में गमन आदि अशुभ स्वप्न हैं। इन स्वप्नों
के देखने से आगामी काल में होने वाले जीवन-मरण, सुख-दुःख आदि को जान लेना स्वप्न नाम का निमित्त
है। इन आठ महानिमित्तों के ज्ञान में प्रवीणता अष्टांग महानिमित्तज्ञता नामक बुद्धिऋद्धि है।”

इन अष्टांगमहानिमित्तों में कुशल जिनों को नमस्कार हो, ऐसा कहा गया है। यहाँ सूत्र में जिन शब्द की
अनुवृत्ति से असंयत और संयतासंयतों का ग्रहण नहीं होता है।

शंका — ज्ञान से विशिष्ट जिनों को पहले ही नमस्कार किसलिए किया गया है ?

समाधान — चारित्र की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता बतलाने के लिए ज्ञानविशिष्ट जिनों को पहले ही
नमस्कार किया गया है।

कुतस्तस्मात् तस्य प्रधानत्वम् ?

ज्ञानेन विना चारित्रानुपपत्तेः।

तात्पर्यमेतत् — ये केचित् महामुनयस्तपश्चरणप्रभावात् महानिमित्तज्ञाने कुशलाः भवन्ति तेभ्यो नमः।

असंयत-संयतासंयतानां नमस्कारो नास्त्यत्रेति ज्ञातव्यम्।

अधुना चारित्रफलविशेषित विक्रियर्द्धिप्राप्तमहामुनीनां नमस्कारकरणार्थं श्रीगौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

णमो विउव्वणपत्ताणं॥१५॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — अणिमा-महिमा-लघिमा-प्राप्ति-प्राकाम्य-ईशित्व-वशित्व-कामरूपित्वमिति विक्रियर्द्धि-अष्टविधाः। तत्र महापरिमाणं शरीरं संकुचितं कृत्वा परमाणुप्रमाणशरीरेणावस्थानमणिमा नाम। परमाणुप्रमाणदेहस्य मेरुगिरिसदृश-शरीरकरणं महिमा नाम। मेरुप्रमाणशरीरेण मर्कटतुल्यं चलननिमित्त-शक्तिर्लघिमा नाम। भूमिस्थितस्य करेण चन्द्रादित्यबिम्बस्पर्शनशक्तिः प्राप्तिर्नाम। कुलशैल-मेरु-महीधर-भूमीनां बाधामकृत्वा तासु गमनशक्तिस्तपश्चरणबलेनोत्पन्ना प्राकाम्यर्द्धिर्नाम। सर्वेषां जीवानां ग्रामनगरखेटादीनां भुंजनशक्तिः समुत्पन्ना ईशित्वं नाम। मानुष-मातंग-हरि-तुरगादीनां स्वकेच्छया विक्रियाशक्तिर्वशित्वं नाम। न च वशित्वस्य ईशित्वे प्रवेशः, अवशानामपि हताकारेण ईशित्वकरणोपप्लंभात्। इच्छितरूपग्रहणशक्तिः कामरूपित्वं नाम।

ईशित्ववशित्वयोः कथं वैक्रियत्वम् ?

शंका — चारित्र से ज्ञान की प्रधानता क्यों है ?

समाधान — चूँकि बिना ज्ञान के चारित्र नहीं होता है, अतः ज्ञान प्रधान है।

तात्पर्य यह है कि — जो कोई महामुनि तपश्चरण के प्रभाव से महानिमित्त ज्ञान में कुशल होते हैं उनको मेरा नमस्कार हो एवं यहाँ असंयत और संयतासंयतों को नमस्कार नहीं किया है, ऐसा जानना चाहिए।

अब चारित्र फल से विशेषित विक्रिया ऋद्धि को प्राप्त महामुनियों के नमस्कार हेतु श्री गौतम स्वामी सूत्र अवतरित होता है —

सूत्रार्थ —

विक्रिया ऋद्धि को प्राप्त जिनों को नमस्कार हो॥१५॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामरूपित्व, इस प्रकार विक्रिया ऋद्धि आठ प्रकार की होती है। उनमें महा परिमाण युक्त शरीर को संकुचित करके परमाणुप्रमाण शरीर से स्थित होना अणिमा नामक विक्रिया ऋद्धि है। परमाणुप्रमाण देहस्थ वस्तु को मेरुपर्वत के सदृश करने को महिमा ऋद्धि कहते हैं। मेरुप्रमाण शरीर से मकड़ी के तंतुओं पर से चलने में निमित्तभूत शक्ति का नाम लघिमा है। भूमि में स्थित रहकर हाथ से चन्द्र व सूर्य के बिम्ब को छूने की शक्ति प्राप्तिऋद्धि कही जाती है। कुलाचल और मेरु एवं अन्य पर्वत के पृथिवीकायिक जीवों को बाधा न पहुँचाकर उनमें तपश्चरण के बल से उत्पन्न हुई गमनशक्ति को प्राकाम्य ऋद्धि कहते हैं। सब जीवों तथा ग्राम, नगर एवं खेड़े आदिकों के भोगने की तप से उत्पन्न हुई शक्ति ईशित्व ऋद्धि कही जाती है। मनुष्य, हाथी, सिंह एवं घोड़े आदिक के अपनी इच्छा से वर्तन करने की शक्ति का नाम वशित्व ऋद्धि है। वशित्व का ईशित्व ऋद्धि में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि अवशीकृतों का भी उनका आकार नष्ट किये बिना ईशित्वकरण पाया जाता है। इच्छितरूप को बनाने की शक्ति का नाम कामरूपित्व है।

शंका — ईशित्व और वशित्व में विक्रियापन कैसे संभव है ?

न, विविधगुणर्द्धियुक्तं वैक्रियिकमिति तयोर्वैक्रियत्वाविरोधात्। अत्र एकसंयोगादिना द्विशतपञ्चपञ्चाशत् विक्रियाभेदा उत्पादयितव्याः तत्कारणस्य विचित्रत्वात्। एतैरष्टभिर्विक्रियाशक्तिः सहितानां नमस्कारः क्रियते जिज्ञानामेव नान्येषामिति।

अष्टगुणर्द्धियुक्तानां देवानां एष नमस्कारः किन्न प्राप्यते ?

नैष दोषः, जिनशब्दानुवर्तनेन तन्निराकरणात्। न च देवानां जिनत्वमस्ति, तत्र संयमाभावात्।

एतेभ्य उपरि यथातथानुपूर्विकक्रमो दृष्टव्यः, किंच महत्त्वपरिपाट्या अनुपलंभात्।

इतो विस्तरः — तत्त्वार्थवार्तिकग्रन्थे गरिमा-अप्रतिघात-अन्तर्धाननामभिः तिस्रो विक्रियर्द्धयोऽपि संगृहीताः सन्ति तत्र एकादशभेदाः कथिताः। तथाहि-“वज्रादपि गुरुतरदेहता गरिमा। अद्रिमध्ये वियतीव गमनागमनमप्रतिघातः। अदृश्यरूपशक्तितान्तर्धानम्”^{१९}। इत्यादि।

समाधान — नहीं, क्योंकि नाना प्रकार के गुण व ऋद्धि युक्त होने का नाम विक्रिया है, अतएव उन दोनों के विक्रियापने में कोई विरोध नहीं आता है।

यहाँ एक संयोग, द्विसंयोग आदि के द्वारा दो सौ पचपन विक्रिया के भेद उत्पन्न करना चाहिए, क्योंकि उनके कारण विचित्र हैं।

इन आठ विक्रिया शक्तियों से सहित जिनों को नमस्कार किया जाता है, अन्य किसी को नहीं।

शंका — आठ गुण ऋद्धियों से युक्त देवों को यह नमस्कार क्यों नहीं प्राप्त होता है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जिन शब्द की अनुवृत्ति होने से उनका निराकरण हो जाता है। कारण कि देवों में जिनत्व नहीं पाया जाता है, क्योंकि उनमें संयम का अभाव है।

यहाँ से आगे यथा-तथा आनुपूर्विकक्रम समझना चाहिए, क्योंकि महानता की परिपाटी नहीं पाई जाती है।

अब विस्तार से कहते हैं — तत्त्वार्थवार्तिक ग्रंथ में गरिमा, अप्रतिघात, अन्तर्धान नाम से तीनों विक्रिया ऋद्धियों को भी संग्रहीत किया है, वहाँ उनके ग्यारह भेद कहे हैं। जैसे-“वज्र से भी अधिक भारी शरीर बना लेना गरिमा ऋद्धि है। पर्वत के मध्यभाग में आकाश के समान गमनागमन करना या पर्वत में घुस जाना अप्रतीघात ऋद्धि है। अदृश्य होने की शक्ति का नाम अन्तर्धान ऋद्धि है” इत्यादि।

यहाँ प्रसंगोपात्त विक्रियाऋद्धि के सभी ग्यारह भेदों का स्वरूप आप सभी तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रंथ के अनुसार जानें, इसी अभिप्राय से विशेषार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है।

विशेषार्थ — अणु (सूक्ष्म) सदृश शरीर बना लेना अणिमा ऋद्धि है, जो छोटे से कमल तन्तु के छिद्र में भी प्रवेश करके, उस छिद्र में बैठकर चक्रवर्ती के परिवार की विभूति की भी रचना कर सकता है। मेरु पर्वत से भी महान् शरीर की रचना करने की सामर्थ्य होना महिमा ऋद्धि है। वायु से भी हल्का शरीर बना लेना लघिमाऋद्धि है। वज्र से भी अधिक भारी शरीर बना लेना गरिमाऋद्धि है। भूमि पर बैठे हुए अंगुलि के अग्रभाग से मेरुशिखर या सूर्य-चन्द्रमा आदि का स्पर्श करने की सामर्थ्य रखना प्राप्तिऋद्धि है। पानी में भूमि के समान गमन करना और भूमि पर जल की तरह उन्मज्जन-निमज्जन आदि करने की सामर्थ्य होना प्राकाम्यऋद्धि है। तीन लोक की प्रभुता रचने की सामर्थ्य का होना ईशित्व ऋद्धि है। सर्व जीवों को वश में कर लेने की सामर्थ्य वशित्वऋद्धि है। पर्वत के मध्य भाग में आकाश के समान गमनागमन करना वा पर्वत में घुस जाना अप्रतीघात ऋद्धि है। अदृश्य होने की क्षमता अन्तर्धानऋद्धि है। एक साथ अनेक रूप बना लेने की शक्ति

अत्र धवलाटीकानुसारेण एकसंयोगिनां भंगा अष्टौ, द्विसंयोगिनां ($\frac{८ \times ७}{१ \times २} = २८$) अष्टाविंशतिः, त्रिसंयोगिनां ($\frac{८ \times ७ \times ६}{१ \times २ \times ३} = ५६$) षट्पञ्चाशत्, चतुःसंयोगिनां ($\frac{८ \times ७ \times ६ \times ५}{१ \times २ \times ३ \times ४} = ७०$) सप्ततिः, पंचसंयोगिनां ($\frac{८ \times ७ \times ६ \times ५ \times ४}{१ \times २ \times ३ \times ४ \times ५} = ५६$) षट्पञ्चाशत्, षट्संयोगिनां ($\frac{८ \times ७ \times ६ \times ५ \times ४ \times ३}{१ \times २ \times ३ \times ४ \times ५ \times ६} = २८$) अष्टाविंशतिः, सप्तसंयोगिनां ($\frac{८ \times ७ \times ६ \times ५ \times ४ \times ३ \times २}{१ \times २ \times ३ \times ४ \times ५ \times ६ \times ७} = ८$) अष्टौ, एतेषां समस्तानां मेलने सति ($८ + २८ + ५६ + ७० + ५६ + २८ + ८ + १ = २५५$) द्विशतपंचपञ्चाशत् भंगा भवन्ति। एतेषां अष्टविक्रियर्द्धियुक्तजिनानां नमस्कारः कृतोऽत्र टीकाकाराचार्यदेवेन^१।

अधुना विद्याधरजिनानां प्रणमनार्थं श्रीमद्गौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

पमो विज्जाहराणं॥१६॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जाति-कुल-तपोविद्याभेदेन त्रिविधा विद्याः।

उक्तं च — जादीसु होइ विज्जा, कुलविज्जा तह य होइ तवविज्जा।

विज्जाहरेसु एदा, तवविज्जा होइ साहूणं^२॥

स्वकमातृपक्षाद् लब्धविद्या जातिविद्या नाम। पितृपक्षलब्धाः कुलविद्याः। षष्ठाष्टमाद्युपवासविधानैः साधितास्तपोविद्याः। एवमेताः त्रिविधा विद्या भवन्ति विद्याधराणां। तेन वैताड्यपर्वतनिवासिमनुष्या अपि विद्याधराः, सकलविद्याः संत्यज्य गृहीतसंयमविद्याधराः अपि विद्याधराः, विद्याविषयविज्ञानोपलंभात्।

कामरूपित्व ऋद्धि है।

यहाँ धवलाटीका के अनुसार एकसंयोगी के भंग आठ हैं, द्विसंयोगी के $\frac{८ \times ७}{१ \times २} = २८$ भंग, त्रिसंयोगी के $\frac{८ \times ७ \times ६}{१ \times २ \times ३} = ५६$ भंग, चतुःसंयोगी के $\frac{८ \times ७ \times ६ \times ५}{१ \times २ \times ३ \times ४} = ७०$ भंग, पंचसंयोगी के $\frac{८ \times ७ \times ६ \times ५ \times ४}{१ \times २ \times ३ \times ४ \times ५} = ५६$ भंग, षट्संयोगी के $\frac{८ \times ७ \times ६ \times ५ \times ४ \times ३}{१ \times २ \times ३ \times ४ \times ५ \times ६} = २८$ भंग, सप्तसंयोगी के $\frac{८ \times ७ \times ६ \times ५ \times ४ \times ३ \times २}{१ \times २ \times ३ \times ४ \times ५ \times ६ \times ७} = ८$ भंग और अष्टसंयोगी के १, इस प्रकार समस्त भंग कुल मिलाकर $८ + २८ + ५६ + ७० + ५६ + २८ + ८ + १ = २५५$ भंग होते हैं। इन सभी आठ विक्रियाऋद्धि से संयुक्त जिनों को यहाँ टीकाकार आचार्यदेव ने नमस्कार किया है।

अब विद्याधर जिनों को प्रणमन करने हेतु श्री गौतम स्वामी के द्वारा सूत्र अवतरित किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

विद्या के धारक जिनों को नमस्कार हो॥१६॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जाति, कुल और तपोविद्या के भेद से विद्या तीन प्रकार की होती है।

कहा भी है —

गाथार्थ — जातियों में विद्या अर्थात् जाति विद्या है, कुलविद्या तथा तपविद्या भी विद्या हैं। ये विद्याएँ विद्याधरों में होती हैं। किन्तु तपविद्या साधुओं के होती हैं।

इन विद्याओं में स्वकीय — अपनी मातृपक्ष से प्राप्त हुई जाति विद्याएँ हैं और पितृपक्ष से प्राप्त हुई कुल विद्याएँ कहलाती हैं। षष्ठ और अष्टम — बेला, तेला आदि उपवासों के करने से सिद्ध की गई विद्याएँ तपोविद्याएँ कहलाती हैं। इस प्रकार ये तीन प्रकार की विद्याएँ विद्याधरों के होती हैं। इससे वैताड्य पर्वत पर निवास करने वाले मनुष्य भी विद्याधर होते हैं, सब विद्याओं को छोड़कर संयम को ग्रहण करने वाले विद्याधर

केषामत्र ग्रहणं ?

न तावद् वैताड्यपर्वतोत्पन्नासंयतानां ग्रहणं, तेषां जिनत्वाभावात्। परिशेषात् शेषद्विविधविद्याधरा अत्र गृहीतव्याः।

कश्चिदाह — दशपूर्वधराणामत्र न ग्रहणं, पुनरुक्तिदोषत्वात् ?

आचार्यः प्राह — न, तत्र दशपूर्वविषयज्ञानोपलक्षितजिनानां नमस्कारकरणात्, सिद्धाशेषविद्याप्रेषण-परित्यागेनोपलक्षितजिनानां विद्याधरत्वाभ्युपगमात् इति। सिद्धविद्याधरेभ्यः कार्यं ये नेच्छन्ति केवलं धारयन्ति चैव अज्ञाननिवृत्तये ते विद्याधरजिना नाम। तेभ्यो नमः।

तात्पर्यमेतत् — तपोमाहात्म्यात् ये केचिन्महामुनय विद्याः संप्राप्य ताभ्यः किमपि लौकिककार्यं न वाञ्छन्ति केवलं विद्याः संधार्य स्वस्याज्ञानमपाकृत्य भेदाभेदरत्नत्रयमेव साधयन्ति त एव विद्याधरजिनास्तेभ्यो मे नित्यं नमोऽस्तु।

अधुना चारणर्षिमहामुनीनां प्रणमनार्थं श्रीगौतमभट्टारकेण सूत्रमवतार्यते —

णमो चारणाणं॥१७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जल-जंघा-तन्तु-फल-पुष्प-बीज-आकाश-श्रेणीभेदेन-अष्टविधाश्चरणा भवन्ति।

तत्र भूमाविव जलकायिकजीवानां पीडामकृत्वा जलमस्पृशन्तो यथेच्छया जलगमनसमर्थाः ऋषयो जलचारणा नाम।

भी विद्याधर होते हैं, क्योंकि विद्या-विषयक विज्ञान उनमें पाया जाता है।

शंका — इन तीन प्रकार के विद्याधरों में से यहाँ किनका ग्रहण किया गया है ?

समाधान — वैताड्य पर्वत पर उत्पन्न असंयतों का यहाँ ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि उनके जिनपना नहीं पाया जाता है। परिशेष न्याय से शेष दो प्रकार के विद्याधरों का यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ कोई शंका करता है कि — दशपूर्वधरों का ग्रहण यहाँ नहीं करना चाहिए, क्योंकि पुनरुक्ति दोष आता है ?

तब आचार्य समाधान देते हैं कि — ऐसा नहीं कहना, क्योंकि वहाँ पर दशपूर्वविषयक ज्ञान से उपलक्षित जिनों को नमस्कार किया गया है, किन्तु यहाँ सिद्ध हुई समस्त विद्याओं के कार्य के परित्याग से उपलक्षित जिनों को विद्याधर स्वीकार किया है। जो सिद्ध हुई विद्याओं से काम लेने की इच्छा नहीं करते हैं केवल अज्ञान की निवृत्ति के लिए उन्हें धारण ही करते हैं, वे विद्याधर जिन हैं, उनके लिए नमस्कार हो।

तात्पर्य यह है कि — तप के माहात्म्य से जो कोई महामुनि विद्याओं को प्राप्त करके उनसे किसी लौकिक कार्य की इच्छा नहीं करते हैं, किन्तु मात्र इन विद्याओं को धारण करके अपने अज्ञान को दूर करके भेदाभेद रत्नत्रय की ही साधना करते हैं वे ही विद्याधर जिन कहलाते हैं, उन विद्याधरजिनों को मेरा नित्य ही नमस्कार होवे।

अब चारणऋद्धिधारी महामुनियों को नमन करने के अभिप्राय से श्री गौतम भट्टारक सूत्र को अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

चारणऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥१७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जल, जंघा, तंतु, फल, पुष्प, बीज, आकाश और श्रेणी के भेद से चारण ऋद्धि के आठ प्रकार होते हैं। उनमें जो ऋषि जलकायिक जीवों को पीड़ा न पहुँचाकर जल को न छूते हुए

पद्मिनीपत्रमिव जलस्पर्शेण विना जलमध्यगामिनो जलचारणाः इति किञ्चोच्यते ?

नैष दोषः, तथैव इष्यमाणत्वात्।

जलचारण-प्राकाम्यर्द्धिप्राप्तयोर्द्वयोः को विशेषः ?

घनपृथिवी-मेरु-सागराभ्यन्तरे सर्वशरीरेण प्रवेशशक्तिः प्राकाम्यं नाम। तत्र जीवपरिहरणकुशलत्वं चारणत्वं।

तन्तु-फल-पुष्प-बीजचारणानां अपि जलचारणानामिव वक्तव्यम्। भूमौ पृथिवीकायिकजीवानां बाधामकृत्वानेकयोजनशतगामिनो जंघाचारणा नाम।

धूमग्नि-गिरि-तरु-तन्तुसंतानेषु ऊर्ध्वारोहणशक्तिसंयुक्ताः श्रेणीचारणा नाम।

चतुर्भ्योऽंगुलेभ्योऽधिकप्रमाणेन भूमीत उपरि आकाशे गच्छन्त आकाशचारणा नाम।

कश्चिदाह—आकाशचारणानामुपरि उच्यमानाकाशगामिनां च को विशेषः ?

आचार्यदेवेन उच्यते—जीवपीडाया विना पादोत्क्षेपेणाकाशगाकाशगामिन आकाशचारणा नाम। पल्यंक-कायोत्सर्गशयनासनापादोत्क्षेपादिप्रकारैः आकाशे संचरणसमर्था आकाशगामिनो भवन्ति। एतयोरयमेकान्तरं ज्ञातव्यम्।

चारणानामत्र एकसंयोगादिक्रमेण द्विशतपञ्चपञ्चाशद् भंगा उत्पादयितव्याः।

कथमेकं चारित्रं विचित्रशक्तिसमुत्पादकम् ?

इच्छानुसार भूमि के समान जल में गमन करने में समर्थ हैं वे जलचारण ऋद्धिधारी ऋषि कहलाते हैं।

शंका—पद्मिनीपत्र के समान जल को स्पर्श किये बिना जल के मध्य में गमन करने वाले जलचारण क्यों नहीं कहलाते हैं ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह अभीष्ट ही है।

शंका—जलचारण और प्राकाम्य ऋद्धिप्राप्त इन दोनों में क्या भेद है ?

समाधान—सघन पृथिवी, मेरु और समुद्र के भीतर पूरे शरीर से प्रवेश करने की शक्ति को प्राकाम्य ऋद्धि कहते हैं और वहाँ जीवों के परिहार की कुशलता का नाम चारणऋद्धि है।

तन्तुचारण, फलचारण, पुष्पचारण और बीजचारण का स्वरूप भी जलचारणों के समान कहना चाहिए। भूमि में पृथिवीकायिक जीवों को बाधा न पहुँचा करके सैकड़ों योजन गमन करने वाले जंघाचारण ऋषि कहलाते हैं। धूम, अग्नि, पर्वत और वृक्ष के तन्तु समूह पर से ऊपर चढ़ने की शक्ति से संयुक्त श्रेणीचारण हैं। चार अंगुलियों से अधिक प्रमाण में भूमि से ऊपर आकाश में गमन करने वाले ऋषि आकाशचारण कहे जाते हैं।

यहाँ कोई शंका करता है कि—आकाशचारण और आगे कहे जाने वाले आकाशगामी में क्या विशेषता है ?

आचार्यदेव इसका समाधान देते हैं कि—जीवपीड़ा के बिना पैर उठाकर आकाश में गमन करने वाले आकाशचारण ऋद्धिधारी कहलाते हैं। पल्यंकासन, कायोत्सर्गासन, शयनासन और पैर उठाकर इत्यादि सब प्रकारों से आकाश में गमन करने में समर्थ ऋषि आकाशगामी ऋद्धिधारी कहे जाते हैं। यही इन दोनों में अन्तर जानना चाहिए।

यहाँ चारणऋषियों के एक संयोग, द्विसंयोगादि के क्रम से दो सौ पचपन भंग उत्पन्न करना चाहिए।

शंका—एक ही चारित्र इन विचित्र शक्तियों का उत्पादक कैसे हो सकता है ?

न, परिणामभेदेन नानाभेदभिन्नचारित्रात् चारणबहुत्वं प्रति विरोधाभावात्।

कथं पुनः चारणा अष्टविधा इत्युच्यते ?

नैष दोषः, नियमाभावात्। द्विशतपञ्चपञ्चाशच्चारणानां अष्टविधचारणेभ्य एकान्तेन पृथक्त्वाभावाच्च।
एतेभ्यश्चारणजिनेभ्यो नमः इत्युक्तं भवति।

कथं चारणानां अष्टसंख्यानियमः ?

न, इतरेषां चारणानामत्रान्तर्भावात्। तद्यथा —

पंक-भस्म-गोमय-भुसादिचारणानां जंघाचारणेष्वन्तर्भावः, भूमीतः पंकादीनां कथंचिद् भेदाभावात्।
कुंथु-देहज-मत्कुण-पिपीलिकादिचारणानां फलचारणेष्वन्तर्भावः, त्रसजीवपरिहरणकुशलत्वं प्रति भेदाभावात्।
पत्रांकुर-तृण-प्रवालादिचारणानां पुष्पचारणेष्वन्तर्भावः, हरितकायपरिहरणकुशलत्वेन साधर्म्यात्। ओसविंदु-
करवास-धूमरी-हिमादिचारणानां जलचारणेष्वन्तर्भावः, अप्कायिकजीवपरिहरणकुशलत्वं प्रति साधर्म्यदर्शनात्।
धूमाग्निवातमेघादिचारणानां तन्तुश्रेणिचारणेष्वन्तर्भावः, अनुलोम-विलोमगमनेषु जीवपीडाऽकरणशक्ति-
संयुक्तत्वात्। एवमन्येषामपि चारणानामत्रैवान्तर्भावो दृष्टव्यः।

इतो विस्तरः — “क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विविधा — चारणत्वमाकाशगामित्वं चेति। तत्र चारणा अनेकविधाः
जलजंघातन्तुपुष्पपत्रश्रेण्यग्निशिखाद्यालंबनगमनाः। जलमुपादाय वाप्यादिष्वप्कायान् जीवानविराधयन्तः

समाधान — नहीं, क्योंकि परिणाम के भेद से नाना प्रकार का चारित्र भेद होने के कारण बहुत चारणों के होने में कोई विरोध नहीं है।

शंका — चारणों के आठ प्रकार का नियम बतलाना कैसे युक्त है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उनके आठ प्रकार के होने का नियम नहीं है, तथा दो सौ पचपन चारण आठ प्रकार के चारणों से एकान्ततः पृथक् भी नहीं है।

इन चारणजिनों को नमस्कार हो यह सूत्र का अभिप्राय है।

शंका — चारणों की आठ संख्या का नियम कैसे बनता है ?

समाधान — नहीं, अन्य चारणों का इनमें अन्तर्भाव होने से उक्त संख्या का नियम बन जाता है, वह इस प्रकार से है — कीचड़, भस्म, गोबर और भूसे आदि के ऊपर से गमन करने वालों का जंघा चारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि भूमि से कीचड़ आदि में कथंचित् अभेद है। कुंथु जीव, उद्देही जीव, मत्कुण और पिपीलिका आदि पर से संचार करने वालों का फल चारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इनमें त्रस जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। पत्र, अंकुर, तृण और प्रवाल आदि पर से संचार करने वालों का पुष्प चरणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि हरितकाय जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा इनमें समानता है। ओस, ओला, कुहरा और बर्फ आदि पर गमन करने वाले चारणों का जल चारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इनमें जलकायिक जीवों के परिहार की कुशलता के प्रति समानता देखी जाती है। धूम, अग्नि, वायु और मेघ आदि के आश्रय से चलने वाले चारणों का तन्तुश्रेणी चारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि वे अनुलोम और प्रतिलोम गमन करने में जीवों को पीड़ा न करने की शक्ति से संयुक्त होते हैं। इसी प्रकार अन्य चारणों का भी इनमें ही अन्तर्भाव समझना चाहिए।

इसका विस्तार से वर्णन करते हैं —

क्रियाविषयक ऋद्धि दो प्रकार की है — एक चारणत्व और दूसरी आकाशगामित्व। उनमें से जल,

भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशला जलचारणाः। भुवः उपर्याकाशे चतुरंगुलप्रमाणे जंघोत्क्षेपनिक्षेपशीघ्र-
करणपटवो बहुयोजनशताशु-गमनप्रवणा जंघाचारणाः। एवमितरे च वेदितव्याः। पर्यंकावस्थानिषण्णा
वा कायोत्सर्गशरीरा वा पादोद्धारनिक्षेपणविधिमन्तरेण आकाशगमनकुशला आकाशगामिनः^१।”

तात्पर्यमेतत् — अत्र चारणर्द्धिप्राप्तर्षीणामेव ग्रहणं कर्तव्यं, अग्रे ‘आकाशगामिनां’ सूत्रं पृथगेव वर्तते।
ये महासाधवस्तपश्चरणप्रभावाच्चारणर्द्धिं संप्राप्याकाशे विहरन्ति, जीवानां विराधनामन्तरेण जलाद्युपर्यपि
गच्छन्ति तेभ्यो महामुनिभ्यो निरन्तरमस्माकं नमोऽस्तु।

संप्रति प्रज्ञाश्रमणमुनीनां नमस्कारकरणार्थं श्रीमद्गौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

णमो पण्णसमणाणं॥१८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — औत्पत्तिकी वैनयिकी कर्मजा पारिणामिकी चेति चतुर्विधा प्रज्ञा। तत्र जन्मान्तरे
चतुर्विधनिर्मलमतिबलेन विनयेनावधारितद्वादशांगस्य देवेषूपत्य मनुष्येषु अविनष्टसंस्कारेणोत्पन्नस्यात्र भवे
पठन-श्रवण-पृच्छनव्यापारविरहितस्य प्रज्ञा औत्पत्तिकी नाम।

उक्तं च — विणएण सुदमधीदं, किह वि पमादेण होदि विस्सरिदं।

तमुवट्ठादि परभवे, केवलणाणं च आहवदि^२।

जंघा, पुष्प, पत्र, श्रेणी और अग्निशिला आदि का अवलम्बन लेकर गमन करने की अपेक्षा चारण ऋद्धि
अनेक प्रकार की है। वापिका आदि में जल का सहारा लेकर जलकाय के जीवों की विराधना नहीं करते हुए
भूमि के समान जल में पैरों को उठाने और रखने की कुशलता को जलचारण ऋद्धि कहते हैं। भूमि से चार
अंगुल प्रमाण अधर आकाश में जंघा के उत्क्षेपण, निक्षेपण शीघ्र कराने में चतुर और बहुत से योजन शीघ्र
गमन करने में पटु जंघाचारण ऋद्धि है। इस प्रकार और ऋद्धियाँ भी जाननी चाहिए। पैरों का उठाना-रखना
नहीं करते हुए पद्मासन और कायोत्सर्गरूप से आकाश में गमन करना आकाशगामित्व ऋद्धि है।

तात्पर्य यह है कि — यहाँ चारणऋद्धि प्राप्त ऋषियों का ही ग्रहण करना चाहिए। आकाशगामी मुनियों
का आगे पृथक् ही सूत्र है। जो महामुनि तपश्चरण के प्रभाव से चारणऋद्धि को प्राप्त करके आकाश में विहार
करते हैं, जीवों की विराधना नहीं करते हुए जल आदि के ऊपर भी चलते हैं, उन महामुनियों के लिए हमारा
सतत नमस्कार होवे।

अब प्रज्ञाश्रमण मुनियों के नमस्कार हेतु श्री गौतम स्वामी सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

प्रज्ञाश्रमण महामुनियों को नमस्कार हो॥१८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी इस प्रकार प्रज्ञा के चार
भेद होते हैं। उनमें से जन्मान्तर में चार प्रकार की निर्मल बुद्धि के बल से विनयपूर्वक बारह अंगों का
अवधारण करके देवों में उत्पन्न होकर पश्चात् अविनष्ट संस्कार के साथ मनुष्यों में उत्पन्न होने पर इस भव में
पढ़ने, सुनने व पूछने आदि के व्यापार से रहित जीव की प्रज्ञा का नाम औत्पत्तिकी है।

कहा भी है —

गाथार्थ — विनयपूर्वक अधीत — पढ़ा गया श्रुत यदि किसी प्रकार प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है,

एष उत्पत्तिप्रज्ञाश्रमणः षण्मासोपवासग्लानोऽपि तद्बुद्धिमाहात्म्यज्ञापनार्थं पृच्छाव्यापृतचतुर्दशपूर्विणोऽपि उत्तरवाहको भवति।

विनयेन द्वादशांगानि पठत्सु उत्पन्ना वैनयिका नाम, अथवा परोपदेशेन जातप्रज्ञा अपि वैनयिका कथ्यते।

तपश्चरणबलेन गुरुपदेशनिरपेक्षेणोत्पन्नप्रज्ञा कर्मजा नाम, औषधसेवाबलेनोत्पन्नप्रज्ञा वा।

स्वक-स्वकजातिविशेषेण समुत्पन्नप्रज्ञा पारिणामिका नाम।

कश्चिदाशंकते —

तीर्थकरवचनविनिर्गतबीजपदार्थावधारणानां वृषभसेनादीनां प्रज्ञायाः क्वान्तर्भावो भवति ?

आचार्यदेवः समाधत्ते —

पारिणामिकायां प्रज्ञायामन्तर्भवति, किं च विनयोत्पत्तिकर्मभिर्विना उत्पत्तेः।

पारिणामिकोत्पत्तिकप्रज्ञयोः को विशेषः ?

जातिविशेषजनितकर्मक्षयोपशमसमुत्पन्ना पारिणामिका, जन्मान्तरविनयजनितसंस्कारसमुत्पन्ना औत्पत्तिकेति अस्ति विशेषः।

एतेषु प्रज्ञाश्रमणेषु केषामत्र ग्रहणं ?

चतुर्णामपि ग्रहणं वर्तते।

श्रीवीरसेनाचार्येण कथ्यते — ‘प्रज्ञा एव श्रवणं येषां ते प्रज्ञाश्रवणाः’।’

तो उसे औत्पत्तिकी प्रज्ञा परभव में उपस्थित करती है और केवलज्ञान को बुलाती — प्राप्त करा देती है।

यह उत्पत्तिप्रज्ञाश्रमण छहमास के उपवास से कृश होते हुए भी उस बुद्धि के माहात्म्य को प्रकट करने के लिए पूछनेरूप क्रिया में प्रवृत्त हुए चौदहपूर्वी को भी उत्तर देते हैं।

विनय से बारह अंगों को पढ़ने वाले के उत्पन्न हुई प्रज्ञा का नाम वैनयिक है। अथवा परोपदेश से उत्पन्न बुद्धि भी वैनयिक कहलाती है।

तपश्चरण के बल से गुरु के उपदेश के बिना उत्पन्न बुद्धि कर्मजा है। अथवा औषधसेवा के बल से उत्पन्न बुद्धि भी कर्मजा है। अपनी-अपनी जातिविशेष से उत्पन्न बुद्धि पारिणामिका कही जाती है।

यहाँ कोई शंका करता है कि —

तीर्थकर के मुख से निकले हुए बीजपदों के अर्थ का निश्चय करने वाले वृषभसेनादि गणधरों की प्रज्ञा का कहाँ अन्तर्भाव होता है ?

आचार्यदेव इसका समाधान देते हैं कि —

उसका पारिणामिक प्रज्ञा में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि वह विनय, उत्पत्ति और कर्म के बिना उत्पन्न होती है।

शंका — पारिणामिक और औत्पत्तिक प्रज्ञा में क्या विशेषता — भेद है ?

समाधान — जाति विशेष में उत्पन्न कर्मक्षयोपशम से आविर्भूत हुई प्रज्ञा पारिणामिक है और जन्मान्तर में विनयजनित संस्कार से उत्पन्न प्रज्ञा औत्पत्तिकी है, यही दोनों में भेद है।

शंका — इन प्रज्ञाश्रमणों में यहाँ किनका ग्रहण किया गया है ?

समाधान — चारों ही प्रज्ञाश्रमणों को यहाँ ग्रहण किया है।

श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है कि — प्रज्ञा ही है श्रवण जिनका वे प्रज्ञाश्रवण हैं, ऐसी निरुक्ति है।

ततो न वैनयिक प्रज्ञाश्रमणानां ग्रहणमिति चेत् ?

नैतद् वक्तव्यं, अदृष्टाश्रुतयोरर्थयोर्ज्ञानोत्पादनयोग्यत्वं प्रज्ञानाम्, तस्याः प्रज्ञायाः सर्वत्रोपलंभात्।

गुरुपदेशेनावगतचतुर्दशपूर्वाणां प्रज्ञाश्रमणानां कथमश्रुतार्थावगमः ?

नैतद् वक्तव्यं, अनभिलष्यार्थविषयज्ञानोत्पादनशक्तेस्तत्राभावे सकलश्रुतज्ञानोत्पत्तिविरोधात्। अत्रासंयतानां प्रज्ञाश्रमणानां ग्रहणं न कर्तव्यं, जिनशब्दानुवृत्तेः। एतेभ्यः प्रज्ञाश्रमणजिनेभ्यो नमः।

प्रज्ञाया ज्ञानस्य च को विशेषः ?

ज्ञानहेतुजीवशक्तिर्गुरुपदेशनिरपेक्षा प्रज्ञा कथ्यते, तत्कार्यं च ज्ञानं, ततोऽस्ति भेद इति ज्ञातव्यम्।

अन्यत्र भिन्नमेव लक्षणम्। तथाहि — “विद्याधरा हि सन्तो ये तपो गृह्णन्ति तेषां प्रज्ञातिशयस्तदैवोत्पद्यत इति ते प्रज्ञाश्रमणा इत्युच्यन्ते”।”

श्रीमद्भट्टाकलंकदेवेन कथ्यते — “अतिसूक्ष्मार्थतत्त्वविचारगहने चतुर्दशपूर्विण एव विषयेऽनुयुक्ते अनधीत-द्वादशांगचतुर्दशपूर्वस्य प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूतासाधारणप्रज्ञाशक्तिलाभाभिः-संशयं निरूपणं प्रज्ञाश्रवणत्वम्”।”

तात्पर्यमेतत् — एतेषां प्रज्ञाश्रमणानां नमस्कारप्रभावेण मय्यपि एतादृशी प्रज्ञोत्पद्येत येनाहं शीघ्रमेव

शंका — तो फिर वैनयिक प्रज्ञाश्रमणों का ग्रहण नहीं हो सकेगा ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अदृष्ट और अश्रुत अर्थों में ज्ञानोत्पादन की योग्यता का नाम प्रज्ञा है, सो वह प्रज्ञा सर्वत्र पाई जाती है।

शंका — गुरु के उपदेश से चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने वाले प्रज्ञाश्रमण के अश्रुत अर्थ का ज्ञान कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उसमें अवक्तव्य पदार्थ विषयक ज्ञान के उत्पादक की शक्ति का अभाव होने पर समस्त श्रुतज्ञान की उत्पत्ति का विरोध होगा। यहाँ असंयत प्रज्ञाश्रमणों का ग्रहण नहीं है, क्योंकि जिन शब्द की अनुवृत्ति चली आ रही है। ऐसे इन प्रज्ञाश्रमण जिनों को नमस्कार हो।

शंका — प्रज्ञा और ज्ञान के बीच में क्या भेद है ?

समाधान — गुरु के उपदेश से निरपेक्ष ज्ञान की हेतुभूत जीव की शक्ति का नाम प्रज्ञा है और उसका कार्य ज्ञान है, इस कारण दोनों में भेद है ऐसा जानना चाहिए।

अन्यत्र (प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी नामक ग्रंथ में) इसका लक्षण कुछ भिन्न ही है। वह इस प्रकार है — “विद्याधर होते हुए जो तप को ग्रहण कर लेते हैं उनके जब प्रज्ञा का अतिशय उत्पन्न हो जाता है, तब वे प्रज्ञाश्रमण कहलाते हैं।”

श्रीमान् भट्टाकलंकदेव ने (तत्त्वार्थराजवार्तिक में) कहा है —

“चौदहपूर्वधारी श्रुतज्ञानियों के द्वारा ही जिसका समाधान हो सकता है, ऐसी अतिसूक्ष्म शंकाओं का द्वादशांग का पाठी न होते हुए भी अपने विशिष्ट श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न असाधारण प्रज्ञाशक्ति के लाभ से निःसंशय — संशयरहित होकर समाधान करना प्रज्ञाश्रवणत्व नाम की बुद्धि ऋद्धि है।”

तात्पर्य यह है कि — इन प्रज्ञाश्रमण ऋद्धिधारक महामुनियों को नमस्कार करने के प्रभाव से मेरी भी

स्वात्मज्ञानं केवलज्ञानं कर्तुं क्षमो भवेयमिति याचेऽहं निरन्तरम्^१।

अधुना आकाशगामिमुनीनां नमस्कारकरणार्थं श्रीमद्गौतमभट्टारकेण सूत्रमवतार्यते —

णमो आगासगामीणं॥१९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — आकाशे यथेच्छया इच्छितप्रदेशं मानुषोत्तरपर्वतावरुद्धं गच्छन्त आकाशगामिन इति गृहीतव्याः।

अत्र देवविद्याधराणां न ग्रहणं कर्तव्यं, जिनशब्दानुवृत्तेः।

कश्चिदाशंकते — आकाशचारणानामाकाशगामिनां च को विशेषः ?

परिहार उच्यते, चरणं चारित्रं संयमः पापक्रियानिरोधः इत्येकार्थः, तस्मिन् कुशलो निपुणश्चारणः। तपोविशेषेण जनिताकाशस्थितजीववधपरिहरण-कुशलत्वेन सहित आकाशचारणः। आकाशगमनमात्रयुक्त आकाशगामी। आकाशगामित्वात् जीववधपरिहरण-कुशलत्वेन विशेषिताकाशगामित्वस्य विशेषोपलंभादस्ति विशेषः। एतेभ्यस्तपोबलेनाकाशगामिभ्यो जिनेभ्यो नमः इत्युक्तं भवति।

अन्यत्र कथ्यते — पर्यङ्कावस्थानिषण्णा वा कायोत्सर्गशरीरा वा पादोद्धारनिक्षेपणविधिमन्तरेणाकाश-गमनकुशला आकाशगामिनः।^२

ऐसी प्रज्ञा उत्पन्न होवे, जिसके द्वारा मैं शीघ्र ही अपने ज्ञान को केवलज्ञानरूप परिणत करने में सक्षम हो जाऊँ, ऐसी हम निरन्तर याचना करते हैं।

अब आकाशगामी मुनियों को नमस्कार करने हेतु श्री गौतम गणधर भट्टारक के द्वारा सूत्र अवतरित किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

आकाशगामी जिनों को नमस्कार हो॥१९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — आकाश में अपनी इच्छा के अनुसार मानुषोत्तर पर्वत से घिरे हुए इच्छित प्रदेश में गमन करने वाले आकाशगामी हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। यहाँ देव व विद्याधरों का ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि जिन शब्द की अनुवृत्ति चली आ रही है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — आकाशचारण और आकाशगामी में क्या भेद है ?

उसका समाधान करते हुए उत्तर कहते हैं — चरण, चारित्र, संयम व पापक्रियानिरोध ये सब एक ही अर्थवाचक शब्द हैं। उनमें जो कुशल अर्थात् निपुण हैं, वह चारण कहलाते हैं। तपविशेष से उत्पन्न हुई आकाशस्थित जीवों के परिहार की कुशलता से जो सहित है वह आकाशचारण है। आकाश में गमन करने मात्र से संयुक्त आकाशगामी कहलाता है। सामान्य आकाशगामित्व की अपेक्षा जीवों के वध परिहार की कुशलता से विशेषित आकाशगामित्व में विशेषता पाई जाने से दोनों में भेद है। तप के बल से आकाश में गमन करने वाले इन आकाशगामी जिनों को नमस्कार हो, यह सूत्र में कहा गया है।

अन्यत्र (तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रन्थ में) भी कहा है —

“पर्यकासन से बैठकर अथवा कायोत्सर्ग अवस्था युक्त शरीर से अर्थात् खड़े होकर अथवा पैरों को उठाना-खरना आदि विधि न करते हुए आकाशगमन में जो कुशल होते हैं, वे आकाशगामी ऋद्धिधारी कहलाते हैं।”

१. विशेष — वीर नि. सं. २५२६, माघ शु. दूज, ८-२-२००० को दिल्ली में ऋषभदेव पांडाल में यह प्रकरण लिखा। इस दिन अंतर्राष्ट्रीयनिर्वाणमहोत्सव में पंचकल्याणक में दीक्षाकल्याणक है। २. तत्त्वार्थवार्तिक अ. ३, सूत्र ३६।

तात्पर्यमेतत् — तपोमाहात्म्येन ये केचिन्महातपस्विनः आकाशगमनर्द्धिं उत्पाद्य जीववधमन्तरेण गगने गच्छन्तः स्वपरोपकारिणो भवन्ति त एव भव्यजीवानां शरण्यास्तेषां पादपयोरुहाणि नमस्कृत्य वयमपि अहिंसामहाव्रतस्य शुद्ध्यर्थं सिद्ध्यर्थं चारित्रभावनां भावयामहे।

संप्रति आशीर्विषर्द्धिसंयतान् नमस्कृतुं श्रीमद्गौतमगणधरदेवेन सूत्रमवतार्यते —

णमो आशीविसाणं॥२०॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — अविद्यमानस्यार्थस्याशंसनमाशीः, आशीर्विषं एषां ते आशीर्विषाः। येषां यं प्रति 'म्रियस्व' इति वचनं निर्गतं तं मारयति, 'भिक्षार्थं भ्रम' इति वचनं भिक्षार्थं भ्रामयति, 'शिरः छिद्येत' इति वचनं शिरः छिनत्ति, ते आशीर्विषा नाम श्रमणाः।

कथं वचनस्य विषसंज्ञा ?

विषमिव विषमित्युपचारात्।

आशीः अविषं अमृतं येषां ते आशीर्विषाः। येषां वचनं स्थावर-जंगम-विषपूरितजीवान् प्रतीत्य 'निर्विषा भवन्तु' इति निःसृतं तान् जीवयति। व्याधि-वेदना-दारिद्र्यादिविलयं प्रतीत्य निर्गतं सद् वचनं तत्तत्कार्यं करोति तेऽपि आशीर्विषा इत्युक्तं भवति। तपोबलेन एवंविधशक्ति संयुक्तवचना भूत्वा ये महासाधवो जीवानां निग्रहानुग्रहं न कुर्वन्ति, ते आशीर्विषा इति गृहीतव्याः।

तात्पर्यं यह है कि — तपस्या के माहात्म्य से जो कोई महातपस्वी साधु आकाशगमन की ऋद्धि को उत्पन्न करके जीवों की हिंसा किये बिना आकाश में गमन करते हुए स्व और पर का उपकार करते हैं वे ही भव्यजीवों के लिए शरणभूत हैं। उनके चरणकमलों में नमस्कार करके हम सभी अहिंसा महाव्रत की शुद्धि और सिद्धि के लिए चारित्रभावना को भाते हैं।

अब आशीर्विष ऋद्धि से समन्वित संयतों को नमस्कार करने हेतु श्री गौतम गणधर देव के द्वारा सूत्र अवतीर्ण किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

आशीर्विष ऋद्धियुक्त जिनों को नमस्कार हो॥२०॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — अविद्यमान अर्थ — पदार्थ की इच्छा का नाम है आशिष्। और आशिष् है विष जिनका वे आशीर्विष कहलाते हैं। "मर जाओ" इस प्रकार जिसके प्रति निकला हुआ जिनका वचन उसके मारने में निमित्त होता है, 'भिक्षा के लिए भ्रमण करो' (भीख मांगो) ऐसा वचन भिक्षार्थ भ्रमण करने में निमित्त होता है, 'शिरका छेद हो' अर्थात् ऐसा दुराशीषरूप वचन शिर के छेदने में निमित्त होता है, वे आशीर्विष नामक श्रमण अर्थात् साधु हैं।

शंका — वचन के विष संज्ञा कैसे संभव है ?

समाधान — विष के समान जो वचन भी विष होते हैं, इस प्रकार उपचार से वचन को विष संज्ञा प्राप्त हो जाती है।

आशिष् है अविष अर्थात् अमृत जिनका वे आशीर्विष हैं। स्थावर अथवा जंगम विष से पूरित जीवों के प्रति 'निर्विष हो' इस प्रकार निकला हुआ जिनका वचन उन्हें जिलाता — जीवन प्रदान करता है, व्याधि वेदना और दारिद्र्य आदि के विनाश हेतु निकला हुआ जिनका वचन उस उस कार्य को करता है, वे भी आशीर्विष हैं, यह सूत्र का अभिप्राय है। तप के प्रभाव से जो इस प्रकार के शक्तियुक्त वचनों से संयुक्त हो करके जीवों के निग्रह व अनुग्रह को नहीं करते हैं, वे आशीर्विष हैं, ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

कुतः ?

जिनशब्दानुवृत्तेः। न च निग्रहानुग्रहाभ्यां संदर्शितरोषतोषाणां मुनीनां जिनत्वमस्ति, विरोधात्।

श्रीवीरसेनाचार्यो ब्रवीति—“एदेसिं सुहासुहलब्धिसहियाणमासीविसाणं जिणाणं णिसुद्धियं महिवीढणिवदिदो किदियकम्मं करेमि त्ति उत्तं होदि”।”

अन्यत्र कथ्यते—“आशिराशंसनं तदेव विषं येषां। म्रियस्वेत्युक्ते हि नियमेन म्रियते। उपलक्षणं चैतत्। तेनाशिरमृतानामित्यपि गम्यते। शापानुग्रहसमर्थानामित्यर्थः। यदि हि ते परस्यापकारमाशासते तदापकारो भवति। यदोपकारमाशासते तदोपकारो भवतीति।” तथापीमे सम्यग्रत्नत्रयधारिणो महामुनयः साम्यरसपरिणताः रागद्वेषविहीनाः सन्तः स्वात्मतत्त्वमेव साधयन्ति तेभ्यो नित्यं नमोऽस्तु अस्माकमिति।

तात्पर्यमेतत्—एतेषामाशीर्विषाणां जिनानां साष्टांगं नमस्कारं कृत्वा सिद्धभक्त्यादिकं पठन्तो गुरुणां भक्तिं कुर्मः।

प्रश्न—ऐसा क्यों है ?

उत्तर—क्योंकि जिन शब्द की अनुवृत्ति चली आ रही है और निग्रह व अनुग्रह द्वारा क्रमशः क्रोध व हर्ष को दिखलाने वाले मुनियों के जिनत्व संभव नहीं है, क्योंकि इसमें विरोध आता है।

श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं कि—इन शुभ व अशुभ लब्धि सहित आशीर्विष जिनों को नत होता हुआ पृथिवीतल पर गिरकर—झुककर कृतिकर्मपूर्वक वंदना करता हूँ, यह कहने का तात्पर्य है।”

अन्यत्र (प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी नामक ग्रंथ में) कहा है—

आशिष् अर्थात् आशंसन, वही है विष जिनका, वे आशिर्विष श्रमण होते हैं। इनके द्वारा किसी को ‘मर जाओ’ इतना कहने पर नियम से वह प्राणी मर जाता है और यह उपलक्षण है। इसलिए आशिष् अर्थात् जिनके वचन अमृत होते हैं वे भी आशिर्विष कहलाते हैं। अर्थात् शाप—अभिशाप और अनुग्रह—उपकार दोनों को करने में जो समर्थ होते हैं, ऐसा यहाँ अर्थ लेना। यदि वे दूसरों का अपकार—अहित करने वाले वचन बोल देते हैं तो उनका अहित हो जाता है और यदि वे किसी के लिए उपकार युक्त वचन बोल देते हैं, तो उनका उपकार-हित हो जाता है, ऐसा यहाँ अभिप्राय समझना चाहिए।” फिर भी ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप रत्नत्रय के धारी महामुनि समतारस से परिणत और राग-द्वेष से रहित होते हुए निज आत्मतत्त्व की सिद्धि ही करने में तत्पर रहते हैं, ऐसे उन आशिर्विष ऋद्धिधारी महामुनियों को हमारा नित्य नमस्कार होवे।

‘तात्पर्य यह है कि—हम इन आशीर्विष ऋद्धिधारी जिनों को साष्टांग नमस्कार करके सिद्धभक्ति आदि पढ़ते हुए गुरुओं की भक्ति करते हैं।

यहाँ साररूप में यह समझना है कि उग्रोग्र तपस्या करने वाले विशेष दिगम्बर महामुनियों को ऐसी ऋद्धियाँ जब उत्पन्न हो जाती हैं, तो वे किसी का भी अपकार और उपकार करने में समर्थ होते हैं, किन्तु यदि वे सच्चे वीतरागी साधु हैं, तो किसी के प्रति भी अहितकारी वचन न बोलकर सदैव हितकारी वचन ही बोलते हैं। जैसे—यशोधर मुनिराज के गले में मरा सर्प डालने वाले राजा श्रेणिक को भी मुनिराज ने धर्मवृद्धि का ही आशीर्वाद दिया था। देखो ! इसके विपरीत द्वीपायन मुनि ने अपनी ऋद्धि का दुरुपयोग किया, तो उनके अशुभ तैजस के कारण पूरी द्वारिका नगरी भी भस्म हुई और उन्हें स्वयं भी नरक में जाना पड़ा।

व्यवहार में भी देखा जाता है कि गुरुओं के मुख से निकले हुए अच्छे-बुरे वचनों से प्रणियों का हित-

संप्रति दृष्टिविषद्विधारिणां संयतानां नमस्कारकरणार्थं श्रीमद्गौतमभट्टारकेण सूत्रमवतार्यते —

णमो दिद्विविसाणं॥२१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अत्र दृष्टिशब्देन चक्षुर्मनसोर्ग्रहणं, उभयत्र दृष्टिशब्दप्रवृत्तिदर्शनात्। तत्साह-
चर्यात्कर्मणोऽपि। रुष्टो यदि अवलोकयति चिन्तयति क्रियां करोति वा 'मारयामीति' तर्हि मारयति, अन्यदपि
अशुभकर्म संरम्भपूर्वालोकनेन क्रियमाणो दृष्टिविषो नाम। एवं दृष्ट्यमृतानामपि ज्ञात्वा लक्षणं वक्तव्यं।
'जिणाणं' इत्यनुवर्तते, अन्यथा दृष्टिविषाणां सर्पाणामपि नमस्कारप्रसंगात्। एतेषां शुभाशुभलब्धियुक्तानां
तोष-रोषोन्मुक्तानां षड्विधानामपि दृष्टिविषाणां जिनाणां नमस्कारो भवेदित्युक्तं भवति।

अन्यत्रापि — "दिद्विविसाणं" इदमप्युपलक्षणार्थं। तेन दृष्ट्यमृतानामिति गम्यते। यदि हि तेऽप्रसन्नदृष्ट्या
परमवलोकंते तदा तद् भस्मकरणे तेषां सामर्थ्यं। अथ प्रसन्नदृष्ट्या तमवलोकन्ते तर्द्धिवृद्धिनीरोगतादिकरणे

अहित हो जाता है। यही कारण है कि गृहस्थजन गुरुओं की कृपादृष्टि सदैव अपने ऊपर बनाए रखने की
अभिलाषा करते हैं। यद्यपि रागद्वेष के त्यागी मुनि-आर्यिका आदि कभी किसी को न तो श्राप देते हैं और न
उनके अहित की बात सोचते हैं फिर भी तपस्वी साधु-साध्वियों का मन-वचन-काय से अनादर करने वालों
को प्रथमतः तो कर्म का दुष्फल प्राप्त होता है तथा यदि कदाचित् गुरुओं का हृदय अधिक संतप्त होता है और
उनके मुख से अविनयी के प्रति कोई कठोर वचन निकल जाते हैं तो प्रायः वे वचन फलीभूत होते देखे जाते
हैं। अतः इन ऋद्धियों एवं तपस्या का माहात्म्य जानकर पूर्ववर्ती सभी ऋद्धिधारी मुनियों की पूजा-भक्ति
करके अपने जीवन को सार्थक करना चाहिए तथा वर्तमानकालीन सन्तों में भी भूतनैगमनय से ऋद्धिधारी
मुनियों की कल्पना करके उनकी यथायोग्य विनय करके अपने तन-मन को स्वस्थ बनाना चाहिए।

अब दृष्टिविष ऋद्धि के धारक संयतों को नमस्कार करने हेतु श्रीमान् गौतम गणधर भट्टारक के द्वारा
सूत्र अवतरित किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

दृष्टिविष ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥२१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — यहाँ दृष्टि शब्द से चक्षु और मन दोनों को ग्रहण किया गया है, क्योंकि
उन दोनों में दृष्टि शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है। उसके साहचर्य से क्रिया का भी ग्रहण है। रुष्ट होकर वह यदि
'मारता हूँ' इस प्रकार देखता है, सोचता है व क्रिया करता है तथा क्रोधपूर्वक अवलोकन से अन्य भी अशुभ
कार्य को करने वाला दृष्टिविष नाम वाला कहलाता है। इसी प्रकार दृष्टि-अमृतों का भी लक्षण जानकर कहना
चाहिए। 'जिनों को' इसकी अनुवृत्ति चली आ रही है, क्योंकि इसके बिना दृष्टिविष सर्पों को भी नमस्कार करने का
प्रसंग आ जाएगा। इन शुभ व अशुभ लब्धि से युक्त तथा हर्ष व क्रोध से रहित छह प्रकार के ही दृष्टिविष जिनों को
नमस्कार हो, यह सूत्र का अर्थ बतलाया गया है।

अन्यत्र भी (प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी नामक ग्रंथ में) कहा है —

"दृष्टिविष ऋद्धिधारकों को" यह भी उपलक्षण के लिए है। इसके द्वारा अमृत के समान दृष्टि यह अर्थ
भी ग्रहण हो जाता है। यदि इस दृष्टिविष ऋद्धि के धारक मुनि किसी को अप्रसन्न — क्रोधित दृष्टि से देख लेते
हैं तब उसको भस्म कर देने की भी उनमें सामर्थ्य रहती है और यदि प्रसन्नदृष्टि से उसका अवलोकन कर लेते
हैं तो उसकी ऋद्धि-वृद्धि-आरोग्यता को करने में उनकी सामर्थ्य का प्रदर्शन होता है। यह सब उनकी तपस्या

तेषां सामर्थ्यम्। तपःप्रभावाद्ऋद्धिविशेष एव हि तेषां तादृशो, न पुनरुपकारमपकारं वा ते कस्यचित्कुर्वन्ति, शत्रौ मित्रे च तेषां परमोदासीनतोपेतत्वात्।^{११}

तात्पर्यमेतत् — जिनमुद्राधारिणो महामुनयः क्रुद्धीभूय कस्यचिदपि अपकारं न कुर्वन्ति कदाचिदुपकारं च कुर्वन्त्यपि अतस्तेभ्यो ऋद्धिसमन्वितेभ्यो महासाधुभ्यो नमो नमः।

एवं सप्तमस्थले निमित्त-विक्रियाद्यनेकद्धिं समन्वित मुनिनमस्कारत्वेन अष्टौ सूत्राणि गतानि।

संप्रति उग्रतपोधारिणां महासाधूनां प्रणमनार्थं श्रीमद्गौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

णमो उग्रतवाणं॥२२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — उग्रतपसो द्विविधा उग्रोग्रतपसः अवस्थितोग्रतपसश्चेति। तत्र य एकोपवासं कृत्वाहारं गृहीत्वा द्वौ उपवासौ करोति, पुनरपि पारणां कृत्वा त्रीनुपवासान् करोति। एवमेकोत्तरवृद्ध्या यावज्जीवितान्तं त्रिगुप्तिगुप्तो भूत्वा उपवासान् कुर्वन् उग्रोग्रतपा नाम।

एतस्योपवास-पारणानयने सूत्रं —

उत्तरगुणिते तु धने पुनरप्यष्टापितेऽत्र गुणमादिम्।

उत्तरविशेषतं वर्गितं च योज्यानयेन्मूलम्॥१॥

आदिं त्रिगुणं मूलादपास्य शेषं चएन हृतलब्धम्।

सैकं दलितं च पदं शेषं तु धनं विनिर्दिष्टम्॥२॥

के प्रभाव से उत्पन्न ऋद्धि का ही प्रदर्शन जानना चाहिए, किन्तु वे किसी का उपकार अथवा अपकार नहीं करते हैं, क्योंकि शत्रु और मित्र दोनों में उनकी परम उदासीनता रहती है।”

तात्पर्य यह है कि — जिनमुद्रा के धारक महामुनि क्रोधित होकर कदाचित् किसी का भी अपकार — अहित नहीं करते हैं और कदाचित् उपकार करते भी हैं अतः उन ऋद्धि समन्वित महासाधुओं को पुनः पुनः नमस्कार होवे।

इस प्रकार सातवें स्थल में निमित्त-विक्रिया आदि अनेक ऋद्धियों से समन्वित मुनियों के नमस्कार की मुख्यता वाले आठ सूत्र पूर्ण हुए।

अब उग्रतपस्या के धारक महासाधुओं को नमन करने हेतु श्रीमान् गौतम स्वामी सूत्र का अवतरण करते हैं—
सूत्रार्थ—

उग्र तप ऋद्धि के धारक जिनों को नमस्कार हो॥२२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — उग्रतप ऋद्धि के धारक दो प्रकार के होते हैं — उग्रोग्र तप ऋद्धि के धारक और अवस्थित उग्रतप ऋद्धि के धारक। उनमें जो एक उपवास को करके आहार करके दो उपवास करते हैं, पश्चात् फिर आहार करके तीन उपवास करते हैं। इस प्रकार एक अधिक वृद्धि के साथ जीवन पर्यन्त तीन गुप्तियों से रक्षित होकर उपवास करने वाले उग्रोग्रतप ऋद्धि के धारक होते हैं।

इस उग्रोग्र तप के उपवास और पारणाओं को लाने के लिए गाथा सूत्र कहते हैं —

श्लोकार्थ — एक उग्रोग्र तपस्वी प्रतिपदा से प्रारंभ कर एकोत्तर वृद्धि क्रम से चतुर्दशी तक निम्न प्रकार से उपवास व पारणा करता है॥१॥

मिश्रधने अष्टगुणो त्रिरूपवर्गेण संयुते मूलम्।

मूलोर्द्धं च पदंशे शेषं तु धनं विनिर्दिष्टम्॥३॥^१

एताभ्यां द्वाभ्यां सूत्राभ्यां पदमानीय धने शोधिते उपवासदिवसाः। पदमात्राः पारणाः। एवं सति षण्मासेभ्यो वर्धमाना उपवासा भवन्ति।

ततो नेदं घटते इति ?

नैष दोषः, घातायुष्काणां मुनीनां षण्मासोपवासनियमाभ्युपगमात्, नाघातायुष्काणां, तेषामकाले मरणाभावात्।

कश्चिदाह—

अघातायुष्का अपि षण्मासोपवासाश्चैव भवन्ति, तदुपरि संक्लेशोपपत्तेः इति चेत् ?

आचार्यः प्राह— भवतु नाम, एष नियमः ससंक्लेशानां सोपक्रमायुष्कानां च, न संक्लेशविरहित-निरुपक्रमायुष्कानां तपोबलेनोत्पन्न-वीर्यान्तराय क्षयोपशमानां तद्वलेन मन्दीकृतासातावेदनीयोदयानामेष नियमः, तत्र तद्विरोधात्।

एतादृशी शक्तिः महत्सु जनेषु— महामुनिषु उत्पद्यते इति कथं ज्ञायते ?

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
उ	पा	उ	उ	पा	उ	उ	उ	पा	उ	उ	उ	उ	पा
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४

इसका सर्वधन या पदधन 'मुह-भूमिजोगदले परगुणिदे परधणं होदि' इस सूत्र के अनुसार हुआ।

$[(२+५÷२)]×४=१४$ पद धन या सर्वधन।

इसमें पदसंख्या अर्थात् कितने बार उपवास और पारणाएँ हुई इसकी गणना 'आदी अंते सुद्धे वड्ढिहदे रूवसंजुदे ठाणे' इस सूत्र के अनुसार हुई—

$(५-२)×१+१=४$ पद

इन दो सूत्रों से पद को लेकर घन में से कम करने पर उपवास के दिन होते हैं। पारणाएँ पद प्रमाण होती हैं इस प्रकार मानने पर छह मासों से वर्धमान अधिक उपवास होते हैं।

शंका—ऐसा होने पर छह मासों से अधिक उपवास हो जाते हैं। इस कारण यह घटित नहीं होता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि घातायुष्क मुनियों के छह मासों के उपवास का नियम स्वीकार किया है, अघातायुष्क मुनियों के नहीं, क्योंकि उनका अकाल में मरण नहीं होता है।

यहाँ कोई शंका करता है कि—अघातायुष्क भी छह मास तक उपवास करने वाले ही होते हैं, क्योंकि इसके आगे उपवास करने पर तो संक्लेश भाव उत्पन्न हो जाता है।

आचार्य समाधान देते हैं कि—संक्लेशसहित और सोपक्रमायुष्क मुनियों के लिए यह नियम भले ही हो, किन्तु संक्लेशभाव से रहित निरुपक्रमायुष्क और तप के बल से उत्पन्न हुए वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से संयुक्त तथा उसके बल से ही असातावेदनीय के उदय को मंद कर चुकने वाले साधुओं के लिए यह नियम नहीं है, क्योंकि उनमें इसका विरोध पाया जाता है।

शंका—तप के बल से ऐसी शक्ति किसी महाजन अर्थात् महामुनियों के उत्पन्न होती है यह कैसे जाना जाता है?

एतस्मादेव सूत्राद् ज्ञायते।

कुतः ?

षण्मासेभ्य उपरि उपवासाभावे उग्रोग्रतपोऽनुपपत्तेः।

तत्र दीक्षार्थमेकोपवासं कृत्वा पारणां कुर्यात् पुनः एकदिवसानन्तरेण एवंविधिं कुर्वतः किञ्चिन्निमित्तेण षष्ठोपवासो जातः। पुनस्तेन षष्ठोपवासेन विहरतोऽष्टमोपवासो जातः। एवं दशमद्वादशादिक्रमेणाधो न पततो यावज्जीवितांतं यो विहरति तस्यावस्थितोऽग्रतपो नाम। एतदपि तपोविधानं वीर्यान्तरायक्षयोपशमेन भवति। द्वयोरपि तपसोरुत्कृष्टफलं निर्वृत्तिः, अपरमनुत्कृष्टफलं। एतेभ्य उग्रतपोभ्यो जिनेभ्यो नमः, इत्युक्तं भवति।

अन्यत्रापि कथितं—

“ये हि पंचम्यामष्टम्यां चतुर्दश्यां च प्रतिज्ञातोपवासा अलाभद्वये त्रये वा तथैव निर्वाहयन्ति त एवं प्रकारा उग्रतपसः^१।”

अन्यच्च—“चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षमासाद्यनशनयोगेष्वन्यतमयोगमारभ्य आमरणादिनिवर्तका उग्रतपसः।^२”

तात्पर्यमेतत्—ये महामुनय उग्रतपोधारिणस्ते उपवासान् वर्धयन्त एव जीवितान्तं तपस्यां कुर्वन्ति ते नियमेन स्वात्मसिद्धिं कुर्वन्तः परंपरया निर्वाणं प्राप्नुवन्ति तेभ्यो नित्यं नमोऽस्तु।

समाधान—इसी सूत्र से यह जाना जाता है।

क्यों ?

क्योंकि, छह मासों से ऊपर उपवास का अभाव मानने पर उग्रोग्र तप नहीं बन सकता है।

दीक्षा के लिए एक उपवास करके पारणा करे, पश्चात् एक दिन के अन्तर से ऐसा करते हुए किसी निमित्त से षष्ठोपवास—बेला हो गया। फिर उस षष्ठोपवास से विहार करने वाले के अष्टमोपवास—तेला हो गया। इस प्रकार दशम-द्वादशम आदि के क्रम से नीचे न गिरकर जो जीवन पर्यन्त विहार करता है वह अवस्थित उग्रतप ऋद्धि का धारक कहा जाता है। यह भी तप का अनुष्ठान वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होता है। इन दोनों ही तपों का उत्कृष्ट फल मोक्ष है, अन्य अनुत्कृष्ट फल है। इन उग्रतप ऋद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो, यह सूत्र का अभिप्राय है।

अन्यत्र भी (प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी नाम के ग्रंथ में) कहा है—

“जो पंचमी, अष्टमी और चतुर्दशी में से किसी भी दिन के उपवास की प्रतिज्ञा कर लेते हैं, पश्चात् दो या तीन दिन तक आहारलाभ न मिलने पर भी उन दिनों का उसी प्रकार निर्वाह करते हैं, ऐसे साधु उग्रतप वाले होते हैं।”

दूसरी जगह भी (तत्त्वार्थराजवार्तिक में) कहा है—

“चतुर्थ-१ उपवास, षष्ठ-बेला, अष्टम-तेला, दशम-चार उपवास, द्वादशम-पाँच उपवास, पक्ष-पन्द्रह दिन तथा एक मास आदि के उपवासों में से किसी एक प्रकार के उपवास को प्रारंभ करके उसका मरणपर्यन्त निर्वाह करते हैं, वे उग्रतपस्वी कहलाते हैं।”

तात्पर्य यह है कि—जो उग्रतपस्या के धारक महामुनि उपवासों की संख्या बढ़ाते हुए जीवनपर्यन्त तपस्या करते हैं वे नियम से स्वात्मसिद्धि करते हुए परम्परा से निर्वाणपद को प्राप्त करते हैं, उन्हें मेरा नित्य ही नमस्कार होवे।

संप्रति दीप्ततपःसहितानां मुनीनां भक्त्यर्थं श्रीमद्गौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

णमो दित्ततवाणं॥२३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — दीप्तिहेतुत्वाद् दीप्तं तपः, दीप्तं तपो येषां ते दीप्ततपसः। चतुर्थषष्ठाद्युपवासेषु क्रियमाणेषु येषां तपोजनितलब्धिमाहात्म्येन शरीरतेजः प्रतिदिनं वर्धते धवलपक्षचन्द्रस्येव ते ऋषयो दीप्ततपसः। तेषां न केवलं दीप्तिरेव वर्धते, किन्तु बलोऽपि वर्धते। शरीरबल-मांस-रुधिरपचयैर्विना शरीरदीप्ति-वृद्धेरनुपपत्तेः। तेन न तेषां भुक्तिरपि, तत्कारणाभावात्।

उक्तं च — “तेण ण तेसिं भुत्ती वि, तत्कारणाभावादो। ण च भुक्खादुक्खुवसमणद्धं भुंजंति, तदभावादो। तदभावो कुदो वग्गम्मदे ? दित्ति-बलसरीरोवचयादो*।”

एतत्कथनेन एवमवगम्यते यत् दीप्ततपःऋद्धिसमन्वितो गणधरदेवा आहारं न कुर्वन्ति, तथापि तपःप्रभावेण शरीरबलं दीप्तिश्च तेषां वर्धते।

तेभ्यो दीप्ततपोभ्यो जिनेभ्यो मनोवचनकायैर्नमो नमः।

अन्यत्र कथनमस्ति —

अब दीप्ततप ऋद्धि सहित मुनियों की भक्ति करने के लिए श्रीमान् गौतमस्वामी सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

दीप्ततपः ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥२३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — दीप्ति — तेज का हेतु होने के कारण तप दीप्ततप कहा जाता है। दीप्त है तप जिनका वे दीप्ततप ऋद्धिधारक होते हैं। चतुर्थ अथवा बेला आदि करने पर जिनका शरीरगत तेज तपजनित लब्धि के माहात्म्य से प्रतिदिन शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ता जाता है, वे ऋषि दीप्ततप ऋद्धि वाले कहलाते हैं। उनकी केवल दीप्ति ही नहीं बढ़ती है, किन्तु उनका बल भी बढ़ जाता है, क्योंकि शरीरबल, मांस और रुधिर की वृद्धि के बिना शरीरदीप्ति की वृद्धि हो नहीं सकती है। इसीलिए उनके आहार भी नहीं होता है, क्योंकि उनके आहार के कारणों का अभाव है।

धवला टीका में कहा है कि — “उनके भोजन भी नहीं है, क्योंकि उनके भोजन के कारण का अभाव है। भूख के दुःख को शान्त करने के लिए वे भोजन करते हैं, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि उनके भूख के दुःख का अभाव है।

शंका — उसका अभाव कहाँ से जाना जाता है ?

समाधान — दीप्ति, बल और शरीर की वृद्धि से उसका अभाव जाना जाता है।”

इस कथन से यह जाना जाता है कि दीप्ततप ऋद्धि से समन्वित गणधर देव आहार नहीं करते हैं फिर भी तप के प्रभाव से उनके शरीर का बल और दीप्ति बढ़ती रहती है। उन दीप्ततप ऋद्धि के धारक जिनों को मन-वचन-काय से नमस्कार होवे।

अन्यत्र भी (तत्त्वार्थराजवार्तिक में) कहा है —

“महोपवासकरणेऽपि प्रवर्धमानकायवाङ्मानसबलाः विगंधरहितवदनाः पद्मोत्पलादिसुरभिनिश्वासाः अप्रच्युतमहादीप्तिशरीरा दीप्तिपसः^१।”

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयीशास्त्रे वर्तते — “ये देहदीप्त्या प्रहृतान्धकारा दीप्तपसः^२। तेषां नमस्कारोऽस्तु।

अधुना तप्ततपःऋद्धिसमन्वितान् नमस्कर्तुं सूत्रमवतार्यते श्रीमद्वीरप्रभुप्रथमगणधरदेवेन —

णमो तत्ततवाणं॥२४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तप्तं दग्धं विनाशितं मूत्र-पुरीष-शुक्रादि येन तपसा तदुपचारेण तप्ततपः। येषां भुक्तचतुर्विधाहारस्य तप्तलोहपिंडाकर्षितपानीयस्येव नीहारो न सन्ति ते तप्ततपसः। एतया ऋद्ध्या सहितेभ्यो जिनेभ्यो नमः इत्युक्तं भवति।

श्रीमद्भट्टाकलंकदेवेन कथ्यते —

“तप्तायसकटाहपतितजलकणवदाशुशुष्काल्पाहारतया मलरुधिरादिभावपरिणामविरहिताभ्यवहाराः तप्ततपसः।^३”

तात्पर्यमेतत् — एतान् ऋद्धिसमन्वितान् नमस्कर्तुं भावनयापि तपश्चरणकरणार्थं शक्तिर्वर्धते अतः नित्यं गणधरदेवान् प्रणम्य स्वात्मशुद्धिं याचेऽहं एतेषां गुरुणां पादपयोरुहेषु निरन्तरम्।

“दीप्ततप ऋद्धिधारक मुनि के महोपवास-अनेकों उपवास कर लेने पर भी कायबल, वचनबल और मनोबल की सदैव वृद्धि ही होती रहती है, दुर्गन्धरहित मुख और सुगन्धित श्वासोच्छ्वास और महातेजयुक्त शरीर रहता है।”

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी नाम के शास्त्र में वर्णन है — जो अपने शरीर की दीप्ति से — तेज से अंधकार को नष्ट करने में समर्थ हैं, उन दीप्ततप ऋद्धिधारक मुनियों को नमस्कार होवे।

अब तप्ततपऋद्धि से समन्वित मुनियों को नमस्कार करने हेतु श्री वीरप्रभु के प्रमुख गणधर देव के द्वारा सूत्र अवतरित किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

तप्ततप ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥२४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जिनके द्वारा तपस्या करके मूत्र, मल और शुक्र आदि धातुएँ तप्त अर्थात् दग्ध व नष्ट कर दी जाती हैं उन्हें उपचार से तप्ततप कहते हैं। जिनके ग्रहण किये हुए चार प्रकार के आहार का तपे हुए लोहपिण्ड द्वारा आकृष्ट — सोखे गये पानी के समान नीहार नहीं होता है वे तप्ततप ऋद्धि के धारक जिन कहलाते हैं। इस ऋद्धि से सहित तप्ततप वाले जिनों को नमस्कार हो, यह सूत्र का अर्थ है।

श्रीमान् भट्टाकलंकदेव ने (तत्त्वार्थराजवार्तिक में) कहा है —

“जैसे अग्नि से संतप्त लोहे की कड़ाही में गिरे हुए जलकण तुरंत सूख जाते हैं, उसी प्रकार अल्प आहार के करने से मल, रुधिर आदिरूप परिणमन से रहित अवस्था तप्ततप ऋद्धिधारक मुनि के होती है।”

तात्पर्य यह है कि — इस तप्ततप ऋद्धि से समन्वित मुनियों को नमस्कार करने की भावना से भी तपश्चरण करने की शक्ति बढ़ती है, अतः नित्य ही गणधरदेवों को नमन करके इन गुरुओं के चरण कमलों में अपनी आत्मशुद्धि हेतु हम निरन्तर याचना करते हैं।

अधुना महातपःऋद्धिसमन्वितानां नमस्करणार्थं महावीरप्रभोः प्रथमगणभृद्देवेन सूत्रमवतार्यते —

गमो महातवाणं॥२५॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अणिमाद्यष्टगुणोपेतो जलचारणाद्यष्टविधचारणागुणालंकृतः स्फुरत्शरीरप्रभो द्विविधाक्षीणर्द्धियुक्तः सर्वौषधिस्वरूपः पाणिपात्रनिपतितसर्वाहारान् अमृतस्वादस्वरूपेण परिवर्तनसमर्थः सकलेन्द्रेभ्योऽपि अनंतबलः आशीर्दृष्टिविषलब्धिसमन्वितस्तप्ततपाः सकलविद्याधरो मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानैः ज्ञातत्रिभुवनव्यापारः मुनिः महातपाः नाम।

कस्मात् ?

महत्त्वहेतुस्तपोविशेषो महानुच्यते उपचारेण, स येषां ते महातपसः इति सिद्धत्वात्। अथवा महसां हेतुस्तप उपचारेण महा इति भवति। शेषं सुगमं। एतेषां महातपसां मनोवचनकायैर्नमस्कारं करोमि।

श्रीयतिवृषभाचार्येण कथितं —

“मंदरपंतिप्पमुहे महोववासे करेदि सव्वे वि।

चउसण्णाणबलेणं जीए सा महातवा रिद्धी^१॥१०५४॥

श्रीमद्भट्टाकलंकदेवेनापि एवमेव प्रोक्तं —

“सिंहनिःक्रीडितादिमहोपवासानुष्ठानपरायणयतयो महातपसः^२।”

अब महातपःऋद्धि से समन्वित मुनियों को नमस्कार करने हेतु महावीरप्रभु के प्रथम गणधरदेव सूत्र अवतरित करते हैं—

सूत्रार्थ —

महातप ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥२५॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जो अणिमा आदि आठ गुणों से समन्वित हैं, जलचारणादि आठ प्रकार के चारणगुणों से अलंकृत हैं, प्रकाशमान शरीरप्रभा से संयुक्त हैं, दो प्रकार की अक्षीण ऋद्धि से युक्त हैं, सर्वौषधि स्वरूप हैं, पाणिपात्र में गिरे हुए सब आहारों को अमृतस्वरूप से पलटाने में समर्थ हैं, समस्त इन्द्रों से भी अनन्तगुणे बल के धारक हैं, आशीर्विष और दृष्टिविष लब्धियों से समन्वित हैं, तप्ततप ऋद्धि से संयुक्त हैं, समस्त विद्याओं के धारक हैं, मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञानों से तीनों लोक के व्यापार को जानने वाले हैं, वह मुनि महातप ऋद्धि के धारक कहलाते हैं।

कैसे ?

कारण यह है कि महत्त्व हेतुभूत तप विशेष को उपचार से महान कहा जाता है। वह जिनके होता है, वे महातप ऋषि हैं, ऐसा सिद्ध है। अथवा महस् अर्थात् तेजों को हेतुभूत जो तप है वह उपचार से महा इस विशेषण से संयुक्त होता है। शेष सुगम है। इन महातप ऋद्धिधारक जिनों को मैं मन, वचन व काय से नमस्कार करता हूँ।

‘श्री यतिवृषभाचार्य ने (तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में) कहा है—

गाथार्थ — मंदरपंक्ति आदि प्रमुख सभी महोपवासों को जो करते हैं, चार ज्ञानों के द्वारा सब कुछ जानते हैं, वे महातपः ऋद्धि के धारक होते हैं॥१०५४॥

श्रीमान् भट्टाकलंकदेव ने भी (तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रंथ में) इसी प्रकार से कहा है — “सिंहनिष्क्रीडित आदि महोपवासरूप व्रतों के अनुष्ठान में परायण — कुशल यति महातप ऋद्धिधारक होते हैं।

तात्पर्यमेतत् — तपश्चर्याबलेनैव महातपःऋद्धिं समुत्पाद्य ये यतयः पुनरपि सिंहनिःक्रीडितादिमहातपांसि कुर्वन्तोऽपि न श्राम्यन्ति किन्तु अहोरात्रं स्वात्मशक्त्या सह शरीरशक्तिमपि वर्धयन्ति, त एव महातपः-ऋद्धिसमन्विताः सन्ति तेभ्यो नित्यं नमोस्तु।

अधुना घोरतपःऋद्धिधारिणां नमस्कर्तुकामेन श्रीमद्गौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

पमो घोरतवाणं॥२६॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — उपवासेषु षण्मासोपवासः अवमौदर्येषु एककवलः, वृत्तिपरिसंख्यासु चत्वर गोचराभिग्रहः, रसपरित्यागेषु उष्णजलयुतौदनभोजनं, विविक्तशयनासनेषु वृक-व्याघ्र-तरक्ष-छवल्लादि-श्वापदजीवसेवितासु सह्यविंध्याद्यटवीषु निवासः, कायक्लेशेषु तीव्रहिमवर्षादिनिर्जनप्रदेशेषु अभ्रावकाश-वृक्षमूल-आतापन-योगग्रहणं। एवमभ्यन्तरतपःस्वपि उत्कृष्टतपःप्ररूपणा कर्तव्या। एष द्वादशविधोऽपि तपः कायरजनानां भयोत्पादकः इति घोरतपः।

तद् येषां ते घोरतपसः। द्वादशविधतपसामुत्कृष्टावस्थायां वर्तमाना घोरतपसः इति भणितं भवति। एषापि तपोजनितर्द्धिश्चैव, अन्यथा एवंविधाचारणानुपपत्तेः। एतेभ्यो घोरतपोभ्यो नमः इत्युक्तं भवति।

श्रीमद्यतिवृषभाचार्येण कथ्यते —

तात्पर्य यह है कि — तपश्चर्या के बल से महातपःऋद्धि को प्राप्त करके जो मुनि पुनः भी सिंहनिष्क्रीडित आदि महातपों को करते हुए भी श्रम का अनुभव नहीं करते हैं, किन्तु दिन-रात आत्मशक्ति के साथ शारीरिक शक्ति को भी वृद्धिगंत करते हैं वे ही महातपःऋद्धि से समन्वित होते हैं, उनको मेरा नित्य ही नमस्कार होवे।

अब घोरतपःऋद्धिधारी मुनियों को नमस्कार करने की इच्छा से श्री गौतम स्वामी सूत्र का अवतार करते हैं —

सूत्रार्थ —

घोरतप ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥२६॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — उपवासों में छह मास का उपवास, अवमौदर्य तपों में एक ग्रास, वृत्तिपरिसंख्यानों में चत्वर अर्थात् चौराहे पर भिक्षा की प्रतिज्ञा, रसपरित्यागों में उष्ण जल युक्त ओदन का भोजन, विविक्त शय्यासनों में वृक, व्याघ्र, तरक्ष, छवल्ल आदि श्वापद अर्थात् हिंस्र जीवों से सेवित सह्य और विन्ध्य आदि अटवियों में निवास, कायक्लेशों में जहाँ तीव्र ठंडक हो, वर्षा हो तथा तीव्र गर्मी पड़ती हो, ऐसे निर्जन प्रदेशों में अभ्रावकाश — खुले आकाश में, वृक्ष के मूल में और आतापन — खुली धूप में योग ग्रहण करना। इसी प्रकार अभ्यन्तर तपों में भी उत्कृष्ट तप की प्ररूपणा करना चाहिए। यह बारह प्रकार का भी तप कायर जनों को भय उत्पन्न कराता है, इसी कारण यह घोरतप कहलाता है।

वह तप जिनके होता है, वे घोरतपऋद्धि के धारक हैं। बारह प्रकार के तपों की उत्कृष्ट अवस्था में वर्तमान — स्थित साधु घोरतप कहलाते हैं, यह तात्पर्य है। यह भी तपजनित ऋद्धि ही है, क्योंकि बिना तप के इस प्रकार का आचरण बन नहीं सकता है। इन घोर तप ऋषीश्वरों को नमस्कार हो, यह सूत्र में कहा गया है।

श्री यतिवृषभाचार्य ने कहा है —

“जलसूलप्यमुहाणं, रोगेणच्चंतपीडिअंगा वि।

साहंति दुद्धरतवं, जीए सा घोरतवरिद्धी^१॥१०५५॥

अस्यैव विस्तरः श्रीमद्भट्टाकलंकदेवाभिप्रायेण दृश्यते —

“वातपित्तश्लेष्मसन्निपातसमुद्भूत-ज्वर-कास-श्वासाक्षि-शूल-कुष्ठ-प्रमेहादिविविधरोगसन्तापितदेहा अप्यप्रच्युतानशनकायक्लेशादितपसो भीमस्मशानाद्रिमस्तकगुहा-दरी-कंदर-शून्यग्रामादिषु प्रदुष्टयक्ष-राक्षस-पिशाचप्रनृत्तवेतालरूपविकारेषु परुषशिवारुतानुपरतसिंह-व्याघ्रादि-व्याल-मृगभीषणस्वन-घौरचौरादि-प्रचरितेष्वभि-रुचितावासाश्च घोरतपसः^२।”

ये महामुनयो घोरोपसर्गसहनकुशला उत्तमसंहननसहितास्त एव संसारसमुद्रोत्तरणक्षमाः स्वयं तरन्तोऽप्यपरान् तारयितुं प्रवणास्तेभ्यो घोरतपोभ्यो नमो नमः।

एवं अष्टमस्थले उग्रतपःऋद्धिप्रभृतिघोरतपःऋद्धिसमन्वितमुनीनां नमस्कारकरणत्वेन पंचसूत्राणि गतानि।

अधुना घोरपराक्रमऋद्धिसमन्वितानां प्रणमनार्थं श्रीमत्सन्मतिप्रभुप्रथमशिष्यगौतमगणधरदेवेन सूत्रमवतार्यते —

णमो घोरपरक्कमाणं॥२७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — त्रिभुवनोपसंहरण-महीपीठग्रसन-सकलसागरजलशोषण-जलाग्नि-

गाथार्थ — जिस ऋद्धि के बल से ज्वर और शूलादिक रोग से शरीर के अत्यन्त पीड़ित होने पर भी साधुजन दुद्धर तप को सिद्ध करते हैं, वह घोरतपऋद्धि है॥१०५५॥

इसी का विस्तार श्री भट्टाकलंकदेव के अभिप्राय से देखें —

“वात, पित्त, कफ आदि के सन्निपात से समुद्भूत ज्वर, खांसी, दमा, अक्षिशूल, कुष्ठ, प्रमेहादि विविध रोगों से देह के सन्तापित होने पर भी जो अनशन कायक्लेशादि तपों से विमुख नहीं होते और भयंकर श्मशान, पर्वत की चोटी, गुफा, कन्दरा और शून्य ग्रामादि स्थान जो अत्यन्त दुष्ट यक्ष, राक्षस-पिशाच आदि नाचते हुए वैताल रूप से विकृत हैं, जहाँ शृगालों के कठोर शब्द व्याप्त हैं तथा जो व्याघ्र, सर्प, मृगों की भीषण आवाजों से भयंकर है, चौरादि से व्याप्त हैं — ऐसे स्थानों में रहने के अभ्यासी घोरतपऋद्धि के धारक हैं।”

जो महामुनि घोर उपसर्गों को सहन करने में कुशल उत्तम संहनन से सहित होते हैं, वे ही संसारसमुद्र को पार करने में सक्षम हैं, वे स्वयं तिरते हुए दूसरों को भी तिराने में कुशल होते हैं, उन घोरतप ऋद्धिधारी जिनों को बारम्बार नमस्कार होवे।

इस प्रकार आठवें स्थल में उग्रतपःऋद्धि से लेकर घोरतपःऋद्धिसमन्वित मुनियों को नमस्कार करने की मुख्यता वाले पाँच सूत्र पूर्ण हुए।

अब घोर पराक्रम ऋद्धिसमन्वित मुनियों को नमन करने हेतु श्रीमान् सन्मतिप्रभु के प्रथम शिष्य गौतम गणधरदेव सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

घोरपराक्रम ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥२७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तीनों लोकों का उपसंहार करने, पृथिवीतल को निगलने, समस्त समुद्र

शिलापर्वतादिवर्षणशक्तिर्घोरपराक्रमो नाम। घोरो पराक्रमो येषां जिनानां ते घोरपराक्रमाः। तेभ्यो नम इति भणितं भवति।

अत्र न क्रूरकर्माणामसुराणां नमस्कारः प्रसज्यते, जिनशब्दानुवृत्तेः।

अन्यत्र प्रोक्तं — “पराक्रमो दुर्धरव्रतधारणे सामर्थ्यं। घोरोऽचिन्त्यः पराक्रमो येषां ते तथोक्ताः^१।”

तात्पर्यमेतत् — तपश्चरणप्रभावेण एतादृशीं शक्तिं समुत्पाद्य ये घोर पराक्रमं कर्तुं क्षमा भूत्वापि न किमप्यघटितकार्यं कुर्वन्ति केवलं निर्दोषचर्यामाचरन्तः स्वात्मसिद्धिं साधयन्ति तेभ्यो नमो नमः।

संप्रति घोरगुणऋद्धिसमन्वितसाधूनां प्रणमनार्थं श्रीमद्गौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

णमो घोरगुणाणं॥२८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — घोरा रौद्रा गुणा येषां ते घोरगुणाः। चतुरशीतिलक्षगुणा इति यावत्।

कथं चतुरशीतिलक्षगुणानां घोरत्वम् ?

घोरकार्यकारिशक्तिजननात्। तेषां घोरगुणानां नमस्कारो भवेत् इत्युक्तं भवति। अत्र नातिप्रसंगो, जिनशब्दानुवृत्तेः।

न गुण-पराक्रमयोरेकत्वं, गुणजनितशक्तेः पराक्रमव्यपदेशात्।

के जल को सुखाने तथा जल, अग्नि एवं शिलापर्वतादि के बरसाने की शक्ति का नाम घोर पराक्रम है। घोर है पराक्रम जिन जिनेन्द्रों का वे घोरपराक्रम जिन कहलाते हैं। उनको नमस्कार हो, यह अभिप्राय है। यहाँ क्रूर कर्म करने वाले असुरों को नमस्कार करने का प्रसंग नहीं आता है, क्योंकि इस सूत्र में जिन पद की अनुवृत्ति चली आ रही है।

अन्यत्र भी कहा है —

“पराक्रम-दुर्धर व्रतों को धारण करने में जो समर्थवान् हैं। घोर-अचिन्त्य पराक्रम है जिनके वे घोरपराक्रम ऋद्धिधारक कहलाते हैं।”

तात्पर्य यह है कि — तपश्चरण के प्रभाव से ऐसी शक्ति को उत्पन्न करके जो घोर पराक्रम करने में सक्षम होकर भी कोई अघटित कार्य नहीं करते हैं अर्थात् विनाशकारी हिंसक कार्य नहीं करते हैं तथा केवल निर्दोष चर्या का पालन करते हुए स्वात्मा की सिद्धि करते हैं, उन घोरपराक्रम ऋद्धिधारक जिनों को बारम्बार नमस्कार होवे।

अब घोरगुणऋद्धि समन्वित साधुओं को प्रणमन करने हेतु श्रीमान् गौतम स्वामी सूत्र का अवतार करते हैं —

सूत्रार्थ —

घोरगुण ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥२८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — घोर अर्थात् रौद्र — दुर्धर हैं गुण जिनके वे घोरगुण कहे जाते हैं।

शंका — चौरासी लाख गुणों के घोरत्व कैसे संभव है ?

समाधान — घोर कार्यकारी शक्ति को उत्पन्न करने के कारण उनके घोरत्व संभव है। उन घोरगुण जिनों को नमस्कार हो, यह सूत्र में कहा गया है। जिन शब्द की अनुवृत्ति होने से यहाँ अति प्रसंग भी नहीं आता है।

गुण और पराक्रम में एकत्व नहीं है, क्योंकि गुण से उत्पन्न हुई शक्ति की पराक्रम संज्ञा है।

उक्तं च तत्त्वार्थवार्तिके — “त एव गृहीततपोयोगवर्धनपरा घोरपराक्रमाः^१।”

अन्यत्रापि — “घोरा अद्भुता महान्तो गुणा येषां ते घोरगुणाः^२।”

अधुना घोरगुणब्रह्मचारिमहर्षीणां नमनार्थं सूत्रमवतार्यते श्रीगणधरदेवेन —

णमोऽघोरगुणब्रह्मचारीणं ।। २९ ।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ब्रह्म — चारित्रं पंचव्रत-समिति-त्रिगुप्त्यात्मकं, शान्तिपुष्टिहेतुत्वात्। अघोराः शान्ता गुणा यस्मिन् तदघोरगुणं, अघोरगुणं ब्रह्म चरन्तीति अघोरगुणब्रह्मचारिणः। येषां तपोमाहात्म्येन डमरीति-मारि-दुर्भिक्ष-वैर-कलह-वध-बन्धन-रोधादिप्रशमनशक्तिः समुत्पन्ना ते अघोरगुणब्रह्मचारिणः इत्युक्तं भवति। तेभ्योऽघोरगुणब्रह्मचारिभ्यो नमः इति भणितमस्ति।

कश्चिदाशङ्कते —

अत्र सूत्रे ‘अघोरशब्दे’ अकारः किन्न श्रूयते ?

आचार्यः समाधत्ते —

सन्धिनिर्देशान्न श्रूयते।

पुनः कश्चिदाह —

दृष्ट्यमृतानामघोरब्रह्मचारिणां च को विशेषः ?

तत्त्वार्थवार्तिक ग्रंथ में कहा है—“वे मुनि ही अपने ग्रहण किये तपोयोग को वृद्धिगत करते हैं अतः घोरपराक्रम कहलाते हैं।”

अन्यत्र भी कहा है — घोर अर्थात् अद्भुत, महान् गुण हैं जिनके वे घोरगुण ऋषि कहलाते हैं।

अब घोरगुण ब्रह्मचारी महर्षियों को नमन करने हेतु श्री गणधरदेव सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

अघोर गुणब्रह्मचारी ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो ।। २९ ।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ब्रह्म का अर्थ है चारित्र अर्थात् पंचमहाव्रतरूप पाँच समिति और तीन गुप्तिस्वरूप चारित्र है, क्योंकि वह शान्ति और पुष्टि का हेतु है। अघोर अर्थात् शांत है गुण जिसमें वह अघोरगुण है, अघोरगुण ब्रह्म का आचरण करने वाले अघोरगुणब्रह्मचारी कहलाते हैं। जिनके तप के माहात्म्य से डमरी, ईति, मारि, दुर्भिक्ष, वैर, कलह, वध, बन्धन और रोध आदि को शान्त करने की शक्ति उत्पन्न हुई है वे अघोरगुणब्रह्मचारी हैं ऐसा कहा गया है। उन अघोरगुण ब्रह्मचारी जिनों को नमस्कार हो, यह सूत्र का अभिप्राय है।

यहाँ कोई शंका करता है कि —

सूत्र में अघोर शब्द में अकार क्यों नहीं सुनने में आता है ?

तब आचार्य समाधान देते हैं कि —

सन्धियुक्त निर्देश होने से उक्त अकार का यहाँ श्रवण नहीं होता है।

पुनः कोई शंका करता है कि —

दृष्टि-अमृत और अघोरगुणब्रह्मचारी में क्या भेद है ?

आचार्यो ब्रवीति—

उपयोगसाहाय्यदृष्टौ स्थितिलब्धियुक्ता दृष्टिविषा मुनयो नाम। अघोरगुणब्रह्मचारिणां पुनः लब्धयोऽ-
संख्याताः सर्वांगगताः एतेषामंगलग्नवातेऽपि सकलोपद्रवविनाशनशक्तिदर्शनात्। ततोऽस्ति भेदः। विशेषेण
तु अशुभलब्धीनां प्रवृत्तिर्लब्धिमतामिच्छावशवर्तिनी। शुभानां लब्धीनां प्रवृत्तिः पुनः द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां
संभवति, तदिच्छाया विनापि प्रवृत्तिदर्शनात्।

श्रीयतिवृषभाचार्येण कथ्यते—

जीए ण होंति मुणिणो, खेत्तम्मि वि चोरपहुदिबाधाओ।

कालमहाजुद्धादी, रिद्धी साघोरबम्हचारित्ता॥१०५८॥

उक्कस्सक्खउवसमे, चारित्तावरणमोहकम्मस्स।

जा दुस्सिमणं णासइ, रिद्धी साघोरबम्हचारित्ता॥१०५९॥

अहवा—

सव्वगुणेहिं अघोरं, महेसिणो बम्ह सदचारित्तं।

विप्फुरिदाए जीए, रिद्धी साघोरबम्हचारित्ता॥१०६०॥

तत्त्वार्थवार्तिकेऽपि लिख्यते—

“चिरोषितास्खलितब्रह्मचर्यवासाः प्रकृष्टचारित्रमोहनीयक्षयोपशमात् प्रणष्टदुःस्वप्नाः घोरब्रह्मचारिणः।”

श्रीमद्गौतमस्वामिविरचित-यतिपाक्षिकप्रतिक्रमणटीकायां गणधरवल्लयमंत्राणां मध्ये ‘णमो घोरगुण-
बन्धचारीणं’ टीका विरच्यते श्री प्रभाचन्द्राचार्येण। तथाहि—“घोरो दुर्धरो गुणो निरतिचारतालक्षणो यस्य

आचार्य समाधान देते हैं कि—

उपयोग की सहायतायुक्त दृष्टि में स्थित लब्धि से संयुक्त मुनि दृष्टिविष कहलाते हैं। किन्तु
अघोरगुणब्रह्मचारियों की लब्धियाँ सर्वांगगत असंख्यात हैं। इनके शरीर से स्पृष्ट वायु में भी समस्त
उपद्रवों को नष्ट करने की शक्ति देखी जाती है। इस कारण दोनों में भेद है। विशेष इतना है कि अशुभ
लब्धियों की प्रवृत्ति लब्धियुक्त जीवों की इच्छा के वश से होती है। किन्तु शुभ लब्धियों की प्रवृत्ति दोनों
ही प्रकारों से संभव है, क्योंकि उनकी इच्छा के बिना भी इन लब्धियों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

श्री यतिवृषभाचार्य ने कहा है—

गाथार्थ—जिस ऋद्धि से मुनि के क्षेत्र में भी चौरादिक की बाधाएँ और काल (महामारी) एवं
महायुद्धादिक नहीं होते हैं, वह अघोरब्रह्मचारित्वऋद्धि है॥१०५८॥

चारित्रनिरोधक मोहकर्म अर्थात् चारित्रमोहनीय का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जो ऋद्धि दुःस्वप्न को
नष्ट करती है, वह अघोरब्रह्मचारित्वऋद्धि है॥१०५९॥

अथवा—जिस ऋद्धि के आविर्भूत होने से महर्षिजन सब गुणों के साथ अघोर अर्थात् अविनश्वर
ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, वह अघोरब्रह्मचारित्वऋद्धि है॥१०६०॥

तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रंथ में भी लिखा है—

“जो अस्खलित—अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं और प्रकृष्ट चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम
होने के कारण जिनके दुःस्वप्न नष्ट हो गये हैं, वे घोर ब्रह्मचारी ऋद्धि के धारक होते हैं।”

श्रीमान् गौतमस्वामी द्वारा रचित यतियों के पाक्षिक प्रतिक्रमण की टीका में गणधरवल्लय मंत्रों के मध्य

तद्घोरगुणं दिव्यांगनालिंगनादिभिरप्यक्षुभितचित्तम्। अथवा घोरा अत्यद्भुता गुणा यस्मात्प्राणिनां भवन्ति तद्घोरगुणम्। तच्च तद्ब्रह्म च ब्रह्मचर्यम्। तच्चरन्त्यनुतिष्ठन्तीति एवं शीला घोरगुणब्रह्मचारिणः। तेषां।”^१

तात्पर्यमेतत् — एतेषां महामुनीनां नमस्कारेण उपसर्गसहनशक्तिर्भविष्यतीति निश्चित्य सदैव एभ्यो नमो नमः कर्तव्यः।

एवं नवमस्थले घोरपराक्रमादिऋद्धिसमन्वितमहामुनिनमस्कारकरणत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि।

संप्रति आमर्षौषधिप्राप्तमहर्षीणां नमस्कारकरणार्थं श्रीमद्गणधरदेवेन सूत्रमवतार्यते —

णमो आमोसहिपत्ताणं।।३०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — आमर्षः औषधत्वं प्राप्तो येषां ते आमर्षौषधप्राप्ताः।

सूत्रे सकारः किञ्च श्रूयते ?

श्रीवीरसेनाचार्येण कथ्यते — “आई-मज्झंतवण्ण-सरलोवो” त्ति लक्खणादो।

औषधिशब्दे इकारः कुतः समागतः ?

‘ए ए छच्चे समाणा’ त्ति लक्खणादो।^२”

“घोर गुणब्रह्मचारी जिनों को नमस्कार हो” इस मंत्र सूत्र की टीका श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने रची है। जो इस प्रकार है — “घोर अर्थात् दुर्धर गुण-निरतिचार लक्षण सहित गुणों को प्राप्त घोरगुण ब्रह्मचारी कहलाते हैं, वे दिव्यांगना के आलिंगन आदि के द्वारा भी क्षुभित नहीं होते हैं। अथवा घोर — जिसके निमित्त से प्राणियों के अति अद्भुत — विशिष्ट गुण प्रगट होते हैं वह घोरगुण हैं। उस घोरगुण सहित जो ब्रह्मचर्य है, उसका अनुष्ठान — आचरण करने में जो तत्पर होते हैं, वे घोरगुणब्रह्मचारी कहलाते हैं, उनको नमस्कार होवे।”

तात्पर्य यह है कि — इस ऋद्धिधारक मुनियों को नमस्कार करने से उपसर्ग सहन करने की शक्ति प्राप्त होगी, ऐसा श्रद्धान करके सदैव उन्हें पुनः पुनः नमस्कार करना चाहिए।

इस प्रकार नवमें स्थल में घोरपराक्रम आदि ऋद्धि से समन्वित महामुनियों को नमस्कार करने की प्रमुखता वाले तीन सूत्र पूर्ण हुए।

अब आमर्षौषधि ऋद्धिप्राप्त महर्षियों को नमस्कार करने हेतु श्री गणधरदेव सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

आमर्षौषधि ऋद्धिप्राप्त ऋषियों को नमस्कार हो।।३०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जिनका आमर्ष अर्थात् स्पर्श औषधपना गुण को प्राप्त है उन्हें आमर्षौषधि प्राप्त ऋद्धिधारी ऋषि के नाम से जाना जाता है।

शंका — सूत्र में सकार क्यों नहीं सुना जाता है ?

समाधान — श्रीवीरसेनाचार्य इसका समाधान देते हैं कि — प्राकृत में किन्हीं पदों के आदि, मध्य व अन्त के वर्ण और स्वर का लोप हो जाता है, इस व्याकरण के नियम से सकार का लोप होगया, अतः वह नहीं सुना जाता है।

शंका — औषधि में इकार कहाँ से आया है ?

समाधान — अ, आ, इ, ई, उ, ऊ ये छह स्वर समान हैं तथा ए और ओ ये दो सन्ध्यक्षर हैं, ये आठों

अस्यायमर्थः — प्राकृतव्याकरणानुसारात् केषांचित् पदानां आदिमध्यान्तवर्णानां स्वराणां वा लोपो दृश्यते। अनेनैव व्याकरणेन सकारस्य लोपो जातः अतएव न श्रूयते। यद्यपि संस्कृतभाषायां औषधिः औषधं च द्वावपि शब्दौ दृश्येते तथापि अत्र केवलं औषधिसमूहरूपेण औषधशब्दाभिप्रायेण उपर्युक्तसमाधानं वर्तते।

तपोमाहात्म्येन येषां स्पर्शः सकलौषधस्वरूपत्वं प्राप्तस्तेषां आमर्षौषधिप्राप्ता इति संज्ञा। एवंविधानामामर्षौषधि-प्राप्तानां नमस्कारोऽस्तु इति भणितं भवति। न चैतेषां आमर्षौषधिप्राप्तानां मुनीनां अघोरगुण-ब्रह्मचारिणामन्त-र्भावः, एतेषां व्याधिविनाशने चैव शक्तिदर्शनात्।

तिलोपपण्णत्तिग्रन्थे कथ्यते —

रिसिकरचरणादीणं, अल्लियमेत्तम्मि जीए पासम्मि।

जीवा होंति णिरोगा, साअम्मरिसोसही रिद्धी^१॥१०६८॥

श्रीमद्भट्टाकलंकदेवेनापि निगदितं —

आमर्शनः संस्पर्शः, यदीयहस्त-पादाद्यामर्श औषधिप्राप्तो यैस्ते आमर्षौषधिप्राप्ताः।^२

प्रवचनसारोद्धारे कथितमस्ति —

“संफरिसणमासोसो-संस्पर्शनमामर्शः स एवौषधिर्यस्यासावामर्षौषधिः। करादिसंस्पर्शमात्रादेव विविध-व्याधिव्यपनयनसमर्थो लब्धि-लब्धिमतोरभेदोपचारात् साधुरेवामर्षौषधिरित्यर्थः। इदमत्र तात्पर्यम् — स्वर बिना विरोध के एक-दूसरे के स्थान में आदेश को प्राप्त होते हैं। इस व्याकरण के नियम से ‘औषधि में अकार के स्थान में इकार हो गया है।

इसका अर्थ यह है कि — प्राकृत व्याकरण के अनुसार कुछ पदों के आदि-मध्य और अन्त के वर्णों का अथवा स्वरों का लोप देखा जाता है। इसी व्याकरण से सकार का लोप हुआ है। अतः सकार वर्ण नहीं सुनने में आता है। यद्यपि संस्कृत भाषा में औषधिः और औषधं ये दोनों भी शब्द पाये जाते हैं, फिर भी यहाँ केवल औषधि के समूहरूप से औषधरूप के अभिप्राय से उपर्युक्त समाधान दिया गया है।

तप के माहात्म्य — प्रभाव से जिनका स्पर्श समस्त औषधों के स्वरूप को प्राप्त हो गया है, उनकी आमर्षौषधि प्राप्त ऐसी संज्ञा है। इस प्रकार के आमर्षौषधिप्राप्त ऋषियों को नमस्कार हो, यह सूत्र का अर्थ है। इनका अघोरगुणब्रह्मचारियों में अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि इनकी केवल व्याधि के नष्ट करने में ही शक्ति देखी जाती है।

तिलोपपण्णत्ति ग्रंथ में कहते हैं —

गाथार्थ — जिस ऋद्धि के प्रभाव से जीव पास में आने पर ऋषि के हाथ एवं पैर आदि के स्पर्शमात्र से निरोगी हो जाते हैं, वह आमर्षौषधि ऋद्धि है॥१०६८॥

श्रीमान् भट्टाकलंकदेव ने भी कहा है —

आमर्शन अर्थात् संस्पर्श, जिनके हाथ और पाद आदि को आमर्ष औषधि प्राप्त है, उन्हें आमर्षौषधि प्राप्त कहते हैं।

प्रवचनसारोद्धार में कहा है —

“आमर्श” का अर्थ है संस्पर्श अर्थात् स्पर्श करना। स्पर्श ही है औषधि जिसकी वह आमर्षौषधि है। हाथ आदि के स्पर्शमात्र से अनेक व्याधियों को दूर करने में समर्थ लब्धि और लब्धिप्राप्त करने वाले दोनों में

यत्प्रभावात् स्वहस्त-पादाद्यवयवपरामर्शमात्रेणैवात्मनः परस्य वा सर्वेऽपि रोगाः प्रणश्यन्ति सा आमर्षौषधिः।^१”

उक्तं च प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयीग्रन्थे — अथवा “आमोऽपक्वाहारः। स एवौषधिः। तां प्राप्ता आमौषधिप्राप्ताः।

तात्पर्यमेतत् — शरीरस्वास्थ्यमपि धर्मक्रियायां व्यवहारसाधनमस्ति। अतएव एतेभ्यो मुनिभ्यो नमस्कृत्य शरीरस्वास्थ्यं मनःस्वास्थ्यं आत्मनः स्वास्थ्यमपि कामयामहे। आमर्षौषधिप्राप्तर्द्धिभ्यः ऋषिभ्यो नमो नमः।

संप्रति क्ष्वेलौषधिप्राप्तर्द्धिमुनीनां नमस्कारकरणार्थं श्रीमद्गौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

णमो खेलोसहिपत्ताणं।।३१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — श्लेष्म-लाला-सिंहाण-विप्रुषादीनां खेलसंज्ञा वर्तते। एषः खेलः औषधित्वं प्राप्तो येषां ते खेलौषधिप्राप्तास्तेभ्यः खेलौषधिप्राप्तेभ्यो जिनेभ्यो नमोऽस्तु।

श्रीमद्यतिवृषभाचार्येण कथ्यते —

जीए लालासेमच्छीमलसिंहाण आदिआ सिग्घं।

जीवाण रोगहरणा स च्चिय खेलोसही रिद्धी^२।।१०६९।।

तत्त्वार्थवार्तिकेऽपि — “क्षेलो निष्ठीवनमौषधिर्येषां ते क्षेलौषधिप्राप्ताः।^३

अभेद पाया जाता है अतः उपचार से साधु-दिगम्बर मुनिराज ही आमर्षौषधि नाम से कहे गये हैं, ऐसा अर्थ जानना चाहिए। यहाँ तात्पर्य यह है कि जिसके प्रभाव से अपने हस्त-पाद आदि अवयव दूसरों के द्वारा छू लेने मात्र से अपने अथवा दूसरों के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं, वह आमर्षौषधि नाम की ऋद्धि कहलाती है।”

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी ग्रंथ में कहा है —

अथवा आम — अपक्व आहार, वह जिनके औषधिरूप बन जाता है, वे आमौषधिप्राप्त कहलाते हैं।

भावार्थ — यहाँ आमर्षौषधि, आमर्षौषधि और आमौषधि ऐसे तीन पाठ माने हैं।

तात्पर्य यह है कि — शरीर स्वास्थ्य को भी धर्मक्रियाओं के पालन में व्यवहार से साधन माना है। अतएव इन मुनियों को नमस्कार करके हम अपने शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य एवं आत्मा की स्वस्थता को भी चाहते हैं। आमर्षौषधि ऋद्धि को प्राप्त ऋषियों को नमस्कार होवे।

अब क्ष्वेलौषधिऋद्धि प्राप्त मुनियों को नमस्कार करने हेतु श्री गौतम स्वामी सूत्र का अवतार करते हैं —

सूत्रार्थ —

खेलौषधि ऋद्धिप्राप्त ऋषियों को नमस्कार हो।।३१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — श्लेष्म, लार, सिंहाण अर्थात् नासिकामल और विप्रुष आदि की खेलसंज्ञा है। जिनके शरीर का यह खेल — मल औषधिपने को प्राप्त हो गया है, वे खेलौषधि ऋद्धि प्राप्त ऋषि होते हैं। उन खेलौषधि ऋद्धि को प्राप्त जिनों को नमस्कार हो।

श्री यतिवृषभाचार्य ने (तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में) कहा है —

गाथार्थ — जिस ऋद्धि के प्रभाव से लार, कफ, अक्षि — आँख का मल और नाक का मल शीघ्र ही जीवों के रोगों को नष्ट करता है, वह क्ष्वेलौषधि ऋद्धि कहलाती है।।१०६९।।

तत्त्वार्थवार्तिक में भी कहा है — “जिनका खेल, थूक आदि औषधि का कार्य करते हैं, वे खेलौषधि

१. षट्खण्डागम (ध्वलाटीका समन्वित पु. ९), पृ. १६ टिप्पणी से। २. तिलोयपण्णत्ति अ. ४, पृ. २८३।

३. तत्त्वार्थवार्तिक अ. ३, सूत्र ३६।

अन्यत्रापि — “खेलः श्लेष्मा, जल्लो मलः कर्ण-वदन-नासिका-नयन-जिह्वा-समुद्भवः शरीरसंभवश्च, तौ खेलजल्लौ यत्प्रभावतः सर्वरोगापहारकौ सुरभी च भवतः सा क्रमेण खेलौषधिर्जल्लौषधिश्च।^१”

संप्रति जल्लौषधिप्राप्तमुनीनां प्रणमनार्थं श्रीगणधरदेवेन सूत्रमवतार्यते —

णमो जल्लोसहिपत्ताणं॥३२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जल्लोऽगमलः बाह्यः। सः औषधित्वं प्राप्तो येषां तपोबलेन ते जल्लौषधिप्राप्तास्तेभ्यो जिनेभ्यो नमः।

सेयजलो अंगरयं, जल्लं भण्णेत्ति जीए तेणावि।

जीवाण रोगहरणं, रिद्धी जल्लोसही णामा^२॥१०७०॥

“स्वेदालंबनो रजोनिचयो जल्लः, स औषधिं प्राप्तो येषां ते जल्लौषधिप्राप्ताः।^३”

अधुना विष्टौषधिप्राप्तर्षीणां नमस्कारकरणार्थं श्रीगणधरगुरुवर्येण सूत्रमवतार्यते —

णमो विष्टोसहिपत्ताणं॥३३॥

प्राप्त ऋषि कहे जाते हैं।”

अन्यत्र भी प्रवचनसारोद्धार में कहा है —

खेल अर्थात् श्लेष्मा, जल्ल-मल अर्थात् कान-मुख-नाक-जिह्वा से उत्पन्न होने वाली अशुचितारूप खेल एवं जल्ल दोनों ही जिनके प्रभाव से समस्त रोगों को नष्ट करने में समर्थ एवं सुगंधित होते हैं, वे क्रम से खेलौषधि और सर्वौषधि ऋद्धि होती हैं।

अब जल्लौषधि ऋद्धिप्राप्त मुनियों को प्रणमन करने हेतु श्री गणधरदेव के द्वारा सूत्र अवतारित होता है —

सूत्रार्थ —

जल्लौषधि ऋद्धि प्राप्त जिनों को नमस्कार हो॥३२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — बाह्य अंगों से उत्पन्न होने वाला मल ‘जल्ल’ कहलाता है। वह जल्ल जिनके तपःप्रभाव से औषधिपने को प्राप्त हो गया है, वे जल्लौषधि प्राप्त जिन होते हैं। उन जल्लौषधिऋद्धि प्राप्त जिनों को नमस्कार होवे।

गाथार्थ — स्वेदजल (पसीना) के आश्रित अंगरज अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले शारीरिक मल को ‘जल्ल’ कहते हैं। जिस ऋद्धि के प्रभाव से उस पसीने के द्वारा जीवों के रोग नष्ट हो जाते हैं, वह जल्लौषधि ऋद्धि कहलाती है॥१०७०॥

तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रंथ के अनुसार — “पसीने के कारण जो रजसमूह शरीर में चिपक जाता है, उसे जल्ल कहते हैं। जिनके जल्ल के स्पर्शमात्र से रोग दूर हो जाते हैं, वे जल्लौषधि ऋद्धि प्राप्त ऋषि होते हैं।”

अब विष्टौषधि ऋद्धि को प्राप्त ऋषियों को नमस्कार हेतु श्री गणधरगुरुवर्य सूत्र अवतारित करते हैं —

सूत्रार्थ —

विष्टौषधि ऋद्धिप्राप्त जिनों को नमस्कार हो॥३३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — विष्टाशब्दो येन देशामर्शकस्तेन मूत्र-विष्टा-शुक्राणां ग्रहणं। एते औषधित्वं प्राप्ता येषां ते विष्टौषधिप्राप्तास्तेभ्यो विष्टौषधिप्राप्तेभ्यो जिनेभ्यो नमः।

तिलोयपण्णत्तिग्रंथे जल्लौषधिप्राप्तद्धि-अनन्तरं मलौषधिर्नामापि ऋद्धिः पृथग् वर्तते। पुनश्च 'विप्पोसहि' नाम्ना वर्तते। तथाहि —

जीहोद्वदंतणासासोत्तादिमलं पि जीए सत्तीए।

जीवाण रोगहरणं मलोसही णाम सा रिद्धी॥१०७१॥

मुत्तपुरीसो वि पुढं दारुणबहुजीववायसंहरणा।

जीए महामुणीणं विप्पोसहि णाम सा रिद्धी॥१०७२॥^१

तत्त्वार्थवार्तिके कथितमस्ति — “विडुच्चार औषधिर्येषां ते विडौषधिप्राप्ताः।^२”

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयीशास्त्रे पाठान्तरं वर्तते। तथाहि —

“णमो विप्पोसहिपत्ताणं”-विप्रुषो ब्रह्मबिन्दवः। स औषधिः। तां प्राप्तानां सा वा प्राप्ता यैस्तेषाम्।^३”

इतो विस्तरः—तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे औषधिनामद्धिर्नामष्टौ भेदाः कथिताः सन्ति—आमशौषधि-क्षेलौषधि-जल्लौषधि-मलौषधि-विप्रौषधि-सर्वौषधि-मुखनिर्विष-दृष्टिनिर्विषाश्च^४। षट्खण्डागमस्य वेदनाखण्डे ‘णमो विट्टोसहिपत्ताणं’ पाठो वर्तते। तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे ‘विप्पोसहिपत्ताणं’ तथैव प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयीशास्त्रेऽपि एवमेव पाठोऽस्ति।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — विष्टा शब्द चूँकि देशामर्शक है इसलिए उससे मूत्र, विष्टा-मल और शुक्र का ग्रहण किया गया है। ये सब जिनके औषधिपने को प्राप्त हो गये हैं, वे विष्टौषधिप्राप्त जिन कहलाते हैं। उन विष्टौषधि ऋद्धि को प्राप्त जिनों को नमस्कार हो।

तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में जल्लौषधि प्राप्त ऋद्धि के अनन्तर मलौषधि नाम की भी ऋद्धि अलग कही गई है। पुनश्च ‘विप्पोसहि’ अर्थात् विप्रुषौषधि नाम से भी इस ऋद्धि का वर्णन है। जो इस प्रकार है—

गाथार्थ — जिस शक्ति के प्रभाव से जिह्वा, ओठ, दाँत, नासिका और श्रोत्रादि का मल भी जीवों के रोगों को नष्ट कर दता है, उसे मलौषधि ऋद्धि कहते हैं॥१०७१॥

जिस ऋद्धि के प्रभाव से महामुनियों के मूत्र व विष्टा से भी जीवों के बहुत भयंकर रोग नष्ट हो जाते हैं, वह विप्रौषधि नामक ऋद्धि होती है॥१०७२॥

तत्त्वार्थवार्तिक ग्रंथ में कहा है—

“जिनके विट्—मल और उच्चार—मूत्र ही औषधि को प्राप्त हो गये हैं, वे विडौषधि ऋद्धिधारक मुनि हैं।”

प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी नामक शास्त्र में इसका पाठान्तर—भिन्न पाठ है। जो इस प्रकार है—“विप्रुष् नाम ब्रह्मविन्दु अर्थात् वीर्य का है, वह वीर्य ही जिनका औषधिपने को प्राप्त हो गया है, वे विप्रुषौषधि ऋद्धिप्राप्त ऋषि हैं, उन्हें नमस्कार होवे।”

इसका विस्तार करते हैं—तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में औषधिऋद्धि के आठ भेद कहे हैं—आमशौषधि, क्षेलौषधि, जल्लौषधि, मलौषधि, विप्रौषधि, सर्वौषधि, मुखनिर्विष और दृष्टिनिर्विष।

षट्खण्डागम के वेदनाखण्ड में “णमो विट्टोसहिपत्ताणं” यह पाठ है। तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में “विप्पोसहिपत्ताणं” पाठ है, और प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी शास्त्र में भी यही पाठ है।

१. तिलोयपण्णत्ति, अ. ४, पृ. २८३। २. तत्त्वार्थवार्तिक अ. ३, सूत्र ३६। ३. प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी पृ. ९४।

४. तिलोयपण्णत्ति, अ. ४, पृ. २८३।

अधुना सर्वौषधिप्राप्तानां मुनीनां नमस्कारकरणार्थं श्रीगौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

पमो सव्वोसहिपत्ताणं।।३४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — रस-रुधिर-मांस-मेदास्थि-मज्जा-शुक्र-फुफ्फुस-खरीष-कालेय-मूत्र-पित्तान्तु-उच्चारदयः सर्वे औषधित्वं प्राप्ता येषां ते सर्वौषधिप्राप्ताः। तेभ्यः सर्वौषधिप्राप्तेभ्यो नमः। यावन्त्यो व्याधयो लोके सन्ति ताः सर्वाः स्थापयित्वा आमर्षौषधि-खेलोषधि-जल्लौषधि-विष्टौषधि-सर्वौषधीनामेक-संयोगादिभंगा नानाकालजिनानाश्रित्य प्ररूपयितव्याः विचित्रचारित्रेण लब्धीनां वैचित्र्याविरोधात्।

अन्यत्र च —

जीए पस्सजलाणिलरोमणहादीणि वाहिहरणाणि।

दुक्करतवजुत्ताणं रिद्धी सव्वोसही णामा।।१०७३।।^१

तथैव — “सर्वं मूत्रपुरीषनखकेशादिकमौषधिः। तां प्राप्तानां सा वा प्राप्ता यैस्तेषां।^२”

“तथा यन्माहात्म्यतो विण्मूत्रकेश-नखादयश्च सर्वेऽवयवाः समुदिताः सर्वत्र भेषजीभावं सौरभं च भजन्ते सा सर्वौषधिरिति।^३”

“अंग-प्रत्यंग-नख-दंत-केशादिरवयवः तत्संस्पर्शी वाय्वादिसर्वः औषधिप्राप्तो येषां ते सर्वौषधिप्राप्ताः।^४”

अब सर्वौषधि ऋद्धि को प्राप्त महामुनियों को नमस्कार करने हेतु श्री गौतम स्वामी सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त जिनों को नमस्कार हो।।३४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — रस, रुधिर — खून, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र, फुफ्फुस, खरीष, कालेय, मूत्र, पित्त, अंतर्दी, उच्चार अर्थात् मल आदिक सब जिनके औषधिपने को प्राप्त हो गये हैं, वे सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त जिन हैं। उन सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त जिनों को नमस्कार हो। यहाँ लोक में जितनी व्याधियाँ हैं, उन सबको स्थापित कर आमर्षौषधि, खेलोषधि, जल्लौषधि, विष्टौषधि और सर्वौषधि के एकसंयोगादिरूप भंगों की नाना काल संबंधी जिनों को आश्रय करके प्ररूपणा करना चाहिए, क्योंकि विचित्र चारित्र से लब्धियों की विचित्रता में कोई विरोध नहीं आता है।

अन्यत्र भी (तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में) कहा है —

गाथार्थ — जिस ऋद्धि के बल से दुष्कर तप से युक्त मुनियों का स्पर्श किया हुआ जल व वायु तथा रोम और नाखून आदि भी व्याधि को नष्ट करने वाले हो जाते हैं, वह सर्वौषधि नामक ऋद्धि कहलाती है।।१०७३।।

उसी प्रकार से कहा है — “जिनके मूत्र, पुरीष, नख, केशादि औषधिरूप परिणत हो जाते हैं अथवा जो इस प्रकार की ऋद्धि प्राप्त कर लेते हैं, उन सर्वौषधिऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार होवे।”

“तथा जिसके माहात्म्य से विष्टा-मूत्र-केश और नख आदि सभी अवयव एक साथ औषधिभाव को प्राप्त हो जाते हैं तथा सुगंधित हो जाते हैं, वह सर्वौषधि नाम की ऋद्धि है।”

“जिनके अंग-उपांग-नख-दांत-केश आदि सम्पूर्ण शरीर के अवयव तथा उन अवयवों से स्पर्शित

१. तिलोयपण्णत्ति अ. ४, पृ. २८३। २. प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी पृ. ९४। ३. प्रवचनसारोद्धारवृत्तिः। ४. तत्त्वार्थवार्तिक, अ. ३, सूत्र ३६।

इतो विस्तरः — महातपस्विनां चारणर्द्धिसमन्वितानां तपःप्रभावेण महामारीविनष्टाऽभवत्। तस्य कथानकं वर्तते—“श्रीरामचंद्रस्य भ्राता शत्रुघ्नो यदा मथुरां नगरीं विजित्य शूलरत्नं हस्तगतमकरोत् तदानीं चमरेन्द्रः कुपितो भूत्वा महारोगप्रकोपेन मथुरानिवासिनो दग्धुं समुद्यतः।

उक्तं च—

“यत्रैव यः स्थितः स्थाने, निविष्टः शयितोऽपि वा।

अचलस्तत्र तत्रैव, दीर्घनिद्रामसावितः।१”

एतादृश्यामवस्थायां नगरवासिनो महामारी-उपद्रवेणातिशायिपीडिता बभूवुः। तस्मिन् काले सप्तर्षयो महामुनयस्तत्रागत्य वर्षायोगमधारयन्।

तथैवोक्तं—

विहरन्तोऽन्यदा प्राप्ता, निर्ग्रन्था मथुरां पुरीम्।

गगनयायिनः सप्त, सप्तसप्तिसमत्विषः॥१॥

सुरमन्युर्द्वितीयश्च, श्रीमन्युरिति कीर्तितः।

अन्यः श्रीनिचयो नाम, तुरीयः सर्वसुन्दरः॥२॥

पंचमो जयवान् ज्ञेयः, षष्ठो विनयलालसः।

चरमो जयमित्राख्यः, सर्वे चारित्रसुन्दराः॥३॥

वायु आदि पदार्थ सभी रोगों का नाश करने में समर्थ हैं, वे मुनि सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त ऋषि कहलाते हैं।”

इसका विस्तार करते हैं—

चारणऋद्धि से समन्वित महातपस्वी मुनियों के तप के प्रभाव से महामारी रोग नष्ट हो गया था। उसका कथानक शास्त्र में इस प्रकार वर्णित है कि—श्रीरामचन्द्र (बलभद्र) के छोटे भाई शत्रुघ्न ने जब मथुरा नगरी को जीत कर शूलरत्न को (राजा मधुसुन्दर के शूल रत्न को) हस्तगत—प्राप्त कर लिया था, तब चमरेन्द्र क्रोधित होकर महारोग के प्रकोप से मथुरावासियों को जलाने—समाप्त करने हेतु उद्यत हो गया था। अर्थात् उसने अपनी विक्रिया से मथुरा में महामारी का रोग फैला दिया था, जिससे लोग मरने लगे थे।

पद्मपुराण (जैन रामायण) में कहा है—

मथुरा नगरी में जो जहाँ जिस स्थान में बैठे अथवा शयन कर रहे थे, वे सभी वहीं निश्चल—निश्चेष्ट होकर दीर्घ निद्रा में सो गये—काल कवलित हो गये॥

इस प्रकार की अवस्था में नगर के निवासीजन महामारी रोग के उपद्रव से बहुत पीड़ित हो गये—संकटग्रस्त हो गये। तब उन्हीं दिनों सप्तऋषि महामुनियों ने वहाँ मथुरानगरी में आकर वर्षायोग धारण कर लिया।

उसी का वर्णन किया है—

श्लोकार्थ—किसी समय गगनगामी एवं सूर्य के समान कान्ति के धारक सात निर्ग्रन्थ मुनि विहार करते हुए मथुरापुरी आये॥१॥

उनमें से प्रथम सुरमन्यु, द्वितीय श्रीमन्यु, तृतीय श्रीनिचय, चतुर्थ सर्वसुन्दर, पञ्चम जयवान्, छठे विनयलालस और सातवें जयमित्र नाम वाले थे। ये सभी चारित्र से सुन्दर अर्थात् निर्दोष चारित्र के पालक थे॥२-३॥

इमे मुनयः नगर्याः समीपे उद्याने वटवृक्षस्याधो वर्षायोगं समाश्रिताः।

तेषां तपःप्रभावेन चमरासुरनिर्मिता।

मारी श्वशुरदृष्टेव नारी विटगताऽनशत्॥१॥

रोगेतिपरिनिर्मुक्ता मथुरानगरी शुभा।

पितृदर्शनतुष्टेव रराज नविका बधूः^१॥११॥

एतैर्ज्ञायते एतेषां सप्तर्षीणां सर्वौषधिर्द्धिप्रभावेण एषां शरीरस्पर्शिवायुभिः मथुरानिवासिमनुष्याणां महामार्यादयो रोगाः विनष्टा बभूवुः।

एवमेव मयनाममुनेरप्युदाहरणं श्रूयते—

अस्य मुनेः स्पर्शं कृत्वा विषव्याप्तशरीरस्य विषो निर्गतः।

उक्तं च—

महोरगेण सन्दष्टस्तं देवी परिदेविनी।

कृत्वा स्कन्धे परिप्राप्ता देशं यत्र मयः स्थितः॥१८०॥

वज्रस्तम्भसमानस्य प्रतिमास्थानमीयुषः।

महालब्धेः समीपस्य पादयोस्तमतिष्ठिपत्॥१८१॥

इन सभी सातों मुनियों ने मथुरा नगरी के समीपवर्ती उद्यान में वटवृक्ष के नीचे वर्षायोग धारण कर लिया।

श्लोकार्थ—उन मुनियों के तप के प्रभाव से चमरेन्द्र के द्वारा निर्मित—फैलाई गई महामारी उस प्रकार नष्ट हो गई, जिस प्रकार ससुर के द्वारा देखी हुई, विट मनुष्य के पास गई नारी नष्ट हो जाती है॥१॥

अर्थात् जैसे किसी व्यभिचारिणी स्त्री के पाप को ससुर आदि के द्वारा देख लिए जाने पर वह स्त्री लज्जा और भय के कारण घर से पलायन कर जाती है, उसी प्रकार मथुरा की महामारी भी सप्तऋषि ऋद्धिधारी मुनियों के पदार्पण से नष्ट हो गई थी।

उस समय रोग और ईतियों से छूटी शुभ मथुरा नगरी उस प्रकार सुशोभित हो रही थी, जिस प्रकार पिता के देखने से सन्तुष्ट हुई नई बहू सुशोभित होती है॥११॥

अर्थात् किसी नई बहू को जब घर में ससुर (पिता) पहली बार देखकर प्रसन्न होता है, तब वह बहू बहुत ही संतुष्ट होकर अपने सौन्दर्य को द्विगुणित कर लेती है, उसी प्रकार मथुरा नगरी भी उन मुनिरूपी पिता के द्वारा देख लिए जाने पर रोगरहित होकर अति सन्तुष्ट होकर सुशोभित होने लगी थी।

इन उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि उन सप्त ऋषियों की सर्वौषधि ऋद्धि के प्रभाव से, उनके शरीर से स्पर्शित वायु के द्वारा मथुरा में रहने वाले मनुष्यों के महामारी आदि रोग नष्ट हो गये थे।

इसी प्रकार से मय नाम के मुनिराज का उदाहरण सुना जाता है—

इसी ऋद्धि के धारक मुनि का स्पर्श करके विष व्याप्त शरीर का विष निकल जाता है।

कहा भी है—

श्लोकार्थ—वन में एक महासर्प ने उसे डँस लिया, जिससे विलाप करती हुई उसकी स्त्री उसे कंधे पर रखकर उस स्थान पर पहुँची, जहाँ 'मय' नामक मुनिराज विराजमान थे॥१८०॥

महाऋद्धियों के धारक मय मुनि प्रतिमायोग धारणकर वज्र स्तंभ के समान निश्चल खड़े थे, सो रानी ने सिंहेन्दु को उनके चरणों के समीप लिटा दिया॥१८१॥

पादौ मुनेः परामृष्य पत्युर्गात्रं समास्पृशत्।

देवी ततः परिप्राप्तः सिंहेन्दुर्जीवितं पुनः॥१८२॥

चैत्यस्य वन्दनां कृत्वा भक्त्या केसरि चन्द्रमाः।

प्रणनाम मुनि भूयो भूयो दयितया समम्^१॥१८३॥

तात्पर्यमत्र — सर्वरोगशान्त्यर्थं एतेषां मुनीनां मंत्रा जाप्याः सन्ति। वर्तमानकालेऽपि एभिः मंत्रैः रोगाः शाम्यन्ति स्म इति श्रूयन्ते। अतएव एतान् सर्वौषधिऋद्धिप्राप्तमहामुनीन् नमस्कृत्य शरीरारोग्येण साथं मनःस्वस्थतां आत्मनः स्वस्थतामपि याचेऽहम्।

एवं दशमस्थले औषधिऋद्धिसंपन्नमुनीनां नमस्कारकरणत्वेन सूत्रपञ्चकं गतम्।

अधुना मनोबलिमुनीनां प्रणमनार्थं श्रीगौतमस्वामिना सूत्रमवतार्यते —

णमो मणबलीणं॥३५॥

सिंहेन्दु की स्त्री ने मुनिराज के चरणों का स्पर्श कर पति के शरीर का स्पर्श किया, जिससे वह पुनः जीवित हो गया॥१८२॥

तदनन्तर सिंहेन्दु ने भक्तिपूर्वक प्रतिमा की वंदना की और उसके बाद आकर अपनी स्त्री के साथ बार-बार मुनिराज को प्रणाम किया॥१८३॥ ये मय नामक मुनि मन्दोदरी के पिता थे।

इस कथानक को पद्मपुराण से पूरा पढ़कर ऋद्धियों का माहात्म्य जानना चाहिए।

यहाँ तात्पर्य यह है कि — समस्त रोगों की शांति के लिए इन ऋद्धिधारी मुनियों के जाप्य मंत्र हैं। वर्तमानकाल में भी इन मंत्रों के द्वारा रोग शान्त होते थे, ऐसा सुना जाता है। इसलिए इन सर्वौषधि ऋद्धि को प्राप्त महामुनियों को नमस्कार करके शारीरिक आरोग्यता के साथ मानसिक स्वस्थता और आत्मिक स्वस्थता प्राप्ति हेतु मेरी याचना है।

विशेषार्थ — षट्खण्डागम ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणिटीका में इस औषधि ऋद्धि का प्रकरण लिखते हुए अत्यन्त मानसिक आल्हाद और रोमांच का अनुभव हो रहा है, अतः इन ऋद्धिधारी महाऋषियों के श्रीचरणों में नमन के साथ मेरा निवेदन है कि मुझे भी इसी प्रकार उग्र तपस्या करने की शक्ति प्राप्त हो। वर्तमान के कलियुग में यद्यपि मुनियों को भी ये ऋद्धियाँ प्राप्त नहीं होती हैं, तथापि बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर महाराज के पादप्रक्षाल के जल को शरीर में लगाने वालों के कुष्ठ रोग भी नष्ट हो जाने के उदाहरण सुनने को मिलते हैं। यह उनकी ऋद्धि नहीं किन्तु तप और संयम विशेष से उत्पन्न हुई शक्ति का प्रभाव ही मानना पड़ेगा।

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी कई बार अस्वस्थ नर-नारियों को औषधि ऋद्धि के मंत्र जाप्य करने की प्रेरणा देती हैं और श्रद्धापूर्वक जाप्य करने वाले स्वयं आकर बताते हैं कि मेरे लकवा रोग, हृदय रोग आदि ठीक हो गये। यह उन ऋद्धि मंत्रों का अतिशय आज भी देखा जाता है।

इस प्रकार दशवें स्थल में औषधि ऋद्धि सम्पन्न मुनियों को नमस्कार करने वाले पाँच सूत्र पूर्ण हुए।

अब मनोबल ऋद्धि के धारक मुनियों को नमन करने हेतु श्री गौतमस्वामी सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

मनबल ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥३५॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — द्वादशांगेषूद्दिष्टत्रिकालगोचरानन्तार्थ-व्यंजन-पर्यायाकीर्णषड्द्रव्याणि निरन्तरं चिन्तितेऽपि खेदाभावो मनोबलः। एषः मनोबलो येषामस्ति ते मनोबलिनः। एषोऽपि मनोबलो लब्धिः, विशिष्टतपोबलेनोत्पद्यमानत्वात्। अन्यथा द्वादशांगार्थो मुहूर्तेनैकेन बहुभिः वर्षैर्बुद्धिगोचरमापन्नश्चित्तखेदं कथं न कुर्यात् ?

अयमस्याभिप्रायः — मनोबलर्द्धिबलेनैव महर्षयः एकेनैव मुहूर्तेन सर्वं द्वादशांगं चिन्तयितुं क्षमा भवन्ति, तेभ्यो मनोबलिभ्यो नमः।

‘तत्र मनःश्रुतावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतार्थचिन्तनेऽवदाता मनोबलिनः।’

संप्रति वचनबलिमहासाधूनां नमस्करणार्थं सूत्रमवतार्यते श्रीमद्गौतमस्वामिना —

णमो वचिबलीणं।।३६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — द्वादशांगानां बहुवारं प्रतिवाचनां कृत्वापि यः खेदं न गच्छति सः वचनबलः, तपोमाहात्म्येनोत्पादितवचनबलो वचनबलीति उक्तं भवति। तेभ्यो विशुद्धमनोवचनकार्यैर्नमः।

जिभिर्भेदियणोद्दिष्टसुदण्डाणावरणविरियविग्राहणं।

उक्कस्सखओवसमे, मुहुत्तमेत्तंरम्मि मुणी।।१०६३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — बारह अंगों में निर्दिष्ट त्रिकालविषयक अनन्त अर्थ व व्यंजन पर्यायों से व्याप्त छह द्रव्यों का निरन्तर चिन्तन करने पर भी खेद को प्राप्त न होना मनबल है। यह मनबल जिनके है वे मनबली कहलाते हैं। यह मनोबल भी लब्धि है, क्योंकि वह विशिष्ट तप के प्रभाव से उत्पन्न होता है। अन्यथा बहुत वर्षों में बुद्धिगोचर होने वाला बारह अंगों का अर्थ एक मुहूर्त में चित्तखेद को कैसे नहीं करेगा? अर्थात् करेगा ही।

इसका अभिप्राय यह है कि — मनोबल ऋद्धि के बल से ही महर्षि एक ही मुहूर्त में सम्पूर्ण द्वादशांग का चिन्तन करने में सक्षम होते हैं, उन मनोबल ऋद्धिधारक ऋषियों को नमस्कार हो।

“मनःश्रुतावरण और वीर्यान्तराय कर्म का प्रकृष्ट क्षयोपशम होने से अन्तर्मुहूर्त में सकल श्रुतार्थ के चिन्तन में निष्णात मनोबली हैं।” ऐसा तत्त्वार्थराजवार्तिक में कहा है।

अब वचनबली महासाधुओं को नमस्कार करने हेतु श्री गौतम स्वामी सूत्र का अवतार करते हैं —

सूत्रार्थ —

वचनबली ऋद्धिधारक ऋषियों को नमस्कार हो।।३६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — द्वादशांग का बहुत बार प्रतिवाचन करके भी जो खेद को प्राप्त नहीं होता है, अर्थात् जिह्वा से अनेकों बार पूरे द्वादशांग का उच्चारण करके भी जो थकान का अनुभव नहीं होता है, वह वचनबल कहलाता है। तप के माहात्म्य से जिन्होंने वचनबल को उत्पन्न कर लिया है वह वचनबली कहलाते हैं, ऐसा सूत्र का अभिप्राय है। उन वचनबली ऋद्धि के धारक ऋषियों को विशुद्ध मन-वचन-काय से नमस्कार होवे।

गाथार्थ — जिह्वेन्द्रियावरण, नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जिस ऋद्धि के प्रगट होने से मुनि श्रमरहित और अहीनकंठ होते हुए मुहूर्तमात्र काल के भीतर सम्पूर्ण

सयलं पि सुदं जाणइ उच्चारइ जीए विप्फुरंतीए।

असमो अहिकंठो सा रिद्धीउ णेया वयणबलणामा॥१०६४॥^१

“मनोजिह्वा-श्रुतावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशये सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतोच्चारणसमर्थाः सततमुच्चै-रुच्चारणे सत्यपि श्रमविरहिता अहीनकंठाश्च वाग्बलिनः।”^२

अधुना कायबलिमुनीनां प्रणमनार्थं श्रीगणधरदेवेन सूत्रमवतार्यते —

णमो कायबलीणं॥३७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — त्रिभुवनं करांगुलिना उपरि उद्धार्यान्यत्र स्थापनाक्षमो कायबली नाम। एषापि कायशक्तिश्चारित्रविशेषादेवोत्पद्यते, अन्यथानुपलंभात्। एतेभ्यः कायबलिभ्यो नमः।

उक्कस्सक्खउवसमे पविवेसे विरियविग्घपगडीए।

मासचउमासपमुहे काउसंगे वि समहीणा॥१०६५॥

उच्चट्टिय तेल्लोककं झत्ति कणिट्ठंगुलीए अण्णत्थं।

थविदुं जीए समत्था सा रिद्धी कायबलणामा॥१०६६॥^३

“वीर्यान्तरायक्षयोपशमाविभूतासाधारणकायबलत्वान्मासिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिकादिप्रतिमायोग-धारणेऽपि श्रम-क्लमविरहिताः कायबलिनः।”^४

इतो विस्तरः — प्रथमतीर्थकरश्रीऋषभदेवस्य द्वितीयपुत्रो बाहुबली जैनैश्वरीदीक्षामादाय आवर्ष

श्रुत को जानते व उसका उच्चारण करते हैं, उसे वचनबल नामक ऋद्धि जानना चाहिए।

“मन और रसना श्रुतावरण तथा वीर्यान्तरायकर्म के प्रकृष्ट क्षयोपशम होने से अन्तर्मुहूर्त में सकल श्रुत के उच्चारण करने में जो समर्थ है तथा सतत उच्चारण करने पर भी जिन्हें थकावट नहीं होती है, जिनके कण्ठ अवरुद्ध नहीं होते हैं, वे वचनबलऋद्धि के धारक होते हैं।

अब कायबली ऋद्धिधारी मुनियों को नमन करने हेतु श्री गणधरदेव सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

कायबल ऋद्धिधारक ऋषियों को नमस्कार हो॥३७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तीनों लोकों को हाथ की अंगुली से ऊपर उठाकर अन्यत्र रखने में जो समर्थ है वह कायबली है। कायशक्ति चारित्रविशेष से ही उत्पन्न होती है, क्योंकि उसके बिना वह पाई नहीं जाती है। इन कायबल ऋद्धिधारकों को नमस्कार हो।

गाथार्थ — जिस ऋद्धि के बल से वीर्यान्तराय प्रकृति के उत्कृष्ट क्षयोपशम की विशेषता होने पर मुनि मास व चतुर्मासादिरूप कायोत्सर्ग करते हुए भी श्रम से रहित होते हैं तथा झटिति (शीघ्रता से) तीनों लोकों को कनिष्ठा अंगुली के ऊपर उठाकर अन्यत्र स्थापित करने में समर्थ होते हैं, वह कायबल नामकी ऋद्धि है॥१०६५-१०६६॥

“जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न असाधारण कायबल के कारण मासिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिकादि प्रतिमा योग के धारण करने पर भी थकावट और क्लान्ति का अनुभव नहीं करते हैं, वे कायबलऋद्धि धारक मुनि हैं।”

इसका विस्तार करते हैं —

प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव भगवान के द्वितीय पुत्र बाहुबली जैनैश्वरी दीक्षा लेकर एक वर्ष तक प्रतिमा

१. तिलोपपण्णत्ति अ. ४, पृ. २८२। २. तत्त्वार्थवार्तिक अ. ३, सूत्र ३६। ३. तिलोपपण्णत्ति अ. ४, पृ. २८३।

४. तत्त्वार्थवार्तिक अ. ३, सूत्र ३६।

प्रतिमायोगमातस्थे। तदानीं तस्य योगिनश्चरणयोरधः सर्पैर्बल्मीकरन्ध्रं कृतं, लताभिश्च स महामुनिः वेष्टितो जातः।

केचिद् बुवन्ति — बाहुबलिमुनेर्मनसि शल्यमासीत् किन्तु नैतत् संभवति, किञ्च तस्य साधोर्नानाविधर्द्धयः संजाता इति महापुराणे श्रूयते न च शल्यसहितस्य मुनेः ऋद्धयो भवन्ति, मनःपर्ययज्ञानादयोऽपि रत्नत्रयधारिणां महामुनीनां भावलिंगिनामेव। अस्य महायोगिनोऽनेकर्द्धिमध्येऽपि कायबलर्द्धिरिव विशेषेण प्रतीयते। तथापि महापुराणस्य श्लोकाः पठनीयाः सन्ति। तथाहि —

योगजाश्चर्द्धयस्तस्य प्रादुरासंस्तपोबलात्। यतोऽस्याविरभूच्छक्तिल्लोकोक्त्यक्षोभणं प्रति॥१४४॥
मतिज्ञानसमुत्कर्षात् कोष्ठबुद्ध्यादयोऽभवन्। श्रुतज्ञानेन विष्वांगपूर्ववित्त्वादिविस्तरः॥१४६॥
परमावधिमुल्लङ्घ्य स सर्वावधिमासदत्। मनःपर्ययबोधे च संप्रापद् विपुलां मतिम्॥१४७॥
ज्ञानशुद्ध्या तपःशुद्धिरस्यासीदतिरेकिणी। ज्ञानं हि तपसो मूलं यद्वन्मूलं महातरोः॥१४८॥
तपसोऽग्रेण चोग्रोग्रतपसा चातिकर्षितः। स दीप्ततपसाऽत्यन्तं दिदीपे दीप्तिमानिव॥१४९॥
सोऽतप्यत तपस्तप्तं तपो घोरं महच्च यत्। तथोत्तराण्यपि प्राप्त-समुत्कर्षाप्यनुक्रमात्॥१५०॥
तपोभिरकृशैरेभिः स बभौ मुनिसत्तमः। घनोपरोधनिर्मुक्तः करैरिव गभस्तिमान्॥१५१॥

योग में स्थित हो गये थे। उस समय उन योगिराज के चरणों के नीचे सर्पों ने वामियाँ बना ली थीं और लताओं ने उन्हें वेष्टित कर लिया था।

कुछ लोग भगवान् बाहुबली के बारे में कहते हैं — बाहुबली मुनिराज के मन में शल्य थी किन्तु ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि उन महासाधु के अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ उत्पन्न हो गई थीं ऐसा महापुराण में कहा है और शल्यसहित मुनि के ऋद्धियाँ नहीं होती हैं। मनःपर्यय ज्ञान आदि भी रत्नत्रयधारी भावलिंगी मुनियों के ही होता है। इन महायोगी बाहुबली के अनेक ऋद्धियों के साथ-साथ कायबल ऋद्धि विशेषरूप से थी, ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी महापुराण के निम्न श्लोक पठनीय हैं। जो इस प्रकार हैं —

श्लोकार्थ — तपश्चरण का बल पाकर उन मुनिराज के योग के निमित्त से होने वाली ऐसी अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो गई थीं, जिनसे कि उनके तीनों लोकों में क्षोभ पैदा करने की शक्ति प्रकट हो गई थी। उस समय उनके मतिज्ञानावरण आदि कर्मों के क्षयोपशम से मतिज्ञान आदि चारों प्रकार के ज्ञानों में वृद्धि हो गई थी, मतिज्ञान की वृद्धि होने से उनके कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियाँ प्रगट हो गई थीं और श्रुतज्ञान के बढ़ने से समस्त अंगों तथा पूर्वों के जानने आदि की शक्ति का विस्तार हो गया था। वे अवधिज्ञान में परमावधि को उल्लङ्घन कर सर्वावधि को प्राप्त हुए थे तथा मनःपर्यय ज्ञान में विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान को प्राप्त हुए थे। उन मुनिराज के ज्ञान की शुद्धि होने से तप की शुद्धि भी बहुत अधिक हो गई थी, सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार किसी बड़े वृक्ष के ठहरने में मूलकारण उसकी जड़ है, उसी प्रकार तप के ठहरने आदि के मूल कारण ज्ञान हैं॥१४४-१४८॥

वे महामुनि उग्र और उग्रोग्र तप से अत्यन्त कृश हो गये थे तथा दीप्त नामक तप से सूर्य के समान अत्यन्त दैदीप्यमान हो रहे थे। उन्होंने तप्तघोर और महाघोर नाम के तपश्चरण किये थे तथा इनके सिवाय उत्तर तप भी उनके खूब बढ़ गये थे। इन बड़े-बड़े तपों से वे उत्तम मुनिराज ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो मेघों के आवरण से निकला हुआ सूर्य ही अपने किरणों से सुशोभित हो रहा हो। यद्यपि वे मुनिराज समस्त प्रकार की विक्रिया अर्थात् विकार भावों को छोड़कर कठिन तपस्या करते थे तथापि आश्चर्य की बात है

विक्रियाऽष्टतयी चित्रं प्रादुरासीत्तपोबलात्। विक्रियां निखिलां हित्वा तीव्रमस्य तपस्यतः॥१५२॥
 प्राप्तौषधर्द्धेरस्यासीत् संनिधिर्जगते हितः। आमर्शक्ष्वेल जल्लाद्यैः प्राणिनामुपकारिणः॥१५३॥
 अनाशुषोऽपि तस्यासीद् रसर्द्धिः शक्तिमात्रतः। तपोबलसमुद्भूता बलर्द्धिरपि पप्रथे॥१५४॥
 अक्षीणावसथः सोऽभूत्तथाऽक्षीणमहाशनः(नसः)। सूते हि फलमक्षीणं तपोऽक्षूणमुपासितम्॥१५५॥
 निर्द्वंद्ववृत्तिरध्यात्ममिति निर्जित्य जित्वरः। ध्यानाभ्यासे मनश्चक्रे योगी योगविदां वरः^१॥१५६॥

अस्य योगिनस्तपःप्रभावात् परस्परविरोधिना जन्तवोऽपि मैत्रीभावं समासाद्य तस्य चरणारविन्दभक्तिं प्रपेदिरे। तद्यथा —

विरोधिनाऽप्यमी मुक्तविरोधस्वैरमासिताः। तस्योपाङ्ग्रीभीसिंहाद्याः शशंसुर्वैभवं मुनेः॥१६५॥
 जरज्जंबूकमाघ्राय मस्तके व्याघ्रधेनुका। स्वशावनिर्विशेषं तामपीप्यत् स्तन्यमात्मनः॥१६६॥
 करिणो हरिणारातीनन्वीयुः सह यूथपैः। स्तनपानोत्सुका भेजुः करिणीः सिंहपोतकाः॥१६७॥
 कलभान् कलभांकारमुखरान् नखरैः खरैः। कण्ठीरवः स्पृशन् कण्ठेनाभ्यनंदि न यूथपैः^२॥१६८॥

कि उनके तप के बल से आठ प्रकार की विक्रिया प्रगट हो गई थीं। रागद्वेष आदि विकार भावों को छोड़कर कठिन तपस्या करने वाले उन बाहुबली महाराज के अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व यह आठ प्रकार की विक्रिया ऋद्धि प्रकट हुई थीं। जिन्हें अनेक प्रकार की औषधिऋद्धि प्राप्त हैं और जो आमर्श, क्ष्वेल तथा जल्ल आदि के द्वारा प्राणियों का उपचार करते हैं ऐसे उन मुनिराज की समीपता जगत् का कल्याण करने वाली थी। उनके समीप रहने वाले लोगों के समस्त रोग नष्ट हो जाते थे। यद्यपि वे आहार नहीं लेते थे तथापि शक्ति मात्र से ही उनके रसऋद्धि प्रकट हुई थी और तपश्चरण के बल से प्रकट हुई उनकी बल ऋद्धि भी विस्तार पा रही थी। भोजन करने वाले मुनिराज के ही रसऋद्धि का उपयोग हो सकता है परन्तु वे भोजन नहीं करते थे, इसलिए उनके शक्तिमात्र से रसऋद्धि का सद्भाव बतलाया है। वे मुनिराज अक्षीणसंवास तथा अक्षीणमहानस ऋद्धि को भी धारण कर रहे थे, सो ठीक ही है क्योंकि पूर्ण रीति से पालन किया हुआ तप अक्षीण फल उत्पन्न करता है विकल्प रहित चित्त की वृत्ति धारण करना ही अध्यात्म है, ऐसा निश्चय कर योग के जानने वालों में श्रेष्ठ उन जितेन्द्रिय योगिराज ने मन को जीतकर उसे ध्यान के अभ्यास में लगाया॥१४९-१५६॥

इन योगिराज की तपस्या के प्रभाव से परस्पर विरोधी जन्तु भी मैत्रीभाव को प्राप्त करके उनके चरणकमलों की भक्ति करते थे। जो इस प्रकार है —

श्लोकार्थ — उनके चरणों के समीप हाथी, सिंह आदि विरोधी जीव भी परस्पर का वैरभाव छोड़कर इच्छानुसार उठते-बैठते थे और इस प्रकार वे मुनिराज के ऐश्वर्य को सूचित करते थे। तत्काल की उत्पन्न हुई सिंही, भैंस के बच्चे का मस्तक सूँघकर उसे अपने बच्चे के समान अपना दूध पिला रही थी। हाथी अपने झुण्ड के मुखियों के साथ-साथ सिंहों के पीछे-पीछे जा रहे थे और स्तन के पीने में उत्सुक हुए सिंह के बच्चे हथिनियों के समीप पहुँच रहे थे। बालकपन के कारण मधुर शब्द करते हुए हाथियों के बच्चों को सिंह अपने पैने नाखूनों से उनकी गर्दन पर स्पर्श कर रहा था और ऐसा करते हुए उस सिंह को हाथियों के सरदार बहुत ही अच्छा समझ रहे थे — उनका अभिनंदन कर रहे थे। उन मुनिराज के ध्यान करने के आसन के समीप की भूमि को साफ करने की इच्छा से हथिनियाँ कमलिनी के पत्तों का दोना बनाकर उनमें भर-भरकर पानी ला रही

करिण्यो विसिनीपत्रपुटैः पानीयमानयत्। तद्योगपीठपर्यन्तभुवः सम्मार्जनेच्छया॥१६९॥
 पुष्करैः पुष्करोदस्तैर्यस्तैरधिपदद्वयम्। स्तम्बरमा मुनिं भेजुरहो शमकरं तपः॥१७०॥
 उपांघ्रि भोगिनां भोगैर्विनीलैर्व्यरुचन्मुनिः। विन्यस्तैरर्चनायेव नीलैरुत्पलदामकैः॥१७१॥
 फणमात्रोद्गता रन्धात् फणिनः शितयोऽद्युतन्। कृताः कुवलयैरर्घा मुनेरिव पदान्तिकेः॥१७२॥
 अनेन प्रकारेण अतिशयशान्तमुनिवरस्य प्रभावात् वनमपि पूर्णतया शान्तं जातं।
 विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागताः। वल्लीरुद्वेष्टयामासुर्मुनेः सर्वांगसंगिनीः॥१८३॥
 इत्युपारूढसद्भयानबलोद्भूततपोबलः। स लेश्याशुद्धिमास्कन्दं शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत्॥१८४॥
 वत्सरानशनस्यान्ते भरतेशेन पूजितः। स भजे परमज्योतिः केवलार्ख्यं यदक्षरम्॥१८५॥
 संकिल्लो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल। हृद्यस्य हार्द तेनासीत् तत्पूजापेक्षिकेवलम्॥१८६॥
 अयं भगवान् बाहुबली कायबलद्धिप्रभावेणैव एकवर्षपर्यन्तं ध्यानं चकार इति ज्ञातव्यं।
 एवमेव बालिमुनेरप्युदाहरणं दृष्टव्यं।

कदाचित् दशाननो ध्यानस्थं बालिमुनिं कैलाशपर्वतस्योपरि अवलोक्य तस्य मुनेरुपरि उपसर्गं विधातुमनाः
 कैलाशपर्वतमेवोन्मूलयितुमुद्यतः। तदनु तेन स्वसिद्धसमस्तविद्यानां ध्यानं कृतं ततस्ताभिस्तत्क्षणादसौ वृतः

थीं। हाथी अपने सूंड के अग्रभाग को उठाकर लाये हुए कमल उनके दोनों चरणों पर रख देते थे और इस तरह वे उनकी उपासना करते थे। तपश्चरण कैसी शक्ति उत्पन्न करने वाला है। वे मुनिराज चरणों के समीप आए हुए सर्पों के काले फणाओं से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पूजा के लिए नीलकमलों की मालाएँ ही बनाकर रखी हों, बामी के छिद्रों से जिन्होंने केवल फणा ही बाहर निकाले हैं, ऐसे काले सर्प उस समय ऐसे जान पड़ते थे, मानो मुनिराज के चरणों के समीप किसी ने नीलकमलों का अर्घ्य ही बनाकर रखा हो॥१६५-१७२॥

इस प्रकार अतिशय शान्त मुनिवर के प्रभाव से पूरा जंगल भी पूर्णतया शांत हो गया था।

श्लोकार्थ — कभी-कभी क्रीड़ा के हेतु से आयी हुई विद्याधरियाँ उनके सर्व शरीर पर लगी हुई लताओं को हटाकर जाती थीं। इस प्रकार धारण किए हुए समीचीन धर्मध्यान के बल से जिनके तप की शक्ति उत्पन्न हुई है, ऐसे वे मुनि लेश्या की विशुद्धि को प्राप्त होते हुए शुक्लध्यान के सम्मुख हुए। एक वर्ष का उपवास समाप्त होने पर भरतेश्वर ने आकर जिनकी पूजा की है, ऐसे महामुनि बाहुबलि कभी नष्ट नहीं होने वाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति को प्राप्त हुए। दीक्षा लेते समय बाहुबली ने एक वर्ष का उपवास किया था। जिस दिन उनका वह उपवास पूर्ण हुआ, उसी दिन भरत ने आकर उनकी पूजा की और पूजा करते ही उन्हें अविनाशी उत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त हो गया। वह भरतेश्वर मुझसे संक्लेश को प्राप्त हुआ है अर्थात् मेरे निमित्त से उसे दुःख पहुँचा है। यह विचार बाहुबली के हृदय में विद्यमान रहता था। इसलिए केवलज्ञान ने भरत की पूजा की अपेक्षा की थी। भरत के पूजा करते ही बाहुबली का हृदय विकल्परहित हो गया और उसी समय उन्हें केवलज्ञान भी प्राप्त हो गया॥१८३ से १८६॥

ये भगवान् बाहुबली कायबल ऋद्धि के प्रभाव से एक वर्ष तक ध्यान में स्थित रहे थे, ऐसा जानना चाहिए।

इसी प्रकार बालि मुनिराज का उदाहरण भी दृष्टव्य है —

किसी समय दशानन — रावण बालि मुनिराज को कैलाश पर्वत पर ध्यानस्थ देखकर उन मुनि के ऊपर उपसर्ग करने की इच्छा से कैलाशपर्वत को ही जड़ से उखाड़ने के लिए उद्यत हो गया था। उस समय उसने अपने

दशमुखः सुरेन्द्र इव भीषणं महदरूपं विकृत्य धरणीं भित्त्वा पातालं प्रविष्टः।

उक्तं च—

पातालादुत्थितैः क्रूरैरदृहासैरनन्तरैः। दशवक्त्रैः समं दिग्भिः पुष्फोटे च नभस्तलम्॥१४४॥
ततः संवर्तकाभिख्य-वायुनेवाकुलीकृते। भुवने भगवान् बालिरवधिज्ञातराक्षसः॥१४५॥
अप्राप्तः पीडनं स्वस्य धीरः कोपविवर्जितः। तथावस्थितसर्वांगश्चेतसीदं न्यवेशयत्॥१४६॥
कारितं भरतेनेदं जिनायतनमिदमुत्तमम्। सर्वरत्नमयं तुंगं बहुरूपविराजितम्॥१४७॥
प्रत्यहं भक्तिसंयुक्तैः कृतपूजं सुरासुरैः। मा विनाशि चलत्यस्मिन् पर्वते भिन्नपर्वणि॥१४८॥
ध्यात्वेति चरणांगुष्ठीपीडितं गिरिमस्तकम्। चकार शोभनध्यानाददूरीकृतचेतनः॥१४९॥
ततो महाभराक्रान्त-भग्नबाहुवलो भृशम्। दुःखाकुलश्चलदरक्तस्पष्टमंजुललोचनः॥१५०॥
भग्नमौलिशिरोगाढनिविष्टधरणीधरः। निमज्जद्भूतलन्यस्तजानुर्निर्भुग्नजंघकः॥१५१॥
सद्यः प्रगलितस्वेद-धाराधौतरसातलः। बभूव संकुचद्गात्रः कूर्माकारो दशाननः॥१५२॥

द्वारा सिद्ध हो गई समस्त विद्याओं का ध्यान किया, जिससे क्षण भर में विद्या देवताओं ने आकर उसे घेर लिया, तब दशानन ने इन्द्र के समान महाभयंकर रूप बनाया और पृथ्वी को भेदकर पाताल में प्रविष्ट हो गया।

श्री पद्मपुराण ग्रंथ में कहा है—

श्लोकार्थ—पाताल से लगातार निकलने वाले दशानन के दश मुखों की अट्टहास से दिशाओं के साथ-साथ आकाश फट पड़ा॥१४४॥

तदनन्तर जब समस्त संसार संवर्तक नामक वायु से ही मानो आकुलित हो गया था, तब भगवान् बालि मुनिराज ने अवधिज्ञान से दशानन नामक राक्षस को जान लिया॥१४५॥

यद्यपि उन्हें स्वयं कुछ भी पीड़ा नहीं हुई थी और पहले की तरह उनका समस्त शरीर निश्चलरूप से अवस्थित था तथापि वे धीरवीर और क्रोध से रहित हो अपने चित्त में इस प्रकार विचार करने लगे कि—॥१४६॥

चक्रवर्ती भरत ने ये नाना प्रकार के सर्वरत्नमयी ऊँचे-ऊँचे जिनमंदिर बनवाये हैं। भक्ति से भरे हुए सुर और असुर प्रतिदिन इनकी पूजा करते हैं, सो इस पर्वत के विचलित हो जाने पर कहीं ये जिनमंदिर नष्ट न हो जावें॥१४७॥

ऐसा विचारकर शुभध्यान के निकट ही जिनकी चेतना थी, ऐसे मुनिराज बालि ने पर्वत के मस्तक को अपने पैर के अंगूठे से दबा लिया॥१४८-१४९॥

तदनन्तर जिसकी भुजाओं का बल बहुत भारी बोझ से आक्रान्त होने के कारण अत्यधिक टूट रहा था, जो दुःख से आकुल था, जिसकी लाल-लाल मनोहर आँखें चंचल हो रही थीं ऐसा दशानन अत्यन्त व्याकुल हो गया। उसके सिर का मुकुट टूटकर नीचे गिर गया और नंगे सिर पर पर्वत का भार आ पड़ा। नीचे धंसती हुई पृथिवी पर उसने घुटने टेक दिये। स्थूल होने के कारण उसकी जंघाएँ मांसपेशियों में निमग्न हो गईं॥१५०-१५१॥

उसके शरीर से शीघ्र ही पसीना की धारा बह निकली और उसके रसातल को धो दिया। उसका सारा शरीर कछुए के समान संकुचित हो गया॥१५२॥

खं च सर्वयत्नेन कृत्वा रावितवान् जगत्। यतस्ततो गतः पश्चाद् रावणाख्यां समस्तगाम्॥१५३॥
 श्रुत्वा तं दीनभारावं स्वामिनः पूर्वमश्रुतम्। विद्याधरवधूलोको विललाप समाकुलः॥१५४॥
 मूढा सन्नद्धमारब्धाः संभ्रान्ताः सचिवा वृथा। पुनः पुनः स्वल्पदवाचो गृहीतगलदायुधाः॥१५५॥
 मुनिवीर्यप्रभावेण सुरदुन्दुभयोऽनदन्। पपात सुमनोवृष्टिः खमाच्छाद्य सषट्पदा॥१५६॥
 ननृतुर्गगने क्रीडाशीला देवकुमारकाः। गीतध्वनिः सुरस्त्रीणां वंशानुगतमुद्ययौ॥१५७॥
 ततो मन्दोदरी दीना ययाचेति मुनीश्वरम्। प्रणम्य भर्तृभिक्षां मे प्रयच्छाद्भुतविक्रम॥१५८॥
 ततोऽनुकंपयांगुष्ठं महामुनिरश्लथत्। रावणोऽपि विमुच्याद्रिं क्लेशकांतारतो निरैत्॥१५९॥
 गत्वा च प्रणतिं कृत्वा क्षमयित्वा पुनः पुनः। योगेशं स्तोतुमारब्धः परिज्ञाततपोबलः॥१६०॥
 जिनेन्द्रचरणौ मुक्त्वा करोमि न नमस्कृतिम्। अन्यस्येति त्वयोक्तं यत्सामर्थ्यस्यास्य तत्फलम्॥१६१॥
 अहो निश्चयसंपन्नं तपसस्ते महद्बलम्। भगवन्! येन शक्तोऽसि त्रैलोक्यं कर्तुमन्यथा॥१६२॥
 इन्द्राणामपि सामर्थ्यमीदृशं नाथ! नेक्ष्यते। यादृक् तपःसमृद्धानां मुनीनामल्पयत्नजम्॥१६३॥

उस समय चूँकि उसने सर्व प्रयत्न से चिल्लाकर समस्त संसार को शब्दायमान कर दिया था, इसलिए वह पीछे चलकर सर्वत्र प्रचलित 'रावण' इस नाम को प्राप्त हुआ अर्थात् तब से ही उसका रावण नाम पड़ गया॥१५३॥

रावण की स्त्रियों का समूह अपने स्वामी के उस अश्रुतपूर्व दीन-हीन शब्द को सुनकर व्याकुल हो विलाप करने लगा॥१५४॥

मंत्री लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। वे युद्ध के लिए तैयार हो व्यर्थ ही इधर-उधर फिरने लगे। उनके वचन बार-बार बीच में ही स्खलित हो जाते थे और हथियार उनके हाथ से छूट जाते थे॥१५५॥

मुनिराज के वीर्य के प्रभाव से देवों के दुन्दुभि बाजे बजने लगे और भ्रमररहित फूलों की वृष्टि आकाश को आच्छादित कर पड़ने लगी॥१५६॥

क्रीड़ा करना जिनका स्वभाव था, ऐसे देवकुमार आकाश में नृत्य करने लगे और देवियों की संगीत ध्वनि वंशी की मधुर ध्वनि के साथ सर्वत्र उठने लगी॥१५७॥

तदनन्तर मन्दोदरी ने दीन होकर मुनिराज को प्रणाम कर याचना की कि हे अद्भुत पराक्रम के धारी! मेरे लिए पतिभिक्षा दीजिए अर्थात् करुणा करके मेरे पति को जीवनदान दीजिए॥१५८॥

तब महामुनि ने दयावश पैर का अंगूठा ढीलाकर लिया और रावण भी पर्वत को जहाँ का तहाँ छोड़कर क्लेशरूपी अटवी से बाहर निकला॥१५९॥

तदनन्तर जिसने तप का बल जान लिया था, ऐसे रावण ने जाकर मुनिराज को प्रणाम कर बार-बार क्षमा मांगी और इस प्रकार स्तुति करना प्रारंभ किया —॥१६०॥

कि हे पूज्य! आपने जो प्रतिज्ञा की थी कि मैं जिनेन्द्र देव के चरणों को छोड़कर अन्य के लिए नमस्कार नहीं करूँगा, यह उसी की सामर्थ्य का फल है॥१६१॥

हे भगवन्! आपके तप का महाफल निश्चय से सम्पन्न है, इसीलिए तो आप तीनलोक को अन्यथा करने में समर्थ हैं॥१६२॥

तप से समृद्ध मुनियों की थोड़े ही प्रयत्न से उत्पन्न जैसी सामर्थ्य देखी जाती है, हे नाथ! वैसी सामर्थ्य इन्द्रों की भी नहीं देखी जाती है॥१६३॥

अनन्तरं बालिमुनिरपि गुरोः समीपे प्रायश्चित्तमादाय महाचारित्रं आचरन् शुक्लध्यानबलेन केवलज्ञानं संप्राप्य आयुरन्तेऽघातिकर्माणि हत्वा त्रैलोक्यमस्तकं ययौ।

एतेन ज्ञायतेऽस्य महामुनेः कायबलवृद्धिरपि आसीत्।

अस्य कैलाशपर्वतस्योपरि स्थितानां रत्नमयजिनमन्दिराणां नृपतिदशरथेन जीर्णोद्धारं कृतमिति पद्मपुराणे वर्णितमस्ति। तथाहि—

ये भरताद्यैर्नृपतिभिरुद्धाः, कारितपूर्वा जिनवरवासाः।

भग्नमुपेतान् क्वचिदपि रम्यान्, सोऽनयदेतानभिनवभावान्॥१७९॥

इन्द्रनुतानां स्वयमपि रम्यान्, तीर्थकराणां परमनिवासान्।

रत्नसमूहैः स्फुरदुरुभासः, संततपूजामघटयदेषः१॥१८०॥

तात्पर्यमत्र—मनोवचनकायबलवृद्धयर्थं श्रेष्ठतपश्चरणकरणार्थं च एभ्यो मनोबलि-वचनबलि-कायबलिभ्यो नमो नमः।

एवं एकादशस्थले स्वात्मबलवृद्धिकारणभूत बलवृद्धिसमन्वितमुनि नमस्कारपरत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि।

अधुना क्षीरस्नाविमुनीनां प्रणमनार्थं श्रीमद्गौतमगणधरदेवेन सूत्रमवतार्यते—

पमो खीरसवीणं॥३८॥

अनन्तर बालि मुनिराज ने भी गुरु के पास प्रायश्चित्त लेकर महान् चारित्र का पालन करते हुए शुक्लध्यान के बल से केवलज्ञान को प्राप्त करके आयु के अंत में अघातिया कर्मों को नष्ट करके त्रैलोक्य शिखर को प्राप्त कर लिया अर्थात् लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्धशिला पर विराजमान हो गये।

इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि उन महामुनिराज के कायबल ऋद्धि भी थी।

उस कैलाशपर्वत के ऊपर बने हुए रत्नमयी जिनमंदिरों का राजा दशरथ के द्वारा जीर्णोद्धार किया गया था, ऐसा वर्णन भी पद्मपुराण में आया है। जो इस प्रकार है—

श्लोकार्थ— भरत आदि राजाओं ने जो पहले जिनेन्द्र भगवान के सुन्दर जिनमंदिर बनवाए थे, वे यदि कहीं भग्न—जीर्ण अवस्था को प्राप्त हो गये थे, तो उन रमणीय जिनमंदिरों को राजा दशरथ ने जीर्णोद्धार करवाकर पुनः उन्हें नवीनता प्राप्त कराई थी॥१७९॥

इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं भी ऐसे जिनमंदिर बनवाये थे, जिनकी इन्द्र स्वयं स्तुति करता था तथा रत्नों के समूह से जिनकी विशाल कान्ति स्फुरायमान हो रही थी॥१८०॥

तात्पर्य यह है कि—मनबल-वचनबल और कायबल की वृद्धि के लिए और श्रेष्ठ तपश्चरण करने के लिए इन मनोबली-वचनबली और कायबली मुनियों को मेरा बारम्बार नमस्कार होवे।

इस प्रकार ग्यारहवें स्थल में स्वात्मबल की वृद्धि में कारणभूत बलऋद्धि से समन्वित मुनियों को नमस्कार करने की मुख्यता वाले तीन सूत्र पूर्ण हुए।

अब क्षीरस्नावी ऋद्धिधारी मुनियों को नमन करने हेतु श्री गौतम गणधर देव के द्वारा सूत्र अवतरित होता है—

सूत्रार्थ—

क्षीरस्नावी ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥३८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — क्षीरं दुग्धं, विषसहितवस्तुनः क्षीरस्य स्रवी क्षीरस्रवी। पाणिपात्रनिपतिता-
शेषाहाराणां क्षीरस्वादोत्पादनशक्तिरपि कारणे कार्योपचारात् क्षीरस्रवी नाम।

कश्चिदाह —

कथं रसान्तरेषु स्थितद्रव्याणां तत्क्षणादेव क्षीरस्वादस्वरूपेण परिणामः ?

आचार्यः समाधत्ते —

नैतद् वक्तव्यं, अमृतसमुद्रे निपतितविषस्येव पंचमहाव्रत-समिति-त्रिगुप्तिकलापघटितांजलिपुट-
निपतितानामाहाराणां क्षीरस्वरूपपरिणमनकरणे अविरोधात्। सा येषामस्ति ते क्षीरस्रविणस्तेभ्यो नमः।

उक्तं च —

करयलणिक्विखत्ताणि रुक्खाहारादियाणि तत्कालं।

पावंति खीरभावं जीए खीरोसवी रिद्धी॥१०८०॥

अहवा दुक्खप्पहुदी जीए मुणिवयणसवणमेत्तणं।

पसमदि णरतिरियाणं स च्चिय खीरोसवी रिद्धी॥१०८१॥

“विरसमप्यशनं येषां पाणिपुटनिक्षिप्तं क्षीररसगुणपरिणामि जायते, येषां वा वचनानि क्षीरवत्क्षीणानां
संतर्पकाणि भवन्ति ते क्षीरस्रविणः^१।”

संप्रति सर्पिःस्रविमुनीनां नमस्कारकरणार्थं श्रीगणधरदेवेन सूत्रमवतार्यते —

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — क्षीर का अर्थ दूध है। विषसहित वस्तु से भी क्षीर को बहाने वाली
क्षीरस्रावी कहलाता है। हाथरूपी पात्र में गिरे हुए सब आहारों को क्षीरस्वरूप स्वाद को उत्पन्न करने वाली
शक्ति भी कारण में कार्य के उपचार से क्षीरस्रवी कही जाती है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — अन्य रसों में स्थित द्रव्यों का तत्काल ही क्षीर के स्वादस्वरूप से
परिणमन कैसे संभव है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार अमृत समुद्र में गिरे
हुए विष का अमृतरूप परिणमन होने में कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार पाँच महाव्रत, पाँच समिति व तीन
गुप्तियों के समूह से घटित अंजलिपुट में लिए हुए सब आहारों का क्षीर स्वरूप परिणमन करने में कोई विरोध
नहीं आता है। वह शक्ति जिनके हैं, वे क्षीरस्रवी कहलाते हैं, उनको नमस्कार हो।

कहा भी है —

गाथार्थ — जिससे हस्ततल पर रखे हुए आहारादिक तत्काल ही दुग्धपरिणाम को प्राप्त हो जाते हैं,
वह क्षीरस्रवी ऋद्धि कही जाती है॥१०८०॥

अथवा, जिस ऋद्धि से मुनियों के वचनों के श्रवणमात्र से ही मनुष्य-तिर्यचों के दुःखादिक शान्त हो
जाते हैं, उसे क्षीरस्रवी ऋद्धि समझना चाहिए॥१०८१॥

“जिनके हाथ में पड़ते ही नीरस भी अन्न क्षीर के समान सुस्वादु हो जाता है, वा जिनके वचन क्षीर के
समान सब श्रोताओं को तृप्त करते हैं, वे क्षीरस्रावी नाम के ऋद्धिधारी होते हैं।”

अब सर्पिःस्रावि ऋद्धिधारक मुनियों को नमस्कार करने हेतु श्री गणधरदेव सूत्र का अवतार
करते हैं —

णमो सप्पिसवीणं॥३९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सर्पिर्घृतं। येषां तपोमाहात्म्येनांजलिपुटनिपतिताशेषाहारा घृतास्वादस्वरूपेण परिणमन्ति ते सर्पिःस्रविणो जिनास्तेभ्यो नमः।

उक्तं च —

रिसिपाणितलणिखित्तं रुक्खाहारादियं पि खणमेत्ते।

पावेदि सप्पिरूवं जीए सा सप्पियासवी रिद्धी॥१०८६॥

अहवा दुक्खप्पमुहं सवणेण मुणिंददिव्ववयणस्स।

उवसामदि जीवाणं एसा सप्पियासवी रिद्धी॥१०८७॥

“येषां पाणिपात्रगतमंत्रं रूक्षमपि सर्पिरसवीर्यविपाकानाज्जोति सर्पिरिव वा येषां भाषितानि प्राणिनां संतर्पकाणि भवन्ति ते सर्पिरास्रविणः।”

अधुना मधुस्रविणां मुनीनां प्रणमनार्थं श्रीगौतमदेवेन सूत्रमवतार्यते —

णमो महुसवीणं॥४०॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ‘मधु’ वचनेन गुडखण्डशर्करादीनां ग्रहणं, मधुरस्वादं प्रति एतेषां साधर्म्योपलंभात्। हस्तक्षिप्ताशेषाहाराणां मधु-गुड-खण्ड-शर्करास्वाद-स्वरूपेण परिणमनक्षमा मधुस्रविणो जिनाः। तेभ्यो मनो-वचन-कायैर्नमः।

सूत्रार्थ —

सर्पिःस्रवी ऋद्धिधारक जिनो को नमस्कार हो॥३९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सर्पिष् शब्द का अर्थ घृत — घी है। जिनकी तपस्या के प्रभाव से अंजलिपुट — करपात्र में गिरे हुए सब आहार घृतरूप से परिणमित हो जाते हैं, वे सर्पिःस्रवी जिन हैं, उनको नमस्कार हो।

कहा भी है —

गाथार्थ — जिस ऋद्धि से हस्ततल में निक्षिप्त — रखा आहारादिक भी क्षणमात्र में घृतरूप को प्राप्त करता है, वह सर्पियस्रवी ऋद्धि है॥१०८६॥

अथवा जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनीन्द्र के दिव्य वचनों के सुनने से ही जीवों के दुःखादिक शान्त हो जाते हैं, वह सर्पिरास्रवी ऋद्धि है॥१०८७॥

जिनमुनियों के हाथ में रखा हुआ रूखा भी अन्न घी की तरह पुष्टिकारक और स्निग्ध हो जाता है। अथवा जिनके वचन घी के समान सन्तर्पक होते हैं, वे सर्पिरास्रवी नाम के ऋद्धिधारक कहलाते हैं।

अब मधुस्रवी ऋद्धिधारक मुनियों को नमन करने हेतु श्री गौतम गणधरदेव सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

मधुस्रवी ऋद्धिधारक जिनो को नमस्कार हो॥४०॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ‘मधु’ इस शब्द से गुड़-खांड और शक्कर आदि का ग्रहण किया गया है, क्योंकि मधुर स्वाद के प्रति इनके समानता पाई जाती है। जो हाथ में रखे हुए समस्त आहारों को मधु,

उक्तं च —

मुणिकरणिक्खित्ताणिं लुक्खाहारादियाणि होंति खणे।

जीए महुररसाइं स च्चिय महुवोसवी रिद्धी॥१०८२॥

अहवा दुक्खप्पहुदी जीए मुणिवयणसवणमेत्तेणं।

णासदि णरतिरियाणं स च्चिय महुवासवी रिद्धी^१॥१०८३॥

“येषां पाणिपुटपतित-आहारो नीरसोऽपि मधुररसवीर्यपरिणामो भवति, येषां वचांसि श्रोतृणां दुःखार्दितानामपि मधुगुणं पुष्पन्ति ते मध्वास्रविणः।”^२

क्वचित् पाठान्तरो वर्तते —

“णमो महुरसवीणं।” मधुरशब्देनेह मधुरो रसो गृह्यते। मधुररसस्त्राविणां मधुररसस्वादिनां वेत्यर्थः।^३

अधुना अमृतस्त्राविणां मुनीनां प्रणमनार्थं श्रीमद्गौतमदेवमुखकमलविनिर्गत सूत्रमवतार्यते श्रीभूतबलिसूरिवर्येण —

णमो अमडसवीणं॥४१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — येषां हस्तं प्राप्ताहारोऽमृतस्वादस्वरूपेण परिणमति तेऽमृतस्त्राविणो जिनाः।

गुड़, खांड और शक्कर के स्वाद स्वरूप परिणमन कराने में समर्थ हैं, वे मधुस्रवी जिन हैं। उनको मन, वचन व काय से नमस्कार हो।

कहा भी है —

गाथार्थ — जिस ऋद्धि से मुनि के हाथ में रखे गये रूखे आहारादिक क्षणभर में मधुर रस से युक्त हो जाते हैं, वह मध्वास्रवी ऋद्धि है॥१०८२॥

अथवा, जिस ऋद्धि से मुनि के वचनों के श्रवणमात्र से मनुष्य-तिर्यचों के दुःखादिक नष्ट हो जाते हैं, वह मध्वास्रवी ऋद्धि है॥१०८३॥

“जिनके पाणिमात्र में आया हुआ नीरस आहार मधु के समान स्वादिष्ट हो जाता है एवं पुष्टि को प्रदान करता है अथवा जिनके मनोहर वचन दुःखी श्रोताओं को मधु के समान पुष्ट करते हैं, वे मध्वास्रवी नाम के ऋद्धिधारी कहे जाते हैं।”

कहीं इसका पाठान्तर भी है —

“मधुरस्त्रावी ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो” यहाँ मधुर शब्द से मधुर रस का ग्रहण होता है। अथवा मधुररसस्त्रावि से मधुररसस्त्रावी अर्थ भी लिया जाता है।”

अर्थात् मधु शब्द से गुड़, खांड, शक्कर आदि का ग्रहण होता है। क्योंकि मधुर स्वाद के प्रति इनके समानता पाई जाती है। जो हाथ में रखे हुए सब आहारों को गुड़, खांड, शर्करा के स्वादस्वरूप से परिणमन करने में समर्थ हैं, वे मधुरस्त्रावी मधुरस्वादी अथवा मधुस्वादी जिन होते हैं, उनको मेरा नमस्कार हो।

अब अमृतस्त्रावी मुनियों को नमन करने हेतु श्री गौतम स्वामी गणधरदेव के मुखकमल से निकले हुए सूत्र का अवतार श्री भूतबली आचार्य द्वारा किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

अमृतस्त्रवी ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥४१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जिनके हाथ में आया हुआ आहार अमृत स्वरूप से परिणत होता है, वे

अत्रावस्थिताः सन्तो ये देवाहारभोजिनस्तेषाममृतस्रविभ्यो नमः। इत्युक्तं भवति।

उक्तं च —

मुणिपाणिसंठियाणि रुक्खाहारादियाणि जीय खणे।

पावन्ति अमियभावं एसा अमियासवी रिद्धी॥१०८४॥

अहवा दुक्खादीणं महेसिवयणस्स सवणकालम्मि।

णासन्ति जीए सिग्घं सा रिद्धी अमियासवी णामां॥१०८५॥

“येषां पाणिपुटप्रान्तं भोजनं यत्किंचिदमृततामास्कंदति येषां वा व्याहृतानि प्राणिनां अमृतवदनुग्राहकाणि भवन्ति तेऽमृतास्रविणः^१।”

अत्रापि पाठान्तरो वर्तते —

“णमो अमयसवीणं।” अमृतस्राविणाममृतस्वादिनां वा।^३”

एतेभ्यः क्षीरस्रवि-सर्पिःस्रवि-मधुस्रवि-अमृतस्रविभ्यो नमो नमोऽनन्तशः।

एवं द्वादशस्थले रसर्द्धिधारकमुनीनां नमस्कारपरत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतम्।

अधुना अक्षीणमहानसर्द्धिविभूषितमहायतीनां भक्त्यर्थं श्रीमद्गौतमस्वामिकृत सूत्रमवतार्यते श्रीभूतबलिसूरिवर्येण —

णमो अक्खीणमहाणसाणं॥४२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अत्राक्षीणमहानसशब्दो येन देशामर्शकस्तेन वसत्यक्षीणानां जिनानामपि ग्रहणं

अमृतस्रवी जिन हैं। यहाँ अवस्थित होते हुए जो देवाहार अर्थात् देवों के सदृश अमृतस्वरूप आहार को ग्रहण करने वाले हैं, उन अमृतस्रवी जिनों को नमस्कार हो, यह सूत्र का अर्थ है।

कहा भी है —

गाथार्थ — जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के हाथ में स्थित — रखे रुक्ष आहारादिक क्षणमात्र में अमृतपने को प्राप्त करते हैं, वह अमृतास्रवी ऋद्धि है॥१०८४॥

अथवा जिस ऋद्धि से महर्षि के वचनों के श्रवणकाल में शीघ्र ही दुःखादिक नष्ट हो जाते हैं, वह अमृतास्रवी नामक ऋद्धि है॥१०८५॥

“जिनके पाणिपुट (हाथ) में रखा हुआ किसी प्रकार का भी भोजन अमृत सरीखा हो जाता है, अथवा जिनके वचन अमृत के समान अनुग्राहक — उपकार करने वाले होते हैं। वे अमृतास्रवी ऋद्धिधारी कहलाते हैं।”

यहाँ भी पाठान्तर है —

“अमृतस्रवी जिनों को नमस्कार हो।” अमृतस्रावी अथवा अमृतस्वादी ऋद्धि वाले मुनियों को भी यहाँ लिया है।”

इन क्षीरस्रवी, सर्पिःस्रवी, मधुस्रवी और अमृतस्रवी ऋद्धिधारियों को मेरा अनन्तबार नमस्कार हो।

इस प्रकार बारहवें स्थल में रस ऋद्धिधारक मुनियों के नमस्कारसूचक चार सूत्र पूर्ण हुए।

अब अक्षीणमहानस ऋद्धि से विभूषित महायतियों की भक्ति के लिए श्रीमान् गौतम स्वामी द्वारा रचित सूत्र को श्री भूतबली आचार्य के द्वारा अवतरित किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

अक्षीणमहानस ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो॥४२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — यहाँ चूँकि अक्षीणमहानस शब्द देशामर्शक है, अतएव उससे अक्षीण

कर्तव्यम्। क्रूरो घृतं तिम्मात्रं वा यस्य परिवेष्य पश्चात् चक्रवर्तिस्कंधावारे भोजयिष्यमानेऽपि न निष्ठाप्यते स अक्षीणमहानसो नाम। यस्मिन् चतुर्हस्तप्रमाणायामपि गुफायां स्थिते सति चक्रवर्तिस्कंधावारमपि सा गुफा अवगाह्यते स अक्षीणावासो नाम। तेभ्योऽक्षीणमहानसेभ्यो नमः।

कथमेतासां शक्तीनामस्तित्वमवगम्यते ?

एतस्मादेव सूत्राद् ज्ञायते, जिनेषु अन्यथावादित्वाभावात्।

उक्तं च —

लाभन्तरायकम्मक्खउवसमसंजुदाए जीए फुडं।

मुणिभुत्तसेसमण्णं धामत्थं पियं जं कं पि।।१०८९।।

तद्विवसे खज्जंतं खंधावारेण चक्कवट्टिस्स।

झिज्जइ ण लवेण वि सा अक्खीणमहाणसा रिद्धी।।१०९०।।

जीए चउधणुमाणे समचउरसालयम्मि णर तिरिया।

मंति य संखेज्जा सा अक्खीण महालया रिद्धी^१।।१०९१।।

“लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षप्राप्तेभ्यो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते ततो भाजनाच्चक्रधरस्कंधावारोऽपि यदि भुंजीत तद्विवसे नान्नं क्षीयते ते अक्षीणमहानसाः। अक्षीणमहालयलब्धिप्राप्ता यतयो यत्र वसन्ति देव-मनुष्य-तैर्यग्योना यदि सर्वेऽपि तत्र निवसेयुः परस्परमबाधमानाः सुखमासते।”

वसति वाले जिनों का भी ग्रहण करना चाहिए। जिनको भात, घृत व भिगोया हुआ अन्न स्वयं परोस देने के पश्चात् चक्रवर्ती की सेना को भोजन कराने पर भी समाप्त नहीं होता है वह अक्षीणमहानस ऋद्धिधारक कहलाते हैं। जिसके चार हाथ प्रमाण भी गुफा में रहने पर चक्रवर्ती सैन्य के साथ भी उस गुफा में रह सकता है। वह अक्षीणावास ऋद्धिधारक हैं। उन अक्षीणमहानस जिनों को नमस्कार हो।

शंका — इन शक्तियों का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

समाधान — इसी सूत्र से उनका अस्तित्व जाना जाता है, क्योंकि जिनभगवान अन्यथावादी नहीं होते हैं। कहा भी है —

गाथार्थ — लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से संयुक्त जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के आहार से शेष भोजनशाला में रखे हुए अन्न में से जिस किसी भी प्रिय वस्तु को यदि उस दिन चक्रवर्ती का सम्पूर्ण कटक भी खाये, तो भी वह लेशमात्र क्षीण नहीं होता है। वह अक्षीणमहानसऋद्धि है।।१०८९-१०९०।।

जिस ऋद्धि से समचतुष्कोण चार धनुष प्रमाण क्षेत्र में असंख्यात मनुष्य-तिर्यच सम जाते हैं, वह अक्षीणमहालयऋद्धि है।।१०९१।।

प्रकृष्ट लाभान्तराय के क्षयोपशम वाले यतीश्वरों को जिस भाजन से आहार दिया जाता है, उस भाजन से यदि चक्रवर्ती का पूरा कटक भी जीम जाए, तो उस दिन वह भोजन सामग्री कम नहीं पड़ती, वह भोजन सामग्री अक्षय बन जाती है। इस प्रकार की सामर्थ्य के धारक मुनिगण अक्षीणमहानस ऋद्धि के धारक कहे जाते हैं। अक्षीणमहालयऋद्धि प्राप्त यतीश्वर जहाँ बैठते हैं, या वास करते हैं, उस स्थान में इतनी अवगाहन शक्ति हो जाती है कि वहाँ सभी देव, मनुष्य और तिर्यच परस्पर किसी को बाधा नहीं देते हुए निर्बाधरूप से बैठ सकते हैं।

यतिप्रतिक्रमणसूत्रे ‘णमो वड्डुमाणाणं।’ इत्येतत्सूत्रमधिकं वर्तते।

तात्पर्यमत्र — एतेभ्योऽक्षीणद्धिसमन्वित मुनिभ्यो नमो नमः। अनेन मंत्रेण गृहस्थानां धनवृद्धिर्जायते। साधूनां च स्वात्मगुणसंपत्तिर्वर्धते।

एवं त्रयोदशस्थले अक्षीणद्धिमुनिनमस्कारपरत्वेन एकं सूत्रं गतम्।

संप्रति सर्वसिद्धायतनानां नमस्कारार्थं श्रीमद्भगवद्गौतमस्वामिरचितसूत्रमवतार्यते श्रीभूतबलिसूरिवर्येण —

णमो लोए सव्वसिद्धायदणाणं॥४३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सर्वसिद्धवचनेन पूर्वं प्ररूपिताशेषजिनानां ग्रहणं कर्तव्यम्। जिनेभ्यः पृथग्भूतदेशसिद्ध-सर्वसिद्धानामनुपलंभात्। सर्वसिद्धानामायतनानि सर्वसिद्धायतनानि। एतेन कृत्रिमाकृत्रिमजिनगृहाणां जिनप्रतिमानां ईषत्प्राग्भार-ऊर्जयन्त-चंपा-पावापुर्यादिविषय-निषीधिकाणां च ग्रहणं भवति। तेभ्यो जिनायतनेभ्यो नमः।

इतो विस्तरः — अत्र जिनायतनेषु ‘निषीधिका’ शब्दो वर्तते। प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयीषु निषीधिकाशब्दस्य सप्तदशार्थाः कथ्यन्ते। श्रीप्रभाचन्द्राचार्येण ‘णिसीहियाए’-निषीधिकाशब्दोऽनेकार्थाभिधायी। तथाहि — (१) जिनसिद्धप्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि। (२) तथा तदालयाः। (३) बुद्ध्यादिलब्धिसंपन्ना मुनयः। (४) तैराश्रितानि क्षेत्राणि। (५) अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनः। (६) ज्ञानोत्पत्तिप्रदेशाः। (७)

यतिप्रतिक्रमण सूत्र में ‘णमो वड्डुमाणाणं’ अर्थात् वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार हो” यह सूत्र अधिक पाया जाता है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि — इन अक्षीण ऋद्धि समन्वित मुनियों को नमस्कार होवे। इस मंत्र से गृहस्थजनों के धन की वृद्धि होती है और साधुओं के आत्मगुणों की सम्पत्ति बढ़ती है।

इस प्रकार तेरहवें स्थल में अक्षीण ऋद्धिधारक मुनियों के नमस्कारपरक एक सूत्र पूर्ण हुआ।

अब सम्पूर्ण सिद्धायतनों को नमस्कार करने हेतु श्रीमान् भगवान् गौतम स्वामी द्वारा रचित सूत्र यहाँ श्री भूतबली आचार्य के द्वारा अवतरित किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

लोक के समस्त सिद्धायतनों को नमस्कार हो॥४३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सर्वसिद्ध इस वचन से पूर्व में कहे हुए समस्त जिनों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जिनों से पृथग्भूत देशसिद्ध व सर्वसिद्ध पाये नहीं जाते हैं। सब सिद्धों के जो आयतन हैं, वे सर्वसिद्धायतन हैं। इससे कृत्रिम व अकृत्रिम जिनगृह, जिनप्रतिमा तथा ईषत् प्राग्भार, ऊर्जयन्त, चम्पापुर व पावापुरी आदि क्षेत्रों व निषीधिकाओं का भी ग्रहण हो जाता है, उन जिनायतनों को नमस्कार हो।

यहाँ उसी का विस्तार करते हैं —

यहाँ जिनायतनों में श्री वीरसेनाचार्य ने धवला टीका में “निषीधिका” शब्द का ग्रहण किया है। प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी नाम के ग्रन्थ में निषीधिका शब्द के सत्रह अर्थ कहे हैं। श्री प्रभाचन्द्राचार्य के द्वारा “णिसीहियाए” अर्थात् निषीधिका शब्द अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है। वह इस प्रकार है — १. कृत्रिम-अकृत्रिम जिन और सिद्धों की प्रतिमाएँ, २. उन प्रतिमाओं के मंदिर, ३. बुद्धि आदि लब्धिऋद्धि से सम्पन्न मुनिगण, ४. उन ऋद्धि सम्पन्न मुनियों से पवित्र क्षेत्र, ५. अवधि-मनःपर्यय और केवलज्ञानी भगवान्, ६. उनके ज्ञान की उत्पत्ति के प्रदेश, ७. उनसे सहित क्षेत्र, ८. सिद्ध भगवान्, ९. उन सिद्धों के निर्वाणक्षेत्र, १. श्री वीरसेनाचार्य कृत धवलाटीका में “णिसीहियाणं” पद का ग्रहण किया है।

तैराश्रितक्षेत्राणि। (८) सिद्धजीवाः। (९) तन्निर्वाणक्षेत्राणि। (१०) तैराश्रिताकाशप्रदेशाः। (११) सम्यक्त्वादितुर्गुणयुक्तास्तपस्विनः। (१२) तैराश्रितक्षेत्रम्। (१३) तत्त्यक्तशरीराश्रितप्रदेशाः। (१४) योगस्थितास्तपस्विनः। (१५) तैराश्रित क्षेत्रम्। (१६) तन्मुक्तशरीराश्रितप्रदेशाः। (१७) त्रिविधपंडित-मरणस्थिता मुनयः। इत्यादि।”

उक्तं च — जिणसिद्धबिंबणिलया किदगाकिदिगा य रिद्धिजुदसाहू।
णाणजुदा मुणिपवरा णाणुप्पत्ती य णाणिजुदखेत्तं॥१॥
सिद्धा य सिद्धभूमी सिद्धाण समासिओ णहोदेसो।
सम्मत्तादिचउक्कं उप्पण्णं जेसु तेहिं सिदखेत्तं॥२॥
चत्तं तेहिं य देहं तट्टवियं जे सु ता णिसीहीओ।
जेसु विसुद्धा जोगा जोगधरा तेसु संठिआ सम्मं॥३॥
जोगिपरिमुक्कदेहा पंडितमरणट्टिदा णिसीहीओ।
तिविहे पंडितमरणे चिट्ठंति महामुणी समाहीए॥४॥
एयाओ अण्णाओ णिसीहियाओ सया वंदे॥
अन्ये तु ‘णिसीधिए’ इत्यस्यार्थमित्थं व्याख्यानयन्ति —
‘णि’ ति णियमेहिं जुत्तो, ‘सि’ ति य सिद्धिं तहा अहिग्गामि।
‘धि’ ति य धिदिबद्धकओ, ‘ए’ ति य जिणसासणे भत्तो॥१॥”

अन्यत्र — ‘णमो सिद्धायदणाणं’^१ इति पाठान्तरं वर्तते।

संप्रति वर्धमानजिनेन्द्रस्य नमस्कारकरणार्थं श्रीमद्गौतमगणधरदेवेन सूत्रमवतार्यते —

१०. उनसे सहित आकाश प्रदेश, ११. सम्यक्त्व आदि चार गुणों से युक्त तपस्वी, १२. उनके आश्रित पवित्र क्षेत्र, १३. उनके द्वारा त्यक्त — छोड़े गये शरीर के आश्रित का प्रदेश, १४. योग में स्थित तपस्वी, १५. उन तपस्वियों से सहित प्रदेश, १६. उनके मुक्त शरीर से सहित प्रदेश, १७. तीन प्रकार के पंडित मरण में स्थित मुनि इत्यादि।”
कहा भी है —

गाथार्थ — कृत्रिमाकृत्रिम जिन और सिद्धों के बिम्ब, उनके निलय, ऋद्धि सहित साधु, उनके क्षेत्र, ज्ञानयुक्त मुनिप्रवर, ज्ञानोत्पत्तिस्थल, ज्ञानी से युक्त क्षेत्र, सिद्धजीव, सिद्धभूमि, सिद्धों से सहित आकाश, सम्यक्त्व आदि चार गुण युक्त साधु, उनसे पवित्र क्षेत्र, सिद्धक्षेत्र, उनके द्वारा त्यक्त शरीर के आश्रित प्रदेश, उन तपस्वियों से सहित स्थान, उनके मुक्त शरीर का स्थल एवं तीन प्रकार के पंडित मरण में स्थित महामुनियों को निषीधिका संज्ञा से जाना जाता है॥१ से ४॥

इसी प्रकार से अन्य निषीधिकाओं की मैं सदा वंदना करता हूँ।

अन्य आचार्य निषीधिका इस अर्थ का ऐसा व्याख्यान करते हैं —

गाथार्थ — ‘णि’ इस शब्द का अर्थ है — नियम से युक्त, ‘सि’ शब्द से सिद्धि को प्राप्त करता हूँ। ‘धि’ शब्द से धृतिबद्ध अर्थात् धैर्य से सहित, ‘ए’ शब्द से जिनशासन का भक्त है।

अन्यत्र ‘णमो सिद्धायदणाणं’ अर्थात् ‘सिद्धायतनों को नमस्कार हो’ ऐसा पाठान्तर है।

अब श्री वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार करने के लिए श्री गौतम गणधरदेव सूत्र अवतरित करते हैं —

गमो वद्धमाणबुद्धरिसिस्स॥४४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अव समंतात् वृद्धो मानः पूजातिशयो ज्ञानाद्यतिशयो वा यस्मादिति वर्धमानः। वर्धमानश्चासावन्तिमतीर्थकरदेवः। बुद्धश्च स्वहेयोपादेयविवेकसम्पन्नः। ऋषिश्च प्रत्यक्षवेदी। भगवतो हि गर्भावतारादौ पित्रोरिन्द्रादिविनिर्मितां विशिष्टां पूजां रत्नवृष्टिं स्वस्य चर्द्धिवृद्ध्यादिकं दृष्ट्वा वर्धमान इति नाम कृतम्।

वर्धमानभगवतः पूर्वं कृतनमस्कारस्य किमर्थं पुनरपि अत्र नमस्कारः कृतः ?

अस्य समाधानं श्रीमद्वीरसेनाचार्येण दीयते —

जस्संतियं धम्मपहं णिगच्छे, तस्संतियं वेणयियं पउंजे।

कायेण वाचा मणसा वि णिच्चं, सक्कारए तं सिरपंचमेण॥

एषा गाथा श्रीमद्गौतमस्वामिमुखकमलविनिर्गतैवास्ति। इत्येतस्य नियमस्य आचार्यपरम्परागतस्य प्रतिपादनार्थमेव पुनरपि अत्र वर्धमानभगवतो नमस्कारः कृतोऽस्ति।

अस्या गाथाया अर्थः श्रीप्रभाचंद्राचार्येण विहितं। तथाहि —

ननु चतुर्विंशतितीर्थकृतां सर्वेषामपि स्तुत्यत्वात्किमर्थमत्र ग्रन्थकृता वर्धमानस्वामिन एव स्तुतिः कृतेत्याशंकायामाह —

जस्स — यस्य भगवतः। अंतिगं — अन्ते समीपे भवमन्तिकं। धम्मपहं — धर्ममार्गं। णिगच्छे — निश्चयेन नियमेन वा गच्छे गच्छामि प्रतिपद्ये। प्राप्नोमीत्यर्थः। तस्संतियं — तस्य भगवतोऽन्तिकं समीपं यथा भवत्येवं।

सूत्रार्थ —

श्री वर्धमान बुद्ध ऋषि को नमस्कार हो॥४४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अव समन्तात् अर्थात् सब तरफ से जो वृद्धिगत मान-सम्मान से सहित हैं अथवा पूजातिशय और ज्ञानादि के अतिशय से समन्वित हैं उनका वर्धमान नाम सार्थक है। ऐसे अंतिम तीर्थकरदेव वर्धमान स्वामी हैं। वे बुद्ध हैं अर्थात् अपने हेय-उपादेय के विवेक से सम्पन्न हैं। अपने केवलज्ञान के द्वारा प्रत्यक्षवेदी हैं। गर्भावतरण आदि के समय इन्द्र ने उनके माता-पिता की विशेष पूजा की थी, उनके महल में रत्नवृष्टि की थी तथा उनकी ऋद्धि-वृद्धि आदि देखकर वर्धमान यह नाम रखा था।

शंका — वर्धमान भगवान को चूँकि पूर्व में नमस्कार किया जा चुका है, तब यहाँ उन्हें पुनः दुबारा नमस्कार क्यों किया गया है ?

इसका समाधान श्री वीरसेनाचार्य के द्वारा (धवला टीका में) दिया गया है —

श्लोकार्थ — जिनके निकट मैंने धर्ममार्ग को प्राप्त किया है, उनके निकट विनय का व्यवहार करता हूँ। उनको मन-वचन-काय से पंचांगपूर्वक सिर झुकाकर नित्य ही नमस्कार करता हूँ।

यह गाथा श्री गौतम गणधर स्वामी के मुखकमल से ही निकली हुई है। इस आचार्य परम्परागत नियम को बतलाने हेतु ही यहाँ पुनः वर्धमान भगवान को नमस्कार किया गया है।

इस गाथा का अर्थ श्री प्रभाचन्द्र आचार्य के द्वारा निम्न प्रकार से किया गया है —

सभी चौबीसों तीर्थकर भगवान् स्तुत्य हैं फिर भी यहाँ ग्रन्थकर्ता गणधर देव ने भगवान वर्धमान की ही स्तुति क्यों की है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं —

जिन भगवान के समीप मैंने धर्ममार्ग को नियम से प्राप्त किया है उन भस्मान के समीप विनय का प्रयोग करता

वेणयियं — वैनयिकं विनयं, विनय एव वैनयिकं। विनयादित्वात्स्वार्थे ठण्। पउंजे — प्रयुंजे कुर्वेऽहं। अन्तिकमिति धर्मपथं वैनयिकमित्यनयोरुभयोः क्रियाविशेषणमेतत्। केन वैनयिकं प्रयुंजे ? कायेन वाचा मनसापि। किं कदाचित्तं प्रयुंजे ? णिच्चं — नित्यं सर्वकालं। न केवलं वैनयिकमेव प्रयुंजे, अपि तु सक्कारए — नमस्करोमि तं भगवन्तं। केन ? सिरपंचमेण — शिरः पंचमं यत्र जानुद्वयकरद्वययोः।^१”

इतो विस्तरः — अस्मिन् वेदनाखण्डे इदमन्तिमसूत्रं चतुश्चत्वारिंशत्तममेव। अन्यत्र ग्रन्थेऽष्टचत्वारिंशत्सूत्राणि वर्तन्ते। एतत्सूत्रमन्तिमं पाठान्तरेण दृश्यते। तथाहि —

“णमो भयवदो महदिमहावीरवड्डमाणबुद्धरिसिणो चेदि।^२”

भगवतः सहजविशिष्टमत्यादिज्ञानत्रयवतः पूजातिशयवतो वा। महतिमहावीरश्चासौ वर्धमानश्चासावन्तिम-तीर्थकरदेवः। बुद्धश्च ऋषिश्च नमो भगवते महतिमहावीरवर्धमानबुद्धर्षये चेति।

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयीशास्त्रे चत्वारि सूत्राणि कान्यधिकानीति पृष्ठे सति —

‘णमो सयंबुद्धाणं॥१०॥ णमो पत्तेयबुद्धाणं॥११॥ णमो बोहियबुद्धाणं॥१२॥ पुनश्च ‘णमो वड्डमाणं॥१४॥ एतानि नमस्कार सूत्राणि वेदनाखण्डे ग्रन्थे न सन्ति इति विशेषो ज्ञातव्यः।

टीकायां — वैराग्यकारणं किंचिद् दृष्ट्वा परोपदेशं चानपेक्ष्य स्वयमेव ये वैराग्यं गतास्ते स्वयंबुद्धास्तेषां नमः। प्रत्येकान्निमित्ताद् बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः यथा नीलांजनाविलयाद् वृषभादयस्तेषां नमः। ये भोगासक्ताः शरीरादिष्वशाश्वतादिरूपं प्रदर्श्य वैराग्यं नीतास्ते बोधितबुद्धास्तेषां नमः।^३

हूँ किस प्रकार से विनय करता हूँ ? काय, वचन और मन से भी सर्वकाल विनययुक्त होता हूँ। केवल विनय को ही प्रदर्शित नहीं करता हूँ, प्रत्युत् जानुद्वय, करद्वय और मस्तक इन पाँचों का प्रयोग करके पंचांग नमस्कार करता हूँ।

इसका विस्तार करते हैं — इस वेदना खण्ड में यह अन्तिम चवालिसवाँ सूत्र ही है किन्तु अन्यत्र ग्रंथ में अड़तालिस सूत्र हैं, उनमें यह सूत्र भिन्नरूप में अन्तिम सूत्र है। जो इस प्रकार है —

“भगवान् महति महावीर वर्धमान बुद्ध ऋषि को नमस्कार हो।”

सहज विशिष्ट मत्यादि तीन ज्ञान के धारक अथवा पूजा के अतिशय को प्राप्त भग्वन् महति महावीर एवं वर्धमान नाम के जो अन्तिम तीर्थकर हैं, जो बुद्ध हैं और ऋषि हैं ऐसे महतिमहावीर वर्धमान बुद्धर्षि के लिए नमस्कार हो।

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी शास्त्र में चार सूत्र कौन से अधिक हैं, ऐसा पूछने पर कहते हैं —

स्वयंबुद्ध जिनों को नमस्कार हो॥१०॥

प्रत्येकबुद्ध जिनों को नमस्कार हो॥११॥

बोधितबुद्ध जिनों को नमस्कार हो॥१२॥

वर्धमान जिन को नमस्कार हो॥१४॥

ये चारों नमस्कार मंत्र वेदनाखण्ड नामक इस ग्रंथ में नहीं हैं, ऐसा विशेष जानना चाहिए।

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी की टीका में इनका ऐसा अर्थ किया है कि —

वैराग्य का किंचित् कारण देखकर और परोपदेश की कोई अपेक्षा न रखकर स्वयं ही जो वैराग्य को प्राप्त होते हैं वे स्वयंबुद्ध कहलाते हैं। उन स्वयंबुद्ध जिनों को नमस्कार हो। जो परोपदेश के बिना किसी एक निमित्त से वैराग्य को प्राप्त होते हैं, जैसे नीलांजना के विलय से वृषभादिक, उन प्रत्येकबुद्ध जिनों को नमस्कार हो। जो भोगों

अस्य सूत्रस्य धवलाटीकायां ग्रन्थकर्तृणां श्रीमहावीरस्वाम्यादीनां विशेषेण परिचयः दीयते।

अत्र कश्चिदाशङ्कते —

इमे मंगल सूत्रमंत्राः निबद्धा अनिबद्धा वा?

आचार्य श्री वीरसेनदेवः समाधत्ते —

निबद्धानिबद्धभेदेन द्विविधं मंगलम्।

तत्रेदं किं निबद्धमाहो अनिबद्धमिति ?

न तावन्निबद्धमंगलमिदं, महाकर्मप्रकृतिप्राभृतस्य कृत्यादिचतुर्विंशति-अनियोगावयवस्यादौ गौतमस्वामिना प्ररूपितस्य भूतबलिभट्टारकेण वेदनाखण्डस्यादौ मंगलार्थं तत्तः आनीय स्थापितस्य निबद्धत्वविरोधात्।

न च वेदनाखण्डं महाकर्मप्रकृतिप्राकृतं, अवयवस्य अवयवित्वविरोधात्। न च भूतबली गौतमो, विकलश्रुतधारकस्य धरसेनाचार्यशिष्यस्य भूतबलिसूरिणः सकलश्रुतधारकवर्धमानान्तेवासिगौतमत्वविरोधात्। न चान्यः प्रकारो निबद्धमंगलत्वस्य हेतुभूतोऽस्ति। तस्मादनिबद्धमंगलमिदम्। अथवा भवतु निबद्धमंगलम्।

कथं वेदनाखण्डादिरूपखण्डग्रन्थस्य महाकर्मप्रकृतिप्राभृतत्वम् ?

न, कृत्यादि-चतुर्विंशत्यनियोगद्वारेभ्यः एकान्तेन पृथग्भूतमहाकर्मप्रकृतिप्राभृताभावात्।

में आसक्त महानुभाव अपने शरीर आदि में अशाश्वत रूप देखकर वैराग्य को प्राप्त होते हैं वे बोधितबुद्ध कहलाते हैं। परोपदेश से भी जो वैराग्य को प्राप्त होते हैं, वे भी बोधितबुद्ध कहलाते हैं, उन्हें नमस्कार हो।

इस सूत्र की धवला टीका में ग्रंथकर्ता श्री महावीर स्वामी आदि का विशेषरूप में परिचय दिया है।

यहाँ कोई शंका करता है कि —

ये मंगल सूत्रमंत्र निबद्ध मंगल हैं अथवा अनिबद्ध मंगल हैं ?

आचार्य श्री वीरसेनस्वामी ने स्वयं इसका समाधान दिया है कि —

निबद्ध और अनिबद्ध के भेद से मंगल दो प्रकार का है।

शंका — तब यहाँ क्या निबद्ध मंगल है अथवा अनिबद्ध मंगल है ?

समाधान — यह निबद्ध मंगल तो हो नहीं सकता है, क्योंकि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वाररूप अवयवों वाले महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के आदि में गौतम स्वामी ने इसकी प्ररूपणा की है और भूतबलि भट्टारक ने वेदनाखण्ड के आदि में मंगल के निमित्त इसे वहाँ से लाकर स्थापित किया है अतः इसे निबद्ध मानने में विरोध है और वेदनाखण्ड महाकर्मप्रकृतिप्राभृत है नहीं, क्योंकि अवयव के अवयवी होने का विरोध है और न भूतबलि गौतम स्वामी ही हैं, क्योंकि विकलश्रुतधारक और धरसेनाचार्य के शिष्य भूतबलि को सकल श्रुत के धारक और वर्धमान स्वामी के शिष्य गौतम स्वामी होने का विरोध है। इसके अतिरिक्त निबद्ध मंगलत्व का हेतुभूत और कोई प्रकार है नहीं, अतः यह अनिबद्ध मंगल है। अथवा यह निबद्ध मंगल भी हो सकता है।

शंका — वेदनाखण्डादि स्वरूप खण्ड ग्रंथ के महाकर्मप्रकृतिप्राभृतपना कैसे संभव है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों से एकान्ततः पृथग्भूत महाकर्मप्राभृत का अभाव है।

एतेषामनियोगद्वाराणां कर्मप्रकृतिप्राभृतत्वे सति प्राभृतबहुत्वं प्रसज्यते ?

नैष दोषः, कथंचित् इष्यमाणत्वात्।

कथं वेदनाया महापरिणामाया उपसंहारस्य एतस्य वेदनाखण्डस्य वेदनाभावः ?

नैतत्, अवयवेभ्यः एकान्तेन पृथग्भूतावयविनोऽनुपलंभात्। न च वेदनाया बहुत्वमनिष्टमिष्यमानत्वात्।

कश्चिदाशंकते —

कथं भूतबलिनो गौतमत्वम् ?

प्रत्याशंकते पुनः कश्चित् —

तस्य गौतमत्वेन किं प्रयोजनम् ?

प्रत्याशंकायाः समाधानं क्रियते —

भूतबलिनं गौतमत्वेन स्वीकरणमन्तरेण मंगलस्य निबद्धत्वं कथं भवेत् ?

अत्र शंकाया समाधानं श्रीवीरसेनाचार्यवाक्येन द्रष्टव्यं। तथाहि —

‘ण, भूदबलिस्स खंडं गंथं पडि कत्तारत्ताभावादो। ण च अण्णेण कयगंथाहियाराणं एगदेसस्स पुव्विल्ल-सदत्थसंदब्भस्स परूवओ कत्तारो होदि, अइप्पसंगादो। अधवा भूदबली गोदमो चेव, एगाहिप्पा-यत्तादो। तदो सिद्धं णिबद्धमंगलत्तं पि।’^१

तात्पर्यमेतत् — अत्र श्रीमद्भूतबलिसूरिणं गौतमगणधरदेवस्य साम्यकरणेन श्रीभूतबल्याचार्यं प्रति श्रद्धाविशेषो दृश्यते श्रीवीरसेनाचार्यस्य, एतदुदाहरणेन पूर्वाचार्यं प्रति सदैव श्रद्धा वर्धयितव्या एव।

शंका — इन अनुयोगद्वारों को कर्मप्रकृतिप्राभृत स्वीकार करने पर बहुत प्राभृत होने का प्रसंग आवेगा ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसा कथंचित् इष्ट ही है।

शंका — महा प्रमाण वाली वेदना के उपसंहाररूप इस वेदनाखण्ड के वेदनापना कैसे संभव है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि अवयवों से सर्वथा पृथग्भूत अवयवी पाया नहीं जाता है। यदि कहा जाये कि इस प्रकार से बहुत वेदनाओं के मानने का अनिष्ट प्रसंग आवेगा, सो भी नहीं है, क्योंकि वैसा इष्ट ही है।

यहाँ कोई शंका करता है —

भूतबलि के गौतमपना कैसे संभव है ?

इस शंका पर कोई प्रतिशंका करता है कि — उनके गौतम स्वामी होने से क्या प्रयोजन है ?

इस प्रतिशंका का समाधान करते हैं—क्योंकि श्री भूतबलि आचार्य को गौतम स्वामीपना स्वीकार किये बिना मंगल के निबद्धता बन ही कैसे सकती है ?

यहाँ इस शंका का समाधान “श्रीवीरसेनाचार्य” के शब्दों में दृष्टव्य है —

“नहीं, क्योंकि भूतबलि के खण्डग्रन्थ के प्रति कर्तापने का अभाव है और दूसरे के द्वारा किये गये ग्रन्थाधिकारों के एकदेशरूप पूर्वोक्त शब्दार्थ सन्दर्भ का प्ररूपक कर्ता हो नहीं सकता, क्योंकि अतिप्रसंग दोष आता है। अथवा भूतबलि गौतम स्वामी ही हैं, क्योंकि दोनों का एक ही अभिप्राय रहा है। इस कारण निबद्ध मंगलत्व भी सिद्ध है।”

तात्पर्य यह है कि — यहाँ श्री वीरसेनाचार्य ने जो श्री भूतबली आचार्य की श्री गौतम गणधर देव के साथ समानता बतलाई है वह उनकी श्री भूतबली आचार्य के प्रति विशेष श्रद्धा का प्रतीक है, इस उदाहरण से

कश्चिदाह — उपरि उच्यमानेषु त्रिषु खण्डेषु कस्येदं मंगलम् ?

आचार्यः कथयति — अग्रे कथ्यमानानां त्रयाणामपि खण्डानामेतद् मंगलं। किंच-वर्गणामहाबंधयोर्द्वयोः खण्डयोरादौ मंगलाकरणात्। न च मंगलेन बिना भूतबलिभट्टारको ग्रन्थं प्रारभते, तस्यानाचार्यत्वप्रसंगात्।

कथं वेदनाखण्डस्यादौ प्रोक्तं मंगलं शेषद्विखण्डयोर्मंगलं भवति ?

नैतद् वक्तव्यं, कृति-अनियोगद्वारस्यादौ कथ्यमानस्यैतस्यैव मंगलस्य शेषत्रयोविंशत्यनियोगद्वारेषु प्रवृत्तिदर्शनात्।

महाकर्मप्रकृतिप्राभूतत्वेन चतुर्विंशत्यनियोगद्वाराणां भेदाभावादेकत्वं। तत एकस्य एकं मंगलं तत्र न विरुध्यते। न चैतेषां त्रयाणां खण्डानामेकत्वमेकखण्डप्रसंगात् ?

नैष दोषः, महाकर्मप्रकृतिप्राभूतत्वेन एतेषामपि एकत्वदर्शनात्।

कृति-स्पर्श-कर्म-प्रकृत्यनियोगद्वाराण्यपि अत्र प्ररूपितानि। तेषां खण्डग्रन्थसंज्ञामकृत्वा त्रीण्येव खण्डानीति किमर्थमुच्यते ?

नैतद् वक्तव्यं, तेषां प्रधानत्वाभावात्।

तदपि कुतो ज्ञायते ?

संक्षेपेण प्ररूपणादेव ज्ञायते।

पूर्वोचार्यो के प्रति हम सभी को अपनी श्रद्धा वृद्धिगत करना चाहिए।

यहाँ कोई शंका करता है कि —

ऊपर कहे गये तीन खण्डों में यह किस खण्ड का मंगल है ?

आचार्य इसका समाधान करते हैं —

आगे कहे जाने वाले तीनों खण्डों का मंगल है, क्योंकि वर्गणा और महाबंध इन दो खण्डों के आदि में मंगल नहीं किया गया है और भूतबलि भट्टारक मंगल के बिना ग्रंथ का प्रारंभ करते नहीं हैं, क्योंकि ऐसा करने से उनके अनाचार्यत्व का प्रसंग आता है। अर्थात् ये ४४ गणधरवलय मंत्रसूत्र वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबंध इन तीनों खण्डों के मंगलाचरण रूप में दिये गये हैं।

शंका — वेदनाखण्ड के आदि में कहा गया मंगल शेष दो खण्डों का मंगल कैसे हो सकता है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कृति अनुयोगद्वार के आदि में कहे गये इसी मंगल की शेष तेईस अनुयोगद्वारों में प्रवृत्ति देखी जाती है।

शंका — महाकर्मप्रकृतिप्राभूतरूप से चौबीस अनुयोगद्वारों के कोई भेद न होने से उनके एकता है। अतएव वहाँ एक ग्रंथ का एक मंगल विरोध को प्राप्त नहीं होता। परन्तु इन तीन खण्डों के एकता नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर उनके एक खण्डपने का प्रसंग आता है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि महाकर्मप्रकृतिप्राभूतरूप से इनके भी एकता देखी जाती है।

शंका — कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृति अनुयोगद्वारों की भी तो यहाँ प्ररूपणा की गई है। उनकी खण्ड ग्रंथ संज्ञा न करके तीन ही खण्ड हैं, ऐसा किसलिए कहा जाता है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यहाँ उनकी प्रधानता नहीं है।

शंका — वह भी कहाँ से जाना जाता है ?

समाधान — यह संक्षेप में की गई प्ररूपणा से ही जाना जाता है।

एषः सर्वोऽपि मंगलदण्डको देशामर्शकः, निमित्तादीनां सूचकत्वात्। ततोऽत्र मंगलस्येव निमित्तादीनां प्ररूपणा कर्तव्या। तद्यथा — ग्रन्थावतारस्य शिष्या निमित्तं, वचनप्रवृत्तेः परार्थं चैव दर्शनात्।

केन हेतुना शास्त्रं पठ्यते ?

मोक्षार्थं पठ्यते।

स्वर्गादयः किन्न मार्ग्यन्ते ?

न, तत्रात्यन्तदुःखाभावात् संसारकारणसुखत्वात् रागं मुक्त्वा तत्र सुखाभावाच्च।

परिमाणमुच्यते — ग्रंथार्थपरिमाणभेदेन द्विविधं परिमाणं। तत्र ग्रन्थतोऽक्षर-पद-संघात-प्रतिपत्त्यनियोगद्वारैः संख्यातं। अर्थतोऽनंतं। अथवा खण्डग्रन्थं प्रतीत्य वेदनायाः षोडशपदसहस्राणि। तानि च ज्ञात्वा वक्तव्यानि। वेदना इति गुणनाम।

कर्तारौ द्विविधौ — अर्थकर्ता ग्रन्थकर्ता चेति। तत्र अर्थकर्ता भगवान् महावीरः। तस्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैः प्ररूपणा क्रियते ग्रन्थस्य प्रमाणत्वप्रतिपादनार्थं।

कीदृशं श्रीमहावीरशरीरम् ?

समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभवज्रनाराचशरीरसंहननं ससुगंधगंधेन आमोदितत्रिभुवनं स्वतेजःपरिवेषेण विच्छाधिकृतसूर्यसंघातं सकलदोषवर्जितमिति।

कथमेतस्मात् शरीरात् ग्रन्थस्य प्रमाणत्वमवगम्यते ?

उच्यते — निरायुधत्वाद् ज्ञापितक्रोध-मान-माया-लोभ-जाति-जरा-मरण-भय-हिंसानामभावं,

यह सब मंगलदण्डक देशामर्शक है, क्योंकि निमित्तादिक का सूचक है। इस प्रकार यहाँ मंगल के समान निमित्तादिक की प्ररूपणा करना चाहिए। वह इस प्रकार है — ग्रन्थावतार के निमित्त शिष्य हैं, क्योंकि वचनों की प्रवृत्ति परके निमित्त ही देखी जाती है।

शंका — यह शास्त्र किस हेतु से पढ़ा जाता है ?

समाधान — यह शास्त्र मोक्ष के लिए पढ़ा जाता है।

शंका — स्वर्गादिक का उपाय क्यों नहीं खोजा जाता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि वहाँ अत्यन्त दुख का अभाव होने से संसार का कारणरूप सुख है, दूसरी बात यह है कि राग को छोड़कर वहाँ सुख नहीं है।

अब परिमाण को कहते हैं — ग्रन्थ परिमाण और अर्थ परिमाण के भेद से परिमाण दो प्रकार का है। उनमें ग्रंथ की अपेक्षा अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति व अनुयोगद्वारों से वह संख्यात है। अर्थ की अपेक्षा वह अनन्त है। अथवा खण्ड ग्रंथ के आश्रय से वेदना में सोलहहजार पद हैं। उनको जानकर कहना चाहिए। नाम की अपेक्षा 'वेदना' यह गुणनाम अर्थात् सार्थक नाम है।

कर्ता दो प्रकार के कहे गये हैं — अर्थकर्ता और ग्रंथकर्ता। उनमें अर्थकर्ता भगवान् महावीर हैं। ग्रंथ की प्रमाणता प्रतिपादित करने के लिए उनकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्ररूपणा करते हैं।

महावीर का शरीर कैसा है ? वह समचतुरस्रसंस्थान से युक्त वज्रर्षभवज्रनाराचशरीर संहनन से सहित, सुगंधयुक्त, गंध से तीनों लोकों को सुगंधित करने वाला, अपने प्रभामण्डल से सूर्यसमूह को फीका करने वाला तथा समस्त दोषों से रहित है।

शंका — इस प्रकार के शरीर से ग्रंथ की प्रमाणता कैसी जानी जाती है ?

समाधान — इसका उत्तर कहते हैं — वह शरीर निरायुध होने से क्रोध, मान, माया, लोभ, जन्म, जरा,

निष्पन्दनेत्रदृष्टित्वाद् ज्ञापितत्रिवेदोदयाभावं, निराभरणत्वाद् ज्ञापितरागाभावं, भृकुटिविरहात् संसूचितक्रोधाभावं, गमन-नर्तन-हसन-स्फोटन-अक्षसूत्रजटामुकुट-नरमुण्डमालाधरणविरहान्मोहाभावलिङ्गं, निरम्बरत्वाद् लोभाभावलिङ्गं।

न तिर्यग्भिर्व्यभिचारः, वैधर्म्यात्। न दारिद्र्यजनैर्व्यभिचारः अष्टोत्तरशतलक्षणैरवगतदारिद्र्याभावात्। न गृहस्खलितैर्व्यभिचारः, अष्टोत्तरशतलक्षणैरवगतत्रिभुवनाधिपतित्वस्य गृहस्खलनाभावात्। प्रभोर्महावीर-स्वामिनः शरीरं निर्विकारत्वात् निःशेषदोषाभावलिङ्गं। अग्नि-विष-अशनि-वज्र-आयुधादिभिर्बाधाभावाद् घातिकर्माभावलिङ्गं। न विद्यावादिर्भिव्यभिचारः, सौधर्मेन्द्रादिदेवैरपहतविद्याशक्तौ तद्बाधानुपलंभात् सनिबन्धनानिबन्धनयोःसाधर्म्याभावाद् वा।

न देवैर्व्यभिचारः, निरायुधादिविशेषणविशिष्टस्य अग्नि-विष-अशनि-वज्रायुधादिबाधाभावादिति सविशेषणसाधनप्रयोगात्। अथवा पूर्वोक्तलिङ्गैर्ज्ञापितमोहाभावेन अवगमितघातिकर्माभावं। वलितावलोकनाभावात् स्वकाशेषजीवप्रदेशस्थितज्ञानदर्शनावरणयोर्निःशेषाभावलिङ्गं। सर्वावयवैः प्रत्यक्षावगमादनिन्द्रियजनितज्ञानत्वलिङ्गं। आकाशगमनेन प्रभापरिवेषेण त्रिभुवनभवनविस्तारिणा ससुरभिर्गन्धेन च संसूचितामानुषभावं। निरामयत्वात् स्वकपुष्टेश्च क्षुधातृषाभावं।

मरण, भय और हिंसा के अभाव का सूचक है। स्पन्दरहित नेत्रदृष्टि होने से तीनों वेदों के उदय के अभाव का ज्ञापक है, निराभरण होने से राग के अभाव को प्रकट करने वाला है। भृकुटिरहित होने से क्रोध के अभाव को सूचित करता है। गमन, नृत्य, हास्य, विदारण, अक्षसूत्र, जटामुकुट और नरमुण्डमाला को न धारण करने से मोह के अभाव का सूचक है। वस्त्र रहित होने से लोभ के अभाव का सूचक है।

यहाँ तिर्यचों के साथ व्यभिचार नहीं आता है, क्योंकि उनमें साधर्म्य का अभाव है। दरिद्रों के साथ भी व्यभिचार नहीं आता है, क्योंकि एक सौ आठ लक्षणों से भगवान महावीर के दरिद्रता का अभाव जाना जाता है। गृहछलियों के साथ — गृहस्खलित अर्थात् गृहभृष्ट मनुष्यों के साथ व्यभिचार का अभाव पाया जाता है, क्योंकि एक सौ आठ लक्षणों से जिनके तीनों लोकों का अधिपतित्व निश्चित है उनके गृहस्खलन नहीं हो सकता है। प्रभु महावीर स्वामी का शरीर निर्विकार होने से समस्त दोषों के अभाव का सूचक है। अग्नि, विष, अशनि और वज्रायुधादिकों से बाधा न होने के कारण घातियाँ कर्मों के अभाव का अनुमापक है। यहाँ विद्यावादियों से व्यभिचार नहीं आता, क्योंकि सौधर्मेन्द्र आदि देवों के द्वारा जिसकी विद्याशक्ति छीन ली गई है, उसमें चूँकि पूर्वोक्त बाधाएँ पाई जाती हैं तथा सकारण और अकारण बाधाभाव में साधर्म्य भी नहीं है। अर्थात् विद्यावादियों में बाधाभाव सकारण है, क्योंकि वहाँ उक्त बाधाभाव विद्याजनित है, न कि जिनभगवान् के समान घातियाकर्मों के अभाव से उत्पन्न बाधाभाव जैसा स्वाभाविक। यही दोनों के बाधाभाव में वैधर्म्य — विसदृशता है।

न देवों से व्यभिचार है, क्योंकि निरायुधादि विशेषणों से विशिष्ट उक्त शरीर के अग्नि, विष, अशनि और वज्रायुधादिकों से कोई बाधा नहीं होती, ऐसे विशेषण सहित साधन का प्रयोग है। अथवा पूर्वोक्त हेतुओं से सूचित मोहाभाव के द्वारा वह घातिया कर्मों के अभाव को प्रकट करने वाला है। वलित अर्थात् कुटिल अवलोकन का अभाव होने से अपने समस्त जीव प्रदेशों पर स्थित ज्ञानावरण और दर्शनावरण के पूर्ण अभाव का सूचक है। समस्त अवयवों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होने से अतीन्द्रिय ज्ञानत्व का सूचक है तथा आकाशगमन से, प्रभामण्डल से परिवेष्टित होने के कारण तथा त्रिभुवनरूप महल में फैलने वाली अपनी सुरभित गंध से अमानुषता — मानुषीप्रवृत्ति से अतीत देवत्व का ज्ञापक है। निरामय होने के कारण और अपनी पुष्टि होने के

अथवा न इमे प्रत्येकहेतवः, किन्तु एतेषां समूह एको हेतुरिति गृहीतव्यः। तत एतच्छरीरं राग-द्वेष-मोहाभावं ज्ञापयति, तदभावोऽपि महावीरे भगवति मृषावादाभावं ज्ञापयति, कारणाभावे कार्यस्यास्तित्व-विरोधात्। तन्मृषावादभावोऽपि आगमस्य प्रमाणत्वं ज्ञापयति। तेन द्रव्यप्ररूपणा कर्तव्या।

तीर्थोत्पत्तिः कस्मिन् क्षेत्रे संजाता ?

रविमंडलमिव समवृत्ते, द्वादशयोजनविष्कंभायामे, एकेन्द्रनीलमणिशिलाघटिते, पंचरत्नकनकविनिर्मित-स्फुरत्तेजश्चतुर्गुणगोपुरप्राकारेण परिवेष्टितपर्यन्ते समवसरणे तीर्थस्योत्पत्तिर्बभूव।

समवसरणस्य द्वादशयोजनायामविष्कंभविषयेऽन्यत्र लिखितं वर्तते—

रविमंडलव्व वट्टा सयला वि य खंधइंदणीलमई।

सामण्णखिदी वारस जोयणमेत्तं मि उसहस्स॥७१६॥

तत्तो बेकोसूणो पत्तेक्कं णेमिणाहपज्जंतं।

चउभागेण विरहिदा पासस्स य वड्डमाणस्स॥७१७॥

अवसप्पिणि एदं भणिदं उस्सप्पिणी ए विवरीदं।

बारसजोयणमेत्ता सा सयलविदेहकत्ताणं^१॥७१८॥

कारण जिनके भूख और प्यास का अभाव जाना जाता है।

अथवा ये प्रत्येक हेतु अलग नहीं हैं, किन्तु इनके समूहरूप एक हेतु है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

इस कारण यह शरीर राग, द्वेष एवं मोह के अभाव का ज्ञापक है और रागादिक का अभाव भी भगवान महावीर में असत्य भाषण के अभाव को प्रकट करता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य के अस्तित्व का विरोध है और असत्य भाषण का अभाव भी आगम की प्रमाणता का ज्ञापक है। इस प्रकार से द्रव्य प्ररूपणा करना चाहिए।

प्रश्न—तीर्थ की उत्पत्ति किस क्षेत्र में हुई है ?

उत्तर—जो समवसरण मण्डल सूर्यमण्डल के समान समवृत्त अर्थात् गोल है, बारह योजन प्रमाण विस्तार और आयाम से युक्त है, एक इन्द्रनील मणिमय शिला से घटित—निर्मित है, पाँच रत्नों व सुवर्ण से निर्मित और प्रकाशमान तेज से संयुक्त ऐसे चार उन्नत गोपुर प्राकारों से वेष्टित पर्यन्त समवसरण में तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

समवसरण के बारह योजन के विस्तार के विषय में अन्यत्र भी लिखा है—

गाथार्थ—भगवान ऋषभदेव के समवसरण की सम्पूर्ण सामान्य भूमि सूर्यमण्डल के सदृश गोल, स्कंध रूप इन्द्रनीलमणिमयी और बारह योजन प्रमाण विस्तार से युक्त थी॥७१६॥

इसके आगे भगवान नेमिनाथ पर्यन्त प्रत्येक तीर्थंकर के समवसरण की सामान्यभूमि दो कोस कम और पार्श्वनाथ एवं वर्धमान तीर्थंकर की योजन के चतुर्थ भाग से कम थी॥७१७॥

यह जो सामान्य भूमि का प्रमाण बतलाया गया है, वह अवसर्पिणी काल का है। उत्सर्पिणी काल में इससे विपरीत है। विदेह क्षेत्र के सम्पूर्ण तीर्थंकरों के समवसरण की भूमि बारह योजन प्रमाण ही रहती है॥७१८॥

अस्मिन् विषये पाठान्तरमपि—

इह केई आइरिया पण्णारस कम्मभूमिजादाणां।

तित्थयरणां वारसजोयणपरिमाणमिच्छंति^१॥७१९॥

उपर्युक्तप्रमाणेन तु भगवतो महावीरस्य समवसरणमानमेकयोजनमात्रं वर्तते। तथा च श्रीमद्वीरसेनाचार्य-कथनेन 'इह केई आइरिया' इत्यादि तिलोयपण्णत्तिग्रन्थस्य पाठान्तरेण द्वादशयोजनविष्कंभायामप्रमाण-मस्तीति ज्ञायते।

तस्य समवसरणस्यान्तः त्रिप्राकारवेष्टित-त्रिमेखलापीठोपरिस्थित-मणिमयदीप्तदीर्घचतुर्मानस्तंभविशिष्ट-विकसितोत्पल-कंदोट-अरविंदादिपुष्पाकीर्ण-नंदोत्तरादिवापीनिवहापूरितधूलीप्राकाराभ्यन्तरे, नवनिधिसहित-अष्टोत्तरशतसंख्योपलक्षिताष्टमंगलापूरितचतुर्गोपुरान्तरितस्वच्छजलकलित-खातिकापरिवेष्टिते^२, ततः परं नानाविधकुसुमभरेणोन्नतवल्लीवनेन चतुर्वीथ्यन्तरितेन परिवेष्टिते, ततः परं सुतप्तसुवर्णविनिर्मितेन अष्टोत्तर-शताष्टमंगलद्रव्य-नवनिधि-सकलाभरणसहितधवलतुंगचतुर्गोपुरप्राकारेण शोभिते, ततः परं चतुर्णां गोपुरद्वाराणामभ्यन्तरभागे द्वयोः पार्श्वभागयोः स्थिताभ्यां दह्यमानसुगंधद्रव्याणां गंधामोदितभुवनाभ्यां द्वाभ्यां धूपघटाभ्यां संयुक्ते, ततः परं त्रिभूमिसहितैः अतिधवलरूप्यराशिनिर्मितैः स्वकीयांगघटितसुरलोक-सारमणिसंघातबहुवर्णकिरण प्रतिच्छादितैः, ध्वनन्मृदंगसंघातरव-बधिरितजीवलोकैः, द्वात्रिंशदप्सराप्रतिबद्धा-

इस विषय में पाठान्तर भी है—

गाथार्थ — यहाँ कोई आचार्य पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए तीर्थकरों की समवसरण भूमि को बारह योजन प्रमाण मानते हैं॥७१९॥

उपर्युक्त प्रमाण से भगवान महावीर के समवसरण का प्रमाण मात्र एक योजन था तथा श्रीमान वीरसेनाचार्य के कथन से “यहाँ कोई आचार्य” इत्यादि तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ के पाठान्तर—भिन्न पाठ के अनुसार बारह योजन लम्बाई-चौड़ाईरूप विस्तार का ही समवसरण होता है, ऐसा बतलाया है।

उस समवसरण के अंदर तीन प्राकारों से वेष्टित तीन कटनी युक्त पीठ के ऊपर स्थित मणिमय दैदीप्यमान दीर्घ चार मानस्तंभों से विशिष्ट व विकसित उत्पल, कंदोट (नील कमल) एवं अरविंद—लालकमल आदि पुष्पों से व्याप्त ऐसी नन्दोत्तरादि वापियों के समूह से जिसमें धूलि प्राकार का अभ्यन्तर भाग परिपूर्ण हैं, जो नौ निधियों से सहित व एक सौ आठ संख्या से उपलक्षित आठ मंगलद्रव्यों से परिपूर्ण ऐसे चार गोपुरों से व्यवहित—अन्तरित स्वच्छ जलयुक्त खातिका से वेष्टित है, इसके आगे चार वीथियों से व्यवहित व नाना प्रकार के पुष्पों के भार से उन्नत ऐसे वल्लीवन से परिवेष्टित हैं, इसके आगे अत्यन्त तप्तायमान सुवर्ण से निर्मित एक सौ आठ संख्या युक्त आठ मंगल द्रव्य, नौ निधियों एवं समस्त आभरणों से सहित धवल अत्यन्त ऊँचे चार गोपुर युक्त प्राकार से सुशोभित हैं, इसके आगे चार गोपुरद्वारों के अभ्यन्तर भाग में दोनों पार्श्वभागों में स्थित जलते हुए सुगंधित द्रव्यों के गंध से भुवन को आमोदित करने वाले ऐसे दो-दो धूपघटों से संयुक्त है, इसके आगे तीन भूमियों से संयुक्त अत्यन्त धवल चांदी के समूह से निर्मित अपने अवयवों से लगे हुए सुरलोक के श्रेष्ठ मणिसमूह की अनेक वर्ण वाली किरणों से आच्छादित, बजते हुए मृदंगसमूह के शब्द से जीवलोक को बहरा करने वाले तथा बत्तीस अप्सराओं से संबद्ध बत्तीस नाट्यशालाओं

१. तिलोयपण्णत्ति अ. ४, पृ. २३२-२३३। २. इस षट्खण्डागम ग्रंथ की धवला टीका में, महापुराण में, हरिवंशपुराण में धूलिसाल परकोटा के बाद खातिका भूमि है। किन्तु तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में ऋम चैत्यप्रासाद भूमि है पुनः खातिका भूमि दूसरी है।

त्रिंशत्प्रेक्षणकसहित-द्वि-द्विप्रासादैर्भूषिते समवसरणे श्रीभगवतो महावीरस्वामिनः तीर्थोत्पत्तिः संजाता।

चतुर्महापथान्तरस्थितैर्मृदुसुगंधनयनहर-वर्णसुरलोकरत्नघटितसमुत्तुंगवृक्षैः विविधवरसुरभिगंधासक्त-मत्तमधुकर-मधुरवविराजितैः नानाविधगिरि-सरित्-सरोवर-मंडपषण्डमण्डितैश्चतुःपार्श्वस्थितजिनेन्द्रचन्द्र-प्रतिबिम्ब-संबंधेन प्राप्तार्चनचैत्यवृक्षैरशोक-सप्तच्छद-चंपाप्रवनैरतिशोभितेऽन्तिमजिनेश्वरो व्यराजत। ततः परं रूप्यचतुर्गो-पुरसंबद्धसुवर्णनिर्मितवनवेदिकावेष्टिते, ततः परं चतसृणां महावीथीनामन्तरेषु स्थितैः स्थिरस्थूलसुर-लोक-मणिस्तंभैः प्रत्येकमष्टोत्तरशतसंख्यैः एकैकदिशासु दशगुणिताष्टाधिकशतकैर्माल्याम्बराध्व-बर्हि-गरुड-गज-केसरि-वृषभ-हंस-चक्रचिह्ननिवहैः परिवेष्टिते, ततः परं अपरेण अष्टोत्तरशताष्टविधमंगलद्रव्य-नवनिधिधर-चतुर्गोपुरमण्डितेन विविधमणि-रत्नविचित्रांगेन आभरण-तोरणशतसहितद्वारेण सुवर्णप्राकारेण संयुक्ते, तस्यान्तः पूर्वमिव द्वि-द्विदह्यमानसुगंधद्रव्यगर्भि-धूपघटयुक्त-मुरवमधुरवविराजितत्रिभूमि-धवलगृहसमुत्तुंगे, तत्रैव चतसृषु वीथीषु संकल्पितनानाविधफलदानसमर्थैः गुञ्जायमानमधुकर-कलगलकलकुण्ठीकुलसंकुलैः स्वककिरण-निवहच्छादिताम्बरैः विविधपुरगिरि-सरित्-सरोवर-हिंडोललतागृहैः चतुर्गोपुरसंबद्धसुवर्णवनवेदिका-रूपमर्यादासहितैः सिद्धप्रतिमास्थितदेदीप्यमानसिद्धार्थपादपपवित्री-कृतकल्पवृक्षवनैर्विभूषिते, ततः परं पद्मरागमणिमय देहसहितस्वकांगनिर्गततेजस्ताम्रीकृताम्बरैः स्वकसर्वांगैः

से सहित ऐसे दो-दो प्रासादों से भूषित समवसरण में भगवान महावीर स्वामी से तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

वहाँ चार महापथों के बीच में स्थित मृदु, सुगंधित एवं नेत्रों को हरने वाले वर्णों से युक्त, सुरलोक के रत्नों से निर्मित, ऊँचे वृक्षों से संयुक्त, अनेक प्रकार की उत्तम सुगंध में आसक्त हुए भ्रमरों के मधुर शब्द से विराजित नाना प्रकार के पर्वत, नदी, सरोवर व मण्डपसमूहों से मण्डित तथा चारों पार्श्वभागों में स्थित जिनेन्द्रचन्द्र के प्रतिबिम्ब के संबंध से पूजा को प्राप्त हुए चैत्यवृक्षों से सहित ऐसे अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक व आम्र वनों से अतिशय शोभित समवसरण में भगवान महावीर विराजमान थे। इसके आगे चांदी से निर्मित चार गोपुरों से संबद्ध व सुवर्ण से निर्मित ऐसी वनवेदिका से वेष्टित है, इसके आगे चार वीथियों के मध्य भागों में स्थित, स्थिर व स्थूल स्वर्गलोक के मणिमय स्तंभों से संयुक्त प्रत्येक एक सौ आठ संख्या से युक्त एक-एक दिशा में दश से गुणित एक सौ आठ (१०८×१०=१०८०) ऐसी एक हजार अस्सी ध्वजाएँ हैं, जिनमें माला-अम्बराध्व — सूर्य और चन्द्र-मयूर-गरुड़-गज-सिंह-वृषभ-हंस और चक्र के चिह्न बने हुए हैं ऐसी उन दश चिह्न से युक्त ध्वजाओं के समूह से वह समवसरण घिरा हुआ है। इसके आगे एक सौ आठ मंगल द्रव्य व नौ निधियों को धारण करने वाले चार गोपुरों से मंडित अनेक प्रकार के मणि व रत्नों से विचित्र देह वाले तथा सैकड़ों आभरण व तोरणों से सहित द्वारों से संयुक्त ऐसे सुवर्णप्राकार से युक्त है, उसके भीतर पूर्व के समान जलते हुए सुगंध द्रव्यों को मध्य में धारण करने वाले दो-दो धूपघटों से युक्त और मृदंग के मधुर शब्द से विराजित तीन भूमियों वाले धवल घरों से उन्नत है, वहाँ पर ही चार वीथियों के अन्तरालों में संकल्पित नाना प्रकार के फलों को देने में समर्थ, गुंजार करने वाले भ्रमर व सुन्दर गले वाली कोयलों के समूह से व्याप्त, अपने किरण समूह से आकाश को आच्छादित करने वाले, अनेक प्रकार के पुर-पर्वत-नदी-सरोवर-हिंडोलों व लताग्रहों से संयुक्त, चार गोपुरों से संबद्ध सुवर्णमय वनवेदिकारूप मर्यादा वाले तथा सिद्धप्रतिमाओं से दीप्त सिद्धार्थ वृक्षों से पवित्र किये गये ऐसे कल्पवृक्ष वनों से विभूषित, इसके आगे पद्मरागमणिमय देह से युक्त अपने अंग से निकलने वाले तेज से आकाश को ताम्रवर्ण करने वाले, अपने सब अंगों से जिनेन्द्र भगवान के बिम्बों को धारण करने वाले, मणिमय तोरणों से अन्तरित, चार वीथियों के

संधारितजिनेन्द्रचन्द्रबिंबधृतैः मणितोरणान्तरितचतुर्वीथीषु स्थितधवलामलप्रासादविभूषित-वीथीमध्यस्थितनव-
नवस्तूपैरञ्जिते, ततो गगनस्फटिक-मणिघटितेन अष्टोत्तरशताष्टमंगलद्रव्य-नवनिधिसनाथपद्मरागमणिविनिर्मित-
गोपुरेण प्राकारेणाभिनन्दिते, समवसरणे भगवतस्तीर्थोत्पत्तिर्बभूव।

अस्मिन् ग्रन्थे धवलाटीकायां प्रथमधूलिसालप्राकाराभ्यन्तरे वीथीषु मानस्तम्भाः शोभन्ते, पुनश्च
प्रथमाभूमिः खातिका वर्तते।

एवमेव आदिपुराणे द्वाविंशतितमे पर्वणि समवसरणवर्णनायां प्रथमाभूमिः खातिकास्ति। तथैव
हरिवंशपुराणे सप्तपञ्चाशत्तमे सर्गे समवसरणरचनायां प्रथमाभूमिः खातिका वर्तते। किन्तु तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे
श्रीयतिवृषभाचार्येण एकत्रिंशदधिकारेषु समवसरणवर्णनायां अष्टौ भूमयः कथिताः। तथाहि—

एकत्रिंशदधिकाराः—

सामण्णभूमिमाणं माणं सोवाणयाण विण्णासो।
वीही धूलीसाला चेत्तप्पासादभूमीओ॥७१२॥
णट्टयसाला थंभा वेदी खादी य वेदि-वल्लिखिदी।
साला उववणवसुहा णट्टयसाला य वेदि-धयखोणी॥७१३॥
सालो कप्पमहीओ णट्टयसाला य वेदि-भवणमही।
थूहा साला सिरिमंडव य रिसिगणाण विण्णासो॥७१४॥
वेदी पढमं बिदियं तदियं पीढं च गंधउडिमाणं।
इदि इगितीसा पुह पुह अहियारा समवसरणाणं॥७१५॥^१

अन्तरालों में स्थित धवल व निर्मल प्रासादों से विभूषित, ऐसे वीथियों के मध्य में स्थित नौ-नौ स्तूपों से
व्याप्त है, इसके आगे आकाश स्फटिकमणि से निर्मित तथा एक सौ आठ अष्टमंगल द्रव्यों एवं नौ
निधियों से सनाथ व पद्मरागमणि से निर्मित गोपुरों वाले प्राकार से अभिनन्दित समवसरण में भगवान से
तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

इस ग्रंथ में धवला टीका में प्रथम धूलिसाल प्राकार के अन्दर की वीथियों में मानस्तंभ सुशोभित होते हैं,
पुनः खातिका नाम की प्रथम भूमि है।

इसी प्रकार से आदिपुराण के बाइसवें पर्व में समवसरण के वर्णन में प्रथम भूमि खातिका बताई है।
किन्तु तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में श्रीयतिवृषभ आचार्य ने इकतीस अधिकारों में समवसरण का वर्णन करते हुए
उसमें आठ भूमियाँ कही हैं। जो इस प्रकार है—

इकतीस अधिकार—

गाथार्थ — सामान्य ^१भूमि का प्रमाण, सोपानों^२ का प्रमाण, विन्यास^३, वीथी^४, धूलिशाल^५,
चैत्यप्रासाद^६ ^७भूमियाँ, नृत्यशाला^८, मानस्तंभ^९, वेदी^{१०}, खातिका^{११}, वेदी, लताभूमि^{१२}, साल^{१३},
उपवनभूमि^{१४}, नृत्यशाला^{१५}, वेदी^{१६}, ध्वजक्षोणी^{१७}, साल^{१८}, कल्पभूमि^{१९}, नृत्यशाला^{२०}, वेदी^{२१},
भवनमही^{२२}, स्तूप^{२३}, साल^{२४}, श्रीमण्डप^{२५}, ऋषि आदि गणों^{२६} का विन्यास, वेदी^{२७}, पीठ^{२८},
द्वितीयपीठ^{२९}, तृतीयपीठ^{३०} और गंधकुटी^{३१} का प्रमाण, इस प्रकार समवसरण के कथन में पृथक्-
पृथक् ये इकतीस अधिकार हैं॥७१२ से ७१५॥

अष्टौ भूमयः —

चउ साला वेदीओ पंच तदंतेसु अट्ट भूमीओ।

सव्वत्थंतरभागे पत्तेक्कं तिण्णि पीढाणि।।७२३।।^१

पुनश्च प्रथमा भूमिः चैत्यप्रासादभूमिरस्तीति ज्ञातव्यम् —

ताण्ढभंतरभागे चेत्तप्पासादणामभूमीओ।

वेढंति सयलच्छित्तं जिणपुरपासादमरिसाओ।।७५१।।

एक्केक्कं जिणभवणं पासादा पंच पंच अंतरिदा।

विविहवणसंडमंडणवरवावीकूवकमणिज्जा।।७५२।।^२

मया कल्पद्रुमविधाननाम्नि महामहे तिलोयपण्णत्तिग्रन्थाधारेणैव अष्टौ भूमयः गृहीताः इति ज्ञातव्यम्।

पीठस्य प्रथममेखलायां स्फटिकमणिप्राकारे च विलग्नाभिः स्फटिकमणिघटितांगाभिः षोडशभित्तिभिः कृतद्वादशकोष्ठकैर्मणिस्तंभोद्भरितैकाकाशस्फटिकघटितमंडपच्छादितैः सुरलोकसारसुगंधगंधगर्भितैः चतुर्विधसंघ^१कल्पवासि-मनुष्य^२-ज्योतिष्क-वानव्यन्तर-भवनवासियुवतीभिः भवनवासिवानव्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासि-मनुष्य-तिर्यग्भिश्चानुक्रमेण संयुक्तैर्विराजिते त्रिमेखलापीठस्य मस्तकस्योपरि वर्धमानदिवाकरो व्यराजत। यत्र भगवान् विराजते तस्य स्थानस्य गंधकुटीति नाम वर्तते।

अस्य पीठस्य द्वितीयमेखलायां अष्टमहाध्वजा मंगलद्रव्याणि च शोभन्ते। प्रथम मेखलायां मणिमयतेजः-

आठ भूमियाँ —

गाथार्थ — चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीच में आठ भूमियाँ और सर्वत्र प्रत्येक अन्तर भाग में तीन पीठ होते हैं।।७२३।।

पुनः प्रथमभूमि चैत्यप्रासाद भूमि है, ऐसा जानना चाहिए।

गाथार्थ — उन धूलिसालों के अभ्यन्तर भाग में जिनपुर संबंधी प्रासादों के सदृश चैत्यप्रासाद नामक भूमियाँ सकलक्षेत्र को वेष्टित करती हैं।।७५१।।

एक-एक जिनभवन के अन्तराल से पाँच-पाँच प्रासाद हैं, जो विविध प्रकार के वनसमूहों से मण्डित और उत्तम वापिकाओं एवं कुओं से रमणीय हैं।।७५२।।

मैंने कल्पद्रुम महामण्डल विधान नामक पूजाग्रंथ में तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ के आधार से ही आठ भूमियाँ रखी हैं, ऐसा जानना चाहिए।

पीठ की प्रथम कटनी सब स्फटिकमणिप्राकार — परकोटे से लगी हुई और स्फटिक मणि शिला से निर्मित देह वाली सोलह भित्तियों से विभक्त किये गये बारह कोठे, मणिमय स्तंभों से उद्धृत व एक आकाशस्फटिक मणि से निर्मित शिलामण्डप से आच्छादित, स्वर्गलोक के श्रेष्ठ सुगंध गंधद्रव्य को धारण करने वाले चतुर्विध संघ, कल्पवासिनी देवी, मनुष्यिनी, ज्योतिष्कदेवी, व्यन्तरदेवी, भवनवासीदेवी, भवनवासी देव, वानव्यन्तरदेव, ज्योतिषी देव, कल्पवासीदेव, मनुष्य व तिर्यचों से क्रमशः संयुक्त ऐसे बारह कोठों से सहित समवसरण में तीन कटनी सहित मस्तक के ऊपर वर्धमान भगवानरूपी सूर्य स्थित — विराजमान हैं। अर्थात् जहाँ भगवान् विराजमान रहते हैं, उस स्थान का गंधकुटी यह सार्थक नाम है।

इस पीठ की द्वितीय कटनी पर आठ महाध्वजाएँ तथा आठ मंगलद्रव्य सुशोभित होते हैं। वहाँ प्रथम मेखला

१-२. तिलोयपण्णत्ति भाग १, अध्याय ४। ३. चतुर्विधमुनि संघ-ऋषि, मुनि, यति और अनगर। ४. मनुष्य — मनुष्यिनी — आर्यिकाएँ एवं श्राविकाएँ तीसरे कोठे में हैं।

संयुक्तमस्तकोपरिधारितधर्मचक्रयक्षदेवास्तिष्ठन्ति स्म।

तीर्थकराणां केवलज्ञानोत्पत्तौ सत्यां अष्टमहाप्रातिहार्याणि भवन्ति। तेषां नामानि कथ्यन्ते —

मणिमयं समुत्तुंगवर्धमानजिनप्रभामण्डलतेजोऽन्धकारं ननाश। निपततसुरकुसुमवृष्टिर्निरन्तरकृतमंगलो-
पहाराभवत्। बहुकोटाकोटिमधुरसुरतूररवं बधिरितत्रिभुवनभवनं। मरकतमणिघटितस्कंधोपस्कंधेण पद्मराग-
मणिमयप्रवालांकुरेण नानाविधफलेन भ्रमर-कोकिल-मधुकरमधुरस्वरेण जिनशासनाशोकचिन्ह-स्वरूपोऽ-
शोकपादपो निर्नाशितसकलजनशोकसंघः शुशुभे। शशिरश्मिसमधवल-योजनान्तरविस्तृत-स्वच्छधवल-
स्थूलमुक्ताफलदामकलापशोभमान-पर्यन्तभागगगनस्थितछत्रत्रयाणि वर्धमानजिनस्य त्रिभुवनाधिपतित्वं
सूचयामासुः।

पंचशैलपुरनैऋत्यदिशाभागेऽतिविपुलविपुलाचलमस्तके गंगाप्रवाह इव चतुर्भिः सुरविरचितद्वारैः
प्रविशन्तो देव-विद्याधर-मनुष्यजनानां मोहितकारके समवसरणमण्डले जिनपतिनुमयूख-क्षीरोदधिनि-
मज्जिताशेषदेहे यक्षेन्द्रकरनिकरैः वीज्यमानानेक-चाँमराच्छादिताष्टदिशाविषये दिव्यामोदगंधसुर-
सारानेकमणिनिवहघटिते गंधकुटीप्रासादे स्थितसिंहासनारूढेण श्रीमद्वर्धमानभट्टारकेण तीर्थमुत्पादितम्।

उक्तं चान्यत्र —

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि-दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।

भामण्डलं दुंदुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणिजिनेश्वराणाम्॥

(कटनी) पर मणिमयी तेज से युक्त मस्तक पर धर्मचक्र को धारण किये हुए यक्षदेव खड़े रहते हैं।

तीर्थकर भगवन्तों को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर उनके पास जो अष्ट महाप्रातिहार्य प्रगट हो जाते हैं, उनके नाम इस प्रकार कहे गये हैं —

मणियों से निर्मित उन्नत वर्धमान जिनेन्द्र का प्रभामण्डलयुक्त तेज अंधकार को नष्ट करने वाला है। गिरती हुई पुष्पवृष्टि से निरन्तर किये गये मंगल उपहार से युक्त है, अनेक कोड़ाकोड़ी मधुर स्वर वाले वादित्रों के शब्द से त्रिभुवनरूपी भवन को बहरा करने वाला है, मरकतमणि से निर्मित स्कंध व उपस्कंध से सहित, पद्मरागमणिमय, प्रवालांकुरों (कोंपल) से युक्त नाना प्रकार के फलों से युक्त, भ्रमर कोयल व मधुकर के मधुर स्वरों से सहित तथा जिनशासन के अशोक चिन्हस्वरूप अशोक वृक्ष से समस्त जीवों के शोकसमूह को नष्ट करने वाला ऐसा अशोक वृक्ष शोभित हो रहा है, चन्द्रकिरणों के समान धवल, कुछ कम एक योजन विस्तार वाले, स्वच्छ-धवल एवं स्थूल मोतियों की मालाओं के समूह से अंत भाग तक शोभायमान तथा गगन में स्थित तीन छत्र वर्धमान भगवान के त्रिभुवन अधिपतिपने को सूचित करते हैं।

पंचशैलपुर अर्थात् राजगृह नगर के नैऋत्य दिशाभाग में अत्यन्त विस्तृत विपुलाचल के मस्तक पर स्थित जो देवों द्वारा रचे गये चार द्वारों से गंगा के प्रवाह के समान प्रवेश करने वाले देव, विद्याधर एवं मनुष्य जनों को मोहित करने वाला है, ऐसे समवसरण मण्डल में जिनेन्द्रदेव के शरीर की किरणोंरूप क्षीरसमुद्र में डूबी हुई समस्त देह से संयुक्त, यक्षेन्द्रों के हाथों के समूह से ढोरे गये चामरों से आच्छादित आठ दिशाओं को विषय करने वाले और दिव्य आमोद-सुगंधयुक्त एवं देवों के श्रेष्ठ अनेक मणियों के समूह से रचे गये गंधकुटीरूप प्रासाद में स्थित सिंहासन पर आरूढ़ श्रीमान् वर्धमान भट्टारक ने धर्मतीर्थ को उत्पन्न किया अर्थात् उनकी दिव्यध्वनि प्रगट हुई।

अन्यत्र भी अष्ट प्रातिहार्य के नाम बताए हैं —

गाथार्थ — १. अशोक वृक्ष, २. देवों द्वारा की जाने वाली दिव्य पुष्पवृष्टि, ३. दिव्यध्वनि, ४. चामर, ५. सिंहासन, ६. भामण्डल, ७. दिव्य दुंदुभिवाद्य, ८. आतपत्र — छत्रत्रय, ये आठ प्रातिहार्य जिनेन्द्र १-२-३-४-५-६-७-८. ये क्रम से आठ प्रातिहार्यों के नम्बर हैं। ९. शांतिभक्ति।

तिलोयपण्णत्तिग्रन्थेऽष्टमहाप्रातिहार्येषु दिव्यध्वनिनामप्रातिहार्यं नास्ति किन्तु तस्य स्थाने द्वादशगणस्थिता भव्या हस्तकमलमुकुलीकृत्य स्थित्वा दिव्यध्वनिं श्रृण्वन्ति तदेव प्रातिहार्यमस्तीति कथितं वर्तते। तथाहि—

“णिब्भरभत्तिपसत्ता अंजलिहत्था पफुल्लमुहकमला।

चेट्ठंति गणा सव्वे एक्केक्कं वेढिऊण जिणं^१॥१२३॥”

भगवतां श्रीमहावीरस्वामिनां प्रथमदेशनास्थलं प्ररूपितं श्रीवीरसेनाचार्यैः धवलाटीकायां। तां टीकामवलम्ब्य मयात्र गीर्वाण्यां निरूपितमिति।

क्षेत्रस्य प्ररूपणा कथं तीर्थस्य प्रमाणत्वं ज्ञापयति ?

वर्द्धमानभगवतः सर्वज्ञत्वलिङ्गत्वात्।

वर्द्धमानभगवान् सर्वज्ञ आसीदिति कथं ज्ञायते ?

सौधर्मेन्द्रेण तस्य कृतपूजान्यथानुपपत्तेः। अनेकविशेषणैः सौधर्मेन्द्रस्य विशेषत्वं कथ्यते। तद्यथा—

अयं सौधर्मेन्द्रः चतुर्दशविद्याबलेन दृष्टाशेषभुवनः, अवधिज्ञानेन प्रत्यक्षीकृतस्वकीयावधिक्षेत्राभ्यन्तर-स्थितसकलजीवकर्मस्कंधः, घातिचतुष्कविनाशेनोत्पन्ना नवकेवललब्धयो यस्य अघातिकर्मसंबंधेन च प्राप्तमुक्तभावा जिनदेवस्थितास्ता अवलोक्यमानोऽसाविन्द्राराजो भगवतो महावीरस्वामिनो महती पूजा कृता अत एवास्य प्रभोः सर्वज्ञत्वं निश्चीयते।

भगवन्तो (अरिहंतों) के होते हैं।

तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में वर्णित अष्ट महाप्रातिहार्यों में दिव्यध्वनि नाम का प्रातिहार्य नहीं है। किन्तु उसके स्थान पर समवसरण की बारह सभा में स्थित जो भव्यगण मुकुलित कमल के समान (वन्दना मुद्रा में) हाथ जोड़कर बैठकर भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण करते हैं, वही प्रातिहार्य है ऐसा कहा है। जो इस प्रकार है—

गाथार्थ—प्रगाढ़ भक्ति में आसक्त, हाथों को जोड़े हुए और विकसित मुखकमल से संयुक्त ऐसे सम्पूर्णगण प्रत्येक तीर्थकर को घेरकर स्थित रहते हैं अर्थात् तीर्थकर के चारों ओर बारह सभाओं के रूप में स्थित रहते हैं॥१२३॥ (यह चतुर्थ प्रातिहार्य है)

भगवान महावीर स्वामी के प्रथम देशनास्थल को (राजगृही के विपुलाचल पर्वत) को श्रीवीरसेनाचार्य ने धवला टीका में वर्णन किया है। उसी का अवलम्बन लेकर मैंने यहाँ मात्र संस्कृत में निरूपित किया है।

शंका—क्षेत्र की प्ररूपणा तीर्थ की प्रमाणता की ज्ञापक कैसे है ?

समाधान—क्योंकि इससे वर्धमान भगवान की सर्वज्ञता पहचानी जाती है।

शंका—वर्धमान भगवान सर्वज्ञ थे, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि सर्वज्ञता के बिना सौधर्म इन्द्र उनकी पूजा नहीं करता, अतः सिद्ध है कि वर्धमान भगवान सर्वज्ञ थे। अनेक विशेषणों के द्वारा उस सौधर्म इन्द्र की विशेषता को कहते हैं। वह इस प्रकार है—

वे सौधर्म इन्द्र चौदह विद्यास्थानों के बल से समस्त भुवन को देखने वाले हैं, अवधिज्ञान से अपने अवधिक्षेत्र के भीतर स्थित सम्पूर्ण जीवों के कर्मस्कंधों को प्रत्यक्ष करने वाले हैं तथा चार घातिया कर्मों के नष्ट होने से नवकेवललब्धियों को और अघातिया कर्मों के संबंध से मूर्तभाव को प्राप्त ऐसे जिनभगवान को देखने वाले उन सौधर्मेन्द्र द्वारा भगवान महावीर की महान पूजा की गई थी, अतः वर्धमान भगवान की सर्वज्ञता निश्चित हो जाती है।

न च विद्यावादिनां पूजाया व्यभिचारः, अल्पबुद्धि-ज्ञानव्यन्तरकृताया महर्द्धि-ज्ञानयुक्तदेवेन्द्रकृतपूजया सह साधर्म्याभावात्। देवर्द्धिच्छायायां विच्छायं गच्छन्त्यां व्यन्तरपूजायां इन्द्रकृतजिनपूजायामिव ध्रुवत्वाभावेन वैधर्म्याद्वा।

कश्चिदाह — जिनदेहमहिमा दृष्टा, एभिः देवेन्द्रस्वरूपावगच्छद्भिः सौधर्मेन्द्रादिभिस्तैः जिनसर्वज्ञत्वलिंगं भवतु नाम, न शेषाणां, लिंगविषयावगमाभावात्। न चानवगतलिंगस्य लिंगविषयोऽवगमः उत्पद्यते, अतिप्रसंगात् ?

इति कथिते आचार्यदेवः प्राह —

अनेन प्रकारेण जिनभावज्ञापनार्थं भावप्ररूपणा क्रियते।

तद्यथा — न जीवो जडस्वभावः, अविस्वादास्वभावेन स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणाऽजडस्वभावजीवोपलंभात्। न च निश्चेतनो जीवः चेतनागुणसंबंधेन चेतनस्वभावो भवति, स्वरूपहानिप्रसंगात्। किं च — न निश्चेतनो जीवः, तस्याभावप्रसंगात्। पुनश्च न तावदिन्द्रियज्ञानेनात्मा गृह्यते, तस्य बाह्यार्थे व्यापारोपलंभात्। न स्वसंवेदनज्ञानेन गृह्यते, चेतनस्वरूपस्य तस्य जडजीवेऽसंभवात्। न चानुमानेनापि गृह्यते, द्विविधप्रत्यक्षयोरविषयेन जीवेनाविनाभाविलिंगग्रहणानुपपत्तेः। न चागमेनापि गृह्यते, अपौरुषेयागमाभावात्। नेतरेणापि, सर्वज्ञेन बिना तस्याभावात् इतरेतराश्रयदोषप्रसंगाच्च। ततो नास्ति जीवः, सकलप्रमाणगोचरातिक्रान्तत्वादिति प्रसंगप्राप्तजीवाभावो मा

यह हेतु विद्यावादियों की पूजा से व्यभिचारित नहीं होता है, क्योंकि अल्पबुद्धि व ज्ञान युक्त व्यन्तर देवों द्वारा की गई पूजा का महाबुद्धि व ज्ञान से संयुक्त देवेंद्रों द्वारा की गई पूजा के साथ साधर्म्य का अभाव पाया जाता है। अथवा देवेन्द्र की कान्तिहीनता को प्राप्त होने वाली व्यन्तरकृत पूजा में इन्द्रकृत जिनपूजा के समान स्थिरता न होने से दोनों में साधर्म्य का अभाव है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — जिन भगवान के शरीर की महिमा को देखने वाले व देवेन्द्रस्वरूप के जानकार जीवों के वह जिनदेव की सर्वज्ञता का कहा गया साधन भले ही बन सकता हो, किन्तु वह शेष जीवों के नहीं बनता है, क्योंकि उनके उक्त साधनविषयक ज्ञान का अभाव है और साधनज्ञान से रहित व्यक्ति के साध्यविषयक ज्ञान उत्पन्न हो नहीं सकता है, क्योंकि ऐसा होने में अतिप्रसंग दोष आता है ?

ऐसा कहने पर आचार्यदेव कहते हैं — इस प्रकार से जिनभाव के ज्ञापनार्थं भावप्ररूपणा करते हैं।

वह इस प्रकार है — जीव जडस्वभाव नहीं है, क्योंकि विस्वादास्वभाव वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अजडस्वभाव जीव पाया जाता है और अचेतन जीव चेतनागुण के संबंध से चेतनास्वभाव भी नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर स्वरूप की हानि का प्रसंग आता है। दूसरे, जीव चेतनारहित हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा होने से उसके अभाव का प्रसंग आता है। इस प्रकार से इन्द्रियज्ञान के द्वारा तो आत्मा का ग्रहण होता नहीं है, क्योंकि इन्द्रियज्ञान का व्यापार बाह्य अर्थ में पाया जाता है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि चेतन स्वभाव होने से उक्त प्रत्यक्ष जड़ जीव में संभव नहीं है। अनुमान से भी आत्मा का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि दोनों प्रकार के प्रत्यक्षों के अविषयभूत जीव के साथ अविनाभाव संबंध रखने वाले लिंग का ग्रहण संभव नहीं है। आगम से भी आत्मा का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि अपौरुषेय आगम का अभाव है। यदि पौरुषेय आगम से उसका ग्रहण माना जावे, तो वह भी नहीं बनता, क्योंकि सर्वज्ञ के बिना पौरुषेय आगम का अभाव है तथा इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग भी आता है। इस कारण जीव नहीं है, क्योंकि वह समस्त प्रमाणों की विषयता से रहित है। इस प्रकार प्रसंगप्राप्त जीव का अभाव न हो, एतदर्थ 'जीव सचेतन' है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

भवेदिति “जीवः सचेतनः” इत्थं स्वीकर्तव्यम्। एवमेवाशेषद्रव्य-पर्यायज्ञान-दर्शनस्वभावो जीवोऽस्तीति सिद्ध्यति।

पुनः कषाया ज्ञानविरोधिनः कषायवृद्धिहानिभ्यां ज्ञानस्य हानि-वृद्धयोरुपलंभात्। न च कषाया जीवगुणाः, यावद्द्रव्यभाविना ज्ञानेन सह विरोधान्यथानुपपत्तेः। प्रमादासंयमा अपि न जीवगुणाः, कषायकार्यत्वात्। नाज्ञानमपि, ज्ञानप्रतिपक्षत्वात्। न मिथ्यात्वमपि, सम्यक्त्वप्रतिपक्षत्वादज्ञानकार्यत्वाद्वा। ततो ज्ञान-दर्शन-संयम-सम्यक्त्व-क्षान्ति-मार्दव-आर्जव-संतोष-विरागादिस्वभावो जीवोऽस्तीति मन्तव्यम्।

यदि कश्चित् कर्माणि नित्यानि मन्येत तर्हि सूरिवर्यः समाधत्ते—न नित्यानि कर्माणि, तत्फलानां जाति-जरा-मरण-तनु-करणादीनामनित्यत्वान्यथानुपपत्तेः। न च निष्कारणानि, कारणेन बिना कार्याणामुत्पत्तिविरोधात्। न ज्ञान-दर्शनादीनि कर्मणां कारणानि, कर्मजनितकषायैः सह विरोधान्यथानुपपत्तेः। न च कारणाविरोधिनां तत्कार्यैः विरोधो युज्यते, कारणविरोधद्वारेणैव सर्वत्र कार्येषु विरोधोपलंभात्। ततो मिथ्यात्वासंयमकषायकारणानि कर्माणीति सिद्धं। उक्तं च—“तदो मिच्छतासंजम-कसायकारणानि कम्माणि ति सिद्धं। सम्मत्त-संजम-कसायाभावा कम्मक्खयकारणानि, मिच्छतादीणं पडिवक्खतादो।”

न च कारणानि कार्यं न जनयन्ति चैवेति नियमोऽस्ति, तथानुपलंभात्। तस्मात् कुत्रापि काले कस्मिंश्चिदपि जीवे कारणकलापसामग्र्या निश्चयेन भवितव्यमिति कस्यापि सकलस्वभावोपलब्ध्या भवितव्यम्, स्वभाव-वृद्धेस्तारतम्योपलंभात्, आकरकनकपाषाणस्थितसुवर्णस्येव शुक्लपक्षचन्द्रमण्डलस्येव वा।

इस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य-पर्यायज्ञान और दर्शनस्वभावी जीव है, ऐसा सिद्ध होता है।

पुनः कषायें ज्ञान की विरोधी हैं, क्योंकि कषायों की वृद्धि और हानि से ज्ञान की हानि-वृद्धि पाई जाती है। कषायें जीव के गुण नहीं हैं, क्योंकि यावद्द्रव्यभावी ज्ञान के साथ उसका विरोध अन्यथा घटित नहीं होगा। प्रमाद व असंयम भी जीवगुण नहीं हैं, क्योंकि वे कषायों के कार्य हैं। अज्ञान भी जीव का गुण नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान का प्रतिपक्षी है, मिथ्यात्व भी जीव का गुण नहीं है, क्योंकि वह सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी है अथवा अज्ञान का कार्य है। इस कारण ज्ञान, दर्शन, संयम, सम्यक्त्व, क्षमा, मृदुता, आर्जव, संतोष और विराग आदि स्वभाव वाला जीव है, ऐसा मानना चाहिए।

यदि कोई कर्मों को नित्य माने तो आचार्यवर्य समाधान करते हैं—

कर्म नित्य नहीं है, क्योंकि उनके फलस्वरूप, जन्म, जरा, मरण, शरीर व इन्द्रियादिरूप कर्म—कार्यों की अनित्यता नहीं बन सकती है। जन्म जरादिक अकारण भी नहीं हैं, क्योंकि कारण के बिना कार्यों की उत्पत्ति का विरोध है। ज्ञान दर्शनादिक उनका कारण भी नहीं है, क्योंकि कर्मजनित कषायों के साथ उनका विरोध घटित नहीं होता है और कारण के साथ अविरोधी भी नहीं है, क्योंकि कारण के विरोध के द्वारा ही सर्वत्र कार्यों में विरोध पाया जाता है। अतएव, मिथ्यात्व, असंयम और कषाय कर्मों के कारण है यह सिद्ध हुआ है, कहा भी है—“इसलिए मिथ्यात्व, असंयम, कषाय कर्मबंध के कारण हैं यह सिद्ध हुआ। सम्यक्त्व, संयम और कषायों का अभाव कर्मक्षय के कारण हैं, क्योंकि ये मिथ्यात्वादिकों के प्रतिपक्षी हैं।”

और कारण आदि कार्य को न उत्पन्न करें, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि वैयास पाया नहीं जाता है। अतएव किसी काल में किसी भी जीव में कारणकलाप सामग्री निश्चय से होना चाहिए और इसीलिए किसी भी जीव के पूर्ण स्वभाव की प्राप्ति होना चाहिए, क्योंकि स्वभाववृद्धि का तारतम्य पाया जाता है, जैसे—खान के कनक पाषाण में स्थित सुवर्ण अथवा शुक्ल पक्ष के चन्द्रमण्डल के स्वभाव से वृद्धि की तरतमता पाई जाती है।

कषायस्यापि निःशेषक्षयः कस्यापि जीवे भवति, हानितारतम्योपलंभात्, आकरकनके हीयमानमल-कलंकस्येव।

अत्र कश्चिदाशंकते — कर्माणि निःशेषं ज्ञानं आवृण्वन्ति, आवरणतारतम्योपलंभात्, यथा चन्द्रमण्डलं राहुमण्डलं आवृणोति एतदपि अत्र वक्तुं शक्यते ?

आचार्यः समाधत्ते — नैतदनुमानं योग्यं, किंच यावद्द्रव्यभाविनोर्ज्ञानदर्शनयोरभावेन जीवद्रव्यस्यापि अभावप्रसंगात्। ततः पूर्णज्ञानस्यावरणं न घटते इति ज्ञातव्यम्। तस्मात् —

केवलज्ञानावरणक्षयेण केवलज्ञानी, केवलदर्शनावरणक्षयेण केवलदर्शनी, मोहनीयस्य क्षयेण वीतरागः, अन्तरायक्षयेणान्तबलो विघ्नविवर्जितः किञ्चिद्दग्धाघातिकर्मा जीवः कुत्राप्यस्ति इति सिद्धम्। न च क्षीणावरणः परिमितमेव जानाति निष्प्रतिबंधस्य सकलार्थावगमस्वभावस्य परिमितार्थावगमविरोधात्।

अत्रोपयोगी श्लोकः पठनीयोऽस्ति —

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबंधरि।

दाहोऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबंधरि।।^१

एषोऽपि एवंविधो वर्द्धमानभट्टारकश्चैव, युक्तिशास्त्राविरुद्धवचनत्वात्।

उक्तं च —

खीणे दंसणमोहे चरित्तमोहे तहेव घाइतिए।

सम्मत्तविरियणाणी खइए ते होंति जीवाणं।।

कषाय का भी पूर्ण विनाश किसी भी जीव में होता ही है, क्योंकि उसकी हानि का तारतम्य पाया जाता है, जैसे-खान के सुवर्ण में हीयमान मलकलंक का अथवा दुर्बल मानकलंक पाया जाता है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — कर्म पूर्ण ज्ञान का आवरण करते हैं, क्योंकि आवरण का तारतम्य पाया जाता है, जैसे चन्द्रमण्डल को राहुमण्डल ढकता है, ऐसा भी यहाँ कहा जा सकता है ?

तब आचार्य समाधान करते हैं कि — ऐसा अनुमान योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर यावद्द्रव्य भावी-ज्ञान-दर्शन के अभाव से जीव द्रव्य के भी अभाव होने का प्रसंग आता है, इसलिए पूर्ण ज्ञान का आवरण घटित नहीं होता है, ऐसा जानना चाहिए। इसलिए —

केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञानी, केवलदर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शनी, मोहनीय के क्षय से वीतराग, अन्तराय के क्षय से विघ्नों से रहित अनन्तबल से संयुक्त तथा अघातिया कर्मों को किञ्चित् दग्ध करने वाले जीव कहीं न कहीं पर हैं ही हैं, यह सिद्ध है और आवरण के क्षीण हो जाने पर आत्मा परिमित को ही जानता है, यह हो नहीं सकता, क्योंकि प्रतिबंध से रहित और समस्त पदार्थों के जाननेरूप स्वभाव से संयुक्त उसके परिमित पदार्थों को जानने का विरोध है।

यहाँ उपयोगी श्लोक पठनीय है —

श्लोकार्थ — ज्ञानस्वभाव आत्मा प्रतिबंध का अभाव होने पर ज्ञेय के विषय में ज्ञानरहित कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है। अग्नि प्रतिबंध के अभाव में दाह्य पदार्थ का दाहक क्या नहीं होता है? अर्थात् होता ही है।

ये भी इस प्रकार के स्वरूप से संयुक्त वर्द्धमान भट्टारक ही हो सकते हैं, क्योंकि उनके वचन युक्ति व शास्त्र से अविरुद्ध हैं। कहा भी है —

गाथार्थ — दर्शनमोह, चारित्रमोह तथा तीन अन्य घातिया कर्मों के क्षीण — नष्ट हो जाने पर जीवों के

उष्ण्णमि अणंते णट्ठमि य छादुमत्थिए णाणे।

देविंद-दाणविंदा करेंति महिमं जिणवरस्स॥^१

एवंविधभावेन श्रीमद्वर्द्धमानभट्टारकेण तीर्थस्योत्पत्तिः कृता।

अधुना द्रव्य-क्षेत्र-भावप्ररूपणानां संस्कारार्थं कालप्ररूपणा क्रियते। तद्यथा-द्विविधः कालः अवसर्पिण्युत्सर्पिणीभेदेन। यत्र बलायुरुत्सेधानामुत्सर्पणं वृद्धिर्भवति सः काल उत्सर्पिणी, यत्र हानिः सोऽवसर्पिणी। तत्र एकैकः सुषम-सुषमादिभेदेन षड्विधः। तत्रैतस्य भरतक्षेत्रस्य अवसर्पिण्याश्चतुर्थे दुःषमसुषमकाले नवभिर्दिवसैः षड्भिर्मासैश्चाधिकत्रयस्त्रिंशद्वर्षावशेषे तीर्थोत्पत्तिर्जाता।

उक्तं च—

इमिस्से वसप्पिणीए चउत्थकालस्स पच्छिमे भाए।

चोत्तीसवाससेसे किंचिविसेसूणकालमि॥^२

तद्यथा—पञ्चदशदिवसैरष्टभिर्मासैश्चाधिकं पञ्चसप्ततिवर्षावशेषे चतुर्थकाले पुष्पोत्तरविमानादाषाढस्य शुक्लपक्षे षष्ठ्यां महावीरो द्वासप्ततिवर्षायुष्कः त्रिज्ञानधरः त्रिशलामहाराज्ञ्या, गर्भमवतीर्णः। तत्र त्रिंशद्वर्षाणि कुमारकालः, तस्य द्वादशवर्षाणि छद्मस्थकालः, केवलिकालोऽपि त्रिंशद् वर्षाणि, एतेषां त्रयाणां कालानां समासो द्वासप्ततिवर्षाणि। एतानि पञ्चसप्ततिवर्षेषु शोधिते वर्द्धमानजिनेन्द्रे निर्वाणगते सति यः शेषश्चतुर्थकाल-

सम्यक्त्व, वीर्य और ज्ञानरूप वे क्षायिक भाव होते हैं।

अनन्तज्ञान के उत्पन्न होने और छाद्यस्थिक ज्ञान के नष्ट हो जाने पर देवेन्द्र एवं दानवेन्द्र जिनेन्द्रदेव की महिमा को प्रदर्शित करते हैं।

इस प्रकार के भाव से युक्त श्रीमान वर्धमान भट्टारक ने तीर्थ की उत्पत्ति की है।

अब द्रव्य, क्षेत्र और भाव की प्ररूपणाओं के संस्कारार्थं कालप्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार है— अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के भेद से काल दो प्रकार का है। जिस काल में बल, आयु व उत्सेध का उत्सर्पण अर्थात् वृद्धि होती है। वह काल उत्सर्पिणी काल कहलाता है और जिसमें हानि होती है वह अवसर्पिणी काल कहलाता है। उनमें से एक-एक के सुखमा-सुखमादि छह भेद होते हैं। उनमें इस भरत क्षेत्र के अवसर्पिणी के चतुर्थ दुखमासुखमा काल में नौ दिन व छह मासों से अधिक तेतीस वर्षों के (३३ वर्ष ६ माह ९ दिन) शेष रहने पर तीर्थ की उत्पत्ति हुई है।

कहा भी है—

गाथार्थ—इसी अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के अंतिम भाग में कुछ कम चौतीस वर्ष प्रमाण काल के शेष रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।

वह इस प्रकार से है— पन्द्रह दिन और आठ मास अधिक पचहत्तर वर्ष चतुर्थ काल में शेष रहने पर (७५ वर्ष, ८ माह, १५ दिन) पुष्पोत्तर विमान से आषाढ शुक्ल षष्ठी के दिन बहत्तर वर्ष प्रमाण आयु से युक्त और तीन ज्ञान के धारक महावीर भगवान रानी त्रिशला के गर्भ में अवतीर्ण हुए। इसमें तीस वर्ष कुमार काल, बारह वर्ष उनका छद्मस्थकाल, केवलिकाल भी तीस वर्ष, इस प्रकार इन तीन कालों का योग बहत्तर वर्ष होता है। इनको पचहत्तर वर्षों में से कम करने पर वर्धमान जिनेन्द्र के मुक्त होने पर जो शेष चतुर्थकाल रहता है,

स्तस्य प्रमाणं भवति। एतस्मिन् षट्षष्टिदिवसोनकेवलिकाले प्रक्षिप्ते नवदिवसषण्मासाधिकत्रय-स्त्रिंशद्वर्षाणि चतुर्थकालेऽवशेषाणि भवन्ति।

षट्षष्टिदिवसापनयनं केवलिकाले किमर्थं क्रियते ?

केवलज्ञाने समुत्पन्नेऽपि तत्र तीर्थानुत्पत्तेः।

दिव्यध्वनेः किमर्थं तत्राप्रवृत्तिः ?

गणीन्द्राभावात्।

सौधर्मेन्द्रेण तत्क्षणे चैव गणीन्द्रः किन्न उपस्थितः कृतः ?

काललब्ध्या विनाऽसहायस्य देवेन्द्रस्य तदुपस्थितकरणशक्तेरभावात्।

स्वकपादमूले प्रतिपन्नमहाव्रतं मुक्त्वान्यमुद्दिश्य दिव्यध्वनिः किन्न प्रवर्तते ?

स्वाभाविकात्। न च स्वभावः परपर्यनुयोगार्हः अव्यवस्थापत्तेः। तस्मात् चतुस्त्रिंशद्वर्षशेषे किञ्चित् शेषोनचतुर्थकाले तीर्थोत्पत्तिर्जातेति सिद्धम्।

अन्ये केप्याचार्याः पंचभिः दिवसैरष्टभिर्मासैश्च न्यूनानि द्वासप्ततिवर्षाणि वर्द्धमानजिनेन्द्रायुष्कं प्ररूपयन्ति। तेषामभिप्रायेण गर्भस्थ-कुमार-छद्मस्थ-केवलकालानां प्ररूपणा क्रियते। तद्यथा — आषाढमासे शुक्लपक्षषष्ठ्यां कुण्डलपुरनगराधिप-नाथवंशसिद्धार्थनरेन्द्रस्य त्रिशलादेव्या गर्भमागत्य तत्राष्टदिवसाधिकनवमासान् स्थित्वा चैत्रशुक्लपक्षत्रयोदश्यां उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रे गर्भाद् निष्क्रान्तः। अत्राषाढशुक्लपक्षे षष्ठीमादिं कृत्वा यावत्पूर्णिमेति दश दिवसा भवन्ति (१०)। पुनः श्रावणमासमादिं कृत्वाष्टमासान् गर्भे गमयित्वा चैत्रमासे

उसका प्रमाण होता है। इसमें छ्यासठ दिन कम केवलिकाल के जोड़ने पर नौ दिन और छह मास अधिक तेतीस वर्ष चतुर्थ काल में शेष रहते हैं।

शंका — केवलिकाल में छ्यासठ दिन कम किसलिए किये जाते हैं ?

समाधान — क्योंकि केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर भी उनमें तीर्थ की उत्पत्ति नहीं हुई थी।

शंका — इन दिनों में दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति किसलिए नहीं हुई ?

समाधान — गणधर का अभाव होने से उक्त दिनों में दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति नहीं हुई।

शंका — सौधर्म इन्द्र ने उसी क्षण में ही गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया ?

समाधान — क्योंकि काल लब्धि के बिना असहाय सौधर्म इन्द्र के उनको उपस्थित करने की शक्ति का उस समय अभाव था।

शंका — अपने पादमूल में महाव्रत को स्वीकार करने वाले को छोड़ अन्य को उद्देश्य कर दिव्यध्वनि क्यों नहीं प्रवृत्त होती है ?

समाधान — क्योंकि ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव दूसरों के प्रश्न के योग्य नहीं होता है, क्योंकि ऐसा होने पर अव्यवस्था होती है।

इस कारण चतुर्थ काल में कुछ कम चौतीस वर्ष शेष रहने पर तीर्थ की उत्पत्ति हुई यह सिद्ध है। अन्य कितने ही आचार्य पाँच दिन और आठ मासों से कम बहत्तर वर्ष प्रमाण वर्धमान जिनेन्द्र की आयु बतलाते हैं। उनके अभिप्रायानुसार गर्भस्थ, कुमार, छद्मस्थ और केवलज्ञान के कालों की प्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार है — आषाढ मास के शुक्ल पक्ष में षष्ठी के दिन कुण्डलपुर नगर के अधिपति नाथवंशी सिद्धार्थ नरेन्द्र की त्रिशला देवी के गर्भ में आकर और वहाँ आठ दिन अधिक नौ मास रहकर चैत्र शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी की

शुक्लपक्षे त्रयोदश्यामुत्पन्न इत्यष्टाविंशतिदिवसास्तत्र लभन्ते। एतेषु पूर्वोक्तदशदिवसेषु प्रक्षिप्तेषु अष्टदिवसाधिकनवमासा गर्भस्थकालो भवति (८ + २८ = ३६ दिनाधिक ८ मास = ९ मास, ८ दिन)।

अत्रोपयोगिन्यो गाथाः सन्ति—

सुरमहिदो च्युदकप्ये भोगं दिव्वाणुभागमणुभूदो।
 पुष्फुत्तरणामादो विमाणदो जो चुदो संतो॥१॥
 बाहत्तरिवासाणि य थोवविहूणाणि लब्धपरमाऊ।
 आसाढजोण्णपक्खे छट्ठीए जोणिमुवयादो॥२॥
 कुंडपुरपुरवरिस्सर^१-सिद्धत्थक्खत्तिथिस्स गाहकुले।
 तिसलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए॥३॥
 अच्छित्ता णवमासे अट्ठ य दिवसे चइत्तसियपक्खे।
 तेरसिए रत्तीए जादुत्तरफग्गुणीए दु^२॥४॥
 एवं गर्भस्थितकालप्ररूपणा कृता।

संप्रति कुमारकाल उच्यते—

चैत्रमासस्य द्वौ दिवसौ, वैशाखमासमादिं कृत्वाष्टाविंशतिवर्षाणि, पुनः वैशाखमादिं कृत्वा यावत्कार्तिकमास इति सप्तमासान् च कुमारत्वेन गमयित्वा ततो मार्गशीर्षे कृष्णपक्षे दशम्यां दीक्षार्थं निष्क्रान्त इति एतस्य कालस्य प्रमाणं द्वादशदिवस-सप्तमासाधिकाष्टाविंशतिवर्षमात्रं भवति। (२ दिने + २८

रात्रि में उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में गर्भ से बाहर आये। यहाँ आषाढ़ शुक्ल षष्ठी को आदि करके पूर्णिमा तक दश दिन होते हैं। पुनः श्रावण मास को आदि करके आठ मास गर्भ में बिताकर चैत्र मास में शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को उत्पन्न हुए थे, अतः अट्ठाईस दिन चैत्रमास में प्राप्त होते हैं। इनको पूर्वोक्त दश दिनों में मिला देने पर आठ दिन सहित एक मास प्राप्त होता है। उसे आठ मासों में मिलाने पर आठ दिन सहित एक मास प्राप्त होता है। उसे आठ मासों में मिलाने पर आठ दिन अधिक नौ मास गर्भस्थ काल होता है। यहाँ उपयोगी गाथाएँ दी गई हैं, सो द्रष्टव्य हैं—

गाथार्थ—वर्धमान भगवान् अच्युत कल्प में देवों से पूजित हो दिव्य प्रभाव से संयुक्त भोगों का अनुभव कर पुनः पुष्पोत्तर नामक विमान से च्युत होकर कुछ कम बहत्तर वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट आयु को प्राप्त करते हुए आषाढ़ शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन योनि को प्राप्त हुए अर्थात् गर्भ में आये॥१-२॥

तत्पश्चात् कुण्डपुर—कुण्डलपुर उत्तमपुर के नरपति सिद्धार्थ क्षत्रिय के नाथकुल में सैकड़ों देवियों में सेव्यमान त्रिशला देवी के गर्भ में नौ मास और आठ दिन रहकर चैत्र मास के शुक्ल पक्ष में त्रयोदशी की रात्रि में उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए॥३-४॥

इस प्रकार भगवान् महावीर के गर्भस्थितकाल की प्ररूपणा की गई है।

अब कुमारकाल को कहते हैं—

चैत्र मास के दो दिन, वैशाख आदि को लेकर अट्ठाईस वर्ष पुनः वैशाख को आदि करके कार्तिक मास तक सात मास को कुमार स्वरूप से बिताकर पश्चात् मगसिर कृष्ण पक्ष की दशमी के दिन भगवान् महावीर दीक्षा के लिए निकले थे। अतः इस काल का प्रमाण बारह दिन और सात मास अधिक अट्ठाईस वर्ष मात्र होता

वर्षाणि + ७ मासा + १० दिनानि = २८ वर्ष, ७ मास, १२ दिन)।

अत्रोपयोगिन्यो गाथाः सन्ति—

मणुवत्तणसुहमउलं देवकयं सेविऊण वासाइं।
अट्टावीसं सत्त य मासे दिवसे य बारसयं॥५॥
आहिणिबोहियबुद्धो छट्ठेण य मग्गसीसबहुले दु।
दसमीए णिक्खंतो सुरमहिदो णिक्खमणपुज्जो॥६॥
एवं कुमारकालप्ररूपणा कृता।

संप्रति छद्मस्थकाल उच्यते। तद्यथा—

मार्गशीर्षकृष्णपक्षैकादशीमादिं कृत्वा यावन्मार्गशीर्षपूर्णमेति विंशतिदिवसान्, पुनः पौषमासमादिं कृत्वा द्वादशवर्षाणि, पुनस्तमेव मासमादिं कृत्वा चतुर्मासांश्च वैशाखमासशुक्लपक्षपंचविंशतिदिवसांश्च छद्मस्थत्वेन गमयित्वा वैशाखशुक्लपक्षदशम्यां ऋजुकूलानदीतीरे जृम्भिकाग्रामस्य बाह्ये षष्ठोपवासेन शिलापट्टे आतापनयोगेनापराणहे पादच्छायायां केवलज्ञानमुत्पादितम्। तेनैतस्य कालस्य प्रमाणं पञ्चदशदिवस-पंचमासाधिकद्वादशवर्षमात्रं भवति।

अत्रोपयोगिन्यो गाथाः सन्ति—

गमइय छदुमत्थत्तं बारसवासाणि पंच मासे य।
पंचरसाणि दिणाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो॥७॥
उजुकूलणदीतीरे जंभियगामे बहिं सिलावट्टे।
छट्ठेणादावेंतो अवरणहे पायछायाए॥८॥

है। (२८ वर्ष ७ मास १२ दिन)।

यहाँ उपयोगी गाथाएँ दी गई हैं—

गाथार्थ—वर्धमान स्वामी अट्टाईस वर्ष सात मास और बारह दिन देवकृत श्रेष्ठ मानुषिक सुख का सेवन करके आभिनिबोधक ज्ञान से प्रबुद्ध होते हुए षष्ठोपवास के साथ मगसिर कृष्णा दशमी के दिन गृहत्याग करके सुरकृत महिमा का अनुभव कर तप कल्याणक द्वारा पूज्य हुए॥५-६॥

इस प्रकार कुमारकाल की प्ररूपणा की है।

अब छद्मस्थकाल कहते हैं। वह इस प्रकार है—

मगसिर कृष्ण पक्ष की एकादशी को आदि करके मगसिर की पूर्णिमा तक बीस दिन (२०), पुनः पौष मास को आदि करके बारह वर्ष (१२), पुनः उसी मास को आदि करके चार मास (४) और वैशाख शुक्ल पक्ष में २५ दिन छद्मस्थ अवस्था में व्यतीत करके वैशाख शुक्ल पक्ष की दशमी के दिन ऋजुकूला नदी के तीर पर जृम्भिकाग्राम के बाहर षष्ठोपवास के साथ शिलापट्ट पर आतापन योग के साथ अपराणह काल में पादपरिमित छाया के होने पर केवलज्ञान उत्पन्न किया। इसलिए इस काल का प्रमाण पन्द्रह दिन और पाँच मास अधिक बारह वर्ष मात्र होता है (१२ वर्ष ५ मास १५ दिन)।

यहाँ उपयोगी गाथाएँ कहते हैं—

गाथार्थ—रत्नत्रय से विशुद्ध महावीर भगवान ने बारह वर्ष पाँच मास और पन्द्रह दिन छद्मस्थ अवस्था में बिताकर ऋजुकूला नदी के तीर पर जृम्भिका ग्राम में बाहर शिलापट्ट पर षष्ठोपवास के साथ आतापन योग युक्त होते हुए अपराह काल में पादपरिमित छाया के होने पर वैशाख शुक्ल पक्ष की दशमी के

वइसाहजोण्णपक्खे दसमीए खवगसेढिमारूढो।

हंतूण घाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो^१॥९॥

एवं छद्मस्थकालप्ररूपणा कृता।

संप्रति केवलिकाल उच्यते। तद्यथा—

वैशाखशुक्लपक्षैकादशीमादिं कृत्वा यावत्पूर्णिमेति पञ्चदिवसान्, पुनो ज्येष्ठप्रभृति एकोनत्रिंशद्वर्षाणि, तं चैव मासमादिं कृत्वा यावदाश्विनमास इति पञ्चमासान्, पुनः कार्तिकमासकृष्णपक्षचतुर्दशदिवसान् च केवलज्ञानेन सहात्र गमयित्वा निवृतः। अमावस्यायां परिनिर्वाणपूजा सकलदेवेन्द्रैः कृतेति तं पि दिवसमत्रैव प्रक्षिप्ते पञ्चदश दिवसा भवन्ति। तेनैतस्य प्रमाणं विंशतिदिवस-पञ्चमासाधिक-एकोनत्रिंशद्वर्षमात्रं भवति।

अत्रोपयोगिन्यो गाथाः—

वासाणूणत्तीसं पंच य मासे य वीसदिवसे य।

चउविहअणगारेहिं बारहहि गणेहि विहरंतो॥१०॥

पच्छापावाणयरे कत्तियमासे य किण्हचोद्दसिए।

सादीए रत्तीए सेसरयं छेत्तु णिव्वाओ^२॥११॥

एवं केवलिकालः प्ररूपितः।

भगवतो महावीरस्य निर्वाणगते चतुर्थकाले कियत्कालोऽवशेषः इति कथ्यते—

परिणिव्वुदे जिणिंदे चउत्थकालस्स जं भवे सेसं।

वासाणि तिणिण मासा अट्ट य दिवसा वि पण्णरसा^३॥१२॥

दिन क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर, घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान को प्राप्त किया॥७-८-९॥

इस प्रकार छद्मस्थकाल की प्ररूपणा की गई है।

अब केवलिकाल कहते हैं। वह इस प्रकार है—

वैशाख शुक्ल पक्ष की एकादशी को आदि करके पूर्णिमा तक पाँच (५) दिन पुनः ज्येष्ठ से लेकर उनतीस वर्ष (२९), उसी मास को आदि करके आसोज तक पाँच मास (५) पुनः कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष के चौदह दिनों को भी केवलज्ञान के साथ यहाँ बिताकर मुक्ति को प्राप्त हुए (१४)। चूँकि अमावस्या के दिन सब देवेन्द्रों ने परिनिर्वाण पूजा की थी, अतः उस दिन को भी इसी में मिलाने पर पन्द्रह दिन होते हैं। इस कारण इसका प्रमाण बीस दिन और पाँच मास अधिक उनतीस वर्ष मात्र होता है (२९ वर्ष ५ मास २० दिन)।

यहाँ उपयोगी गाथाएँ प्रस्तुत हैं—

गाथार्थ— भगवान् महावीर उनतीस वर्ष, पाँच मास और बीस दिन चार प्रकार के अनगारों व बारहगणों के साथ विहार करते हुए पश्चात् पावा नगर—पावापुरी में कार्तिक मास में कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को स्वाति नक्षत्र में रात्रि को शेष रज अर्थात् अघातिया कर्मों को नष्ट करके मुक्त हुए॥१०-११॥

इस प्रकार केवलिकाल की प्ररूपणा की गई है।

भगवान् महावीर के निर्वाण जाने के बाद चतुर्थकाल में कितना काल शेष रहा था, उसे कहते हैं—

गाथार्थ— महावीर जिनेन्द्र के मुक्त होने पर चतुर्थ काल का जो शेष काल है, वह तीन वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन प्रमाण है॥१२॥

संप्रति वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य निर्वाणप्राप्तदिवसात् कार्तिकमासे शुक्लपक्षे पंचदशदिवसेषु मार्गशीर्षादित्रिवर्षेषु अष्टमासेषु च गतेषु श्रावणमासप्रतिपत्तिथौ दुःषमकालोऽवतीर्णः। एतत्कालं वर्द्धमानजिनेन्द्रायुधि प्रक्षिप्ते दशदिवसाधिकपंचसप्ततिवर्षमात्रावशेषे चतुर्थकाले स्वर्गाद् वर्द्धमानजिनेन्द्रस्यावतीर्णकालो भवति।

अत्र श्रीमद्वीरसेनाचार्येण कथ्यते —

“दोसु वि उवएसेसु को एत्थ समंजसो, एत्थ ण बाहइ जिब्भमेलाइरियवच्छओ, अलद्धोवदेसत्तादो दोण्णमेक्कस्स बाहाणुवलंभादो। किन्तु दोसु एक्केण होदव्वं। तं जाणिय वत्तव्वं।”

अथवा एतद् ज्ञातव्यं — प्रभोः, श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्रस्य द्वासप्ततिवर्षायुर्भवति इति सामान्यकथनं वर्तते। पुनश्च एकसप्ततिवर्ष-त्रिमास-पंचविंशतिदिवसमात्रमायुरिति विशेषकथनं बोद्धव्यम्।

एवं भगवान् महावीरस्वामी अर्थकर्ता कथ्यते इति निश्चेतव्यम् भवद्भिः।

अधुना ग्रन्थकर्तुः प्ररूपणा क्रियते —

अत्र कश्चिदाह —

ग्रन्थकर्तुः प्ररूपणाकरणस्यावश्यकता नास्ति, किंच —

वचनेन विनार्थप्रतिपादनं न संभवति, सूक्ष्मार्थाणां संज्ञायाः प्ररूपणानुपपत्तेः। न चानक्षरात्मक-ध्वनिभिरर्थप्रतिपादनं युज्यते, अनक्षरभाषायुक्ततिरश्चो मुक्त्वाऽन्येषां तत्तोऽर्थावगमाभावात्। न च दिव्यध्वनि-

अब भगवान् महावीर के निर्वाणप्राप्त दिन से कार्तिक मास में शुक्ल पक्ष में पन्द्रह दिन, मगसिर को आदि लेकर तीन वर्ष आठ मासों के बीतने पर श्रावण मास की प्रतिपदा के दिन सुषमा काल अवतीर्ण हुआ (३ वर्ष ८ मास १५ दिन) इस काल को वर्द्धमान जिनेन्द्र की आयु में मिला देने पर दश दिन अधिक पचहत्तर वर्ष मात्र चतुर्थ काल के शेष रहने पर वर्द्धमान जिनेन्द्र के स्वर्ग से अवतीर्ण होने का काल होता है (७५ वर्ष १० दिन)।

यहाँ श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं —

“उक्त दो उपदेशों में कौन सा उपदेश यथार्थ है, इस विषय में एलाचार्य का शिष्य वीरसेन स्वामी अपनी जीभ नहीं चलाता है, अर्थात् कुछ नहीं कहता है, क्योंकि न तो इस विषय का कोई उपदेश प्राप्त है और न दो में से एक में कोई बाधा ही उत्पन्न होती है। किन्तु दोनों में से एक ही सत्य होना चाहिए। उसे जानकर कहना चाहिए।”

अथवा ऐसा जानना चाहिए कि — श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र प्रभु की बहत्तर वर्ष की आयु थी, यह सामान्य कथन है किन्तु विशेष कथन के रूप में इकहत्तर वर्ष, तीन माह, पच्चीस दिन उनकी आयु जाननी चाहिए।

इस प्रकार भगवान् महावीर अर्थकर्ता कहे गये हैं, ऐसा आप सभी को निश्चितरूप से जानना चाहिए।

अब ग्रंथकर्ता की प्ररूपणा करते हैं —

यहाँ कोई शंका करता है कि — ग्रन्थकर्ता की प्ररूपणा करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वचन के बिना अर्थ का प्रतिपादन करना संभव नहीं है, क्योंकि सूक्ष्मपदार्थों की संज्ञा अर्थात् संकेत द्वारा प्ररूपणा नहीं बन सकती है। अनक्षरात्मक ध्वनि द्वारा अर्थ की प्ररूपणा भी योग्य नहीं है, क्योंकि अनक्षर भाषायुक्त तिर्यचों को छोड़कर अन्य जीवों को उससे अर्थज्ञान नहीं हो सकता है और दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक भी नहीं है, क्योंकि वह अठारह महाभाषा एवं सात सौ लघु भाषा स्वरूप है।

नक्षरात्मकैव, अष्टादशमहाभाषा-सप्तशतलघुभाषात्मकत्वात्। ततोऽर्थप्ररूपकश्चैव ग्रन्थप्ररूपक इति ग्रन्थकर्तृप्ररूपणा न कर्तव्या ?

आचार्यदेवः समाधत्ते —

नैष दोषः, संक्षिप्तशब्दरचनासहित-मनन्तार्थावगमहेतुभूतानेकलिंगसंगतं बीजपदं नाम। तेषामनेकानां बीजपदानां द्वादशांगात्मकानामष्टादशमहाभाषा-सप्तदशलघुभाषास्वरूपाणां प्ररूपकोऽर्थकर्ता नाम, बीजपदनिलीनार्थप्ररूपकानां द्वादशांगानां कारको गणधरभट्टारको ग्रन्थकर्तेति अभ्युपगमात्।

अभिप्रायमेतत् — बीजपदानां व्याख्याता यः स एवार्थकर्ता भवतीति कथ्यते।

किमर्थं तस्य प्ररूपणा क्रियते ?

ग्रन्थस्य प्रमाणत्वप्रतिपादनार्थं। न च राग-द्वेष-मोहोपयुक्तो यथोक्तार्थप्ररूपकः, तत्र सत्यवचननियमा-भावात्। तस्मात् तत्प्ररूपणा क्रियते।

तद्यथा — पंचमहाव्रतधारकः त्रिगुप्तिगुप्तः पंचसमितः नष्टाष्टमदो मुक्तसप्तभयो बीज-कोष्ठ-पदानुसारि-संभिन्नश्रोतृत्वोपलक्षितः उत्कृष्टावधिज्ञानेनाऽसंख्यातलोकमात्रकालेऽतीतानागतवर्तमानाशेषपरमाणु-मूर्तद्रव्यपर्यायाणां च प्रत्यक्षेण जानन् तप्ततपोलब्धेः नीहारविवर्जितो दीप्ततपोलब्धिगुणेन सर्वकालोपवासोऽपि सन् शरीरतेजसोद्योतितदशदिशः सर्वौषधिलब्धिगुणेन सर्वौषधस्वरूपोऽनंतबलात् करांगुल्या त्रिभुवनचालन-क्षमोऽमृतास्त्राविलब्धिबलेनांजलिपुटनिपतितसकलाहारान् अमृतत्वेन परिणमनक्षमो महातपोगुणेन कल्प-

इसी कारण अर्थ का प्ररूपण ही ग्रंथ का प्ररूपक होता है, अतः ग्रन्थकर्ता की प्ररूपणा नहीं करना चाहिए ?

तब आचार्यदेव समाधान देते हैं कि —

यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि संक्षिप्त शब्दरचना से सहित व अनन्त अर्थों के ज्ञान के हेतुभूत अनेक चिन्हों से संयुक्त बीजपद कहलाता है। अठारह भाषा व सात सौ लघुभाषा स्वरूप द्वादशांगात्मक उन अनेक बीजपदों का प्ररूपक अर्थकर्ता है तथा बीजपदों में लीन अर्थ के प्ररूपक बारह अंगों के कर्ता गणधर भट्टारक ग्रंथकर्ता है, ऐसा स्वीकार किया गया है।

अभिप्राय यह है कि — बीजपदों के जो व्याख्याता हैं, वह ही अर्थकर्ता होते हैं, ऐसा कहा जाता है।

शंका — उस अर्थकर्ता की प्ररूपणा किसलिए की जाती है ?

समाधान — ग्रन्थ की प्रमाणता को बतलाने के लिए अर्थकर्ता की प्ररूपणा की जाती है। राग, द्वेष व मोह से युक्त जीव यथोक्त अर्थों का प्ररूपक नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सत्य वचन के नियम का अभाव है। इसी कारण उसकी प्ररूपणा की जाती है।

वह इस प्रकार है — पाँच महाव्रतों के धारक, तीन गुप्तियों से रक्षित, पाँच समितियों से युक्त, आठ मर्दों से रहित, सात भयों से मुक्त, बीज, कोष्ठ, पदानुसारी व सम्भिन्नश्रोतृत्व बुद्धियों से उपलक्षित, प्रत्यक्षभूत उत्कृष्ट अवधिज्ञान से असंख्यातलोकमात्र काल के अतीत, अनागत एवं वर्तमान परमाणु पर्यन्त समस्त मूर्त द्रव्य व उनकी पर्यायों को जानने वाले, तप्ततप लब्धि के प्रभाव से मलमूत्र रहित, दीप्ततप लब्धि के बल से सर्वकाल उपवास सहित होकर भी शरीर के तेज से दशों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले, सर्वौषधि लब्धि के निमित्त से समस्त औषधियों स्वरूप अनन्त बलयुक्त होने से हाथ की अंगुली द्वारा तीनों लोकों को चलायमान करने में समर्थ, अमृतस्त्रावी आदि ऋद्धियों के बल से हस्तपुट में आए हुए सब आहारों को अमृत स्वरूप से परिणमाने में समर्थ,

वृक्षोपमः महानसाक्षीण-लब्धिबलेन स्वकहस्तनिपतिताहाराणामक्षयभावोत्पादकः अघोरतपोमाहात्म्येन जीवानां मनो-वचन-कायगताशेषदुःस्थितत्वनिवारकः सकलविद्याभिः सेवितपादमूलः आकाशचारणगुणेन रक्षितशेषजीवनिवहो वाचा मनसा च सकलार्थसंपादनक्षमः अणिमाद्यष्टगुणैर्जिताशेषदेवनिवहस्त्रिभुवनजनज्येष्ठः परोपदेशेन विना अक्षरानक्षरस्वरूपाशेषभाषान्तरकुशलः समवसरणजनमात्ररूपधारित्वेनास्माकमस्माकं भाषाभिरस्मानस्मानेव कथयतीति सर्वेषां प्रत्ययोत्पादकः समवसरणजनश्रोत्रेन्द्रियेषु स्वकमुखविनिर्गतानेकभाषानां संकरेण प्रवेशस्य विनिवारको गणधरदेवो ग्रन्थकर्ता, अन्यथा ग्रन्थस्य प्रमाणत्वविरोधात् धर्मरसायनेन समवसरणजनपोषणानुपपत्तेः।

अत्रोपयोगिन्यो गाथाः सन्ति—

बुद्धि-तव-विउवणोसह-रस-बल-अक्खीण-सुस्सरत्तादी।

ओहि-मणपज्जवेहि य हवन्ति गणवालया सहिया॥^१

संप्रति वर्द्धमानजिनस्य तीर्थे ग्रन्थकर्ता उच्यते—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाया महव्वया पंच।

अट्ट य पवयणमादा सहेउओ बंध-मोक्खो य॥^२

‘पंचास्तिकायादयः के सन्तीति’ सौधर्मेन्द्रप्रश्नवशाद् जातसंदेहेन पंच-पंचशतान्तेवासिसहित-भ्रातृत्रितयपरिवृतेन मानस्तंभदर्शनेनैव प्रणष्टमानेन वृद्धिगतविशुद्धिमानेन वर्द्धमानजिनेन्द्रदर्शने सति

महालब्धिरूप तपगुण से कल्पवृक्ष के समान, अक्षीणमहानस लब्धि के बल से अपने हाथों में आए हुए आहारों की अक्षयता के उत्पादक अर्थात् जो आहार उनके हाथ में दिया गया है वह शेष बचा भाजन—बर्तन में रखा हुआ भोजन अक्षय हो जाता है, अघोरतप ऋद्धि के माहात्म्य से जीवों के मन-वचन एवं कायगत समस्त कष्टों को दूर करने वाले, सम्पूर्ण विद्याओं के द्वारा सेवित चरणमूल से संयुक्त आकाशचारण गुण से सब जीव समूहों की रक्षा करने वाले, वचन एवं मन से समस्त पदार्थों के सम्पादन करने में समर्थ अणिमादिक आठ गुणों के द्वारा सब देव समूहों को जीतने वाले, तीनों लोकों के जनों में श्रेष्ठ, परोपदेश के बिना अक्षर व अनक्षररूप सब भाषाओं में कुशल, समवसरण में स्थित जनमात्र के रूप के धारी होने से ‘हमारी-हमारी भाषाओं से हम आपके लिए ही कहते हैं’ इस प्रकार सबको विश्वास कराने वाले तथा समवसरण में स्थित जनों के कर्ण इन्द्रियों में अपने मुँह से निकली हुई अनेक भाषाओं के सम्मिश्रित प्रवेश के निवारक ऐसे गणधर देव ग्रन्थकर्ता हैं, क्योंकि ऐसे स्वरूप के बिना ग्रन्थ की प्रमाणता का विरोध होने से धर्मरूपी रसायन द्वारा समवसरण के जनों का पोषण बन नहीं सकता है।

यहाँ उपयुक्त गाथाएँ द्रष्टव्य हैं—

गाथार्थ—गणधर देव बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल, अक्षीण, सुस्वरत्वादि ऋद्धियों तथा अवधि एवं मनःपर्ययज्ञान से सहित होते हैं॥

अब वर्द्धमान जिनेन्द्र तीर्थ में ग्रन्थकर्ता को कहते हैं—

गाथार्थ—पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, पाँच महाव्रत, आठ प्रवचनमाता अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति तथा सहेतुक बंध और मोक्ष हैं॥

‘ये पाँच अस्तिकायादि क्या हैं?’ ऐसे सौधर्मेन्द्र के प्रश्न से संदेह को प्राप्त हुए पाँच सौ-पाँच सौ शिष्यों से सहित तीनों भ्राता, मानस्तंभ के देखने से ही मान से रहित हुए, वृद्धि को प्राप्त होने वाली विशुद्धि

विनष्टासंख्यात-भवार्जितगरुकर्मण जनेन्द्रस्य त्रिप्रदक्षिणां कृत्वा पंचमुष्टिभिः पंचांगेन वन्दित्वा हृदयेन जिनदेवं ध्यात्वा प्रतिपन्नसंयमेन विशुद्धिबलेनान्तर्मुहूर्तस्य उत्पन्नाशेषगणीन्द्रलक्षणेन उपलब्धजिन-वचनविनिर्गतबीजपदेन गौतमगोत्रेण ब्राह्मणेन इन्द्रभूतिना ग्रन्थरचना कृता।

अधुना आचाराद्यंग-अंगबाह्यानां नामानि कथ्यन्ते —

आचार-सूत्रकृत-स्थान-समवाय-व्याख्याप्रज्ञप्ति-नाथधर्मकथा-उपासकाध्ययन-अन्तकृतदश-अनुत्तरोपपादिकदश-प्रश्नव्याकरण-विपाकसूत्र-दृष्टिवादानां द्वादशांगानां, सामायिक-चतुर्विंशतिस्तव-वंदना-प्रतिक्रमण-वैनयिक-कृतिकर्म-दशवैकालिक-उत्तराध्ययन-कल्पव्यवहार-कल्पाकल्प-महाकल्प-पुण्डरीक-महापुण्डरीक-निषिद्धिकानां चतुर्दशप्रकीर्णकानामंगबाह्यानां च रचना कृता।

कस्यां तिथौ रचना कृता ?

तदेव कथ्यते — श्रावणमासे कृष्णपक्षे युगादिप्रतिपदि पूर्वदिवसे येन रचना कृता तेनेन्द्रभूतिभट्टारको वर्द्धमानजिनस्य तीर्थे ग्रन्थकर्ता बभूव।

उक्तं च —

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।

पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्मि॥^१

एवं उत्तरतंत्रकर्तृप्ररूपणा कृता।

से संयुक्त, वर्धमान भगवान् के दर्शन करने पर असंख्यात भवों में अर्जित महान् कर्मों को नष्ट करने वाले जनेन्द्र देव की तीन प्रदक्षिणा करके पंचमुष्टियों से अर्थात् पाँच अंगों द्वारा वंदना करके एवं हृदय से जिन भगवान् का ध्यान कर संयम को प्राप्त हुए, विशुद्धि के बल से मुहूर्त के भीतर उत्पन्न हुए समस्त गणधर के लक्षणों से संयुक्त तथा जिन मुख से निकले हुए बीजपदों के ज्ञान से सहित ऐसे गौतम गोत्र वाले इन्द्रभूति ब्राह्मण द्वारा ग्रन्थ रचना की गई।

अब उनके द्वारा रचित आचारादि अंग एवं अंगबाह्य के नाम कहते हैं —

आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्तिअंग, नाथधर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तकृतदशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग व दृष्टिवादांग, इन बारह अंगों की तथा सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निषिद्धिका इन चौदह प्रकीर्णकरूप अंगबाह्यों की रचना की थी।

किस तिथि में इनकी रचना की थी ?

उसी को कहते हैं — श्रावण मास के कृष्ण पक्ष में युग के आदि में प्रतिपदा के पूर्व (प्रथम) दिन में जिनके द्वारा रचना की गई थी, वे इन्द्रभूति भट्टारक गणधर देव वर्धमान जनेन्द्रके तीर्थ में ग्रंथकर्ता हुए।

कहा भी है —

गाथार्थ — वर्ष के प्रथम मास व प्रथम पक्ष में श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के पूर्व (प्रथम) दिन में अभिजित् नक्षत्र में तीर्थ की उत्पत्ति हुई॥

इस प्रकार उत्तरतंत्रकर्ता की प्ररूपणा की गई है।

संप्रति उत्तरोत्तरतन्त्रकर्तृणां प्ररूपणा क्रियते। तद्यथा—

कार्तिकमासे कृष्णपक्षे चतुर्दशीरात्रेः पश्चिमभागे, महतिमहावीरे निर्वृते सति केवलज्ञानसंतानधरो, गौतमस्वामी जातः। द्वादशवर्षाणि केवलविहारेण विहृत्य गौतमस्वामिनि निर्वाणगते सति लोहार्याचार्यः केवलज्ञानसंतानधरो जातः। द्वादशवर्षाणि केवलज्ञानविहारेण विहृत्य लोहार्यभट्टारके मोक्षप्राप्ते सति जंबूभट्टारकः केवलज्ञानसंतानधरः संजातः। अष्टाविंशतिसंवत्सराणि केवलविहारेण विहृत्य जंबूस्वामिनि परिनिर्वाणगते सति केवलज्ञानसंतानस्य व्युच्छेदो जातो भरतक्षेत्रे। एवं महावीरस्वामिनि निर्वाणगते द्विषष्टिवर्षैः केवलज्ञानदिवाकरो भरतक्षेत्रेऽस्तं जातमिति।

विशेषण—तत्काले सकलश्रुतज्ञानसंतानधरो विष्णुनामाचार्यो जातः। ततोऽनुत्पद्यत् संतानरूपेण नन्दिनामधेयाचार्योऽपराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहुनामाचार्याः एते सकलश्रुतधारकाः श्रुतकेवलिनः संजाताः। एतेषां पञ्चानामपि श्रुतकेवलानां कालसमाप्तौ वर्षशतं। ततो भद्रबाहुभट्टारके स्वर्गं गते सति श्रुतज्ञान-पूर्णचन्द्रमाः अस्तमितः, तदा भरतक्षेत्रमापूरितमज्ञानान्धकारेण।

विशेषतया पुनः एकादशानामंगानां विद्यानुप्रवादपर्यन्तदृष्टिवादस्य च धारको विशाखाचार्यो जातः। तदनन्तरं उपरिमचत्वार्यपि पूर्वाणि व्युच्छिन्नानि तदेकदेशधारणात्। पुनः तद् विकलश्रुतज्ञानं प्रोष्ठिल-क्षत्रिय-जयनाग-सिद्धार्थ-धृतिषेण-विजय-बुद्धिल्ल-गंगदेव-धर्मसेनाचार्यपरम्परायां एकशतत्रयशीतिवर्ष-पर्यन्तमागत्य व्युच्छिन्नं।

अब उत्तरोत्तर तन्त्रकर्ताओं की प्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार है—

कार्तिक मास में कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि के पिछले भाग में महति महावीर भगवान के मुक्त होने पर केवलज्ञान की सन्तान को धारण करने वाले गौतम स्वामी हुए अर्थात् उसी दिन सायंकाल में गौतम स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। बारह वर्ष तक केवल ज्ञानी के विहार से विहार करके गौतम स्वामी के मुक्त हो जाने पर लोहार्य आचार्य केवलज्ञान के परम्परा से धारक हुए। अर्थात् उसी दिन सायंकाल में गौतम स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। बारह वर्ष केवलविहार से विहार करके लोहार्य भट्टारक के मुक्त हो जाने पर जंबूस्वामी भट्टारक केवलज्ञान के धारी हुए, पुनः अट्ठाइस वर्ष तक केवली रूप में विहार करके जंबूस्वामी के मुक्त हो जाने पर भरत क्षेत्र में केवलज्ञान परम्परा का व्युच्छेद हो गया। इस प्रकार भगवान महावीर के निर्वाण को प्राप्त होने पर बासठ वर्षों के बाद केवलज्ञानरूपी सूर्य भरत क्षेत्र में अस्त हुआ अर्थात् ६२ वर्ष में ३ अनुबद्ध केवली हुए।

विशेष बात यह है कि—उस काल में सकल श्रुतज्ञान को धारण करने वाले विष्णु नाम के आचार्य हुए। पश्चात् अविच्छिन्न सन्तान स्वरूप से नन्दि आचार्य, अपराजित गोवर्धन और भद्रबाहु, ये सकल श्रुत के धारक हुए अर्थात् पाँच श्रुतकेवली हुए। इन पाँच श्रुतकेवलियों के काल का योग सौ वर्ष है। पश्चात् भद्रबाहु भट्टारक के स्वर्ग को प्राप्त होने पर भरत क्षेत्र में श्रुतज्ञानरूपी पूर्ण चन्द्र अस्तमित हो गया अर्थात् उसके बाद पूर्णश्रुत के धारक कोई भी नहीं हुए। तब भरतक्षेत्र अज्ञान अंधकार से परिपूर्ण हो गया।

विशेष इतना है कि उस समय ग्यारह अंगों और दृष्टिवाद अंग के विद्यानुवाद पर्यन्त ज्ञान के धारी अर्थात् ग्यारह अंग, दस पूर्व के धारक विशाखाचार्य हुए। इसके आगे के चार पूर्व का विच्छेद हो गया, क्योंकि श्री विशाखाचार्य को इन चारों पूर्वों का एकदेश ज्ञान था पुनः वह विकल श्रुतज्ञान प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन, इन आचार्यों की परम्परा से एक सौ तेरासी वर्ष तक आकर व्युच्छिन्न हो गया अर्थात् १८३ वर्ष में ये एकादशांग-दशपूर्वधररूप विकलश्रुत ज्ञान के धारक हुए हैं।

ततः धर्मसेनभट्टारके स्वर्ग गते नष्टे दृष्टिवादोद्योते एकादशांगानां दृष्टिवादैकदेशस्य च धारको नक्षत्राचार्यो जातः। पश्चात् तदेकादशांगं श्रुतज्ञानं जयपाल-पांडु-ध्रुवसेन-कंसनामधेयानामेतेषामाचार्याणां परम्परा विंशत्युत्तरद्विशतवर्षपर्यन्तमागत्य व्युच्छिन्नम्।

तदनु कंसाचार्ये स्वर्ग गते व्युच्छिन्ने एकादशांगोद्योते सुभद्राचार्यः आचारांगस्य शेषांग-पूर्वाणामेकदेशस्य च धारको जातः। तत्पश्चात् तदाचारांगमपि यशोभद्र-यशोबाहु-लोहाचार्यपरम्परायां अष्टादशोत्तरशत-वर्षपर्यन्तमागत्य व्युच्छिन्नम्। एतेषां सर्वकालसमासः त्र्यशीत्यधिकषट्शतवर्षमात्रोऽभवत्। (६८३)

पुनश्चात्र सप्तमासाधिकसप्तसप्ततिवर्षेषु अपनीतेषु पंचमासाधिकषट्शतवर्षाणि भवन्ति। एषो वीरजिनेन्द्रनिर्वाणगतदिवसात् यावत् शककालस्यादिर्भवति तावदियत्कालः।

कुतः ?

एतस्मिन् काले शकनरेन्द्रकाले प्रक्षिप्ते वर्द्धमानजिननिर्वाणकालागमनात्।

उक्तं च— पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।

सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी॥^१

अन्ये केऽप्याचार्याः चतुर्दशसहस्र-सप्तशत-त्रिनवतिवर्षेषु जिननिर्वाणदिनादतिक्रान्तेषु शकनरेन्द्रोत्पत्तिं भणन्ति। (१४७९३)

उसके पश्चात् धर्मसेन भट्टारक के स्वर्ग को प्राप्त होने पर दृष्टिवाद अंग के नष्ट हो जाने से ग्यारह अंगों और दृष्टिवाद के एक देश के धारक नक्षत्राचार्य हुए। तदनन्तर वह एकादशांग श्रुतज्ञान जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस मुनि इन आचार्यों की परम्परा से दो सौ बीस वर्ष तक आकर व्युच्छिन्न हो गया अर्थात् २२० वर्ष में ५ महामुनि एकादशांग के धारक हुए।

तत्पश्चात् श्री कंसाचार्य महामुनि के स्वर्ग चले जाने पर ग्यारह अंगरूप प्रकाश के व्युच्छिन्न हो जाने पर सुभद्राचार्य आचारांग के और शेष अंगों एवं पूर्व के एक देश धारक हुए। तत्पश्चात् वह आचारांग भी यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य की परम्परा से एक सौ अठारह वर्ष तक आकर व्युच्छिन्न हो गया अर्थात् ११८ वर्ष में ४ आचारांगधर महामुनि हुए। इन सब आचार्यों के काल का योग छह सौ तेरासी वर्ष होता है। (६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३)।

पुनः इसमें से सात मास अधिक सतत्तर वर्षों को (७७ वर्ष ७ मास) कम करने पर पाँच मास अधिक छह सौ पाँच वर्ष होते हैं। यह वीर जिनेन्द्र के निर्वाण प्राप्त होने के दिन से लेकर जब तक शककाल का प्रारंभ होता है, उतना काल है।

प्रश्न— यह कैसे है ?

उत्तर— इस काल में शक नरेन्द्र के काल को मिला देने पर वर्द्धमानजिन के मुक्त होने का काल आता है। कहा भी है—

गाथार्थ— पाँच मास, पाँच वर्ष और छह सौ वर्ष होते हैं। इसलिए शक काल से सहित राशि स्थापित करना चाहिए॥

अन्य कितने ही आचार्य वीर जिनेन्द्र के मुक्त होने के दिन से चौदह हजार सात सौ तेरानवे वर्षों के बीत जाने पर शक नरेन्द्र की उत्पत्ति को कहते हैं (१४७९३)।

प्रोक्तं च— गुप्ति-पयत्थ-भयाइं चोहसरयणाइ समइकंताइं।
परिणिव्वुदे जिणिंदे तो रज्जं सगणरिंदस्स^१॥

अन्ये केचिदाचार्या एवं भगन्ति। तद्यथा-सप्तसहस्र-नवशत-पंचनवतिवर्षेषु पंचमासाधिकेषु वर्द्धमानजिननिर्वाणदिनात् अतिक्रान्तेषु शकनरेन्द्रोत्पत्तिर्जातः। (७९९५ वर्ष, ५ मास)

अत्र गाथा—

सत्तसहस्सा णवसद पंचाणउदी सपंचमासा य।
अइकंता वासाणं जइया तइया सगुप्पत्ती॥^२

एतेषु त्रिषु एकेन भवितव्यम्। न त्रयाणामुपदेशानां सत्यत्वम्, अन्योन्यविरोधात्। ततो ज्ञात्वा वक्तव्यम्।

अत्र विशेषः कथ्यते—

तिलोयपण्णत्तिग्रंथे चत्वारो मता उद्धृताः श्री यतिवृषभाचार्येण—

वीरजिणे सिद्धिगदे चउसदइगिसट्ठिवासपरिमाणे।
कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सकराओ॥१४९६॥
अहवा वीरे सिद्धे सहस्सणवकम्मि सगसयब्भहिण्ण।
पणसीदिम्मि यतीदे पणमासे सकणिओ जादो॥१४९७॥
चोहससहस्ससगसयतेणउदीवासकालविच्छेदे।
वीरेसरसिद्धीदो उप्पण्णो सगणिओ अहवा॥१४९८॥

कहा भी है—

गाथार्थ—वीर जिनेन्द्र के मुक्त होने के पश्चात् गुप्ति^३, पदार्थ^४, भय^५ और चौदह रत्नों अर्थात् चौदह हजार सात सौ तेरानवें वर्षों के बीतने पर शक नरेन्द्र का राज्य हुआ॥

अन्य कितने ही आचार्य इस प्रकार कहते हैं—जैसे-वर्धमान जिनके मुक्त होने के दिन से पाँच मास अधिक सात हजार नौ सौ पंचानवे वर्षों के बीतने पर शक नरेन्द्र के राज्य की उत्पत्ति हुई।

यहाँ गाथा निम्न प्रकार हैं—

गाथार्थ—जब सात हजार नौ सौ पंचानवे वर्ष और पाँच मास बीत गये, तब शक नरेन्द्र की उत्पत्ति हुई। इन तीन उपदेशों में कोई एक उपदेश ही होना चाहिए। तीनों उपदेशों की सत्यता संभव नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है। इसका कारण जानकर कहना चाहिए।

यहाँ विशेष बात कहते हैं—

तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में श्री यतिवृषभाचार्य ने चार प्रकार के मत उद्धृत किये हैं—

गाथार्थ—वीर जिनेन्द्र के मुक्ति प्राप्त होने के पश्चात् चार सौ इकसठ वर्ष प्रमाण काल के व्यतीत होने पर यहाँ शक राजा उत्पन्न हुए॥१४९६॥

अथवा, वीर भगवान् के सिद्ध होने के पश्चात् नौ हजार सात सौ पचासी वर्ष और पाँच मासों के बीत जाने पर शक नृप उत्पन्न हुए॥१४९७॥

अथवा, वीर भगवान् की मुक्ति के पश्चात् चौदह हजार सात सौ तेरानवे वर्षों के व्यतीत होने पर शक नृप उत्पन्न हुए॥१४९८॥

णिष्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।

पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा॥१४९९॥^१

हरिवंशपुराणे षष्ठितमे सर्गे एक एव मतो गृहीतः। तथाहि—

वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रं मासपञ्चकम्।

मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्^२॥५५१॥

यद्यपि इमे पृथक्-पृथक् मता शकनरेन्द्रकालस्य भवन्ति तथापि भगवन्महावीरस्वामिनां पंचविंशतिशततमो राष्ट्रीयनिर्वाणमहामहोत्सवः ख्रिष्टाब्दे चतुःसप्तत्यधिकैकोनविंशतिशततमे विक्रमसंवत्सरे एकत्रिंशदधिकद्विसहस्रतमे भारतराजधानीदिल्ली-महानगरादारभ्य संपूर्णजैनसमाजैः सर्वत्र भारतदेशे अतिशायिप्रभावनापूर्वकं बभूव। एष महामहोत्सवः धवलाटीकायाः प्रथममतानुसारेणैव पंचविंशतिशततम आसीत्। तथाहि— षट्शतपंचवर्षकालेषु षण्णवत्यधिकाष्टादशशत शकसंवत्सरे प्रक्षिप्ते (६०५+१८९६= २५०१) एकाधिकपंचविंशतिशतानि वीरनिर्वाणसंवत्सरसंख्या आगच्छति।

संप्रति अस्य षट्खण्डागमग्रंथस्य टीकालेखनकाले वीरनिर्वाणसंवत्सरं षड्विंशत्यधिकपंचविंशतिशततमं प्रचलितमस्ति, ततश्च शकसंवत्सरं एकविंशत्यधिकैकोनविंशतिशततममस्ति, अतएव शकसंवत्सरे पंचाधिकषट्-शतवर्षे पंचमासे मेलने सति (शक संवत् १९२१+वीर निर्वाणप्राप्तकालं ६०५ वर्ष ५ मास = २५२६ वर्ष पंचमासानि) संप्रति प्रसिद्धं वीरनिर्वाणसंवत्सरमागच्छति।

एतदेव वीरनिर्वाणसंवत्सरं सर्वत्र जैनसमाजे जिनमूर्तिनां प्रशस्तिषु लिख्यते। मयापि मूर्तिषु ग्रन्थानां प्रशस्तिषु च एतत्संवत्सरमेव लिखितमिति ज्ञातव्यम्।

एतस्मादुपरि प्रकृतं प्ररूप्यते श्रीमद्वीरसेनाचार्येण—

अथवा, वीर भगवान् के निर्वाण के पश्चात् छह सौ पाँच वर्ष और पाँच महीनों के बीत जाने पर शक राजा का जन्म हुआ॥१४९९॥

हरिवंशपुराण के साठवें सर्ग में एक ही मत ग्रहण किया है। जो इस प्रकार है—

श्लोकार्थ— भगवान् महावीर के मोक्ष जाने के पश्चात् छह सौ पाँच वर्ष पाँच मास बीत जाने पर राजा शक उत्पन्न हुए॥५५१॥

यद्यपि ये पृथक्-पृथक् मत शक नरेन्द्र के काल के विषय में आते हैं, फिर भी भगवान् महावीर स्वामी का २५००वाँ निर्वाणमहामहोत्सव ईसवी सन् १९७४ में, विक्रम संवत् २०३१ में भारत की राजधानी दिल्ली महानगर से प्रारंभ होकर सम्पूर्ण जैनसमाज के द्वारा सारे भारत वर्ष में अतिशायि प्रभावनापूर्वक मनाया गया। यह महामहोत्सव धवला टीका के प्रथम मतानुसार ही २५००वाँ था। जो इस प्रकार है— ६०५ वर्ष के काल में १८९६ शक संवत् को जोड़ने पर वीर निर्वाण संवत्सर की संख्या २५०१ आती है।

आज इस षट्खण्डागम ग्रंथ के टीकालेखन काल में २५२६वाँ वीर निर्वाण संवत्सर चल रहा है और शक संवत् १९२१वाँ है, अतएव शक संवत् में वीरनिर्वाणसंवत् के ६०५ वर्ष ५ मास मिला देने पर आज का प्रसिद्ध वीर निर्वाणसंवत् २५२६वाँ प्राप्त हो जाता है।

यही वीर निर्वाण संवत्सर सर्वत्र जैनसमाज में जिनमूर्तियों की प्रशस्तियों में लिखा जाता है। मैंने भी मूर्तियों एवं ग्रंथों की प्रशस्तियों में इसी संवत्सर को लिखा है, ऐसा जानना चाहिए।

इसके आगे श्री वीरसेनाचार्य प्रकृत को प्ररूपित करते हैं—

लोहाचार्ये स्वर्गलोकं गते आचारदिवाकरोऽस्तमितः। एवं द्वादशांगेषु दिनकरेषु भरतक्षेत्रेऽस्तमितेषु शेषाचार्याः सर्वेषामंग-पूर्वाणामेकदेशभूत 'पेज्जदोसपाहुड'- 'महाकम्मपयडिपाहुड' आदीनां धारका जाताः। एवं प्रमाणीभूतमहर्षिप्रणालीभिरागत्य महाकर्मप्रकृतिप्राभृतामृतजलप्रवाहो धरसेनभट्टारकं संप्राप्तः। तेनाप्याचार्येण गिरिनगरचन्द्रगुफायां भूतबलि-पुष्पदन्ताभ्यां महाकर्मप्रकृतिप्राभृतं सकलं समर्पितम्। ततो भूतबलिभट्टारकेण श्रुतनदीप्रवाहव्युच्छेदभीतेन भव्यलोकानुग्रहार्थं महाकर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसंहृत्य षट्खण्डानि कृतानि। ततः त्रिकालगोचराशेषपदार्थविषयप्रत्यक्षान्तकेवलज्ञानप्रभावात् प्रमाणीभूताचार्यप्रणालीभिरागतत्वात् दृष्टेष्टविरोधाभावात् प्रमाणमेषो ग्रन्थः। तस्मान्मोक्षांकाक्षिणा भव्यलोकेन अभ्यसनीयः। नैष ग्रन्थः स्तोक इति मोक्षकार्यजननं प्रत्यसमर्थः, अमृतघटशतपाने यत्फलं तदेव चुलुकप्रमाणअमृतपानेऽपि लभ्यते।

तदेव कथ्यते श्रीधवलाटीकायां—

“ण एसो गंधो थोवो त्ति मोक्खकज्जजणणं पडि असमत्थो, अमियघडसयवाणफलस्स चुलुवामियवाणे वि उवलंभादो१।”

एवं मंगल-निमित्त-हेतु-नाम-प्रमाण-कर्तृणां षण्णां विशेषेण विस्तृतविवेचनं कृतं श्रीमदवीरसेनाचार्येण धवलाटीकायां। अत्र तु धवलाटीकामवलम्ब्य सिद्धान्तचिन्तामणिटीकायां मया संक्षिप्तीकृत्य लिखितम्।

इतो विशेषः—

लोहाचार्य के स्वर्गलोक को प्राप्त होने पर आचारांगरूपी सूर्य अस्त हो गया। इस प्रकार भरतक्षेत्र में बारह अंगरूपी सूर्यों के अस्तमित हो जाने पर शेष आचार्य सब अंग-पूर्वों के एकदेशभूत 'पेज्जदोस' और 'महाकम्मपयडिपाहुड' आदिकों के धारक हुए। इस प्रकार प्रमाणीभूत, महर्षिरूप प्रणाली से आकर महाकम्मपयडिपाहुडरूप अमृत जल प्रवाह धरसेन भट्टारक को प्राप्त हुआ। उन्होंने भी गिरिनार की चन्द्र गुफा में सम्पूर्ण महाकम्मपयडिपाहुड श्री भूतबलि और पुष्पदन्त मुनियों को अर्पित किया। पश्चात् श्रुतरूपी नदी प्रवाह के व्युच्छेद से भयभीत हुए श्री भूतबलि भट्टारक ने भव्य जनों के अनुग्रहार्थ महाकम्मप्रकृतिप्राभृत का उपसंहार करके छह खण्ड (षट्खण्डागम) किये—रचे। अतएव त्रिकाल विषयक समस्त पदार्थों को विषय करने वाले प्रत्यक्ष अनन्त केवलज्ञान के प्रभाव से प्रमाणीभूत आचार्यरूप प्रणाली से आने के कारण प्रत्यक्ष व अनुमान से चूँकि विरोध से रहित है अतः यह ग्रंथ प्रमाण है। इस कारण मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को इसका अभ्यास करना चाहिए। चूँकि यह ग्रंथ स्तोक है अतः वह मोक्षरूप कार्य को उत्पन्न करने के लिए असमर्थ है, ऐसा विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि अमृत के सौ घड़ों के पीने का फल चुल्लू प्रमाण अमृत के पीने में भी पाया जाता है।

इसी को धवला टीका में कहा है—

“ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि यह ग्रंथ स्तोक होने से मोक्षरूप कार्य को उत्पन्न करने के लिए असमर्थ है, क्योंकि अमृत के सौ घड़ों के पीने का जो फल प्राप्त होता है, वही फल चुल्लू भर अमृत पीने से भी प्राप्त हो सकता है।”

इस प्रकार श्री वीरसेनाचार्य ने धवलाटीका में मंगल, निमित्त, हेतु, नाम, प्रमाण और कर्ता इन छह का विस्तृत विवेचन किया है। यहाँ इस सिद्धान्तचिन्तामणिटीका में मैंने धवला टीका का अवलम्बन लेकर उसे संक्षिप्त करके लिखा है।

यहाँ विशेष कथन करते हैं—

अत्र वेदनानाम चतुर्थखण्डस्य प्रारम्भे श्रीमद्भूतबलिभट्टारकैः श्रीमद्गौतमस्वामिकृतगणधरवलयमंत्राः मंगलाचरणरूपेण अवतारिताः। श्रीवीरसेनाचार्यैर्धवलाटीकायां तेषां मंत्राणां अर्थो विशदीकृतोऽस्ति। एते मंत्राश्चतुश्चत्वारिंशत् वर्तन्ते। श्रीमद्गौतमस्वामिकृतपाक्षिकप्रतिक्रमणे इमे मंत्रा अष्टचत्वारिंशत् सन्ति। मया स्थाने-स्थाने सूचितास्ते मंत्राः।

अस्यां सिद्धान्तचिन्तामणिटीकायां मया संक्षेपेण विशिष्टार्थाः संग्रहीताः सन्ति। विस्तरस्तु धवला-टीकायामेव द्रष्टव्योऽस्ति।

वयं तु प्रत्यहं ब्राह्ममुहूर्ते उत्थाय वैरात्रिकस्वाध्यायं प्रतिष्ठाप्य एतान् मंत्रान् पठामः भवन्तोऽपि पठन्तु इति प्रेरणां करोम्यहम्।

एवं पंचदशस्थले वर्तमानशासनपति-श्रीमहावीरस्वामि नमस्कारपरत्वेन तेषां ग्रन्थकर्तृणां जीवनपरिचयकथनत्वेन कृतज्ञताज्ञापनपरत्वेन च एकं सूत्रं गतम्।

गणधरवलयस्तुतिः

(अनुष्टुप्छन्दः)

जिनेभ्यः सर्वसिद्धेभ्यः, नमो देशजिनाश्च ये।

सूरिपाठकयोगीन्द्रा-स्तेभ्योऽपि सततं नमः॥१॥

देशावधिजिनाः सर्वा-वधिश्रेष्ठर्द्धिभूषिताः।

परमावधियुक्ताश्च, सर्वेभ्यो मे नमो नमः॥२॥

यहाँ इस वेदना नामक चतुर्थ खण्ड के प्रारंभ में श्री भूतबली भट्टारक के द्वारा श्रीमान् गौतम स्वामी रचित गणधरवलय मंत्रों को मंगलाचरणरूप से अवतरित किया गया है। श्री वीरसेनाचार्य ने धवला टीका में उन मंत्रों का विस्तृत अर्थ किया है। ये मंत्र चवालिस संख्याप्रमाण हैं। श्री गौतम स्वामी द्वारा रचित पाक्षिक प्रतिक्रमण में ये मंत्र अड़तालिस हैं। मैंने यथास्थान उन मंत्रों को सूचित किया है—बतलाया है।

इस सिद्धान्तचिन्तामणिटीका में मैंने संक्षेप में ही विशेष अर्थ को संग्रहीत किया है। विस्तृत अर्थ की जानकारी हेतु धवला टीका में ही देखना चाहिए।

हम लोग प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में उठकर वैरात्रिक स्वाध्याय की प्रतिष्ठापना विधि करके (लघु श्रुतभक्ति और आचार्यभक्तिपूर्वक) सर्वप्रथम ये गणधरवलय मंत्र पढ़ते हैं, आप लोग भी इन मंत्रों को पढ़ें, ऐसी मेरी प्रेरणा है।

इस प्रकार पन्द्रहवें स्थल में वर्तमान शासनपति श्री महावीर स्वामी को नमस्कार करने की मुख्यता से उन ग्रन्थकर्ता का जीवन परिचय बतलाने वाला एवं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ।

गणधरवलय स्तुति

नोट—पूर्व में जो णमो जिणाणं आदि मंत्र पद आये हैं, उन्हीं के आधार से यह संस्कृत स्तुति टीकाकर्त्री पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने रची है।

श्लोकार्थ—‘णमो जिणाणं’ पद से समस्त अर्हन्त-सिद्ध परमेष्ठियों को नमस्कार हो तथा आचार्य-उपाध्याय और साधु परमेष्ठी के रूप में जितने भी देशजिन हैं, उनको मेरा सतत नमस्कार हो॥१॥

“णमो ओहिजिणाणं” मंत्र के द्वारा देशावधि जिनों को, “णमो सव्वोहिजिणाणं” पद से श्रेष्ठ ऋद्धियों से समन्वित सर्वावधि जिनों को नमस्कार हो तथा “णमो परमोहिजिणाणं” पद से सभी परमावधि जिनों को

अनन्तावधियुक्तेभ्यः, केवलिभ्यो नमो नमः।

सर्वर्द्धिभूषितेभ्याश्चानन्तसौख्यं दिशंतु मे॥३॥

कोष्ठबुद्धियुताः ऋद्धि-धराः सर्वे मुनीश्वराः।

तेभ्यो नमो नमः संतु, मम बुद्धिविशुद्धये॥४॥

बीजबुद्धियुतान् साधून्, सम्पूर्णश्रुतधारकान्।

वंदे बीजर्द्धिसंप्राप्त्यै, सर्वान् गणधरान् गुरून्॥५॥

पदानुसारिबुद्धिभ्यो, युतांस्त्रिभेदभूषितान्।

ऋद्धिप्राप्तयतीन् वंदे, नित्यं सर्वार्थसिद्धये॥६॥

अक्षरानक्षराभाषाः, संख्याताः शृणुयुःसकृत्।

तेभ्यः संभिन्नश्रोतृर्द्धिसंयतेभ्यो नमो नमः॥७॥

स्वयंबुद्धमुनीन्द्राश्च, प्रत्येकबुद्धसंयताः।

बोधितबुद्धयोगीशास्तेभ्यश्च त्रिविधं नमः॥८॥

ऋजुमतिधरान् वंदे, विपुलमतिसंयुतान्।

मनःपर्ययबोधर्द्धि-भूषितांश्च स्तवीम्यहं॥९॥

दशपूर्वज्ञ-योगीशान्, चतुर्दशसुपूर्वगान्।

श्रुतपारगसर्वाश्च स्तौमि पूर्णश्रुताप्तये॥१०॥

बारम्बार नमस्कार हो॥२॥

“णमो अणंतोहिजिणाणं” पद से अनन्त अवधि जिनके हैं, ऐसे सर्वऋद्धियों से विभूषित अनन्तावधि जिन केवलज्ञानियों को नमस्कार हो, वे मुझे अनन्त सौख्य प्रदान करें॥३॥

“णमो कोट्टुबुद्धीणं” नामक छठा मंत्र है इसके द्वारा कोठार में भरे धान्य के समान ऋद्धिधारी सभी मुनीश्वरों को निज बुद्धि की विशुद्धि हेतु बारम्बार नमस्कार है॥४॥

सातवाँ “णमो बीजबुद्धीणं” पद है, इसके माध्यम से सम्पूर्ण श्रुत के धारक समस्त गणधर गुरुओं को बीजबुद्धि ऋद्धि की प्राप्ति हेतु मैं वंदना करता हूँ॥५॥

“णमो पादानुसारीणं” पद से तीन भेद युक्त इस ऋद्धि को प्राप्त मुनियों को मैं सर्वार्थसिद्धि—सम्पूर्ण मनोरथ की सिद्धि हेतु नमन करता हूँ॥६॥

जो जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि को संख्यातों भाषा में अक्षर और अनक्षररूप से अपनी श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा श्रवण कर लेते हैं उन संभिन्नश्रोतृऋद्धि समन्वित यतियों की मैं बारम्बार वंदना करता हूँ॥७॥

स्वयंबुद्ध ऋद्धि धारक, प्रत्येकबुद्धऋद्धिसंयुक्त एवं बोधितबुद्धऋद्धिसंपन्न योगियों को मन-वचन-काय से मेरा नमस्कार हो॥८॥

ऋजुमति मनःपर्यय एवं विपुलमति मनःपर्ययज्ञान की ऋद्धि से भूषित मुनियों की मैं स्तुति करता हूँ॥९॥

दशपूर्व के ज्ञाता मुनियों की ऋद्धि को तथा सम्पूर्ण श्रुत के पारगामी चौदहपूर्व ऋद्धिधारक मुनियों का पूर्ण श्रुत की प्राप्ति हेतु मैं स्तवन करता हूँ॥१०॥

नौम्यष्टांगनिमित्तज्ञान्, महाकुशलयोगिनः।

कुशलाकुशलज्ञांश्च, संतु मे कुशलाप्तये॥११॥

अणिमामहिमाद्यैर्ये, विक्रयर्द्धियुताश्च तान्।

नमामि स्वात्मलाभाय, भवदुःखविहानये॥१२॥

तपोभिःसिद्धविद्याभिर्युता विद्याधरर्षयः।

विद्यानुवादपूर्वज्ञास्तेभ्यो नित्यं नमोऽस्तु मे॥१३॥

जंघाकाशजलाद्यष्ट-चारणर्द्धिविभूषिताः।

तेभ्यो नमोऽस्तु साधुभ्यः, ऋद्धिं सिद्धिं दिशंतु मे॥१४॥

प्रज्ञाश्रमणयोगीन्द्राः, चतुःप्रज्ञायुता सदा।

नमस्तेभ्यो गणेशेभ्यो, मम प्रज्ञाविशुद्धये॥१५॥

आकाशगामिनो नित्यं, तपोमाहात्म्यतः स्वयं।

तेभ्यो नमोऽस्तु मे कुर्यु-रूर्ध्वगतिमनश्चरीं॥१६॥

आशीर्विषान् मुनीन् वंदे, रागद्वेषविवर्जितान्।

दृष्टिविषांश्च तान् साधूनृद्धिप्राप्तान् सदा स्तुवे॥१७॥

उग्रतपोयुतान् साधून्, महोग्रोग्रोपवासिनः।

तपःऋद्ध्या महांतस्तान्, नौमि तपःप्रवृद्धये॥१८॥

अपने निमित्तज्ञान से प्राणियों का कुशल-अकुशल जानने वाले अष्टांगमहानिमित्तकुशल ऋद्धिधारक योगियों को कुशलता—शुभ फल की प्राप्ति हेतु मेरा नमन है॥११॥

अणिमा, महिमा आदि आठ भेद वाली विक्रिया ऋद्धि से युक्त यतियों को स्वात्मलाभ के लिए और संसार दुःखों की हानि हेतु मैं नमन करता हूँ॥१२॥

कठोर तपस्या के द्वारा सिद्ध की गई विद्याओं से युक्त विद्यानुवादपूर्व के ज्ञाता विद्याधर—विद्याधारण करने वाले ऋद्धिधारक ऋषियों को मेरा नित्य ही नमस्कार होवे॥१३॥

जंघाचारण, आकाशचारण, जलचारण आदि आठ प्रकार की चारणऋद्धियों से समन्वित चारणर्द्धि मुनियों को नमस्कार हो, वे मुझे ऋद्धि-सिद्धि को प्रदान करें॥१४॥

चार प्रकार की प्रज्ञा (औत्पत्तिक, वैनयिक, कर्मजा और स्वाभाविक) से युक्त प्रज्ञाश्रमण योगीन्द्रों को—गणधरों को अपनी प्रज्ञा-बुद्धि की विशुद्धि हेतु मेरा नमस्कार होवे॥१५॥

तप के माहात्म्य से जो मुनि नित्य ही आकाश में गमन करते हैं, उन आकाशगामी ऋद्धिधारक गणधर मुनिराजों को नमस्कार हो, वे मुझे अविनश्चर ऊर्ध्वगति प्रदान करें॥१६॥

राग-द्वेष से रहित आशीर्विष ऋद्धिधारक मुनियों की मैं वंदना करता हूँ तथा दृष्टिविष ऋद्धिधारक साधुओं की भी मैं सदा स्तुति करता हूँ॥१७॥

महा उग्रोग्र व्रत-उपवासों को करने वाले उग्रतप ऋद्धिधारी मुनियों को तप की वृद्धि हेतु मैं नमन करता हूँ॥१८॥

दीप्ततपोमहर्द्ध्या ये, तनुदीप्त्या च वर्धिताः।

निराहारा जगत्पूज्यास्तान् नमामि स्वसिद्धये॥१९॥

तप्ततपोयुतान् साधून्, नत्वाभ्यन्तरशुद्धये।

महातपोयुतान् वंदे, तान् सर्वर्द्ध्या समन्वितान्॥२०॥

तीव्रघोरतपोयुक्तान्, कायक्लेशादिभिर्युतान्।

निर्भीकान् मुक्तिकामांस्तान्, तपःसिद्धयै नमाम्यहं॥२१॥

नमो घोरगुणर्द्धिभ्यो, जिनेभ्यः तद्गुणाप्तये।

चतुरशीतिलक्षैश्च गुणैर्युक्तान् स्तुवे मुदा॥२२॥

घोरपराक्रमैर्युक्तान्, तपःऋद्ध्या विभूषितान्।

नमामि घोरकर्मारि-हानये स्वात्मसिद्धये॥२३॥

घोरगुणयुता ब्रह्मचारिणः ऋद्धिशालिनः।

सर्वोपद्रवनाशाय, तान् मुनीन् संस्तवीम्यहं॥२४॥

येषां संस्पर्शनात् सर्वे, रोगा नश्यन्ति देहिनां।

आमर्षौषधियुक्तांस्तान् वंदे सर्वात्तिहानये॥२५॥

येषां क्ष्वेलमलाद्याः स्युः, रोगापनयने क्षमाः।

संयतांस्तान् प्रवंदेऽहं, क्ष्वेलौषधियुतान् गुरून्॥२६॥

जो निराहार — आहार रहित होकर भी दीप्ततप ऋद्धि के द्वारा अपने शरीर की दीप्ति से वृद्धिगत होते रहते हैं, उन दीप्ततप ऋद्धिधारक मुनियों को अपनी सिद्धि हेतु मैं नमस्कार करता हूँ॥१९॥

सर्वऋद्धि से संयुक्त महान् तपस्वी तप्ततपऋद्धिधारक साधुओं को नमन करके महातपस्वी गणधर मुनियों की मैं अपने परिणामों की विशुद्धि के लिए वंदना करता हूँ॥२०॥

तीव्र कायक्लेशादि तपस्या से युक्त, निर्भीक और मुक्ति के अभिलाषी महातपऋद्धि के धारक गणधर मुनियों को अपने तप की सिद्धि हेतु मैं नमस्कार करता हूँ॥२१॥

चौरासी लाख गुणों से युक्त घोरगुण ऋद्धिधारक जिनों को उनके गुणों की प्राप्ति हेतु मैं नमन करता हूँ॥२२॥

घोर पराक्रम गुणों से समन्वित तप ऋद्धि से विभूषित गणधर मुनियों को मैं अपने घोर कर्मों को नष्ट करने हेतु स्वात्मसिद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ॥२३॥

घोरगुणों से सहित घोरगुण ब्रह्मचर्य ऋद्धिशाली मुनियों का मैं समस्त उपद्रवों के नाश करने हेतु संस्तवन करता हूँ॥२४॥

जिनके स्पर्शमात्र से प्राणियों के रोग नष्ट हो जाते हैं उन आमर्षौषधिऋद्धिधारी गणधर मुनिराजों को समस्त रोग निवारण हेतु मैं वंदना करता हूँ॥२५॥

जिन मुनियों का थूक-मल आदि प्राणियों के रोग हरण करने में सक्षम है उन क्ष्वेलौषधि ऋद्धियुक्त गुरुओं की — संयतों की मैं वंदना करता हूँ॥२६॥

येषां स्वेदरजोलग्नाः, मला रोगान् नुदन्ति तान्।

वंदे जल्लौषधिप्राप्तान्, भवव्याधिविहानये॥२७॥

येषां उच्चारमूत्राद्याः, सर्वरोगापहारिणः।

विप्रौषधियुक्तांस्तान्, वंदे सर्वार्तिशांतये॥२८॥

ये सर्वौषधिसंप्राप्ताः, सर्वजीवोपकारिणः।

सर्वव्याधिविनाशाय, तेभ्यो नित्यं नमो नमः॥२९॥

मुहूर्तमात्रकालेन, द्वादशांगश्रुतं मुदा।

चिंतयन्ति नमाम्येतान्, मनोबलयुतानृषीन्॥३०॥

मुहूर्तमात्रकालेन, द्वादशांगं पठन्ति ये।

उच्चैःस्वरैर्न खिद्यन्ते, तान् वचोबलिनः स्तुवे॥३१॥

तपोमाहात्म्यतः लोकं, समुद्धर्तुं क्षमाश्च ये।

कायशक्तियुतान् नौमि, कायबलिमुनीश्वरान्॥३२॥

करपात्रगतं येषां, विषं दुग्धं भवेत् सदा।

क्षीरवद्वचनं चापि, तान् क्षीरस्त्रविणः स्तुवे॥३३॥

येषां तपःप्रभावेण, नीरसं करपात्रगं।

घृतं जायेत तत्सर्वं, तान् सर्पिःस्त्रविणः स्तुवे॥३४॥

जिनके शरीर का पसीना, रजकण, अंगों का मल भी रोगों को नष्ट करने वाला है उन जल्लौषधि ऋद्धिप्राप्त ऋषियों की मैं अपने संसार व्याधियों का विनाश करने हेतु वंदना करता हूँ॥२७॥

जिनका मल-मूत्र आदि प्राणियों के समस्त रोगों को हरने वाला है उन विप्रौषधिऋद्धि युक्त गणधर मुनियों की समस्त पीड़ा की शान्ति हेतु मैं वंदना करता हूँ॥२८॥

समस्त संसारी जीवों का उपकार करने वाले सर्वौषधिऋद्धि प्राप्त मुनियों को मैं सभी व्याधियों के विनाशन हेतु नित्य ही बारम्बार नमन करता हूँ॥२९॥

जो एक मुहूर्त मात्र काल में सम्पूर्ण द्वादशांगमयीश्रुत का चिन्तन कर लेते हैं, उन मनोबलऋद्धियुक्त मुनियों को नमस्कार करता हूँ॥३०॥

जो एक मुहूर्त मात्र काल में सम्पूर्ण द्वादशांग का पाठ उच्च स्वर से कर लेते हैं फिर भी श्रम का अनुभव नहीं करते हैं उन वचनबल ऋद्धिधारक मुनियों का मैं स्तवन करता हूँ॥३१॥

अपने तप के प्रभाव से जो तीन लोक को भी उठाने में सक्षम हैं, उन कायशक्ति से युक्त कायबल ऋद्धिधारक मुनियों को मैं नमन करता हूँ॥३२॥

जिनके करपात्र में आया हुआ विष भी दूधरूप परिणत हो जाता है और जिनके वचन भी क्षीर के समान मधुर हो जाते हैं, उन क्षीरस्त्रावी ऋद्धिधारी मुनियों की मैं स्तुति करता हूँ॥३३॥

जिनके तप के प्रभाव से करपात्र को प्राप्त नीरस भोजन भी घृत के समान चिकना और पौष्टिक हो जाता है उन सर्पिःस्त्रावी ऋद्धियुक्त मुनीश्वरों की मैं स्तुति करता हूँ॥३४॥

येषां हस्तगताहारं, जायते मधुरं तथा।
 वाचोऽपि यांति माधुर्यं, तान् मधुस्त्रविणः स्तुवे॥३५॥
 करपात्रगतं येषा-माहारममृतं भवेत्।
 पीयूषं वचनं चापि, तान् सुधास्त्रविणः स्तुवे॥३६॥
 येषामाहारमन्वन्न-मक्षीणं तद्दिनं तथा।
 अक्षीणा वसतिर्भूयात्, तानक्षीणद्धिगान् स्तुवे॥३७॥
 वर्धमानगुणैर्युक्तान्, वर्द्धमानजिनान् स्तुवे।
 ऋद्धिसिद्धिसमेतान् तान्, ऋद्धिसिद्धिप्रवृद्धये॥३८॥
 लोके सर्वनिषद्याः स्युः, जिनबिम्बजिनालयान्।
 चंपापावादिक्षेत्रं च, सिद्धायतनानि स्तुवे॥३९॥
 श्रीभगवन्महावीरं, महान्तं नौम्यहं सदा।
 वर्धमानं सुबुद्धिर्षिं, वंदे सर्वार्थसिद्धये॥४०॥
 इत्थं गणधरेशानां, मंत्रान् पठति यो मुदा।
 स प्राप्नोत्यचिरं सिद्धि-महज्ज्ञानमतिं ध्रुवाम्॥४१॥
 ॥इति गणधरवलयस्तुतिः॥

जिनके हाथों में आया हुआ आहार मधु—शहद के समान मधुर—मीठा हो जाता है तथा जिनके वचन भी मिष्ट माधुर्य से परिपूर्ण होते हैं उन मधुस्त्रावि ऋद्धिधारी गणधर मुनियों का मैं स्तवन करता हूँ॥३५॥

जिनके करपात्र में आया आहार अमृत बन जाता है और जिनकी वाणी भी अमृतमयी होती है उन सुधास्त्राविऋद्धिधारक मुनियों की मैं स्तुति करता हूँ॥३६॥

जिनके आहार करने से चौके का भोजन उस दिन अक्षय हो जाता है और जहाँ जिस वसतिका में वे विराजमान होते हैं उस स्थान में भी अक्षयता हो जाने से कितने ही लोग वहाँ बैठ जावें, किन्तु स्थान कम नहीं पड़ता है, उन अक्षीणऋद्धिधारक मुनियों का मैं स्तवन करता हूँ॥३७॥

निरन्तर वृद्धिगत होने वाले वर्धमान गुणों से युक्त, ऋद्धि-सिद्धि से समन्वित वर्धमान महावीर जिनेन्द्र की मैं अपनी ऋद्धि-सिद्धि की वृद्धि हेतु स्तुति करता हूँ॥३८॥

लोक में जितने भी जिनबिम्ब और जिनालय हैं तथा चम्पापुर, पावापुर आदि सिद्धक्षेत्र हैं उन सभी निषद्यास्थलरूप सिद्धायतनों को मैं नमस्कार करता हूँ॥३९॥

श्री वर्धमान भगवान महावीर बुद्धिर्षि की समस्त प्रयोजनों की सिद्धि हेतु वंदना करता हूँ॥४०॥

इस प्रकार श्री गौतम गणधर द्वारा रचित गणधरवलय मंत्रों को जो भव्यजन नित्य ही पढ़ते हैं, वे शीघ्र ही अर्हन्त भगवान की कैवल्यज्ञानमतीरूपी अविनाशी लक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं॥४१॥

॥ इस प्रकार गणधरवलय स्तुति समाप्त हुई ॥

इति श्रीमद्भगवत्पुष्पदन्तभूतबलिप्रणीतषट्खण्डागमग्रन्थस्य वेदनानाम्नि चतुर्थखण्डे
 श्रीभूतबलिसूरिवर्यकृत-वेदनाखण्डान्तर्गतप्रथमकृति-अनुयोगद्वारस्य श्रीवीरसेनचार्य-
 विरचित-धवलाटीकादिनानाग्रन्थाधारेण विरचितायां विंशतितमे शताब्दौ
 प्रथमाचार्यश्चारित्रचक्रवर्ती श्रीशांतिसागरस्तस्य प्रथमपट्टाधीशः
 श्री वीरसागराचार्यस्तस्य शिष्या जम्बूद्वीपरचना-श्रीऋषभदेवान्त-
 र्राष्ट्रीयनिर्वाणमहामहोत्सवप्रेरिका-गणिनीज्ञानमतीकृत-
 सिद्धान्तचिन्तामणिटीकायां गणधरवल्लय-
 मंत्रसमन्वितमंगलाचरणप्ररूपकोऽयं
 प्रथमो महाधिकारः समाप्तः।

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् पुष्पदन्त-भूतबली द्वारा प्रणीत षट्खण्डागम ग्रंथ में वेदना नाम के
 चतुर्थ खण्ड में श्री भूतबली आचार्य रचित वेदनाखण्ड के अन्तर्गत प्रथम कृति अनुयोगद्वार
 की श्रीवीरसेनाचार्य विरचित धवला टीका आदि नाना ग्रंथों के आधार से विरचित बीसवीं
 सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर महाराज उनके प्रथम शिष्य
 प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर महाराज की शिष्या जम्बूद्वीप रचना
 एवं श्री ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव की प्रेरिका गणिनी
 ज्ञानमती माताजी द्वारा रचित सिद्धान्तचिन्तामणिटीका में
 गणधरवल्लय मंत्र से समन्वित मंगलाचरण का
 प्ररूपक प्रथम महाधिकार
 समाप्त हुआ।



अथ कृति-अनुयोगद्वारम् (चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारेषु प्रथमानुयोगद्वारम्) द्वितीयो महाधिकारः

मंगलाचरणम्

सुदर्शनमेरुवन्दना

तीर्थकर-स्नपननीर-पवित्र जातः, तुंगोऽस्ति यस्त्रिभुवने निखिलाद्रितोऽपि।
देवेन्द्र-दानव-नरेन्द्र-खगेन्द्रवन्द्यः, तं श्रीसुदर्शनगिरिं सततं नमामि॥१॥
यो भद्रसालवन-नन्दन सौमनस्यैः, भातीह पाण्डुकवनेन च शाश्वतोऽपि।
चैत्यालयान् प्रतिवनं चतुरो विधत्ते, तं श्रीसुदर्शनगिरिं सततं नमामि॥२॥
जन्माभिषेकविधये जिनबालकानाम्, वन्द्याः सदा यतिवरैरपि पाण्डुकाद्याः।
धत्ते विदिक्षु महनीयशिलाश्चतसृः, तं श्रीसुदर्शनगिरिं सततं नमामि॥३॥
योगीश्वराः प्रतिदिनं विहरन्ति यत्र, शान्त्यैषिणः समरसैक-पिपासवश्च।
ते चारणद्वि-सफलं खलु कुर्वतेऽत्र, तं श्रीसुदर्शनगिरिं सततं नमामि॥४॥

अथ कृति अनुयोगद्वार में द्वितीय महाधिकार प्रारंभ

मंगलाचरण

सुदर्शनमेरु वन्दना

जो तीर्थकरों के स्नपन—जन्माभिषेक के जल से पवित्र है, तीनों लोकों में समस्त पर्वतों में सबसे ऊँचा है। देवेन्द्र, दानव—असुरेन्द्र, नरेन्द्र और विद्याधरों से वन्द्य है, उस सुदर्शन मेरुगिरि—सुमेरुपर्वत को मैं सतत नमस्कार करता हूँ॥१॥

जो भद्रसाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुकवन से सदैव सुशोभित रहता है, शाश्वत है—अनादिनिधन है और जिसके चारों वनों में चार-चार चैत्यालय अर्थात् १६ चैत्यालय हैं, ऐसे उस सुदर्शनमेरुगिरि—सुमेरुपर्वत को मैं सतत नमस्कार करता हूँ॥२॥

जिनेन्द्र शिशु—तीर्थकर बालक के जन्माभिषेक के समय चारणऋद्धिधारी यतिगणों से भी जो सदैव वन्द्य है, जहाँ पाण्डुकवन की चार विदिशाओं में पाण्डुक आदि चार पवित्र शिलाएँ हैं, उस सुदर्शनमेरुगिरि—सुमेरुपर्वत को मैं सतत नमस्कार करता हूँ॥३॥

जहाँ योगीश्वर—मुनिगण प्रतिदिन विहार करते रहते हैं तथा शांति के इच्छुक, समतारस के पिपासु चारणऋद्धिधारी मुनिजन जिसकी वन्दना करके अपने जन्म को सफल करते हैं, उस सुदर्शनमेरुगिरि—सुमेरुपर्वत को मैं सतत नमस्कार करता हूँ॥४॥

१. वैशाखकृष्णापञ्चम्यां हस्तिनापुरतीर्थे जम्बूद्वीपस्थले तृतीयजम्बूद्वीपमहामहोत्सवावसरे अस्य सुदर्शनमेरोः जिनप्रतिमानां अष्टोत्तरसहस्रकलशैर्महामस्तकाभिषेको भविष्यति।

अर्हददिव्यध्वनिं वन्दे, द्वादशांगीं सरस्वतीम्।
 अग्रायणीयपूर्वं च, षट्खण्डाभिधमागमम्॥१॥
 जिनागमाध्ययनेन, चित्ताह्लादं विवर्धते।
 आह्लादेन मनः शान्ति-र्भावशुद्धिश्च जायते॥२॥
 तथा च शुक्लध्यानाप्तिः, शुक्लध्यानेन केवलम्।
 ततश्च वाङ्मयं जैनं, सर्वं भक्त्या प्रणूयते॥३॥

अथ श्रीमद्भूतबलिसूरिवर्याः चतुर्विंशति-अनुयोगद्वार-निरूपणार्थं गणधरवल्लयमन्त्रैर्बृहद्वरूपेण मंगलाचरणं विधाय अधुना अनुयोगद्वारस्योत्पत्तिनामादिनिरूपणं कृत्वा कृत्यनुयोगद्वारनाम्ना प्रथमानुयोगद्वारं अस्मिन् ग्रन्थे प्ररूपयन्ति।

अथ तावत् दशभिः स्थलैर्द्वात्रिंशत्सूत्रेषु द्वितीयो महाधिकारः सूच्यते। तत्र तावत् प्रथमस्थले एतद्ग्रन्थस्य उत्पत्तिभूतद्वितीयपूर्वस्यान्तर्गतचतुर्विंशति-अनियोगद्वाराणां नामनिरूपणार्थं 'अग्गेणियस्स' इत्यादिना एकं सूत्रं अस्ति। तदनु द्वितीयस्थले कृतेः सप्तविधत्वं प्रतिपाद्य नयापेक्षया एतासां कृतीनां प्ररूपणार्थं 'कदि त्ति' इत्यादिना पंचसूत्राणि सन्ति। तदनंतरं तृतीयस्थले नामकृतिप्रतिपादनार्थं 'जा सा णामकदी' इत्यादिसूत्रमेकं। ततः चतुर्थस्थले स्थापनाकृतिलक्षणभेदकथनार्थं 'जा सा ठवणकदी' इत्यादि सूत्रमेकं। ततश्च पंचमस्थले द्रव्यकृतेः भेद-प्रभेद-प्रतिपादनपराणि 'जा सा दव्वकदी' इत्यादिना त्रयोदश सूत्राणि निरूपयिष्यन्ते। पुनः षष्ठस्थले गणनाकृति लक्षणभेद-प्रभेद प्रतिपादनार्थं 'जा सा गणणकदी' इत्यादिना एकं सूत्रं कथयिष्यते। पुनश्च सप्तमस्थले ग्रन्थकृतिकथनपरं 'जा सा गंथकदी' इत्यादिसूत्रमेकं। पुनरपि

श्लोकार्थ — द्वादशांगमयी सरस्वतीरूप अर्हन्त भगवान् की दिव्यध्वनि को मैं वंदन करता हूँ और षट्खण्डागम नामक श्रुत जिससे प्रगट हुआ है, ऐसे अग्रायणीयपूर्व को मेरा नमन है॥१॥

जिनागम के अध्ययन से चित्त में आल्हाद — प्रसन्नता की वृद्धि होती है तथा उस आल्हाद से मानसिक शान्ति एवं भावों की शुद्धि होती है॥२॥

उस भाव विशुद्धि के द्वारा शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है तथा शुक्ल ध्यान से केवलज्ञान उत्पन्न होता है उसी से पुनः जैन वाङ्मय प्रगट होता है अतः इन सभी को भक्तिपूर्वक मेरा बारम्बार नमस्कार है॥३॥

श्रीमान् भूतबली आचार्यवर्य चौबीस अनुयोगद्वारों का निरूपण करने हेतु गणधरवल्लय मंत्रों के द्वारा बृहद् रूप में मंगलाचरण करके अब अनुयोगद्वार की उत्पत्ति, नाम आदि का निरूपण करके कृति अनुयोगद्वार नाम से प्रथम अनुयोगद्वार को इसमें प्ररूपित कर रहे हैं।

अब दश स्थलों में बत्तीस सूत्रों के द्वारा द्वितीय महाधिकार सूचित किया जा रहा है। उनमें से प्रथम स्थल में इस ग्रंथ का उत्पत्तिभूत द्वितीय पूर्व के अन्तर्गत चौबीस अनियोगद्वारों के नाम निरूपण करने हेतु "अग्गेणियस्स" इत्यादि एक सूत्र है। पुनः द्वितीय स्थल में कृति के सात भेदों का प्रतिपादन करके नयों की अपेक्षा इन कृतियों का प्ररूपण करने के लिए "कदि त्ति" इत्यादि पाँच सूत्र हैं। तदनन्तर तृतीय स्थल में नाम कृति का प्रतिपादन करने हेतु "जा सा णामकदी" इत्यादि एक सूत्र है। आगे चतुर्थ स्थल में स्थापनाकृति का लक्षण और भेद बतलाने हेतु "जा सा ठवणकदी" इत्यादि एक सूत्र है। पुनः पंचम स्थल में द्रव्यकृति के भेद-प्रभेदों का कथन करने वाले "जा सा दव्वकदी" इत्यादि तेरह सूत्र हैं। पुनश्च छठे स्थल में गणनाकृति का लक्षण और उसके भेद-प्रभेदों का प्रतिपादक "गणनकदी" इत्यादि एक सूत्र कहेंगे। पुनः सातवें स्थल में

अष्टमस्थले करणकृतिलक्षणभेद-प्रभेद-सूचनार्थ 'जा सा करणकदी' इत्यादिना षट्सूत्राणि प्रतिपादयिष्यन्ते। तत्पश्चात् नवमस्थले 'भावकृतिप्रतिपादनार्थ 'जा सा भावकदी' इत्यादिसूत्रद्वयं। तदनन्तरं दशमस्थले अस्मिन् ग्रन्थे कतितमया कृत्या प्रयोजनमिति प्रश्नोत्तरप्रतिपादनपरं 'एदासिं' इत्यादिसूत्रमेकमिति दशभिः स्थलैः समुदाय पातनिका प्रतिपादिता भवति।

अधुना प्रकृतवेदनाखण्डग्रन्थस्य संबंधप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रं भण्यते श्रीमद्भूतबलिसूरिवर्येण —

अगोणियस्स पुव्वस्स पंचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयडी णाम। तत्थ इमाणि चउवीसअणिओगद्वाराणि णादव्वाणि भवंति, कदि वेदणाए पस्से कम्मे पयडीसु बंधणे णिबंधणे पक्कमे उवक्कमे उदए मोक्खे पुण संकमे लेस्सा-लेस्सायम्मे लेस्सापरिणामे तत्थेव सादमसादे दीहेरहस्से भवधारणीए तत्थ पोग्गलत्ता णिधत्तमणिधत्तं णिकाचिदमणि-काचिदं कम्मट्टिदिपच्छिमक्खंधे अप्पाबहुगं च सव्वत्थ।।४५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अग्रायणीयस्य द्वितीयपूर्वस्य पञ्चमस्य वस्तुनः यश्चतुर्थः प्राभृतस्तस्य कर्मप्रकृतिरिति नाम भवति। तत्रेमानि चतुर्विंशत्यनियोगद्वाराणि भवन्ति — कृति-वेदना-स्पर्श-कर्म-प्रकृति-बन्धन-निबन्धन-प्रक्रम-उपक्रम-उदय-मोक्ष-संक्रम-लेश्या-लेश्याकर्म-लेश्यापरिणाम-सातासात-दीर्घह्रस्व-भवधारणीय-

ग्रन्थकृति का कथन करने वाला "जा सा गंधकदी" इत्यादि एक सूत्र है। आगे आठवें स्थल में करणकृति का लक्षण और उसके भेद-प्रभेदों को सूचित करने वाले "जा सा करणकदी" इत्यादि छह सूत्रों का प्रतिपादन करेंगे। तत्पश्चात् नवमें स्थल में भावकृति का वर्णन करने हेतु "जा सा भावकदी" इत्यादि दो सूत्र हैं। तदनन्तर दशवें स्थल में इस ग्रंथ में कितने प्रकार की कृति से प्रयोजन है इस विषयक प्रश्नोत्तर का प्रतिपादन करने हेतु "एदासिं" इत्यादि एक सूत्र है। इस प्रकार दश अधिकारों के द्वारा समुदायपातनिका बताई गई है।

अब इस वेदनाखण्ड नामक ग्रंथ का संबंध प्रतिपादन करने हेतु श्री भूतबली आचार्य के द्वारा उत्तर सूत्र कहा जाता है —

सूत्रार्थ —

आग्रायणीय पूर्व की पंचम वस्तु के चतुर्थ प्राभृत का नाम कर्मप्रकृति है। उसमें ये चौबीस अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं — कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, बंधन, निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, वहाँ पर ही सातासात, दीर्घ-ह्रस्व, भवधारणीय, वहाँ पुद्गलात्त, निधत्तानिधत्त, निकाचिता-निकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिमस्कंध और अल्पबहुत्व।।४५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व की जो पंचम वस्तु है उसी के चतुर्थ प्राभृत का कर्मप्रकृति नाम है। उसमें जो चौबीस अनियोगद्वार हैं उनके नाम इस प्रकार हैं — कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, बंधन, निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सातासात, दीर्घह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्त, निधत्तानिधत्त, निकाचितानिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिमस्कंध

पुद्गलात्त-निधत्तानिधत्त-निकाचितानिकाचित-कर्मस्थिति-पश्चिमस्कंध-अल्पबहुत्वनामानि भवन्ति।

सर्वत्र सर्वेषां ग्रन्थानां उपक्रमो निक्षेपोऽनुगमो नयश्चेति चतुर्विधोऽवतारो भवति। तेषु 'उपक्रम्यते अनेनेति उपक्रमः', इति निरुक्त्या येन करणभूतेन नाम-प्रमाणादिभिर्ग्रन्थोऽवगम्यते स उपक्रमो नाम। आनुपूर्वि-नाम-प्रमाण-वक्तव्यता-अर्थाधिकारभेदेन उपक्रमः पञ्चविधः। तत्रानुपूर्वि-उपक्रमस्त्रिविधः-पूर्वानुपूर्वी पश्चादानुपूर्वी यथातथानुपूर्वी चेति। उद्दिष्टक्रमेणार्थाधिकारप्ररूपणा पूर्वानुपूर्वी नाम। विलोमेन प्ररूपणा पश्चादानुपूर्वी नाम। अनुलोमविलोमाभ्यां विना प्ररूपणा यथातथानुपूर्वी। न च प्ररूपणायाश्चतुर्थः प्रकारोऽस्ति, अनुपलंभात्।

नामोपक्रमो दशविधः—गौण्य-नोगौण्य-आदान-प्रतिपक्ष-प्राधान्य-नाम-प्रमाण-अवयव-संयोग-अनादिसिद्धान्तभेदेन। गुणेन निष्पन्नं-सिद्धं गौण्यं। यथा सूर्यस्य तपन-भास्कर-दिनकर संज्ञा, वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य सर्वज्ञ-वीतराग-अर्हत्-जिनादिसंज्ञाः। चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप इत्यादिनामानि नोगौण्यपदानि, नामयुक्ते पुरुषे शब्दार्थानुपलंभात्। छत्री मौली गर्भिणी अविधवा इत्यादि आदानपदनामानि। अगर्भिणी अमुकुटीत्यादि-प्रतिपक्षपदानि। अन्यैरपि वृक्षैः सहितानां कदम्ब-निम्ब-आम्रवृक्षाणां बहुत्वं दृष्ट्वा यानि कदम्ब-निम्ब-आम्रवननामानि तानि प्राधान्यपदानि। अरविन्दशब्दस्यारविन्दसंज्ञा नामपदं। शतं सहस्रमित्यादीनि प्रमाण-पदानि। अवयवो द्विविधः-समवेतोऽसमवेतश्च। श्लीपदो गलगण्डो दीर्घनासो लम्बकर्ण इति उपचितावयव-निबन्धनानि। छिन्नकरो छिन्ननासः काण इत्यादीनि अपचितनिबन्धनानि। संयोगो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावभेदेन-

और अल्पबहुत्व ये चौबीस अनियोगद्वार होते हैं।

सब जगह सब ग्रंथों का उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय इस प्रकार चार प्रकार का अवतार होता है। उनमें 'उपक्रम्यते अनेन इति उपक्रमः' इस निरुक्ति के अनुसार जिस साधन के द्वारा नाम व प्रमाणादिकों से ग्रंथ जाना जाता है वह उपक्रम है। यह उपक्रम आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार के भेद से पाँच प्रकार का है। उनमें आनुपूर्वी उपक्रम तीन प्रकार का है—पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी। उद्दिष्ट के क्रम से अर्थाधिकार की प्ररूपणा का नाम पूर्वानुपूर्वी है। विलोम—उल्टे क्रम से की गई प्ररूपणा पश्चादानुपूर्वी कहलाती है। अनुलोम व प्रतिलोम क्रम के बिना जो प्ररूपणा की जाती है, उसका नाम यथातथानुपूर्वी है। उनके अतिरिक्त प्ररूपणा का और कोई चतुर्थ प्रकार नहीं है, क्योंकि ऐसा कुछ पाया नहीं जाता है।

नाम उपक्रम के दश भेद होते हैं—गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद, संयोगपद और अनादिकसिद्धान्तपद। जो पद गुण से सिद्ध है वह गौण्य है। जैसे सूर्य के तपन, भास्कर एवं दिनकर नाम हैं एवं वर्द्धमान जिनेन्द्र के सर्वज्ञ, वीतराग, अरहन्त व जिन आदि नाम हैं। चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी व इन्द्रगोप इत्यादि नाम नौगौण्यपद हैं, क्योंकि इन नामों से युक्त पुरुषों में शब्दों का अर्थ नहीं पाया जाता है। दण्डी, छत्री, मौली, गर्भिणी और अविधवा इत्यादिक आदानपदरूप नाम हैं। अगर्भिणी व अमुकुटी (मुकुटहीन) इत्यादि प्रतिपक्षपद है। अन्य भी वृक्षों से सहित कदम्ब, नीम व आम के वृक्षों के बाहुल्य की अपेक्षा करके जो कदम्बवन, निम्बवन व आम्रवन नाम हैं वे प्राधान्यपद हैं। अरविन्द शब्द की अरविन्द संज्ञा नामपद है। शत, सहस्र इत्यादि प्रमाणपद हैं।

अवयव दो प्रकार का है—समवेत और असमवेत। श्लीपद, गलगण्ड, दीर्घनाम एवं लम्बकर्ण, ये नाम उपचितावयव अर्थात् अवयवों की वृद्धि के निमित्त से तथा छिन्नकर, छिन्ननास एवं काना इत्यादि नाम अवयवों की हानि के निमित्त से प्रसिद्ध हैं। संयोग द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का है।

चतुर्विधः। तत्र धनुरसिपरश्चादिद्रव्यसंयोगपदानि। भारत-ऐरावत-माथुर-मागधादि-क्षेत्रसंयोगपदानि। शारद-वासंतककाल-संयोगपदानि। नारकस्तिर्यक् क्रोधी मानी बालो युवा इत्यादीनि भावसंयोगपदानि। धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायः कालः पृथिवी आपः तेज इत्यादीनि अनादिकसिद्धान्तपदानि।

एवं नामोपक्रम प्ररूपणा गता।

नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावप्रमाणभेदेन प्रमाणं षड्विधं। तत्रात्मनि बाह्यार्थे च वर्तमानः प्रमाणशब्दो नामप्रमाणं।

कथं नाम्नः प्रमाणत्वम् ?

न, प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणत्वसिद्धेः।

सद्भावसद्भावस्थापना स्थापनाप्रमाणं अन्यस्वरूपपरिच्छित्तिकारणत्वात्। संख्यातमसंख्यातमनंतमिति द्रव्यप्रमाणं, पलतुलाकर्षादीनि वा, अन्यद्रव्यपरिच्छेदकारणत्वात्। अंगुल-वितस्तिक्किष्कु-इत्यादि क्षेत्र प्रमाणं। समयावलिवादिकालप्रमाणं। जीवाजीवभावप्रमाणभेदेन भावप्रमाणं द्विविधं। तत्र अजीवभावप्रमाणं संख्याता-संख्यातानंतभेदेन त्रिविधं। जीवभावप्रमाणं आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदेन पंचविधं।

एवं प्रमाणोपक्रमस्वरूपप्ररूपणा कृता।

स्वसमय-परसमय-तदुभयवक्तव्यताभेदेन वक्तव्यता त्रिविधा। यदि स्वसमय एव प्ररूप्यते सा

उनमें धनुष, असि व परशु आदि के संयोग से संयुक्त पुरुषों से धनुष, असि व परशु नाम द्रव्यसंयोगपद है। भारत, ऐरावत, माथुर व मागध, ये क्षेत्रसंयोगपद हैं। शारद, वासंतक ये कालसंयोगपद हैं। नारक, तिर्यच, क्रोधी, मानी, बाल एवं युवा, इत्यादि भावसंयोगपद हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पृथिवी, अप् और तेज इत्यादिक अनादिकसिद्धान्तपद है।

इस प्रकार नामोपक्रम स्वरूप की प्ररूपणा की गई है।

नामप्रमाण, स्थापनाप्रमाण, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण के भेद से प्रमाण छह प्रकार का है। उनमें से अपने में व बाह्य पदार्थ में वर्तमान प्रमाण शब्द नामप्रमाण कहा जाता है।

शंका — नाम के प्रमाणता कैसे हो सकती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि जिसके द्वारा जाना जाता है वह प्रमाण है, इस व्युत्पत्ति से नाम की प्रमाणता सिद्ध है।

सद्भाव और असद्भावरूप स्थापना का नाम स्थापनाप्रमाण है, क्योंकि वह अन्य पदार्थों के स्वरूप को जानने का कारण है। संख्यात, असंख्यात व अनन्त तथा पल (मापविशेष), तराजू व कर्ष इत्यादि द्रव्यप्रमाण हैं। क्योंकि ये अन्य द्रव्यों के जानने के कारण हैं। अंगुल, वितस्ति और किष्कु आदि क्षेत्रप्रमाण हैं। समय और आवली आदि कालप्रमाण हैं। जीवभाव-प्रमाण और अजीवभावप्रमाण के भेद से भावप्रमाण दो प्रकार का है। इनमें अजीवभावप्रमाण संख्यात, असंख्यात व अनन्त के भेद से तीन प्रकार का है। जीवभावप्रमाण आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से पाँच प्रकार का है।

इस प्रकार प्रमाणोपक्रम के स्वरूप की प्ररूपणा की गई है।

स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और तदुभयवक्तव्यता के भेद से वक्तव्यता तीन प्रकार की है।

स्वसमयवक्तव्यता। यदि परसमय एव प्ररूप्यते सा परसमयवक्तव्यता। यदि द्वावपि प्ररूप्येते सा तदुभयवक्तव्यता।

एवं वक्तव्यता-उपक्रमस्वरूपप्ररूपणा कृता।

अर्थाधिकारोऽनेकविधः तत्र संख्यानियमाभावात्।

एवं अर्थाधिकोपक्रमस्वरूपप्ररूपणा कृता।

उक्तं च—

तिविहा य आणुपुव्वी दसधा णामं च छब्बिहं माणं।

वत्तव्वदा य तिविहा विविहो अत्थाहियारो य^१॥

एवं उपक्रमस्वरूपप्ररूपणा कृता।

संप्रति निक्षेपस्वरूपप्ररूपणा क्रियते। तद्यथा— बाह्यार्थविकल्पप्ररूपणा निक्षेपो नाम, अथवा अनधिगतार्थ-निराकरणद्वारेणाधिगतार्थप्ररूपणा निक्षेपः कथ्यते।

निक्षेपेण बिना प्ररूपणा किन्न क्रियते ?

नैतद् वक्तव्यं, किंच तेन बिना प्ररूपणानुपपत्तेः। स चानेकविधः—

जत्थ बहुं जाणेज्जो अवरिमियं तत्थ णिक्खिवे णियमा।

जत्थ य बहुं ण जाणदि चउट्ठयं तत्थ णिक्खिवउ^२॥^३

इति वचनात्।

एवं निक्षेपस्वरूपप्ररूपणा कृता।

यदि स्वसमय की ही प्ररूपणा की जाती है तो वह स्वसमयवक्तव्यता है। यदि परसमय की ही प्ररूपणा की जाती है, तो वह परसमयवक्तव्यता है। यदि दोनों की ही प्ररूपणा की जाती है तो वह तदुभयवक्तव्यता है।

इस प्रकार वक्तव्यतोपक्रम के स्वरूप की प्ररूपणा की गई है।

अर्थाधिकार अनेक प्रकार का है, क्योंकि उसमें संख्या के नियम का अभाव है।

इस प्रकार अर्थाधिकारोपक्रम के स्वरूप की प्ररूपणा की गई है।

कहा भी है—

गाथार्थ—आनुपूर्वी तीन प्रकार, नाम दश प्रकार, प्रमाण छह प्रकार, वक्तव्यता तीन प्रकार और अर्थाधिकार अनेक प्रकार का है।

इस प्रकार उपक्रम के स्वरूप की प्ररूपणा की गई है।

अब निक्षेपस्वरूप की प्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार है— बाह्यार्थ के विकल्पों की प्ररूपणा का निक्षेप यह नाम है अथवा अनधिगत पदार्थ के निराकरण द्वारा अधिगत अर्थ की प्ररूपणा का नाम निक्षेप कहा गया है।

शंका—निक्षेप के बिना प्ररूपणा क्यों नहीं की जाती है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उसके बिना प्ररूपणा नहीं बन सकती है। वह निक्षेप अनेक प्रकार का है—

गाथार्थ—जहाँ बहुत ज्ञातव्य हो वहाँ नियम से अपरिमित निक्षेपों का प्रयोग करना चाहिए और जहाँ बहुत को नहीं जानना हो वहाँ चार निक्षेपों का उपयोग करना चाहिए, ऐसा वचन है।

इस प्रकार निक्षेप के स्वरूप की प्ररूपणा की गई है।

१-२. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित पु. ९, पृ. १४०-१४१। विशेष-वीर नि. सं. २५२६, वैशाख कृ. २, दिनांक २१-८-२००० हस्तिनापुर में यह प्रकरण लिखा। यह मेरी आर्थिकादीक्षा तिथि है। हस्तिनापुर तृतीयजम्बूद्वीप-महामहोत्सव में पंचकल्याणक में आज ऋषभदेव पंचकल्याणक का जन्मकल्याणक महोत्सव है।

संप्रति अनुगमार्थं कथ्यते — यस्मिन् येन वा वक्तव्यं प्ररूप्यते सोऽनुगमः। अधिकारसंज्ञितानाम-
नियोगद्वाराणां येऽधिकारास्तेषामनुगमः संज्ञा भवति, यथा वेदानुयोगद्वारस्य पदमीमांसादिरनुगमः। स
चानुगमोऽनेकविधः, संख्यानियमाभावात्। अथवा, अनुगम्यन्ते जीवादयः पदार्थाः अनेनेत्यनुगमः।

किं प्रमाणम् ?

निर्बाधबोधविशिष्टः आत्मा प्रमाणम्। संशयविपर्ययानध्यवसायबोधविशिष्टस्यात्मनः न प्रामाण्यं,
संशय-विपर्ययोस्सबाधयोर्निर्बाधविशेषणस्यासत्त्वात्। अनध्यवसायस्य चार्थानुगमस्याभावात्।

ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं किमिति नेष्यते ?

नेष्यते, किं च — जानाति परिच्छिनत्ति जीवादिपदार्थानिति ज्ञानमात्मा, तस्यैव प्रामाण्याभ्युपगमात्।
न ज्ञानपर्यायस्य स्थितिर्हितस्य उत्पादविनाशलक्षणस्य प्रामाण्यं, तत्र त्रिलक्षणाभावतः अवस्तुनि परिच्छेद-
लक्षणार्थक्रियाभावात्, स्मृति-प्रत्यभिज्ञानसंधानप्रत्ययादीनामभावप्रसंगाच्च।

तच्च प्रमाणं द्विविधं — प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणभेदात्। तत्र प्रत्यक्षं द्विविधं, सकलविकलप्रत्यक्षभेदात्।
सकलप्रत्यक्षं केवलज्ञानम् विषयीकृतत्रिकालगोचराशेषार्थत्वात् अतीन्द्रियत्वात् अक्रमवृत्तित्वात् निर्व्यवधानात्
आत्मार्थसन्निधानमात्रप्रवर्तनात्।

उक्तं च —

क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थयुगपद् विभासम्।

निरतिशयमत्ययच्युतमव्यवधानं

जिनज्ञानम्॥^१

अब अनुगम के अर्थ को कहते हैं — जहाँ या जिसके द्वारा वक्तव्य की प्ररूपणा की जाती है वह अनुगम
प्रमाण कहलाता है। अधिकार संज्ञायुक्त अनुयोगद्वारों के जो अधिकार होते हैं, उनकी अनुगम यह संज्ञा होती है, जैसे
वेदानुयोगद्वार के पदमीमांसा आदि अनुगम हैं। वह अनुगम अनेक प्रकार का है, क्योंकि उसकी संख्या का कोई
नियम नहीं है। अथवा जिसके द्वारा जीवादिक पदार्थ जाने जाते हैं, वह अनुगम प्रमाण कहलाता है।

शंका — अनुगम प्रमाण किसे कहते हैं ?

समाधान — निर्बाध ज्ञान से विशिष्ट आत्मा को अनुगम प्रमाण कहते हैं। संशय, विपर्यय और
अनध्यवसाय ज्ञान से विशिष्ट आत्मा के प्रमाणता नहीं हो सकती है, क्योंकि संशय और विपर्यय के बाधायुक्त
होने से उनमें निर्बाध विशेषण का अभाव है तथा अनध्यवसाय के अर्थबोध का अभाव पाया जाता है।

शंका — ज्ञान को ही प्रमाण क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है ?

समाधान — नहीं किया जाता है, क्योंकि 'जानातीति ज्ञानम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो जीवादि पदार्थों
को जानता है, वह ज्ञान अर्थात् आत्मा है, उसी को प्रमाण स्वीकार किया गया है। उत्पाद व व्यय स्वरूप
किन्तु स्थिति से रहित ज्ञानपर्याय के प्रमाणता स्वीकार नहीं की गई, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप
लक्षणत्रय का अभाव होने के कारण अवस्तुस्वरूप उसमें परिच्छित्ति रूप अर्थ क्रिया का अभाव है तथा
स्मृति, प्रत्यभिज्ञान व अनुसंधान प्रत्ययों के अभाव का भी प्रसंग आता है।

वह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के भेद से दो प्रकार का है। उनमें प्रत्यक्ष सकलप्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष
के भेद से दो प्रकार का है। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह त्रिकालविषयक समस्त पदार्थों को विषय करने
वाले, अतीन्द्रिय, अक्रमवृत्ति, व्यवधान से रहित और आत्मा एवं पदार्थ की समीप्ता मात्र से प्रवृत्त होने वाला है।

कहा भी है —

गाथार्थ — जिन भगवान का ज्ञान क्षायिक, एक अर्थात् असहाय (पर सहायता की अपेक्षा से रहित)

अवधि-मनःपर्ययज्ञाने विकलप्रत्यक्षम्, तत्र साकल्येन प्रत्यक्षलक्षणाभावात्।

तदपि कुतोऽवगम्यते ?

मूर्तद्रव्येष्वेव प्रवृत्तिदर्शनात् सक्षयत्वात् मूर्तेष्वप्यर्थेषु त्रिकालगोचरानन्तपर्यायेषु साकल्येन प्रवृत्तेरदर्शनात्।

इन्द्रियापेक्षारहितामवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञानानां कथं प्रत्यक्षता ?

नैष दोषः, अक्ष आत्मा, अक्षमक्षं प्रतिवर्तत इति प्रत्यक्षमवधिमनःपर्यय-केवलानीति तेषां प्रत्यक्षत्वसिद्धेः।

परोक्षं द्विविधं — मतिश्रुतभेदेन।

परोक्षमिति किम् ?

उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम्। उपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादि, तत्प्राधान्यादवगमः परोक्षम्। यथा गतिशक्त्युपेतस्यापि स्वयं गन्तुमसमर्थस्य यष्ट्याद्यालंबनप्राधान्यं गमनम्, तथा मति-श्रुतावरणक्षयोपशमे सति ज्ञस्वभावस्यात्मनः स्वयमर्थानुपलब्धुमसमर्थस्य पूर्वोक्तप्रत्ययप्रधानं ज्ञानं परायत्तत्वात्परोक्षम्।

तत्र मत्याख्यं प्रमाणं चतुर्विधम् — अवग्रह ईहा अवायो धारणा चेति। विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः। पुरुष इत्यवग्रहीते भाषावयोरूपादिविशेषैराकांक्षणीहा। ईहितस्यार्थस्य विशेषविज्ञानात्

अनन्त, तीनों कालों के सब पदार्थों को एक साथ प्रकाशित करने वाला, निरतिशय, विनाश से रहित और व्यवधान से विमुक्त — रहित है।

अवधि और मनःपर्ययज्ञान विकलप्रत्यक्ष हैं, क्योंकि उनमें सकल प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं पाया जाता है।

शंका — यह बात भी कहाँ से जानी जाती है ?

समाधान — क्योंकि उक्त दोनों ज्ञान मूर्तद्रव्यों में ही प्रवर्तमान होते हैं, विनश्चर हैं तथा तीन काल विषयक अनन्त पर्यायों से संयुक्त उन मूर्त पदार्थों में भी उनकी पूर्णरूप से प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है।

शंका — इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के प्रत्यक्षता कैसे संभव है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा है, अतएव अक्ष अर्थात् आत्मा की अपेक्षा करके जो प्रवृत्त होता है वह प्रत्यक्ष है, इस निरुक्ति के अनुसार अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष हैं। अतएव उनके प्रत्यक्षता सिद्ध है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के भेद से परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का है।

शंका — परोक्ष का क्या स्वरूप है ?

समाधान — उपात्त और अनुपात्त इतर कारणों की प्रधानता से जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष है। यहाँ उपात्त शब्द से इन्द्रियाँ व मन तथा अनुपात्त शब्द से प्रकाश व उपदेशादि का ग्रहण किया गया है। इनकी प्रधानता से होने वाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। जिस प्रकार गमन शक्ति से युक्त होते हुए भी स्वयं गमन करने में असमर्थ व्यक्ति का लाठी आदि आलम्बन की प्रधानता से गमन होता है, उसी प्रकार मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर ज्ञस्वभाव परन्तु स्वयं पदार्थों को ग्रहण करने के लिए असमर्थ हुए आत्मा के पूर्वोक्त प्रत्ययों की प्रधानता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान पराधीन होने से परोक्ष है।

उनमें मति नामक प्रमाण चार प्रकार का कहा है — अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विषय और विषयी के संबंध के अनन्तर जो आद्य ग्रहण होता है, वह अवग्रह कहलाता है। 'पुरुष' इस प्रकार अवग्रह द्वारा गृहीत अर्थ में भाषा, आयु और रूपादि विशेषों से होने वाली आकांक्षा का नाम ईहा है। ईहा से गृहीत पदार्थ

याथात्म्यावगमनमवायः। निर्णीतार्थाविस्मृतिर्यतस्सा धारणा।

अवग्रहो द्विविधः—विशदाविशदावग्रहभेदेन। तत्र विशदो निर्णयरूपः अनियमेनेहावाय-धारणाप्रत्ययो-त्पत्तिनिबन्धनः। निर्णयरूपोऽपि नायमवायसंज्ञकः, ईहाप्रत्ययपृष्ठभाविनो निर्णयस्य अवायव्यपदेशात्। तत्र अविशदावग्रहो नाम अगृहीतभाषा-वयोरूपादिविशेषः गृहीतव्यवहारनिबन्धनपुरुषमात्रसत्त्वादिविशेषः अनियमेनेहाद्युत्पत्तिहेतुः।

इमे अवग्रहेहावायधारणाभेदरूपा बहु-बहुविध-क्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवेतरभेदेन द्वादशधा भवन्ति। तत्र बहुशब्दो हि संख्यावाची वैपुल्यवाची च। संख्यायामेकः द्वौ बहवः, वैपुल्ये बहुरोदनः बहुः सूपः इत्येतस्योभयस्यापि ग्रहणम्। एकाभिधान-व्यवहारनिबन्धनप्रत्यय एकः।

विधग्रहणं प्रकारार्थं, बहुविधं बहुप्रकारमित्यर्थः। जातिगतभूयःसंख्याविषयः प्रत्ययो बहुविधः। गो-मनुष्य-हय-हस्त्यादिजातिगताक्रमप्रत्ययश्चक्षुर्जः। श्रोत्रजस्तत-वितत-घन-सुषिरादिजातिविषयोऽक्रमप्रत्ययः। घ्राणजः कर्पूरागुरु-तुरुष्क-चन्दनादिगन्धगताक्रमवृत्तिः प्रत्ययः। रसनजस्तित्त-कषायाम्ल-मधुर-लवणरसेष्वक्रमवृत्तिः प्रत्ययः। स्पर्शजः स्निग्ध-मृदु-कठिनोष्ण-गुरु-लघु-शीतादिस्पर्शेष्वक्रमवृत्तिः प्रत्ययश्च बहुविधः। एकजातिविषयत्वादेतत्प्रतिपक्षः प्रत्यय एकविधः। न चैकप्रत्ययेऽस्यान्तर्भावस्तस्य व्यक्तिगतैकत्ववर्तित्वात्।

का भाषा आदि विशेषों के नाम से जो यथार्थ स्वरूप से ज्ञान होता है वह अवाय है। जिससे निर्णीत पदार्थ का विस्मरण नहीं होता है वह धारणा कहलाता है।

विशदावग्रह और अविशदावग्रह के भेद से अवग्रह दो प्रकार का है। उनमें विशद अवग्रह निर्णयरूप होता हुआ अनियम से ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है। यह निर्णयरूप होकर भी अवाय संज्ञा वाला नहीं हो सकता है, क्योंकि ईहाप्रत्यय के पश्चात् होने वाले निर्णय की अवाय संज्ञा है। उनमें भाषा, आयु व रूपादि विशेषों को ग्रहण न करके व्यवहार के कारणभूत पुरुषमात्र के सत्त्वादि विशेष को ग्रहण करने वाला तथा अनियम से जो ईहा आदि की उत्पत्ति में कारण है, वह अविशदावग्रह है।

ये अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप चारों ज्ञान बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनसे विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव के भेद से बारह प्रकार के हैं। उनमें बहु शब्द संख्यावाची और वैपुल्यवाची है। संख्या में एक, दो, बहुत और विपुलता में बहुत ओदन व बहुत दाल, इस प्रकार इन दोनों का भी ग्रहण हो गया है। एक शब्द के व्यवहार का कारणभूत प्रत्यय एक प्रत्यय है।

विध शब्द का ग्रहण प्रकार के ग्रहण के लिए आया है अतः बहुविध का अर्थ बहुत प्रकार है। जाति में रहने वाली बहु संख्या को अर्थात् अनेक जातियों को विषय करने वाला प्रत्यय बहुविध कहलाता है। गाय, मनुष्य, घोड़ा और हाथी आदि जातियों में रहने वाला अक्रम प्रत्यय चक्षुर्जन्य बहुविध प्रत्यय है। तत, वितत, घन और सुषिर आदि शब्दजातियों को विषय करने वाला अक्रम प्रत्यय श्रोत्रज बहुविध प्रत्यय है। कपूर, अगुरु, तुरुष्क (सुगंधि द्रव्य विशेष) और चन्दन आदि सुगंध द्रव्यों में रहने वाला यौगपथ प्रत्यय घ्राणज बहुविध प्रत्यय है। तित्त, कषाय, आम्ल, मधुर और लवण रसों में एक साथ रहने वाला प्रत्यय रसनज बहुविध प्रत्यय है। स्निग्ध, मृदु, कठिन-कठोर, उष्ण, गुरु, लघु और शीत आदि स्पर्शों में एक साथ रहने वाला स्पर्शज बहुविध प्रत्यय है। एक जाति को विषय करने के कारण इसके प्रतिपक्षभूत प्रत्यय को एकविध कहते हैं। इसका अन्तर्भाव एक प्रत्यय में नहीं हो सकता है, क्योंकि वह (एकप्रत्यय) व्यक्तिगत एकता में सम्बद्ध रहने वाला है।

क्षिप्र-वृत्तिः प्रत्ययः क्षिप्रः। अभिनवशरावगतोदकवत् शनैः परिच्छिदानः अक्षिप्र-प्रत्ययः।

वस्त्वेकदेशमवलम्ब्य साकल्येन वस्तुग्रहणं वस्त्वेकदेशं समस्तं वावलम्ब्य तत्रासन्निहितवस्त्वन्तर-विषयोऽप्यनिःसृतप्रत्ययः। एतत्प्रतिपक्षो निःसृतप्रत्ययः, तथा क्वचित्कदाचिदुपलभ्यते च वस्त्वेकदेशे आलम्बनीभूते प्रत्ययस्य वृत्तिः।

इन्द्रियप्रतिनियतगुणविशिष्टवस्तूपलंभकाल एव तदिन्द्रियानियतगुणविशिष्टस्य तस्योपलब्धिर्यतः सोऽनुक्तप्रत्ययः। एतत्प्रतिपक्षः उक्तप्रत्ययः।

स एवायमहमेव स इति प्रत्ययो ध्रुवः। तत्प्रतिपक्षः प्रत्ययोऽध्रुवः।

कश्चिदाह — मनसोऽनुक्तस्य को विषयश्चेत् ?

आचार्यः प्राह — अदृष्टमश्रुतं च। न च तस्य तत्र वृत्तिरसिद्धा, उपदेशमन्तरेण द्वादशांगश्रुतावगमान्यथानुपपत्तितस्तस्य तत्सिद्धेः।

इदानीमेते भेदा उच्चार्य प्रदर्श्यन्ते। तद्यथा —

चक्षुषा बहुमवगृह्णाति, चक्षुषा एकमवगृह्णाति, चक्षुषा बहुविधमवगृह्णाति, चक्षुषा एकविधमवगृह्णाति, चक्षुषा क्षिप्रमवगृह्णाति, चक्षुषा अक्षिप्रमवगृह्णाति, चक्षुषा अनिःसृतमवगृह्णाति, चक्षुषा निःसृतमवगृह्णाति, चक्षुषा अनुक्तमवगृह्णाति, चक्षुषा उक्तमवगृह्णाति, चक्षुषा ध्रुवमवगृह्णाति, चक्षुषा अध्रुवमवगृह्णाति। एवं- चक्षुरिन्द्रियावग्रहो द्वादशविधः। ईहावायधारणाश्च प्रत्येकं चक्षुषो द्वादशविधा

क्षिप्रवृत्ति अर्थात् शीघ्रता से वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रत्यय क्षिप्र कहा जाता है। नवीन सकोरे में रहने वाले जल के समान धीरे वस्तु को ग्रहण करने वाला अक्षिप्र प्रत्यय है।

वस्तु के साथ देश का अवलम्बन करके पूर्णरूप से वस्तु को ग्रहण करने वाला तथा वस्तु के एक देश अथवा समस्त वस्तु का अवलम्बन करके वहाँ अविद्यमान अन्य वस्तु को विषय करने वाला भी अनिःसृत प्रत्यय है। इसका प्रतिपक्षभूत निःसृतप्रत्यय है, क्योंकि कहीं पर किसी काल में आलम्बनीभूत वस्तु के एक देश में उतने ही ज्ञान का अस्तित्व पाया जाता है।

इन्द्रिय के प्रतिनियत गुण से विशिष्ट वस्तु के ग्रहणकाल में ही उस इन्द्रिय के अप्रतिनियत गुण से विशिष्ट उस वस्तु का ग्रहण जिससे होता है, वह अनुक्त प्रत्यय है। इसके प्रतिपक्षरूप उक्त प्रत्यय है।

‘यह वही है, वह मैं ही हूँ’ इस प्रकार का प्रत्यय ध्रुव कहलाता है। इसका प्रतिपक्षभूत प्रत्यय अध्रुव है। यहाँ कोई शंका करता है कि — मन से अनुक्त का क्या विषय है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं कि — अदृष्ट और अश्रुत पदार्थ उसका विषय है और उसका वहाँ रहना असिद्ध नहीं है, क्योंकि उपदेश के बिना अन्यथा द्वादशांग श्रुत का ज्ञान नहीं बन सकता, अतएव उसका अदृष्ट व अश्रुत पदार्थ में रहना सिद्ध है।

अब ये भेद उच्चारण करके दिखलाये जाते हैं। वह इस प्रकार है —

चक्षु से बहुत का अवग्रह करता है, चक्षु से एक का अवग्रह करता है, चक्षु से बहुत प्रकार का अवग्रह करता है, चक्षु से एक प्रकार का अवग्रह करता है, चक्षु से क्षिप्र का अवग्रह करता है, चक्षु से अक्षिप्र का अवग्रह करता है, चक्षु से अनिःसृत का अवग्रह करता है, चक्षु से निःसृत का अवग्रह करता है, चक्षु से अनुक्त का अवग्रह करता है, चक्षु से उक्त का अवग्रह करता है, चक्षु से ध्रुव का अवग्रह करता है, चक्षु से अध्रुव का अवग्रह करता है। इस प्रकार चक्षुरिन्द्रियावग्रह बारह प्रकार का है। ईहा, अवाय और धारणा इनमें

भवन्ति। तद्यथा—

बहुमीहते, एकमीहते, बहुविधमीहते, एकविधमीहते, क्षिप्रमीहते, अक्षिप्रमीहते, निःसृतमीहते, अनिःसृतमीहते, उक्तमीहते, अनुक्तमीहते, ध्रुवमीहते, अध्रुवमीहते। एवमीहाभेदाः।

बहुमवैति, एकमवैति, बहुविधमवैति, एकविधमवैति, क्षिप्रमवैति, अक्षिप्रमवैति, निःसृतमवैति, अनिःसृतमवैति, उक्तमवैति, अनुक्तमवैति, ध्रुवमवैति, अध्रुवमवैति। इति अवायभेदाः।

बहुं धारयति, एकं धारयति, बहुविधं धारयति, एकविधं धारयति, क्षिप्रं धारयति, अक्षिप्रं धारयति, निःसृतं धारयति, अनिःसृतं धारयति, उक्तं धारयति, अनुक्तं धारयति, ध्रुवं धारयति, अध्रुवं धारयति। एवं चक्षुरिन्द्रियस्याष्टचत्वारिंशन्मतिज्ञानभेदाः। मनसोऽप्येतावन्त एव, अनयोश्चक्षुर्मनसोर्व्यञ्जनावग्रहाभावात्।

शेषेन्द्रियाणां प्रत्येकं षष्टिभंगाः, तेषां व्यञ्जनावग्रहस्य सत्त्वात्। त एते सर्वेऽप्येकव्यमुपनीताः त्रीणि शतानि षट्त्रिंशदधिकानि भवन्ति*।

कोऽर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहो वा ?

अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः, प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः।

न स्पष्टास्पष्टग्रहणे अर्थव्यञ्जनावग्रहौ, तयोश्चक्षुर्मनसोरपि सत्त्वतस्तत्र व्यञ्जनावग्रहस्य सत्त्वप्रसंगात्। अस्तु चेत् ?

से प्रत्येक चक्षु के निमित्त से बारह प्रकार के हैं। वह इस प्रकार से हैं—

बहुत की ईहा करता है, एक की ईहा करता है, बहुविध की ईहा करता है, एकविध की ईहा करता है, क्षिप्र की ईहा करता है, अक्षिप्र की ईहा करता है, निःसृत की ईहा करता है, अनिःसृत की ईहा करता है, उक्त की ईहा करता है, अनुक्त की ईहा करता है, ध्रुव की ईहा करता है, अध्रुव की ईहा करता है, इस प्रकार ये ईहा के भेद हैं।

बहुत का अवाय करता है, एक का अवाय करता है, बहुविध का अवाय करता है, एक विध का अवाय करता है, क्षिप्र का अवाय करता है, अक्षिप्र का अवाय करता है, निःसृत का अवाय करता है, अनिःसृत का अवाय करता है, उक्त का अवाय करता है, अनुक्त का अवाय करता है, ध्रुव का अवाय करता है, अध्रुव का अवाय करता है। इस प्रकार ये अवाय के भेद हैं।

बहुत को धारण करता है, एक को धारण करता है, एक विध को धारण करता है, क्षिप्र को धारण करता है, अक्षिप्र को धारण करता है, निःसृत को धारण करता है, अनिःसृत को धारण करता है, उक्त को धारण करता है, अनुक्त को धारण करता है, ध्रुव को धारण करता है, अध्रुव को धारण करता है, इस प्रकार चक्षुइन्द्रिय के निमित्त से मतिज्ञान के अड़तालीस भेद होते हैं। मन के निमित्त से भी इतने ही भेद होते हैं, क्योंकि इन दोनों के व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है।

शेष चार इन्द्रियों में प्रत्येक के निमित्त से साठ भंग होते हैं, क्योंकि उनके व्यञ्जनावग्रह होता है। ये सब एकत्रित होकर तीन सौ छत्तीस (४८+४८+६०+६०+६०+६०=३३६) होते हैं।

शंका—अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान—अप्राप्त पदार्थ के ग्रहण को अर्थावग्रह और प्राप्त पदार्थ के ग्रहण को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। स्पष्टग्रहण को अर्थावग्रह और अस्पष्टग्रहण को व्यञ्जनावग्रह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि स्पष्टग्रहण और अस्पष्टग्रहण तो चक्षु और मन के भी रहता है, अतः ऐसा मानने पर उन दोनों के भी व्यञ्जनावग्रह के अस्तित्व का प्रसंग आवेगा।

शंका—आ जावे इसमें क्या दोष है ?

न, “न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्” इति तत्र व्यंजनावग्रहस्य प्रतिषेधात्।

कश्चिदाशङ्कते —

न श्रोत्रादीन्द्रियचतुष्टयेऽर्थावग्रहः, तत्र प्राप्तस्यैवार्थस्य ग्रहणोपलम्भात् इति चेत् ?

न, वनस्पतिष्वप्राप्तार्थग्रहणस्योपलम्भात्।

तदपि कुतोऽवगम्यते ?

दूरस्थनिधिमुद्दिश्य प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तेः।^१

अन्यच्च —

चत्तारि धणुसयाइं चउसट्टु सयं च तह य धणुहाणं।

पासे रसे य गंधे दुगुणा दुगुणा असण्णि त्ति॥१॥

उणतीसजोयणसया चउवण्णा तह य होंति णायव्वा।

चउरिंदियस्स णियमा चक्खुप्फासो सुणियमेण॥२॥

उणसट्टिजोयणसया अट्टु य तह जोयणा मुणेयव्वा।

पंचिदियसण्णीणं चक्खुप्फासो मुणेयव्वो॥३॥

अट्टेव धणुसहस्सा विसओ सोदस्स तह असण्णिस्स।

इय एदे णादव्वा पोग्गलपरिणामजोयेण॥४॥

पासे रसे य गंधे विसओ णव जोयणा मुणेयव्वा।

बारहजोयण सोदे चक्खुस्सुट्ठं पवक्खामि॥५॥

समाधान — ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि ‘चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता है’ इस प्रकार के सूत्र द्वारा उन दोनों के व्यंजनावग्रह का प्रतिषेध किया गया है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — श्रोत्रादिक चार इन्द्रियों में अर्थावग्रह नहीं है, क्योंकि उनमें प्राप्त ही पदार्थ का ग्रहण पाया जाता है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि वनस्पतियों में अप्राप्त अर्थ का ग्रहण पाया जाता है।

शंका — वह भी कहाँ से जाना जाता है ?

समाधान — क्योंकि दूरस्थ निधि (खाद्य आदि) को लक्ष्य कर प्रारोह (शाखा) का छोड़ना अन्यथा बन नहीं सकता है।

और भी कहा है —

गाथार्थ — चार सौ धनुष, चौंसठ धनुष तथा सौ धनुष प्रमाण क्रम से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों का स्पर्श, रस एवं गंध विषयक क्षेत्र है। आगे असंज्ञी पर्यन्त यह विषयक्षेत्र दूना-दूना होता गया है॥१॥

चतुरिन्द्रिय जीव के चक्षु का विषय नियम से उनतीस सौ चौवन योजन प्रमाण है॥२॥

पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों के चक्षु इन्द्रिय का विषय उनसठ सौ आठ योजन प्रमाण जानना चाहिए॥३॥

असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के श्रोत्र का विषय आठ हजार धनुष प्रमाण है। इस प्रकार पुद्गलपरिणाम योग से ये विषय जानना चाहिए॥४॥

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के स्पर्श, रस व गंध विषयक क्षेत्र नौ योजन प्रमाण तथा श्रोत्र का बारह योजन प्रमाण जानना चाहिए। चक्षु के विषय को आगे कहते हैं॥५॥

सत्तेतालसहस्सा बे चेव सया हवंति तेवट्टा।

चक्खिंदियस्स विसओ उक्कस्सो होदि अतिरित्तो^१॥६॥

इत्यागमाद्वा तेषामप्राप्तार्थग्रहणमवगम्यते।

केचिदाचक्षते —

नवयोजनान्तरस्थितपुद्गलद्रव्यस्कंधैकदेशमागम्येन्द्रियसंबद्धं जानन्ति ?

आचार्याः प्राहुः — तत्र घटते, अध्वानप्ररूपणाया वैफल्यप्रसंगात्। न चाध्वानं द्रव्याल्पीयस्त्वस्य कारणं, स्वमहत्त्वापरित्यागेन भूयो योजनानि संचरज्जीमूतव्रातोपलंभतोऽनेकान्तात्। किं च यदि प्राप्तार्थग्राहिण्येवेन्द्रियाण्य-ध्वाननिरूपणमन्तरेण द्रव्यप्रमाणप्ररूपणममेवाकरिष्यत्। न चैवं, तथानुपलंभात्। किं च नवयोजनान्तरस्थिताग्नि-विषाभ्यां तीव्रस्पर्शरसक्षयोपशमानां दाह-मरणे स्याताम्, प्राप्तार्थग्रहणात्। तावन्मात्राध्वानस्थिताशुचिभक्षण-तद्गन्धजनितदुःखे च तत एव स्याताम्। किन्तु न चैतानि संभवन्ति।

पुनः कश्चिदाह —

पुट्ठं सुणेइ सद्दं अप्पुट्ठं चेय पस्सदे रूवं।

गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं च जाणादि॥^२

इत्यस्मात्सूत्रात्प्राप्तार्थग्राहित्वमिन्द्रियाणामवगम्यते इति ?

नैतद् वक्तव्यं, अर्थावग्रहस्य लक्षणाभावतः खरविषाणस्येवां भावप्रसंगात्।

चक्षु इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय सैतालीस हजार दो सौ तिरेसठ योजन से कुछ अधिक है॥६॥

इस आगम से भी उक्त चार इन्द्रियों के अप्राप्त पदार्थ का ग्रहण जाना जाता है।

यहाँ कोई पूछता है कि —

क्या नौ योजन के अन्तर से स्थित पुद्गल द्रव्य स्कंध के एक देश को प्राप्त कर इन्द्रियसंबंध अर्थ को जानते हैं ?

तब आचार्य कहते हैं कि —

ऐसा घटित नहीं होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अध्वानप्ररूपणा के निष्फल होने का प्रसंग आता है और अध्वान द्रव्य की सूक्ष्मता का कारण नहीं है, क्योंकि अपने महत्व को न छोड़कर बहुत योजनों तक गमन करते हुए मेघसमूह के देखे जाने हेतु अनैकान्तिक होता है। दूसरी बात यह है कि यदि इन्द्रियाँ प्राप्त पदार्थ को ग्रहण करने वाली ही होतीं, तो अध्वान का निरूपण न करके द्रव्यप्रमाण की प्ररूपणा ही की जाती। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है। इसके अतिरिक्त नौ योजन के अन्तर में स्थित अग्नि और विष से स्पर्श और रस के तीव्र क्षयोपशम से युक्त जीवों के क्रमशः दाह और मरण होना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ प्राप्त पदार्थ का ग्रहण करने वाली हैं और इसी कारण उतने मात्र अध्वान में स्थित अशुचि पदार्थ के भक्षण और उसके गंध से उत्पन्न दुख भी होना चाहिए किन्तु ऐसा संभव नहीं है।

यहाँ कोई शंका करता है कि —

गाथार्थ — श्रोत्र से स्पृष्ट शब्द को सुनता है। परन्तु चक्षु से रूप को अस्पृष्ट ही देखता है। शेष इन्द्रियों से गंध, रस और स्पर्श को बद्ध व स्पृष्ट जानता है॥

इस सूत्र से इन्द्रियों के प्राप्त पदार्थ का ग्रहण करना जाना जाता है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वैसा होने पर अर्थावग्रह के लक्षण का अभाव होने से

कथं पुनः अस्या गाथाया अर्थो व्याख्यायते ?

उच्यते — रूपमस्पृष्टमेव चक्षुर्गृह्णाति। च शब्दान्मनश्च। गंधं रसं स्पर्शं च बद्धं स्वक-स्वकेन्द्रियेषु नियमितं 'पुट्टं' स्पृष्टं चशब्दादस्पृष्टं च शेषेन्द्रियाणि गृह्णन्ति। 'पुट्टं सुणेइ सहं' इत्यत्रापि बद्ध-च-शब्दौ योज्यौ, अन्यथा दुर्व्याख्यानतापत्तेः। एवं मतिज्ञानं संक्षेपेण प्ररूपितम्।

इदानीं श्रुतस्वरूपमुच्यते —

श्रुतज्ञानं मतिपूर्व, मतिकारणमिति यावत्, कार्यं पालयति पूरयति इति वा पूर्वशब्दनिष्पत्तेः। ततः साक्षान्मतिपूर्वं परम्परामतिपूर्वमपि पूर्वशब्देन गृह्यते। तदपि द्विविधं अंगमंगबाह्यमिति। अंगश्रुतमाचारादिभेदेन द्वादशविधं, इतरश्च सामायिकादिभेदेन चतुर्दशविधम्, अथवा अनेकभेदम्, चक्षुरादिभ्यः समुत्पन्नस्य परिगणनाभावात्। एतत् श्रुतज्ञानस्वरूपं विस्तरेण धवलाटीकायां द्रष्टव्यम्।

अधुना अनुगमः कथ्यते —

अनुगम्यन्ते परिछिद्यन्त इति अनुगमाः षड्द्रव्याणि त्रिकोटिपरिणामात्मकपाषंड्यविषयाविभ्राड्भावरूपाणि प्राप्तजात्यन्तराणि प्रमाणविषयतया अपसारितदुर्न्यायानि सविश्वरूपानन्तपर्यायसप्रतिपक्षविधिनियत-भंगात्मकसत्तास्वरूपाणि इति प्रतिपत्तव्यं।

एवमनुगमप्ररूपणा गता।

गधे के सींग के समान उसके अभाव का प्रसंग आवेगा।

शंका — फिर इस गाथा के अर्थ का व्याख्यान कैसे किया जाता है ?

समाधान — इस शंका के उत्तर में कहते हैं — चक्षुरूप को अस्पृष्ट ही ग्रहण करती है, च शब्द से मन भी अस्पृष्ट ही वस्तु को ग्रहण करता है। शेष इन्द्रियाँ गंध, रस और स्पर्श को बद्ध अर्थात् अपनी-अपनी इन्द्रियों में नियमित व स्पृष्ट ग्रहण करती हैं, च शब्द से अस्पृष्ट भी ग्रहण करती हैं। 'स्पृष्ट शब्द को सुनता है' यहाँ भी बद्ध और च शब्दों को जोड़ना चाहिए, क्योंकि ऐसा न करने से दूषित व्याख्यान की आपत्ति आती है। इस प्रकार संक्षेप से मतिज्ञान की प्ररूपणा की गई है।

अब श्रुतज्ञान का स्वरूप कहा जा रहा है —

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञान के निमित्त से होने वाला है, क्योंकि कार्य को जो पालन करता है अथवा पूर्ण करता है, वह पूर्व है, इस प्रकार पूर्व शब्द की निष्पत्ति हुई है। इसलिए मतिपूर्व-ग्रहण से साक्षात् मतिपूर्वक और परम्परा से मतिपूर्वक भी ग्रहण किया जाता है। वह श्रुतज्ञान भी दो प्रकार का है — अंग और अंगबाह्य। अंग श्रुत, आचार आदि के भेद से बारह प्रकार और दूसरा सामायिक आदिक भेद से चौदह प्रकार अथवा अनेक भेदरूप है, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न उसकी गणना का अभाव है। इस श्रुतज्ञान का स्वरूप विस्तार से धवला टीका में देखना चाहिए।

अब अनुगम का कथन करते हैं —

'जो जाने जाते हैं, वे अनुगम हैं' इस निरुक्ति के अनुसार त्रिकोटि स्वरूप (द्रव्य, गुण व पर्याय) पाखंडियों के अविषयभूत अविभ्राड्भावसंबंध अर्थात् कथंचित् तादात्म्य से सहित, जात्यन्तर स्वरूप को प्राप्त, प्रमाण के विषय होने से दुर्न्यायों को दूर करने वाले, अपनी नानारूप अनन्त पर्यायों की प्रतिपक्ष भूत असत्ता से सहित और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप से संयुक्त ऐसे छह द्रव्य अनुगम हैं, ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार अनुगम की प्ररूपणा की गई है।

संप्रति नयस्वरूपप्ररूपणा क्रियते—

ज्ञातुरभिप्रायो नयः। प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायः अभिप्रायः। युक्तितः प्रमाणादर्थपरिग्रहः द्रव्यपर्याययोरन्यतरस्य अर्थ इति परिग्रहो वा नयः। प्रमाणेन परिच्छिन्नस्य वस्तुनः द्रव्ये पर्याये वा वस्त्वध्यवसायो नयः इति यावत्।

केचिदाचक्षते—प्रमाणमेव नयः इति।

आचार्याः प्राहुः—तन्न घटते नयानामभावप्रसंगात्। किं च न प्रमाणं नयः, तस्यानेकान्तविषयत्वात्। न नयः प्रमाणं तस्यैकान्तविषयत्वात्। न च ज्ञानमेकान्तविषयमस्ति, एकान्तस्य नीरूपत्वतोऽवस्तुनः कर्मरूपत्वाभावात्। न चानेकान्तविषयो नयोऽस्ति, अवस्तुनि वस्त्वर्पणाभावात्। ततः प्रमाणं न नयः, किन्तु प्रमाणपरिच्छिन्नवस्तुनः एकदेशे वस्तुत्वार्पणा नय इति सिद्धम्।

अथवा प्रधानीकृतबोधः पुरुषः प्रमाणं, अप्रधानीकृतबोधो नयः।

अथवा सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः इति।

कः सकलादेशः ?

स्यादस्तीत्यादि प्रमाणनिबन्धनत्वात् स्याच्छब्देन सूचिताशेषाप्रधानीभूतधर्मत्वात्।

को विकलादेशः ? अस्तीत्यादि, नयोत्पन्नत्वात्।

अब नय के स्वरूप की प्ररूपणा की जा रही है—

ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। प्रमाण से गृहीत वस्तु के एक देश में वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय है। युक्ति अर्थात् प्रमाण से अर्थ के ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्याय में से किसी एक को अर्थरूप से ग्रहण करने का नाम नय है। प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय में वस्तु के निश्चय करने को नय कहते हैं, यह इसका अभिप्राय है।

यहाँ कोई कहते हैं कि—प्रमाण ही नय है ? ऐसा कहने पर—

आचार्य इसका समाधान देते हैं कि—ऐसा तो घटित नहीं होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर नयों के अभाव का प्रसंग आ जायेगा। दूसरी बात यह है कि प्रमाण नय नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रमाण का विषय तो अनेकांत है और नय प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि नय का विषय एकान्त है और ज्ञान एकान्त को विषय करने वाला नहीं होता है, क्योंकि एकान्त नीरूप होने से अवस्तुस्वरूप है अतः वह कर्म नहीं हो सकता है तथा नय अनेकान्त को विषय करने वाला नहीं है, क्योंकि अवस्तु में वस्तु का आरोप नहीं हो सकता है। अतः प्रमाण नय नहीं है, किन्तु प्रमाण से जानी हुई वस्तु के एक देश में वस्तुत्व की विवक्षा का नाम नय है। यह बात सिद्ध हुई।

अथवा बोध को प्रधान करने वाला पुरुष प्रमाण और उसे अप्रधान करने वाला नय है।

अथवा सकलादेश प्रमाण के आधीन है और विकलादेश नय के आधीन है।

शंका—सकलादेश किसे कहते हैं ?

समाधान—‘स्यादस्ति’ अर्थात् ‘कथंचित्’ है इत्यादि सात भंगों का नाम सकलादेश है, क्योंकि प्रमाणनिमित्तक होने से इनके द्वारा ‘स्यात्’ शब्द से समस्त अप्रधानभूत धर्मों की सूचना की जाती है।

शंका—विकलादेश किसे कहते हैं ?

समाधान—‘अस्ति’ अर्थात् है इत्यादि सात वाक्यों का नाम विकलादेश है, क्योंकि वे नयों से उत्पन्न हैं।

तथा पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि^१ सामान्यनयलक्षणमिदमेव।

तद्यथा — प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः।

तथा प्रभाचन्द्रभट्टारकैरप्यभाणि-प्रमाणव्यपाश्रयपरिणामविकल्प वशीकृतार्थ-विशेषप्ररूपणप्रवणः प्रणिधिर्यः स नयः।^२

तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः — अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नयः।

तथा समन्तभद्रस्वामिनाप्युक्तम् —

‘स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः।’^३

स एवंविधो नयो द्विविधः — द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। तत्र योऽसौ द्रव्यार्थिकनयः स त्रिविधः — नैगमसंग्रहव्यवहारभेदेन। पर्यायार्थिको नयश्चतुर्विधः — ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवभूतभेदेन।

एते सर्वेऽपि नयाः अनवधृतस्वरूपाः सम्यग्दृष्टयः, प्रतिपक्षानिराकरणात्। तत एव दुरवधारिताः मिथ्यादृष्टयः प्रतिपक्षनिराकरणमुखेन प्रवृत्तत्वात्।^४

“एकान्तबुद्ध्यवसितः सर्वो बाह्यार्थः मिथ्याविरतिप्रमादकषाययोगाश्च बंधकारणम्।

अनेकान्तबुद्ध्यवसितः सर्वो बाह्यार्थः सम्यक्त्वविरत्यप्रमादाकषायायोगाश्च मोक्षकारणम्।”^५

तथा पूज्यपाद भट्टारक ने भी सामान्य नय का लक्षण यही कहा है।

वह इस प्रकार है — प्रमाण से प्रकाशित जीवादिक पदार्थों की पर्यायों का प्ररूपण करने वाला नय है।

तथा प्रभाचन्द्र भट्टारक (आचार्य) ने भी कहा है — प्रमाण के आश्रित परिणाम भेदों से वशीकृत पदार्थ विशेषों से प्ररूपण में समर्थ जो प्रयोग होता है, वह नय है।

तथा सारसंग्रह में भी पूज्यपाद स्वामी ने कहा है — अनन्त पर्याय स्वरूप वस्तु की किसी एक पर्याय का ज्ञान करते समय श्रेष्ठ हेतु की अपेक्षा करने वाला निर्दोषप्रयोग नय कहा जाता है।

तथा समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है — स्याद्वाद से प्रकाशित पदार्थों की पर्यायों को प्रकट करने वाला नय है।

इस प्रकार वह नय दो प्रकार का है — द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। उनमें जो वह द्रव्यार्थिक नय है वह नैगम, संग्रह और व्यवहार के भेद से तीन प्रकार का है। पर्यायार्थिक नय ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत के भेद से चार प्रकार का है।

ये सभी नय अपने विषय को सर्वथा एकान्तरूप से न मानने के कारण समीचीन नय होते हैं, क्योंकि वे अपने प्रतिपक्षी का निराकरण नहीं करते हैं। वही नय एकान्तरूप से निर्णय करने वाले होने से मिथ्यात्वरूप हो जाते हैं, क्योंकि वे प्रतिपक्ष के निराकरणरूप से प्रवृत्ति करते हैं।

एकान्तबुद्धि से निश्चित सब बाह्य पदार्थ और मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग, ये बंध के कारण हैं, क्योंकि बंध कारणपने की अपेक्षा इनकी एकता के प्रति कोई भेद नहीं है।

अनेकांत बुद्धि से निश्चित सब बाह्य पदार्थ और सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय एवं अयोग मोक्ष के कारण हैं।

१-२. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित पु. ९, पृ. १६५-१६७। ३. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित पु. ९, पृ. १६५-१६७। ४. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित पु. ९, पृ. १८२। ५. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित पु. ९, पृ. १६८, १८३।

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति चावक्तव्यं च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च इति एतानि सप्त सुनयवाक्यानि प्रधानीकृतैकधर्मत्वात्। न चैतेषु सप्तस्वपि वाक्येषु स्याच्छब्दप्रयोगनियमः तथा प्रतिज्ञाशयादप्रयोगोपलम्भात्। सावधारणानि वाक्यानि दुर्णयाः।^१

एतेषां नयोपनयानां विस्तरव्याख्यानं धवलाटीकायां द्रष्टव्यं।

एवं नयप्ररूपणा गता।

अत्र कर्मप्रकृतिप्राभृतस्य उपक्रम-निक्षेप-अनुगम-नयाख्या एते चत्वारोऽपि अवतारा एतेन पञ्चचत्वारिंशत्तमेन देशामर्शकसूत्रेण प्ररूपिताः। तद्यथा — “अगोणियस्स पुव्वस्स पंचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयडी णाम।।४५।।” तत्थ इमाणि चउवीसअणियोगद्वाराणि भवन्ति।’ इत्येतेन सर्वेणापि सूत्रेण उपक्रमः पञ्चविधः प्ररूपितः। एष उपक्रमः शेषाणां त्रयाणामवताराणामुपलक्षणः, तेन तेऽपि अत्र दृष्टव्या — ज्ञातव्याः, एतस्य तदविनाभावात्। इदमग्रायणीयं नाम पूर्वं ज्ञान-श्रुत-अंग-दृष्टिवाद-पूर्वमिति षट्प्रकारं, ज्ञानादिभ्यः पृथग्भूताग्रायणीयाभावात्। तेन शिष्यमतिविकसितार्थं षण्णामपि चतुर्विधोऽवतार उच्यते। तद्यथा — नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदेन चतुर्विधं ज्ञानं। आद्याः त्रयोऽपि निक्षेपा द्रव्यार्थिकनय-संस्थिताः, त्रयाणा-मन्वयदर्शनात्। भावः पर्यायार्थिकनयनिबन्धनः, वर्तमानपर्यायेणोपलक्षितद्रव्यत्वस्य भावत्वाभ्युपगमात्।

कथंचित् है, कथंचित् नहीं है, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् है और नहीं हैं, कथंचित् है और अवक्तव्य है, कथंचित् नहीं है और अवक्तव्य है, कथंचित् है, नहीं है और अवक्तव्य है, इस प्रकार ये सात सुनयवाक्य हैं, क्योंकि वे एक धर्म को प्रधान करते हैं। इन सातों ही वाक्यों में ‘स्यात्’ शब्द के प्रयोग का नियम नहीं है, क्योंकि वैसी प्रतिज्ञा का आशय होने से अप्रयोग पाया जाता है। ये ही वाक्य सावधारण अर्थात् अन्यव्यावृत्तिरूप होने पर दुर्नय हो जाते हैं।

इन नय और उपनयों का विस्तार से व्याख्यान धवला टीका में देखना चाहिए।

इस प्रकार नयप्ररूपणा पूर्ण हुई।

यहाँ कर्मप्रकृतिप्राभृत के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चारों ही अवतार इस पैतालिसवें देशामर्शक सूत्र के द्वारा प्ररूपित किये गये हैं। वह इस प्रकार से है — ‘अग्रायणीय पूर्व की पंचम वस्तु के चतुर्थ प्राभृत का नाम कर्मप्रकृति है।।४५।। उसमें ये चौबीस अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं’ इस प्रकार इस समस्त ही सूत्र के द्वारा पाँच प्रकार के उपक्रम की प्ररूपणा की गई है। यह उपक्रम शेष तीन अवतारों का उपलक्षण है, अतएव उन्हें भी यहाँ देखना चाहिए अर्थात् जानना चाहिए, क्योंकि यह उनका अविनाभावी है। यह अग्रायणीय नामका पूर्व ज्ञान, श्रुत, अंग, दृष्टिवाद व पूर्वगत के अन्तर्गत होने से छह प्रकार का है, क्योंकि ज्ञानादिकों से पृथग्भूत अग्रायणी पूर्व का अभाव पाया जाता है। इसलिए शिष्यों की बुद्धि को विकसित करने के लिए उक्त छहों के चार प्रकार का अवतार कहते हैं। वह इस प्रकार है — नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से ज्ञान चार प्रकार का है। इनमें आदि के तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के आश्रित हैं, क्योंकि उन तीन के अन्वय देखा जाता है। भावनिक्षेप पर्यायार्थिकनय के निमित्त से होने वाला है, क्योंकि वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भाव स्वीकार किया गया है।

संप्रति निक्षेपार्थ उच्यते — नामज्ञानं ज्ञानशब्दः स्वात्मनि वर्तमानः। स्थापनाज्ञानं स एष इत्यभेदेन संकल्पितः सद्भावासद्भावार्थः। द्रव्यज्ञानं द्विविधं—आगमनोआगमभेदेन। ज्ञानप्राभृतज्ञायकोऽनुपयुक्त आगमद्रव्यज्ञानं, नैगमनयावलम्बनात्। नोआगमद्रव्यज्ञानं त्रिविधं—ज्ञायक-शरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तनो-आगमद्रव्यज्ञानभेदेन। ज्ञायकशरीरभाविद्विकं सुगमं, बहुशः प्ररूपितत्वात्। तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यज्ञानं ज्ञानहेतुपुस्तकादिद्रव्याणि।

ज्ञानप्राभृतज्ञायक उपयुक्तो भावागमज्ञानं। अत्र भावागमज्ञानं प्रकृतं, शेषाणामसंभवात्।

एतेन नय-निक्षेपौ द्वौ अपि प्ररूपितौ भवतः। अनुगमोऽपि प्ररूपितश्चैव, तमधिकृत्य नय-निक्षेपयोः प्ररूपितत्वात्।

अत्रोपक्रम आनुपूर्वी—नाम-प्रमाण-वक्तव्यता-अर्थाधिकार-भेदेन-पञ्चविध उच्यते—

तत्रानुपूर्व्याः अत्र नास्ति संभवः, ज्ञानैकत्वविवक्षितत्वात्। ज्ञायन्ते एतेन जीवादिपदार्था इति ज्ञानमिति गुणनाम। प्रमाणमेकमेव, संग्रहनयावलम्बनात्। अथवा प्रमाणमनन्तं, ज्ञानस्य ज्ञेयप्रमाणत्वात्। वक्तव्यमेतस्य स्वसमय-परसमयाः। मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्ययकेवलज्ञानभेदेन पञ्चाधिकाराः, न वर्द्धिमा न च न्यूनाः, व्यवहारनयावलम्बनात्।

अधुना श्रुतज्ञानमुखेन चतुर्विधोऽवतार उच्यते—नाम-स्थापना-द्रव्य-भावश्रुतज्ञानभेदेन चतुर्विधं श्रुतज्ञानं। आद्यास्त्रयोऽपि निक्षेपा द्रव्यार्थिकस्य।

कथमेते त्रयो द्रव्यार्थिकस्य ?

अब निक्षेप का अर्थ कहते हैं—नाम ज्ञान अपने आप में रहने वाला ज्ञान शब्द है। 'वह यह है' इस प्रकार अभेद से संकल्पित सद्भाव व असद्भावरूप अर्थ स्थापनाज्ञान है। द्रव्यज्ञान आगम और नोआगम के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानप्राभृत का जानकार उपयोग से रहित जीव आगम द्रव्यज्ञान है, क्योंकि यहाँ नैगम नय का अवलम्बन है। ज्ञायकशरीर, भव्य और तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यज्ञान के भेद से नोआगमद्रव्यज्ञान तीन प्रकार का है। ज्ञायकशरीर और भव्य नोआगमद्रव्यज्ञान ये दो सुगम हैं, क्योंकि इनकी प्ररूपणा बहुतबार की गई है। ज्ञान की हेतुभूत पुस्तक आदि द्रव्य तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यज्ञान है।

ज्ञानप्राभृत का जानकार उपयोगयुक्त जीव भावागमज्ञान है। यहाँ भावागमज्ञान प्रकृत है, क्योंकि शेष ज्ञानों की यहाँ संभावना नहीं है।

इसके द्वारा नय और निक्षेप दोनों की प्ररूपणा की गई है। अनुगम की प्ररूपणा की ही जा चुकी है, क्योंकि उसको लेकर ही नय और निक्षेप का प्ररूपण होता है।

यहाँ आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार के भेद से पाँच प्रकार का उपक्रम कहा जाता है—

उनमें आनुपूर्वी की यहाँ संभावना नहीं है, क्योंकि यहाँ ज्ञान के एकत्व की विवक्षा है। चूँकि इससे जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं अतः ज्ञान यह गुणनाम है। प्रमाण एक ही है, क्योंकि यहाँ संग्रहनय का अवलम्बन है। अथवा प्रमाण अनन्त हैं, क्योंकि ज्ञान ज्ञेय के प्रमाण हैं अर्थात् जितने (अनन्त) ज्ञेय हैं उतने ही ज्ञान भी हैं। वक्तव्य के स्वसमय और परसमय ये दो भेद हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से अधिकार के पाँच भेद हैं। न वे अधिक हैं और न कम भी, क्योंकि यहाँ व्यवहारनय का अवलम्बन है।

अब श्रुतज्ञान की मुख्यता से चार प्रकार का अवतार कहते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव श्रुतज्ञान के भेद से श्रुतज्ञान चार प्रकार का है। इनमें आदि के तीनों ही निक्षेप द्रव्यार्थिकनय के हैं।

शंका — ये तीनों द्रव्यार्थिकनय के निक्षेप कैसे हैं ?

नैतद् वक्तव्यं, पर्यायार्थिकनये क्षणक्षयेण शब्दार्थविशेषभावेन संकेतकरणानुपपत्तेः वाच्यवाचक-भेदाभावात्।

कथं शब्दनयेषु त्रिष्वपि शब्दव्यवहारः ?

अनर्पितार्थगतभेदानामर्पितशब्दनिबन्धनभेदानां तेषां नयानां तदविरोधात्।

कथं स्थापना द्रव्यार्थिकनयविषयः ?

न, अर्थे तद्ग्रहे सति स्थापनोपपत्तेः।

द्रव्यश्रुतज्ञानमपि द्रव्यार्थिकनयविषयः, आधाराधेययोरेकत्व-कल्पनाया द्रव्यश्रुतग्रहणात्।

भावनिक्षेपः पर्यायार्थिकनयविषयः, वर्तमानपर्यायेणोपलक्षितद्रव्यग्रहणात्।

निक्षेपार्थ उच्यते — नाम-स्थापना-आगम-नोआगमद्रव्यश्रुतज्ञानानि सुगमानि। विशेषेण — श्रुतज्ञानहेतु-भूतगुरु-आदीनि तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यश्रुतज्ञानमिति वक्तव्यम्। श्रुतोपयुक्तः पुरुषो भावश्रुतज्ञानम्।

एवं निक्षेपनयप्ररूपणा गता।

श्रुतज्ञानं प्रमाणं, न प्रमेयः, तेनार्थानधिकारात्।

अनुगमो गतः।

पूर्वानुपूर्व्या इदं श्रुतज्ञानं द्वितीयं, पश्चादानुपूर्व्या चतुर्थं, यथातथानुपूर्व्या प्रथमं द्वितीयं तृतीयं वा। श्रुतज्ञानमिदं नाम नोगोण्यं, श्रोत्रादीन्द्रियेभ्योऽनुत्पन्नस्य ज्ञानस्य श्रुतज्ञानसंज्ञायां गोण्यत्वाभावात्। प्रमाणमेकं

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि पर्यायार्थिकनय में क्षणक्षयी होने से शब्द और अर्थ की विशेषता से संकेत करना न बन सकने के कारण वाच्य-वाचक भेद का अभाव है।

शंका — तो फिर तीनों ही शब्द नयों में शब्द का व्यवहार कैसे होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि अर्थगत भेद की अप्रधानता और शब्दनिमित्तक भेद की प्रधानता रखने वाले उक्त नयों के शब्द व्यवहार में कोई विरोध नहीं पाया जाता है।

शंका — स्थापना द्रव्यार्थिकनय का विषय कैसे है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि अर्थ का उसके द्वारा ग्रहण होने पर स्थापना बन सकती है।

द्रव्यश्रुतज्ञान भी द्रव्यार्थिकनय का विषय है क्योंकि आधार और आधेय के एकत्व की कल्पना होने पर द्रव्यश्रुत का ग्रहण होता है। भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है, क्योंकि वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य का यहाँ भावरूप से ग्रहण किया गया है।

अब निक्षेप का अर्थ कहते हैं — नाम, स्थापना तथा आगम व नोआगम द्रव्यश्रुतज्ञान सुगम हैं। विशेष इतना है कि श्रुतज्ञान के निमित्तभूत गुरु आदि तद्व्यतिरिक्त नो आगमद्रव्यश्रुतज्ञान है, ऐसा कहना चाहिए। श्रुतज्ञान के उपयोग से युक्त पुरुष भावश्रुतज्ञान है।

इस प्रकार निक्षेप और नय की प्ररूपणा समाप्त हुई।

श्रुतज्ञान प्रमाण है, प्रमेय नहीं है, क्योंकि अर्थ का यहाँ अधिकार नहीं है।

अनुगम की प्ररूपणा समाप्त हुई।

वह श्रुतज्ञान पूर्वानुपूर्वी से द्वितीय, पश्चादानुपूर्वी से चतुर्थ और यथा-तथानुपूर्वी से प्रथम, द्वितीय अथवा तृतीय है। श्रुतज्ञान यह नाम नोगोण्य है, क्योंकि श्रोत्रादिक इन्द्रियों से नहीं उत्पन्न हुए ज्ञान की श्रुतज्ञान संज्ञा के गोण्यता का अभाव है। प्रमाण एक ही है, क्योंकि यहाँ श्रुतसामान्य की विवक्षा है। अथवा प्रमेय अनन्त

चैव, श्रुतत्वमात्रविवक्षित्वात्। अक्षर-पद-संघात-प्रतिपत्ति-अनियोगद्वारविवक्षातः संख्यातं, अथवा अनन्तं, प्रमेयस्थानन्त्यात्। वक्तव्यं-स्वसमय-परसमया, सुनय-दुर्णय स्वरूपप्ररूपणात्।

अर्थाधिकारो द्विविधं—अंगमनंगमिति। सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवः वंदना प्रतिक्रमणं वैनयिकं कृतिकर्म दशवैकालिकं उत्तराध्ययनं कल्प्यव्यवहारः कल्प्याकल्प्यं महाकल्प्यं पुण्डरीकं महापुण्डरीकं निषिद्धिका इति चतुर्दशविधमनंगश्रुतम्।

तत्र सामायिकं द्रव्य-क्षेत्र-कालानाश्रित्य पुरुषजातं विचार्य परिमितापरिमितकालसामायिकं प्ररूपयति।

चतुर्विंशतिस्तवः वृषभादिजिनेन्द्राणां तच्चैत्य-चैत्यधराणां च कृत्रिमाकृत्रिमाणां द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावप्रमाणादिवर्णनं करोति।

वंदना एतेषां वृषभादिजिनेन्द्राणां चैत्यादीनां च वंदनविधानं द्रव्यार्थिकनयमवलम्ब्य प्ररूपयति।

प्रतिक्रमणं दैवसिक-रात्रिक-ऐर्यापथिक-पाक्षिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिक-उत्तमार्थमिति सप्तप्रतिक्रमणानि भरतादिक्षेत्राणि दुःषमादिकालान् षट्संहननसमन्वितपुरुषान् चार्पयित्वा प्ररूपयति।

वैनयिकं भरतैरावतविदेहसाधनं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावान् प्रतीत्य ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-औपचारिकविनयं वर्णयति।

कृतिकर्म अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायगणचिंतकगणवृषभादीनां क्रियमाणपूजाविधानं वर्णयति।

अत्रोपयोगिनी गाथा—

होने से वह अनन्त है। वक्तव्य स्वसमय और परसमय हैं, क्योंकि सुनय और दुर्णय के स्वरूप की यहाँ प्ररूपणा की गई है।

अंगश्रुत और अनंगश्रुत के भेद से अर्थाधिकार दो प्रकार का कहा है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका, इस प्रकार अनंगश्रुत चौदह प्रकार का है।

उनमें सामायिक अनंगश्रुत द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा करके एवं पुरुषवर्ग का विचार करके परिमित एवं अपरिमित कालरूप सामायिक का प्ररूपण करता है।

चतुर्विंशतिस्तव अधिकार वृषभादिक जिनेन्द्रों और उनकी कृत्रिम व अकृत्रिम प्रतिमाओं एवं चैत्यालयों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और प्रमाणादिक का वर्णन करता है।

वंदना अधिकार द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन करके चौबीस तीर्थकरों और उनकी प्रतिमाओं की वंदना की विधि का प्ररूपण करता है।

प्रतिक्रमण अधिकार दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ प्रतिक्रमण इस प्रकार सात प्रतिक्रमणों की भरतादिक क्षेत्रों, दुःषमादिक कालों और छह संहनन युक्त पुरुषों की विवक्षा करके प्ररूपणा करता है।

वैनयिक अधिकार भरत, ऐरावत व विदेह क्षेत्र के साधन के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय करके ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपोविनय एवं औपचारिक विनय का वर्णन करता है।

कृतिकर्म अधिकार अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, गणचिन्तक और गणवृषभ आदिकों की, की जाने वाली पूजा के विधान का वर्णन करता है।

यहाँ उपयोगी गाथा इस प्रकार है—

दुओणदं जहाजादं बारसावत्तमेव वा।

चउसीसं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजए।।^१

मूलाचारे एतादृशी गाथा वर्तते। टीकायां च “कृत्यते छिद्यते अष्टविधं कर्म येनाक्षरकदम्बकेन परिणामेन क्रियया वा तत् कृतिकर्म पापविनाशोपायः^२।

जयधवलाटीकायां च—“जिणसिद्धाडरिय-बहुसुदेसु वंदिज्जमाणेसु जं कीरइ कम्मं तं किदियम्मं गाम। तस्स आदाहीण-तिक्खुत्त-पदाहिण-तिओणद-चदुस्सिर-बारसावत्तादिलक्खणं विहाणं फलं च किदियम्मं वण्णेदि।^३”

मूलाचारग्रन्थे साधूनां अष्टाविंशतिकृतिकर्माणि कथितानि सन्ति।

उक्तं च— चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होति सज्झाए।

पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोददसा होति।।६०२।।

सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतितीर्थकरस्तवपर्यन्तः कृतिकर्मेत्युच्यते। प्रतिक्रमणकाले चत्वारि क्रियाकर्माणि स्वाध्यायकाले च त्रीणि क्रियाकर्माणि भवत्येवं पूर्वाण्हे क्रियाकर्माणि सप्त तथाऽपराण्हे च क्रियाकर्माणि, सप्तैवं पूर्वाण्हेऽपराण्हे च क्रियाकर्माणि चतुर्दश भवन्तीति। कथं प्रतिक्रमणे चत्वारि क्रियाकर्माणि? आलोचनाभक्तिकरणे कायोत्सर्ग एकं क्रियाकर्म तथा प्रतिक्रमणभक्तिकरणे कायोत्सर्गः द्वितीयं क्रियाकर्म तथा वीरभक्तिकरणे कायोत्सर्गस्तृतीयं क्रियाकर्म तथा चतुर्विंशतितीर्थकरभक्तिकरणे

गाथार्थ— यथाजात अर्थात् जातरूप होकर दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति और तीन शुद्धियों से संयुक्त कृतिकर्म का प्रयोग करना चाहिए।।

इसी प्रकार की गाथा मूलाचार में आई है और उसकी टीका में कृतिकर्म का लक्षण कहा है—

“जिस अक्षरसमूह से या जिस परिणाम से अथवा जिस क्रिया के करने से आठों प्रकार के कर्म छेदे जाते हैं— नष्ट किये जाते हैं, उसे कृतिकर्म कहते हैं अर्थात् वह कृतिकर्म पाप नाश करने का उपाय है।

जयधवला की टीका में कहा है—

“जिनदेव, सिद्ध, आचार्य और उपाध्याय की वंदना करते समय जो क्रिया की जाती है, उसे कृतिकर्म कहते हैं। उस कृतिकर्म के आत्माधीन होकर किये गये तीन बार प्रदक्षिणा, तीन अवनति, चार नमस्कार और बारह आवर्त आदिरूप लक्षण, भेद तथा फल का वर्णन कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है।

मूलाचार ग्रंथ में साधुओं के अट्टाईस कृतिकर्म कहे हैं। वे इस प्रकार हैं—

गाथार्थ— प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म, स्वाध्याय में तीन ये पूर्वाण्हे और अपराह्ण से संबंधित ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं।।६०२।।

सामायिकस्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशतितीर्थकरस्तव-पर्यंत जो क्रिया है उसे ‘कृतिकर्म’ कहते हैं। प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म और स्वाध्याय में तीन कृतिकर्म इस तरह पूर्वाण्हे संबंधी क्रियाकर्म सात होते हैं तथा अपराण्हे संबंधी क्रियाकर्म भी सात होते हैं। ऐसे चौदह क्रियाकर्म होते हैं।

प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म कैसे होते हैं ?

आलोचना भक्ति (सिद्धभक्ति) करने में कायोत्सर्ग होता है। वह एक क्रिया कर्म हुआ। प्रतिक्रमण भक्ति के करने में कायोत्सर्ग होता है, वह दूसरा क्रियाकर्म हुआ। वीरभक्ति के करने में जो कायोत्सर्ग है, वह तृतीय

१. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित पु. ९, पृ. १८९। २. मूलाचार भाग १, पृ. ४४१-४४२। ३. कसायपाहुड़ टीका जयधवला में पु. १, पृ. ११८।

शांतिहेतोः कायोत्सर्गश्चतुर्थं क्रियाकर्म। कथं च स्वाध्याये त्रीणि क्रियाकर्माणि? श्रुतभक्तिकरणे कायोत्सर्ग एकं क्रियाकर्म तथाऽऽचार्यभक्तिक्रियाकरणे द्वितीयं क्रियाकर्म तथा स्वाध्यायोपसंहारे श्रुतभक्तिकरणे कायोत्सर्गस्तृतीयं क्रियाकर्मैवं जातिमपेक्ष्य त्रीणि क्रियाकर्माणि भवन्ति स्वाध्याये, शेषाणां वंदनादिक्रिया-कर्मणामत्रैवान्तर्भावो द्रष्टव्यः। प्रधानपदोच्चारणं कृतं यतः पूर्वाणहे दिवस इति एवमपराणहे रात्रावपि द्रष्टव्यं भेदाभावात् अथवा पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे क्रियाकर्माणि चत्वारि स्वाध्याये त्रीणि वंदनायां द्वे, सवितर्युदिते स्वाध्याये त्रीणि मध्याह्नवंदनायां द्वे एवं पूर्वाणहक्रियाकर्माणि चतुर्दश भवन्ति, तथाऽपराणहवेलायां स्वाध्याये त्रीणि क्रियाकर्माणि प्रतिक्रमणे चत्वारि वंदनायां द्वे योगभक्तिग्रहणोपसंहारकालयोः द्वे रात्रौ प्रथमस्वाध्याये त्रीणि। एवमपराणहक्रियाकर्माणि चतुर्दश भवन्ति प्रतिक्रमणस्वाध्यायकालयोरुपलक्षणत्वादिति, अन्यान्यपि क्रियाकर्माण्यत्रैवान्तर्भवन्ति नाव्यापकत्वमिति संबन्धः। पूर्वाणहसमीपकालः पूर्वाणह इत्युच्यतेऽपराणहसमीपकालोऽपराणह इत्युच्यते तस्मान्न दोष इति।^१

दशवैकालिकं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानाश्रित्य मुनीनामाचार-गोचरविधिं वर्णयति।

उत्तराध्ययनमनंगश्रुतं मुनीनामुद्गम-उत्पादनैषणदोषगतप्रायश्चित्तविधानं कालादिविशेषितं प्ररूपयति।

कल्प्यव्यवहारः साधूनां यस्मिन् काले यत् कल्प्यते तत् पिच्छ-कमण्डलु-कवली-पुस्तकादीनि प्ररूपयति,

क्रियाकर्म हुआ तथा चतुर्विंशतितीर्थकर भक्ति के करने में शांति के लिए जो कायोत्सर्ग है, वह चतुर्थ क्रियाकर्म है। इस तरह प्रतिक्रमण में चार क्रियाकर्म हुए।

स्वाध्याय में तीन कृतिकर्म कैसे है ?

स्वाध्याय के प्रारंभ में श्रुतभक्ति के करने में कायोत्सर्ग होता है वह एक कृतिकर्म है तथा आचार्यभक्ति की क्रिया करने में जो कायोत्सर्ग है, वह दूसरा कृतिकर्म है तथा स्वाध्याय के उपसंहार—समापन में श्रुतभक्ति के करने में कायोत्सर्ग होता है वह तृतीय क्रियाकर्म है, इस तरह जाति की अपेक्षा तीन क्रियाकर्म स्वाध्याय में होते हैं। शेष वंदना आदि क्रियाओं का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रधान पद का ग्रहण किया है जिससे पूर्वाह्न कहने से दिवस का और अपराह्न कहने से रात्रि का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि पूर्वाह्न से दिवस में और अपराह्न से रात्रि में कोई भेद नहीं है।

अथवा पश्चिमरात्रि में प्रतिक्रमण में क्रियाकर्म चार, स्वाध्याय में तीन और वन्दना में दो, सूर्य उदय होने के बाद स्वाध्याय के तीन, मध्याह्न देववन्दना के दो इस प्रकार से पूर्वाह्न संबंधी कृतिकर्म चौदह होते हैं तथा अपराह्न बेला में स्वाध्याय में तीन क्रियाकर्म, प्रतिक्रमण में चार, वंदना में दो, योगभक्ति ग्रहण और उपसंहार में दो एवं रात्रि में प्रथम स्वाध्याय के तीन इस तरह अपराह्न संबंधी चौदह कृतिकर्म चौदह होते हैं। गाथा में प्रतिक्रमण और स्वाध्याय काल उपलक्षणरूप हैं, इससे अन्य-अन्य भी कृतिकर्म इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः अव्यापक दोष नहीं आता है। चूँकि पूर्वाह्न के समीप का काल पूर्वाह्न कहलाता है और अपराह्न के समीप का काल अपराह्न कहलाता है इसलिए कोई दोष नहीं है।

दशवैकालिक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर मुनियों की आचारविषयक विधि व गोचारविधि का प्ररूपण करता है।

उत्तराध्ययन अनंगश्रुत — अंगबाह्यश्रुत मुनियों के उद्गम दोष, उत्पादनदोष और एषणादोष संबंधी प्रायश्चित्त की विधि की कालादि से विशेषित प्ररूपणा करता है।

कल्प्यव्यवहार श्रुत साधुओं को पीछी, कमण्डलु, कवली (ज्ञानोपकरणविशेष) और पुस्तकादि जो

अकल्प्यसेवनायां कल्प्यस्यासेवनायां च प्रायश्चित्तं प्ररूपयति।

कल्प्याकल्प्यं साधूनां यत्कल्प्यते यच्च न कल्प्यते तद्विविधं अपि द्रव्य-क्षेत्रकालानाश्रित्य प्ररूपयति।
महाकल्प्यं अनंगश्रुतं भरतैरावतविदेहानां तत्रतनतिर्यग्मनुष्याणां देवानामन्येषां द्रव्याणां च स्वरूपं
षट्कालानाश्रित्य प्ररूपयति।

जयधवलाटीकायां कथ्यते—“साधूनां ग्रहण-सिक्खा-गणपोषणप्यसंस्करण-सल्लेहणुत्तमट्टाणगयाणां
जं कप्पइ तस्स चेव दव्व-खेत्त-काल-भावे अस्सिदूण परूवणं कुणइ महाकप्पियं।^१”

अन्यत्रापि—‘महतां कल्प्यमस्मिन्निति महाकल्प्यं शास्त्रं। तच्च जिनकल्पसाधूनामुत्कृष्टसंहन-
नादिविशिष्टद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाववर्तिनां योग्यं त्रिकालयोग्याद्यनुष्ठानं स्थविरकल्पानां दीक्षा-शिक्षा-
गणपोषणात्मसंस्कार-सल्लेखनोत्तमार्थस्थानगतोत्कृष्टाराधनाविशेषं च वर्णयति।^२’

पुण्डरीकमनंगश्रुतं देवेषु असुरेषु नारकेषु च तिर्यङ्मनुष्याणामुत्पादं षट्कालविशेषितं प्ररूपयति।
एतस्मिन् काले तिर्यचो मनुष्याश्च एतेषु कल्पेषु एतासु पृथिवीषु उत्पद्यन्त इति प्ररूपयति।

अन्यत्र च—‘भवनवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-कप्पवासिय-वेमाणिय-देविंद-समाणियादिसु उप्पत्ति-
कारणदाण-पूजा-सील-तवोववास-सम्मत्त-अकामणिज्जराओ तेसिमुववादभवणसरूवाणि च वण्णेदि पुंडरीयं।^३’

जिस काल में योग्य हो उसकी प्ररूपणा करता है तथा अयोग्य सेवन और योग्य सेवन न करने के प्रायश्चित्त
की प्ररूपणा भी करता है।

कल्प्याकल्प्य श्रुत साधुओं को जो योग्य है और जो योग्य नहीं है उन दोनों की ही द्रव्य, क्षेत्र और काल
का आश्रय लेकर प्ररूपणा करता है।

महाकल्प्यश्रुत भरत-ऐरावत और विदेह तथा वहाँ रहने वाले तिर्यच व मनुष्यों के, देवों के एवं अन्य
द्रव्यों के भी स्वरूप का छह कालों का आश्रय लेकर निरूपण करता है।

जयधवला की टीका में कहा है—

“साधुओं के द्वारा शिष्यों का ग्रहण करना, उन्हें शिक्षित करना, गणपोषण करना, पुनः आत्मसंस्कार,
सल्लेखना और उत्तमस्थान रूप आराधना को प्राप्त करके उन्हें जो कुछ करना योग्य है, उसको द्रव्य, क्षेत्र,
काल और भाव का आश्रय लेकर महाकल्प्य वर्णन करता है।”

अन्यत्र भी कहा है—

महान् पुरुषों का कल्प्य जिसमें हो, वह महाकल्प्य शास्त्र है। वह जिनकल्पी साधुओं के उत्कृष्ट संहनन आदि
विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को लेकर त्रिकाल योग आदि अनुष्ठान का स्थविरकल्पी साधुओं की दीक्षा, शिक्षा, गण का
पोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना, उत्तमार्थ स्थानगत, उत्कृष्ट आराधना विशेष का प्ररूपण करता है।

पुण्डरीक अनंगश्रुत—अंगबाह्यश्रुत देव, असुर एवं नारकियों में तिर्यच एवं मनुष्यों की उत्पत्ति को
छह कालों में विशेषित करके प्ररूपित करता है। इस काल में तिर्यच और मनुष्य इन कल्पों में या इन
पृथिवियों में उत्पन्न होते हैं, इसकी वह प्ररूपणा करता है।

अन्यत्र भी वर्णन है—

पुण्डरीकप्रकीर्णक भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी और वैमानिक संबंधी देव, इन्द्र और
सामानिक आदि में उत्पत्ति के कारणभूत दान, पूजा, शील, तप, उपवास, सम्यक्त्व और अकामनिर्जरा का
तथा उनके उपपादस्थान और भवनों के स्वरूप का वर्णन करता है।

१. कसायपाहुड़ टीका जयधवला पु. १, पृ. १२१। २. गोम्मटसार जीवकांड जीवप्रबोधनी टीका, पृ. ३६८। ३. जयधवला
पु. १, पृ. १२१।

महापुण्डरीकं देवेन्द्रेषु चक्रवर्ति-बलदेव-वासुदेवेषु च कालमाश्रित्योपपादं वर्णयति।

अन्यच्च — ‘महच्च तत्पुण्डरीकं महापुण्डरीकं शास्त्रं। तच्च महर्द्धिकेषु इन्द्र-प्रतीन्द्रादिषु उत्पत्तिकारण-तपो-विशेषाद्याचरणं वर्णयति।’

निषिद्धिकानंगश्रुतं प्रायश्चित्तविधानमन्यदपि आचरणविधानं कालमाश्रित्य प्ररूपयति।

अधुना अंगश्रुतं वर्णयते — तदंगश्रुतज्ञानं चतुर्विधं — नाम-स्थापना-द्रव्य-भावांगश्रुतभेदेन। आद्यास्त्रयोऽपि निक्षेपा द्रव्यार्थिकनयप्रभवाः, भावनिक्षेपः, पर्यायार्थिकनयसमुद्भूतः। तत्र निक्षेपार्थ उच्यते — अंगशब्दः आत्मनि वर्तमानो नामांगं। तदिदमिति बुद्धौ अन्यत्र समारोपितं स्थापनांगं। अंगश्रुतपारगोऽनुपयुक्तो भ्रष्टाभ्रष्ट-संस्कार आगमद्रव्यांगं। ज्ञायकशरीरं भावि-वर्तमानत्यक्तभेदेन नोआगमद्रव्यांगं।

कथमेतेषामंगसंज्ञा ?

आधारे आधेयोपचारात्।

यद्येवं तर्हि नोआगमत्वं न घटते, अङ्ग-आगमयोरभेदात् ?

न, जीवद्रव्यस्य स्वतोऽभिन्नागमभावस्य भ्रष्टाभ्रष्टसंस्कारस्यागमसंज्ञितस्य प्रतिषेधफलत्वात्।

भवतु नाम, शरीरस्य नोआगमत्वमंगश्रुतत्वं च, न भविष्यत्काले अंगश्रुतपारगस्य नोआगमत्वं, उपचारेणा-

महापुण्डरीकश्रुत काल का आश्रय लेकर देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव व वासुदेवों में उत्पत्ति का वर्णन करता है।

दूसरा कथन भी है —

महान् पुण्डरीक शास्त्र को महापुण्डरीक कहते हैं। उनमें महर्द्धिक इन्द्र-प्रतीन्द्र आदि में उत्पत्ति के कारण तपोविशेष आदि आचरण का कथन होता है।

निषिद्धिकाअनंगश्रुत प्रायश्चित्त विधि और अन्य आचरणविधि का भी काल का आश्रय लेकर प्ररूपण करता है।

अब अंगश्रुत का वर्णन करते हैं — वह अंगश्रुतज्ञान नाम-स्थापना-द्रव्य और भावरूप भेद से चार प्रकार का है। आदि के तीनों निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के निमित्त से होने वाले हैं तथा भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नय से उत्पन्न हैं। उनमें निक्षेप के अर्थ को कहते हैं — अपने आपमें रहने वाला अंग शब्द नामांग कहलाता है। ‘वह यह है’ इस प्रकार बुद्धि में आरोपित अन्य अर्थ का नाम स्थापनाअंग है। जो जीव अंगश्रुत के पारंगत, उपयोगरहित व भ्रष्ट अथवा अभ्रष्ट संस्कार से सहित है वह आगमद्रव्यांग है। भावि, वर्तमान और त्यक्त ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्यांग है।

शंका — इनकी अंग संज्ञा कैसे संभव है ?

समाधान — आधार में आधेय का उपचार करने से इनकी अंग संज्ञा उचित है।

शंका — यदि ऐसा है तो उनके नोआगमपना घटित नहीं होता, क्योंकि अंग और आगम में कोई भेद नहीं है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि उसका प्रयोजन स्वतः आगमभाव से अभिन्न, भ्रष्ट व अभ्रष्ट संस्कार वाले तथा आगम संज्ञा से संयुक्त जीव द्रव्य का प्रतिषेध करना है।

शंका — शरीर के नोआगमतत्त्व और अंगश्रुतत्व भले ही हो, किन्तु भविष्य काल में अंगश्रुत के पारगामी

गमसंज्ञितस्य जीवद्रव्यस्य तत्रोपलंभात् ?

नैष दोषः, एतस्य जीवस्यांगश्रुतसंज्ञा चैव, अनागतांगश्रुतपर्यायेण भविष्यमाणत्वात्। उपचारेणागमसंज्ञा नास्ति, वर्तमानातीतानागतागमाधारधर्माणामभावात्।

तद्व्यतिरिक्तनोआगम — अंगश्रुतमंगश्रुतशब्दरचना तस्य हेतुभूतद्रव्याणि वा।

अंगश्रुतपारग उपयुक्त आगमभावांगश्रुतं। केवलज्ञानी आगमांगश्रुतनिमित्तभूतो नोआगमांगश्रुतं।

कथं पर्यायनये उपचारो युज्यते ?

न, नैगमनयावलंबनेन दोषाभावात्।

एवं निक्षेप-नयप्ररूपणा कृता।

द्वयोरनुगमयोः कस्यात्र ग्रहणम् ?

अत्र प्रमाणस्य ग्रहणं वर्तते न तु प्रमेयस्य तेनात्राधिकाराभावात्। अधुना अंगश्रुत-अनंगश्रुतयोरानुपूर्वी दर्शयते — पूर्वानुपूर्व्या प्रथमं, पश्चादानुपूर्व्या द्वितीयं, नोअंगश्रुतमपेक्ष्य अंगे द्विभावोपलंभात्। यत्र तत्रानुपूर्वी अत्र न संभवति, द्विभावात्।

अंगश्रुतमिति गुणनाम-सार्थकनाम, अंगति गच्छति व्याप्नोति त्रिकालगोचराशेष द्रव्य-पर्यायान् इति 'अंग' शब्दनिष्पत्तेः।

द्रव्यार्थिकनयेऽवलम्बिते प्रमाणमेकमेव, अंगत्वं प्रतीत्य भेदाभावात्। व्यवहारनयं प्रतीत्य भण्यमाने चतुःषष्टिः अंगश्रुतप्रमाणं भवति।

होने वाले जीव के नोआगमपना संभव नहीं है, क्योंकि वहाँ उपचार से आगम संज्ञा युक्त जीव द्रव्य पाया जाता है।

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इस जीव की अंगश्रुत संज्ञा ही है, कारण कि वह भविष्य में होने वाली अंगश्रुत पर्याय से भविष्यमान है। किन्तु उसकी उपचार से आगम संज्ञा नहीं है, क्योंकि वर्तमान अतीत और अनागत काल में आगम के आधारभूत धर्मों का वहाँ अभाव पाया जाता है।

अंगश्रुत की शब्द रचना अथवा उसके हेतुभूत द्रव्य तद्व्यतिरिक्त नोआगमअंगश्रुत कहलाते हैं।

अंगश्रुत का पारगामी उपयोग युक्त जीव आगमभावअंगश्रुत है। आगम अंगश्रुत के निमित्तभूत केवलज्ञानी नोआगमअंगश्रुत कहे जाते हैं।

शंका — पर्यायनय में उपचार कैसे योग्य है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना, क्योंकि नैगमनय का अवलम्बन करने से कोई दोष नहीं आता है।

इस प्रकार निक्षेप और नय की प्ररूपणा की गई।

दो अनुगमों में से यहाँ किसका ग्रहण है ?

यहाँ प्रमाण अनुगम का ग्रहण है प्रमेय का ग्रहण नहीं है, क्योंकि उसका यहाँ अधिकार नहीं है। पूर्वानुपूर्वी से प्रथम और पश्चादानुपूर्वी से द्वितीय है, क्योंकि नोअंगश्रुत की अपेक्षा करके अंग में द्वित्व पाया जाता है। यत्र-तत्रानुपूर्वी यहाँ संभव नहीं है, क्योंकि दो ही भेद हैं।

अंगश्रुत यह गुणनाम है, क्योंकि जो तीनों काल की समस्त द्रव्य व पर्यायों को 'अंगति' अर्थात् प्राप्त होता है या व्याप्त करता है वह अंग है, इस प्रकार अंग शब्द सिद्ध हुआ है।

द्रव्यार्थिकनय का अवलम्बन करने पर प्रमाण एक ही है, क्योंकि अंगसामान्य की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। व्यवहार नय की अपेक्षा कथन करने पर अंगश्रुत का प्रमाण चौंसठ है।

कुतः ?

चतुष्षष्टि-अक्षरैः निष्पन्नत्वात्।

कानि चतुष्षष्टि-अक्षराणि ?

उच्यते — कादि-हकारान्ताः त्रयस्त्रिंशद् वर्णाः विसर्जनीय-जिह्वामूलीय-अनुस्वारोपध्मानीयाश्चत्वारः, स्वराः सप्तविंशतिः, ह्रस्व-दीर्घप्लुतभेदेन एकैकस्मिन् स्वरे त्रयाणां स्वराणामुपलंभात्। एते सर्वेऽपि वर्णाश्चतुष्षष्टिः भवन्ति।

संप्रति अंगश्रुतप्रमाणं कथ्यते —

अक्षरसंयोगं प्रतीत्य एकलक्ष-चतुरशीतिसहस्र-चतुःशत-सप्तषष्टिकोटाकोट्यः चतुश्चत्वारिंशल्लक्ष-त्रिसप्ततिशत-सप्ततिकोट्यः पञ्चनवतिलक्ष-एकपञ्चाशत्सहस्र-षट्शत-पञ्चदशप्रमाणं च अंगश्रुतप्रमाणं भवति। १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५। चतुःषष्टि-अक्षराणामेक-द्विसंयोगादिभ्यः एतावन्मात्रसंयोगाक्षराणामुत्पत्ति-दर्शनात्। पदं प्रतीत्य द्वादशोत्तरशतकोटि-त्र्यशीतिलक्ष-पञ्चोत्तराष्टपञ्चाशत् सहस्रमात्रमंगश्रुतं। ११२८३५८००५।

कथमेतेषां पदानामुत्पत्तिः ?

षोडशशतचतुस्त्रिंशत्कोटि-त्र्यशीतिलक्ष-अष्टसप्ततिशताष्टाशीतिसंयोगाक्षरैः मध्यमपदमेकं भवति। १६३४८३०७८८८। एतैरेकमध्यमपदसंयोगाक्षरैः पूर्वोक्तसर्वसंयोगाक्षरेषु विभक्तेषु पूर्वोक्तांगपदानामुत्पत्ति-र्भवति। एतेषामंगपदानां नमस्कारः क्रियते —

कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो, लक्षाण्यशीतिर्यधिकानि चैव।

पञ्चाशदष्टौ च सहस्रसंख्या, एतच्छ्रुतं पञ्च पदं नमामि॥^१

क्यों ? क्योंकि वह चौंसठ अक्षरों से उत्पन्न हुआ है।

शंका — चौंसठ अक्षर कौन से हैं ?

समाधान — उन्हें कहते हैं — क को आदि में लेकर ह पर्यन्त तेतीस वर्ण हैं, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, अनुस्वार और उपध्मानीय ये चार हैं और सत्ताईस स्वर हैं, क्योंकि ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से एक-एक स्वर में तीन-तीन भेद पाये जाते हैं। ये सब ही मिलकर वर्ण चौंसठ होते हैं।

अब अंगश्रुत का प्रमाण कहते हैं —

अक्षर संयोग की अपेक्षा करके अंगश्रुत का प्रमाण एक लाख चौरासी हजार चार सौ सड़सठ कोड़ाकोड़ी चवालीस लाख तिहत्तर सौ सत्तर करोड़ पञ्चानवे लाख इक्यावन हजार छह सौ पन्द्रह प्रमाण १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ अंगश्रुत का प्रमाण होता है, क्योंकि चौंसठ अक्षरों के एक-दो संयोगादिरूप भंगों से इतने मात्र संयोगाक्षरों की उत्पत्ति देखी जाती है। पद की अपेक्षा करके अंगश्रुत का प्रमाण एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अठ्ठावन हजार पाँच पद मात्र हैं — ११२८३५८००५।

शंका — इन पदों की उत्पत्ति कैसे होती है ?

समाधान — सोलह सौ चौतीस करोड़ तेरासी लाख अठत्तर सौ अठासी संयोगाक्षरों से एक मध्यम पद होता है। १६३४८३०७८८८। इन एक मध्यम पद के संयोगाक्षरों का पूर्वोक्त सब संयोगाक्षरों में विभाग करने पर पूर्वोक्त अंगपदों की उत्पत्ति होती है। इन अंगपदों को नमस्कार किया जाता है —

गाथार्थ — एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अठ्ठावन हजार पाँच पद प्रमाण इस श्रुत को मैं नमस्कार करता हूँ॥

एकपद-वर्णनमस्कारोऽपि कर्तव्यः —

षोडशशतं चतुस्त्रिंशत्कोटीनां त्र्यशीतिमेव लक्षाणि।

शतसंख्याष्टासप्तति-मष्टाशीतिं च पदवर्णान्॥^१

अवशेषाक्षरप्रमाणं कियद् भवतीति चेत् ?

कथ्यते — अष्टकोटि-एकलक्ष-अष्टसहस्र-एकशत-पञ्चसप्ततिमात्रमिति। ८०१०८१७५। पुनः एतेषु द्वात्रिंशदक्षरैः भागे कृते चतुर्दशप्रकीर्णकानां प्रमाणपदप्रमाणमेतावन्मात्रं भवति-पञ्चविंशतिलक्ष-त्रिसहस्र-त्रिंशताशीतिः। २५०३३८०। एतत्खण्डपदमपि १५/३२ अभिप्रायमेतत् २५०३३८० (१५/३२)।

अर्थपदैः गण्यमाने संख्यातमंगश्रुतं भवति।

किमर्थपदम् ?

यावद्भिरक्षरैरर्थोपलब्धिर्भवति तदर्थपदं।

अत्रोपयोगिनी गाथा पठनीया —

तिविहं तु पदं भणिदं अत्थपद-प्रमाण-मज्झिमपदं ति।

मज्झिमपदेण भणिदा पुब्बंगाणं पदविभागा॥^२

संघात-प्रतिपत्ति-अनियोगद्वारैरपि संख्यातमंगश्रुतं। अथवा अनन्तं, प्रमेयमात्रांशुतविकल्पोपलंभात्। वक्तव्यं— स्व-परसमयाः। अस्यांगश्रुतस्यार्थाधिकारो द्वादशविधः। तद्यथा— आचारः सूत्रकृतं स्थानं समवायो व्याख्याप्रज्ञप्तिः ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययनं अंतकृद्दशा अनुत्तरोपपादिकदशा प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्रं दृष्टिवाद इति।

यहाँ एक पद-वर्ण को भी नमस्कार करना चाहिए।

गाथार्थ — सोलह सौ चौंतीस करोड़ तेरासी लाख अठत्तर सौ अठासी प्रमाण एक पद के वर्णों को नमस्कार करता हूँ॥

शेष अक्षरों का प्रमाण कितना होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर मात्र है (८०१०८१७५)। फिर इनमें बत्तीस अक्षरों का भाग देने पर चौदह प्रकीर्णकों के प्रमाणपदों का प्रमाण इतना होता है — पचीस लाख तीन हजार तीन सौ अस्सी (२५०३३८०)। यह खण्डपद है १५/३२। अर्थात् उक्त पदों का प्रमाण २५०३३८० (१५/३२) है।

अर्थपदों से गणना करने पर अंगश्रुत का प्रमाण संख्यात होता है।

शंका — अर्थपद किसे कहते हैं ?

समाधान — जितने अक्षरों से अर्थ की उपलब्धि होती है, उसका नाम अर्थपद है।

यहाँ उपयोगी गाथा पठनीय है —

गाथार्थ — अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद इस प्रकार पद तीन प्रकार का कहा गया है। इनमें मध्यम पद से पूर्व और अंगों के पदविभाग कहे गये हैं॥

संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वार से भी अंगश्रुत संख्यात है। अथवा प्रमेय मात्र अंगश्रुत के विकल्पों के पाये जाने से वह अनन्त है। वक्तव्य दो प्रकार का है — स्वसमय और परसमय। इस अंगश्रुत के १२ अर्थाधिकार हैं। वह इस प्रकार से हैं — आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्तिअंग, ज्ञातृधर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अंतकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग।

तत्राचारेऽष्टादशपदसहस्रे। १८०००। चर्याविधानं शुद्ध्यष्टकं पंचसमिति-त्रिगुप्तिविकल्पं कथ्यते —

कथं चरे कथं चिट्टे कथमासे कथं सए।

कथं भुंजेज्ज भासेज्ज कथं पावं ण बज्झदि॥१॥

जदं चरे जदं चिट्टे जदमासे जदं सए।

जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झदि॥२॥

सूत्रकृते षट्त्रिंशत्पदसहस्रे। ३६०००। ज्ञानविनय-प्रज्ञापना-कल्प्याकल्प्य-छेदोपस्थापना-व्यवहारधर्मक्रियाः दिगंतरशुद्ध्या प्ररूप्यन्ते।

स्थानांगे द्वाचत्वारिंशत्पदसहस्रे ४२०००। एकाद्येकोत्तरक्रमेण जीवादपदार्थानां दशस्थानानि प्ररूप्यन्ते। तस्योदाहरणगाथा —

एक्को चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो भणिदो।

चदुसंकमणाजुत्तो पंचग्गगुणप्पहाणो य॥१॥

छक्कपक्कमजुत्तो उवजुत्तो सत्तभंगिसब्भावो।

अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दसठाणिओ भणिदो॥२॥

एकश्चैव महात्मा-चिच्चैतन्यस्वरूपः, द्विविकल्पो—ज्ञान-दर्शनोपयोगसहितः, संसारी-मुक्तः, भव्याभव्यरूपो वा, त्रिलक्षणः—ज्ञान-कर्म-कर्मफलचेतनासहितः, उत्पादव्ययध्रौव्यापेक्षया, ज्ञानदर्शनचारित्रापेक्षया वा

उनमें से आचारांग में अठारह हजार पद हैं (१८०००)। इसमें चर्याविधि, आठ शुद्धियों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों के भेदों की प्ररूपणा की जाती है —

गाथार्थ—किस प्रकार चलना चाहिए या आचरण करना चाहिए, किस प्रकार ठहरना चाहिए, कैसे बैठना चाहिए, किस प्रकार सोना चाहिए, कैसे भोजन करना चाहिए और किस प्रकार बोलना चाहिए जिससे पाप का बंध न हो ?॥१॥

यत्नपूर्वक चलना चाहिए, यत्नपूर्वक ठहरना चाहिए, यत्नपूर्वक बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक सोना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिए और यत्नपूर्वक बोलना चाहिए, इस प्रकार पाप का बंध नहीं होता है॥२॥

छत्तीस हजार (३६०००) पदप्रमाण सूत्रकृतांग में ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रियाओं की दिगंतरशुद्धि से प्ररूपणा की जाती है।

बयालीस हजार (४२०००) पद प्रमाण स्थानांग में एक को आदि लेकर एक अधिक क्रम से जीवादि पदार्थों के दस स्थानों की प्ररूपणा की जाती है।

उसके उदाहरण की गाथाएँ निम्न प्रकार हैं —

गाथार्थ—यह जीव चैतन्य महात्मारूप एक है। दो भेदरूप है, तीन लक्षणरूप है, चार संक्रमण से युक्त है और पंचाग्रगुणों में प्रधान है॥१॥

वह जीव छह प्रकार के अपक्रम से युक्त है, सात भंगों का उसमें सद्भाव रहता है, आठ कर्मों के आश्रव से सहित है, नौ पदार्थों से युक्त है और दस स्थानों से सहित कहा गया है॥२॥

वह जीव महात्मा अविनश्वर चैतन्य गुण से अथवा सर्व जीव साधारण उपयोगरूप लक्षण से युक्त होने के कारण एक है। वह ज्ञान और दर्शन, संसारी और मुक्त अथवा भव्य और अभव्यरूप भेदों से दो प्रकार का

द्रव्यगुणपर्यायसहितोऽथवा त्रिलक्षणसमन्वितो जीव उच्यते। चतुःसंक्रमणायुक्तः— नरक-तिर्यग्मनुष्यदेवगतिषु परिभ्रमणनिमित्तेन चतुःसंक्रमणसहितो जीवः। पंचाग्रगुणप्रधानश्च— औपशमिक-क्षाधिक-क्षायोपशमिक-औदयिक-पारिणामिकभावापेक्षया पंचभावसहितः। षट्कापक्रमयुक्तः— मरणसमये पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्ध्वाधः-षट्दिक्षु गमनरूपेण षट्क-अपक्रमयुक्तः-षट्प्रकारसहितः। सप्तभंगिसद्भावः— अस्ति-नास्ति-अस्तिनास्ति-अवक्तव्य-अस्त्यवक्तव्य-नास्त्यवक्तव्य-अस्तिनास्ति-चावक्तव्यमिति सप्तभंगिसमन्वितः सप्तप्रकारः। अष्टास्त्रवः— ज्ञानावरणादि-अष्टविधकर्मस्त्रवसहितोऽयं जीवः, अथवा अष्टविधकर्मस्त्रवरहितेन अष्टगुणसमन्वितश्च। नवार्थः— जीवाजीवास्त्रवबंधसंवरनिर्जरा मोक्षपुण्यपापभेदेन नवपदार्थसमन्वितः जीवः। दशस्थानिकः— पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-प्रत्येकवनस्पति-साधारणवनस्पति-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रियरूपदशस्थान-प्राप्तोऽयं जीवः दशस्थानिक उच्यते। एतत्सर्वं कथनं विस्तरेण स्थानांगमुच्यते।

समवायांगे सलक्षचतुःषष्टिपदसहस्रे। १६४०००। सर्वपदार्थानां समवायश्चिन्त्यते। स चतुर्विधः द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पैः। तत्र धर्माधर्मास्तिकाय-लोकाकाशैकजीवानां तुल्यासंख्येयप्रदेशत्वादेकेन प्रमाणेन द्रव्याणां समवायनात् द्रव्यसमवायः। जंबूद्वीप-सर्वार्थसिद्धि-अप्रतिष्ठाननरक-नन्दीश्वरैकवापीनां तुल्ययोजन-शतसहस्रविष्कंभप्रमाणेन क्षेत्रसमवायनात् क्षेत्रसमवायः। सिद्धि-मनुष्यक्षेत्रतुविमान-सीमन्तनरकाणां तुल्ययोजनपंचचत्वारिंशच्छतसहस्रविष्कंभप्रमाणेन क्षेत्रसमवायः। उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योस्तुल्यदशसागरोपम-

है। ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना की अपेक्षा, अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की अपेक्षा, अथवा ज्ञान, दर्शन व चारित्र की अपेक्षा, अथवा द्रव्य, गुण व पर्याय की अपेक्षा तीन प्रकार का कहा गया है। नारकादि चार गतियों में परिभ्रमण करने के कारण चार संक्रमणों से युक्त है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच भावों से युक्त होने के कारण पाँच भेदरूप पंचाग्रगुणप्रधानरूप है। मरण समय में पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व व अधो, इन छह दिशाओं में गमन करनेरूप छह उपक्रमों से सहित होने के कारण छह प्रकार का है। चूँकि अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति, अवक्तव्य, अस्तिअवक्तव्य, नास्तिअवक्तव्य और अस्तिनास्ति अवक्तव्य इन सात भंगों से उसका सद्भाव सिद्ध है, अतः वह सात प्रकार का है। ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों के आस्त्रव से युक्त होने से अथवा आठ कर्मों से रहित होने से सम्यक्त्वादि आठ गुणों से सहित होने से आठ प्रकार का है। जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ पदार्थरूप परिणमन करने की अपेक्षा नौ प्रकार का है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक व साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रियरूप दस स्थानों में प्राप्त होने से दस प्रकार का कहा गया है। यह सभी कथन विस्तार से स्थानांग कहता है।

एक लाख चौंसठ हजार (१६४०००) पद प्रमाण समवायांग में सब पदार्थों के समवाय का अर्थात् द्रव्य क्षेत्र व कालादि की अपेक्षा समानता का विचार किया जाता है। वह समवाय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का है। उनमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव, इन द्रव्यों के समानरूप से असंख्यात प्रदेश होने से एक प्रमाण से द्रव्यों का समवाय होने के कारण द्रव्यसमवाय कहा जाता है। जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठान नरक और नन्दीश्वरद्वीपस्थ एक वापी, इनके समानरूप से एक लाख योजन विस्तारप्रमाण की अपेक्षा क्षेत्रसमवाय होने से क्षेत्रसमवाय है। सिद्धिक्षेत्र, मनुष्यक्षेत्र, ऋतुविमान और सीमन्त नरक, इनके समान रूप से पैतालीस लाख योजन विस्तार प्रमाण से क्षेत्रसमवाय— इनका माप एकसमान है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों के समान दश कोड़ाकोडि सागरोपम प्रमाण की अपेक्षा काल

कोटाकोटिप्रामाण्यात् कालसमवायनात् कालसमवायः। क्षायिकसम्यक्त्व-केवलज्ञान-दर्शन-यथाख्यात-चारित्राणां यो भावस्तदनुभवस्य तुल्यानन्तप्रमाणत्वाद् भावसमवायनाद् भावसमवायः।

व्याख्याप्रज्ञप्तौ स-द्वि-लक्षाष्टाविंशतिपदसहस्रायां। २२८०००। षष्टिव्याकरणसहस्राणि किमस्ति जीवो नास्ति जीवः क्वोत्पद्यते कुत आगच्छतीत्यादयो निरूप्यन्ते। ज्ञातृधर्मकथायां संपंचलक्ष-षट्पञ्चाशत्स-हस्रपदायां। ५५६०००। सूत्रपौरुषीषु भगवतस्तीर्थकरस्य ताल्वोष्ठपुटविचलनमन्तरेण सकलभाषा-स्वरूपदिव्यध्वनि-धर्मकथन-विधानं जातसंशयस्य गणधरदेवस्य संशयच्छेदनविधानमाख्यानोपाख्यानानां च बहुप्रकाराणां स्वरूपं कथ्यते।

उपासकाध्ययने सैकादशलक्ष-सप्ततिपदसहस्रे। ११७००००। एकादशविधश्रावकधर्मो निरूप्यते।

अत्रोपयोगी गाथा—

दंसण-वद-सामाइय-पोसह-सच्चित्त-रादिभक्ते य।

बंधारंभ-परिगह-अणुमणमुद्दिष्ट-देसविरदो य^१॥१॥

अन्तकृद्दशांगे — संसारस्य अन्तःकृतो यैस्तेऽन्तकृतः नमि-मतंग-सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक-वलीक-किष्कंविल-पालंवाष्टपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थकरतीर्थे, एवं वृषभादीनां त्रयोविंशतितीर्थेषु अन्येऽन्ये, एवं दश दशानगाराः दारुणानुपसर्गात्रिर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतः अस्यां वर्ण्यन्त इति अन्तकृद्दशा। अस्यां सत्रयोविंशतिलक्षाष्टा-विंशतिपदसहस्राणि। २३२८०००।

की समानता होने से काल समवाय है। क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और यथाख्यातचारित्र, इनका जो भाव है, उसका जो अनुभव है वह अनन्त प्रमाण है, इनकी सबकी भाव से समानता होनेसे यह भावसमवाय है।

दो लाख अट्ठाईस हजार पद प्रमाण व्याख्याप्रज्ञप्ति में क्या जीव है, क्या जीव नहीं है, जीव कहाँ उत्पन्न होता है और कहाँ से आता है ?, इत्यादिक साठ हजार प्रश्नों के उत्तरों का निरूपण किया जाता है। पाँच लाख छप्पन हजार पद युक्त ज्ञातृधर्मकथांग में सूत्रपौरुषी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधि से स्वाध्याय के प्रस्थापना में भगवान तीर्थकर की तालु व ओष्ठपुट के हलन-चलन के बिना प्रवर्तमान समस्त भाषाओं स्वरूप दिव्यध्वनि द्वारा दी गई धर्मदेशना की विधि का, संशय युक्त गणधर देव के संशय को नष्ट करने की विधि का तथा बहुत प्रकार की कथा व उपकथाओं के स्वरूप का कथन किया जाता है।

ग्यारह लाख सत्तर हजार पद प्रमाण उपासकाध्ययनांग में ग्यारह प्रकार के श्रावकधर्म का निरूपण किया जाता है।

यहाँ उपयोगी गाथा प्रस्तुत है।

गाथार्थ — दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरति, रात्रिभुक्तविरति, ब्रह्मचर्य, आरम्भविरति, परिग्रहविरति, अनुमतिविरति और उद्दिष्टविरति, यह ग्यारह प्रकार का देशचारित्र है॥१॥

अन्तकृद्दशांग में जिन्होंने संसार का अन्त कर दिया है वे अंतकृत केवली कहे जाते हैं। नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कंविल, पालम्ब और अष्टपुत्र ये दस वर्धमान तीर्थकर के तीर्थ में अंतकृत हुए हैं। इसी प्रकार वृषभादिक तेईस तीर्थकरों के तीर्थ में भिन्न-भिन्न दश अन्तकृत हुए हैं। इस प्रकार ये दस-दस अनगर घोर उपसर्गों को जीतकर समस्त कर्मों के क्षय से अन्तकृत होते हैं। चूँकि इस अंग में उन दस-दस का वर्णन किया जाता है अतएव वह अन्तकृद्दशांग कहलाता है। इस अंग में तेईस लाख अट्ठाईस हजार पद हैं २३२८०००।

अनुत्तरौपपादिकदशांगे सद्धानवतिलक्ष-चतुश्चत्वारिंशत्पदसहस्राणि। १२४४०००। सन्ति। उपपादो जन्म प्रयोजनमेषां त इमे औपपादिकाः, विजय-वैजयन्त-जयन्तापराजित-सर्वार्थसिद्ध्याख्यानि पञ्चानुत्तराणि, अनुत्तरेषु औपपादिकाः अनुत्तरौपपादिकाः। ऋषिदास-धन्य-सुनक्षत्र-कार्तिक-नन्द-नन्दन-शालिभद्राभय-वारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतितीर्थेषु अन्येऽन्ये। एवं दश दशानगाराः दारुणानुपसर्गात्रिजित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्ना इति। एवमनुत्तरौपपादिकाः दश अस्यां वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरौपपादिकदशा।

प्रश्नव्याकरणांगे सत्रिनवतिलक्ष-षोडशपदसहस्रे। १३१६०००। प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्, प्रश्नात्रष्ट-मुष्टि-चिन्ता-लाभा-लाभ-सुख-दुःख-जीवित-मरण-जय-पराजय-नाम-द्रव्यायुस्संख्यानानि लौकिक-वैदिकानामर्थानां निर्णयश्च प्ररूप्यते। आक्षेपिणी विक्षेपिणी-संवेदनी-निर्वेदन्यश्चेति चतस्रः कथाः एताश्च निरूप्यन्ते।

विपाकसूत्रे चतुरशीतिशतपदलक्षे। १८४०००००। सुकृत-दुःकृत-विपाकश्चिन्त्यते।

एकादशांगानामियत्पदसमासः। ४१५०२०००। इयत्पर्यन्तमेकादशांगानां कथनं कृतं।

अधुना द्वादशमांगानां कथनं क्रियते —

द्वादशममंगं दृष्टिप्रवाद इति। कौत्कल-काणविद्धि-कौशिक-हरिश्मश्रु-मांथपिक-रोमश-हारित-मुण्ड-अश्वलायनादीनां क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतम्, मरीचिकुमार-कपिलोलूक-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाद्दलि-माठर-

अनुत्तरौपपादिकदशांग में बानवे लाख चवालिस हजार (१२४४०००) पद हैं। उपपाद अर्थात् जन्म ही जिनका प्रयोजन है, वे औपपादिक कहलाते हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच अनुत्तर हैं। अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले अनुत्तरौपपादिक कहे जाते हैं। ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दस वर्द्धमान तीर्थकर के तीर्थ में अनुत्तरौपपादिक हुए हैं। इसी प्रकार ऋषभादिक तेईस तीर्थकरों के तीर्थ में भिन्न-भिन्न दस अनुत्तरौपपादिक हुए हैं। इस प्रकार ये दस-दस अनगार भयानक उपसर्गों को जीतकर विजयादिक अनुत्तरों में उत्पन्न हुए हैं। चूँकि इस प्रकार इसमें दस-दस अनुत्तरौपपादिक अनगारों का वर्णन किया जाता है। अतः वह अनुत्तरौपादिकदशांग कहलाता है।

प्रश्नव्याकरणांग में तिरानवे लाख सोलह हजार (१३१६०००) पद हैं। प्रश्नों का व्याकरण अर्थात् जिसमें इनका कथन हो वह प्रश्नव्याकरण है। प्रश्न के निमित्त से नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु व संख्या की तथा लौकिक एवं वैदिक अर्थों के निर्णय की प्ररूपणा की जाती है। इसके अतिरिक्त आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार कथाओं की भी प्ररूपणा की जाती है।

एक करोड़ चौरासी लाख १८४००००० पद प्रमाण विपाकसूत्र में सुकृत-दुष्कृत अर्थात् पुण्य और पाप के विपाक — फल का विचार किया जाता है।

ग्यारह अंगों के पदों का जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार है — ४१५०२०००। यहाँ तक ग्यारह अंगों का कथन किया गया है।

अब बारहवें अंग का वर्णन करते हैं —

बारहवाँ अंग दृष्टिप्रवाद है। कौत्कल, काणविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांथपिक, रोमश, हारित, मुण्ड

मौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीतिः, शाकल्य-बल्कलि-कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कण्व-माध्यंदिन-मोद-पिप्पलाद-बादरायण-स्विष्टिकृत्-ऐतिकायन-वसु-जैमिन्यादीनामज्ञानिकदृष्टीनां सप्तषष्टिः, वशिष्ठ-पाराशर-जतुकर्ण-वाल्मीकि-रोमहर्षणि-सत्यदत्त-व्यास-एलापुत्र-औपमन्यव-ऐन्द्रदत्त-अयस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत्, एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।

एवमंगश्रुतस्य द्वादश अधिकाराः कथिताः।

अत्र केषु अंगेषु प्रयोजनम् ?

अत्र दृष्टिवादे प्रयोजनम्, स्वकुक्षिस्थितमहाकर्मप्रकृतिप्राभृतत्वात्^१।

संप्रति दृष्टिवादस्यावतार उच्यते —

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदेन चतुर्विधो दृष्टिवादः। तत्राद्यास्त्रयोऽपि निक्षेपा द्रव्यार्थिकनयसंभवाः, अन्तिमः पर्यायार्थिकनयसंभवः। एतेषु नामनिक्षेपो दृष्टिवादशब्दो बाह्यार्थनिरपेक्ष आत्मनि वर्तमानः। स एष इत्येकत्वेन संकल्पितोऽर्थः स्थापनादृष्टिवादः। द्रव्यदृष्टिवादः आगम-नोआगमदृष्टिवादभेदेन द्विविधः। तत्र दृष्टिवादज्ञायकोऽनुपयुक्तो भ्रष्टाभ्रष्टसंस्कारः पुरुषः आगमद्रव्यदृष्टिवादः। नोआगमद्रव्यदृष्टिवादो ज्ञायकशरीर-भावि-तदव्यतिरिक्तभेदेन त्रिविधः। आदिमं सुगमं, बहुशः उक्तत्वात्। नोआगमदृष्टिवादस्वरूपेण परिणममानो जीवो नोआगमभाविदृष्टिवादः। दृष्टिवाद श्रुतहेतुभूतद्रव्याणि आहारादीनि^२ तदव्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यदृष्टिवादः।

और अश्वलायनादिक क्रियावाददृष्टियों के एक सौ अस्सी मत हैं, मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर और मौद्गल्यायन आदि अक्रियावाददृष्टियों के चौरासी मत हैं। शाकल्य, बल्कलि, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यंदिन, मोद, पिप्पलाद, बादरायण, स्विष्टिकृत्, ऐतिकायन, वसु और जैमिनी आदि अज्ञानिकदृष्टियों के सड़सड़ मत हैं। वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, बाल्मीकि, रोमहर्षणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, ऐन्द्रदत्त और अयस्थूण आदि वैनयिकदृष्टियों के बत्तीस मत हैं। इन तीन सौ तिरैसठ मतों की प्ररूपणा और उनका निग्रह दृष्टिवाद अंग में किया जाता है।

इस प्रकार अंगश्रुत के बारह अधिकार कहे हैं।

प्रश्न — यहाँ किस अंग से प्रयोजन है ?

उत्तर — यहाँ दृष्टिवाद अंग से प्रयोजन है, क्योंकि उसकी कुक्षि में — उसके अन्तर्गत महाकर्मप्रकृतिप्राभृत स्थित है।

अब दृष्टिवाद का अवतार कहते हैं —

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से दृष्टिवाद चार प्रकार का है। इनमें आदि के तीनों निक्षेप द्रव्यार्थिकनय के निमित्त से होने वाले हैं और अंतिम पर्यायार्थिक नय के निमित्त से होने वाला है। इनमें बाह्यार्थ से निरपेक्ष अपने आपमें वर्तमान दृष्टिवाद शब्द नामदृष्टिवाद है। 'वह यह है' इस प्रकार एकरूप से संकल्पित पदार्थ स्थापनादृष्टिवाद है। आगमदृष्टिवाद और नोआगमदृष्टिवाद के भेद से द्रव्यदृष्टिवाद दो प्रकार का है। उनमें दृष्टिवाद का जानकार उपयोग रहित, भ्रष्ट व अभ्रष्ट संस्कार वाला पुरुष आगमद्रव्यदृष्टिवाद है। नोआगमद्रव्यदृष्टिवाद ज्ञायकशरीर, भावि और तदव्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार का है। ज्ञायकशरीर सुगम है, क्योंकि बहुत बार उसका अर्थ कहा जा चुका है। नोआगमदृष्टिवाद स्वरूप से परिणमन करने वाला जीव नोआगमभाविदृष्टिवाद है। दृष्टिवाद श्रुत के हेतुभूत द्रव्यआहारादिक तदव्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यदृष्टिवाद है।

भावदृष्टिवादः आगम-नोआगमभेदेन द्विविधः। दृष्टिवादज्ञायकः उपयुक्त आगमभावदृष्टिवादः। आगमेन विना केवल-अवधि-मनःपर्ययज्ञानैः दृष्टिवादकथितार्थपरिच्छेदको नोआगमभावदृष्टिवादः। अत्र आगम-भावदृष्टिवादेन अधिकारः। द्रव्यदृष्टिवादं प्रतीत्य तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यदृष्टिवादेन अधिकारः दृष्टिवादहेतुशब्दानां अक्षरस्थापनाकलापस्याप्युपचारेण दृष्टिवादत्वोपलभात्।

एवं निक्षेपनयाभ्यां दृष्टिवादस्यावतारः कृतः।

दृष्टिवादज्ञाने तदर्थं चानुगमशब्दो वर्तते। ताभ्यां द्वाभ्यामप्यत्र अधिकारः, ज्ञान-ज्ञेययोर्द्वयोरन्योन्या-विनाभावात्।

पूर्वानुपूर्व्या दृष्टिवादो द्वादशः, पश्चादानुपूर्व्या प्रथमः, यत्र तत्रानुपूर्व्या अवक्तव्यः, एकादशमः दशमः नवमः अष्टमः सप्तमः षष्ठः पंचमः चतुर्थः तृतीयः द्वितीयः प्रथमो वा इति नियमाभावात्।

दृष्टिवाद इति गुणनाम, दृष्टीः वदतीति शब्दनिष्पत्तेः। द्रव्यार्थिकनयं प्रतीत्य दृष्टिवादमेकं चैव। पदं प्रतीत्य दृष्टिवादांगं एकशताष्टकोटि-अष्टषष्टिलक्ष-षट्पंचाशत्सहस्र-पंचसंख्यानं। १०८६८५६००५। अर्थतोऽनंतं वा भवति। वक्तव्यं स्व-परसमयाः। अर्थाधिकारः पंचविधः—परिकर्म सूत्रं प्रथमानुयोगः पूर्वकृतं चूलिका चेति।

तत्र परिकर्मणि चन्द्रप्रज्ञप्तिः सूर्यप्रज्ञप्तिः द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः व्याख्याप्रज्ञप्तिरिति पञ्चाधिकाराः। तत्र चन्द्रप्रज्ञप्तौ पंचसहस्राधिकषट्त्रिंशच्छतसहस्रपदायां चन्द्रबिम्ब-तन्मागायुःपरिवारप्रमाणं चन्द्रलोकः तद्व्यतिरिक्तः तस्मादुत्पद्यमानचन्द्रदिनप्रमाणं राहुचन्द्रबिम्बयोः प्रच्छाद्य-प्रच्छादकविधानं तत्रोत्पत्तेः

भावदृष्टिवाद आगम और नोआगम के भेद से दो प्रकार का कहा है। दृष्टिवाद का जानकार उपयोग से युक्त जीव आगमभावदृष्टिवाद है। आगम के बिना केवलज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान से दृष्टिवाद में कहे हुए पदार्थों का जानने वाला नोआगमभावदृष्टिवाद है। यहाँ आगम भावदृष्टिवाद का अधिकार है। द्रव्य दृष्टिवाद की अपेक्षा तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यदृष्टिवाद का अधिकार है, क्योंकि दृष्टिवाद के हेतुभूत शब्दों और अक्षरस्थापनाकलाप के भी उपचार से दृष्टिवादपना पाया जाता है।

इस प्रकार निक्षेप व नयों से दृष्टिवाद का अवतार किया है।

दृष्टिवाद का ज्ञान और उसके अर्थ में अनुगम शब्द रहता है। उन दोनों का ही यहाँ अधिकार है, क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय दोनों का परस्पर में अविनाभाव है।

दृष्टिवाद पूर्वानुपूर्वी से बारहवाँ अंग है, पश्चादानुपूर्वी से प्रथम अंग है और यत्र-तत्रानुपूर्वी से अवक्तव्य है, क्योंकि ग्यारहवाँ, दशवाँ, नौवाँ, आठवाँ, सातवाँ, छठा, पाँचवाँ, चौथा, तीसरा, दूसरा अथवा पहला है, इस प्रकार के नियम का यहाँ अभाव है।

दृष्टिवाद यह गुणनाम है, क्योंकि दृष्टियों को जो कहता है वह दृष्टिवाद है, इस प्रकार दृष्टिवाद शब्द की निष्पत्ति—सिद्धि हुई है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा दृष्टिवाद एक ही है। पद की अपेक्षा करके दृष्टिवाद अंग एक सौ आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पाँच संख्या प्रमाण है। १०८६८५६००५। अथवा अर्थ की अपेक्षा वह अनन्त है। वक्तव्य स्वसमय और परसमय हैं। अर्थाधिकार पाँच हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

उसमें परिकर्म में चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ये पाँच अधिकार हैं। उनमें छत्तिस लाख पाँच हजार पद प्रमाण चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्र बिम्ब, उसके मार्ग, आयु व परिवार का प्रमाण, चन्द्रलोक, उसका गमनविशेष, उससे उत्पन्न होने वाले चन्द्रदिन का प्रमाण, राहु और

कारणं च निरूप्यते। पदस्थापनात् ३६०५०००। सूर्यप्रज्ञप्तौ त्रिसहस्राधिकपंचशतसहस्रपदायां सूर्यबिंबमार्ग-परिवारायुःप्रमाणं तत्प्रभाववृद्धिहासकारणं सूर्यदिनमासवर्षयुगायनविधानं राहु^१-सूर्यबिंब-प्रच्छाद्य-प्रच्छादकविधानं तद्गतिविशेष-ग्रहछायाकाल-राश्युदयविधानं च निरूप्यते। पदांकन्यासः ५०३०००। द्वीपसागरप्रज्ञप्तौ षट्त्रिंशत्सहस्राधिकद्वा-पंचाशच्छतसहस्रपदायां ५२३६००० द्वीपसागराणामियत्ता तत्संस्थानं तद्विस्तृतिः तत्रस्थजिनालया व्यन्तरावासाः समुद्राणां उदकविशेषाश्च निरूप्यन्ते। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ पंचविंशतिसहस्राधिकत्रिशतसहस्रपदायां ३२५००० वर्षधर-वर्षा-हृद-चैत्य-चैत्यालय-भरतैरावतगत-सरित्संख्याश्च निरूप्यन्ते। व्याख्याप्रज्ञप्तौ षट्त्रिंशत्सहस्राधिक-चतुरशीतिशतसहस्रपदायां ८४३६००० रूपि-अजीवद्रव्यं अरूपिअजीवद्रव्यं भव्याभव्यजीवस्वरूपं च निरूप्यन्ते।

सूत्रेऽष्टाशीतिशतसहस्रपदैः ८८००००० पूर्वोक्तसर्वदृष्टयो निरूप्यन्ते, अबंधकः अलेपकः अभोक्ता अकर्ता निर्गुणः सर्वगतः अद्वैतः नास्ति जीवः समुदयजनितः सर्वं नास्ति बाह्यार्थो नास्ति सर्वं निरात्मकं सर्वं क्षणिकं अक्षणिकमद्वैतमित्यादयो दर्शनभेदाश्च निरूप्यन्ते। अत्रेत्यष्टाशीत्यधिकारेषु चतुर्णामधिकाराणां प्रमेयप्रतिपादकेयं। गाथा—

पढमो अबंधयाणं बिदियो तेरासियाण बोद्धव्वो।

तदियो य णियदिपक्खे हवदि चउत्थो ससमयम्मि।।^२

चन्द्रबिम्ब में प्रच्छाद्य-प्रच्छादकविधान अर्थात् राहु द्वारा होने वाले चन्द्र के आवरण की विधि और वहाँ उत्पन्न होने का कारण, इन सबकी प्ररूपणा की जाती है। पदों की स्थापना — प्रमाण छत्तिस लाख पाँच हजार ३६०५००० है। पाँच लाख तीन हजार पद प्रमाण सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्यबिम्ब, उसके मार्ग, परिवार और आयु का प्रमाण, उसकी प्रभा की वृद्धि एवं हास का कारण, सूर्य संबंधी दिन, मास, वर्ष, युग और अयन के निकालने की विधि तथा राहु (केतु) व सूर्यबिम्ब की प्रच्छाद्य-प्रच्छादकविधि, उसकी गतिविशेष ग्रह, छायाकाल और राशि के उदय का विधान इन सबका निरूपण किया जाता है। पद के अंकों की स्थापना पाँच लाख तीन हजार (५०३०००) है। बावन लाख छत्तीस हजार ५२३६००० पद प्रमाण द्वीपसागरप्रज्ञप्ति में द्वीप-समुद्रों की संख्या, उसका आकार, विस्तार, उनमें स्थित जिनालय, व्यन्तरों के आवास तथा समुद्रों के जलविशेषों का निरूपण किया जाता है। तीन लाख पच्चीस हजार ३२५००० पद प्रमाण जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में कुलाचल, क्षेत्र, तालाब, चैत्य, चैत्यालय तथा भरत व ऐरावत में स्थित नदियों की संख्या का निरूपण किया है। चौरासी लाख छत्तीस हजार पद प्रमाण ८४३६००० व्याख्याप्रज्ञप्ति में रूपी अजीव द्रव्य, अरूपी अजीव द्रव्य तथा भव्य एवं अभव्य जीवों के स्वरूप का निरूपण किया जाता है।

अठासी लाख ८८००००० पदों द्वारा सूत्र अधिकार में पूर्वोक्त सब मतों का निरूपण किया जाता है। इसके अतिरिक्त जीव अबंधक है, अलेपक है, अभोक्ता है, अकर्ता है, निर्गुण है, व्यापक है, अद्वैत है, जीव नहीं है, जीव (पृथिवी आदि चार भूतों के) समुदाय से उत्पन्न होता है, सब कुछ नहीं है अर्थात् शून्य है, बाह्य पदार्थ नहीं है, सब निरात्मक है, सब क्षणिक है, सब अक्षणिक अर्थात् नित्य है, अद्वैत है, इत्यादि दर्शन के भेदों का भी इनमें निरूपण किया जाता है। इसके अठासी अधिकारों में चार अधिकारों के प्रमेय की प्रतिपादक यह गाथा है—

गाथार्थ— इनमें प्रथम अधिकार अबन्धकों का और द्वितीय अधिकार त्रैराशिक अर्थात् आजीविकों का जानना चाहिए। तृतीय अधिकार नियतिपक्ष में और चतुर्थ अधिकार स्वसमय में है।।

१. अत्र धवलाटीकाधारेण राहुविमान वर्तते, किन्तु तिलोयपण्णत्तौ केतुविमानेन सूर्यग्रहणं कथ्यते। २. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित पु. ९, पृ. २०८, २०९।

त्रयीगतमिथ्यात्वसंख्यातप्रतिपादकेयं गाथा—

एक्केक्कं तिणिण जणा दो हो यण इच्छदे तिवग्गम्मि।

एक्को तिणिण ण इच्छइ सत्त वि पावेति मिच्छत्तं।।^१

प्रथमानुयोगे पंचपदसहस्रे ५००० चतुर्विंशतेस्तीर्थकराणां द्वादशचक्रवर्तिनां बलदेव-वासुदेव-तच्छत्रूणां चरितं निरूप्यते।

अत्रोपयोगिनी गाथा: —

बारसविहं पुराणं जं दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।

तं सव्वं वण्णेदि हु जिणवंसे रायवंसे य।।१।।

पढमो अरहंताणं बिदिओ पुण चक्कवट्ठिवंसो दु।

तदिओ वसुदेवाणं चउत्थो विज्जाहराणं तु।।२।।

चारणवंसो तह पंचमो दु छट्ठो य पण्णसमणाणं।

सत्तमगो कुरुवंसो अट्ठमओ चापि हरिवंसा।।३।।

णवमो अइक्खुयाणं वंसो दसमो ह कासियाणं तु।

वाई एक्कारसमो बारसमो णाहवांसो दु^२।।४।।

पूर्वकृते पंचनवतिकोटिपंचाशच्छतसहस्रपंचपदे ९५५०००००५ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यादयो निरूप्यन्ते।
चूलिका पञ्चाप्रकारा जल-स्थल-माया-रूप-आकाशभेदेन। तत्र जलगतायां द्विकोटि-

त्रिवर्गगत मिथ्यात्व की संख्या को बतलाने वाली यह गाथा है —

गाथार्थ — तीन जन त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम में एक-एक की इच्छा करते हैं, अर्थात् कोई धर्म को और कोई काम को ही स्वीकार करते हैं। दूसरे-तीसरे जन उनमें दो-दो की इच्छा करते हैं, अर्थात् कोई धर्म और अर्थ को, कोई धर्म और काम को तथा कोई अर्थ और काम को ही स्वीकार करते हैं। कोई एक तीनों की इच्छा नहीं करते हैं अर्थात् तीनों में से एक को भी नहीं चाहते हैं। इस प्रकार ये सातों जन मिथ्यात्व को प्राप्त होते हैं।

पाँच हजार ५००० पद प्रमाण प्रथमानुयोग में चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और उनके शत्रु प्रतिवासुदेवों के चरित्र का निरूपण किया जाता है।

यहाँ उपयोगी गाथाएँ प्रस्तुत हैं —

गाथार्थ — बारह प्रकार का पुराण, जिनवंशों और राजवंशों के विषय में जो सब जिनेन्द्रों ने देखा है या उपदेश किया है, उन सबका वर्णन करता है। इनमें प्रथम पुराण अरहन्तों का, द्वितीय चक्रवर्तियों के वंश का, तृतीय वासुदेवों का, चतुर्थ विद्याधरों का, पाँचवा चारणवंश का, छठा प्रज्ञाश्रमणों का, सातवाँ कुरुवंश का, आठवाँ हरिवंश का, नौवाँ इक्ष्वाकुवंशजों का, दशवाँ काश्यपों का या काशिकों का, ग्यारहवाँ वादियों का और बारहवाँ नाथवंश का है।।१-२-३-४।।

पंचानवें करोड़ पचास लाख पाँच पद प्रमाण ९५५०००००५ पूर्वकृत में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि का निरूपण किया जाता है।

जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता के भेद से चूलिका पाँच प्रकार की है। उनमें

नवशतसहस्रैकान्नवति-सहस्रद्विशतपदायां २०९८९२०० जलगमनहेतवो मंत्रौषध-तपोविशेषा निरूप्यन्ते। स्थलगतायां द्विकोटिनवशत-सहस्रैकान्नवतिसहस्रद्विशतपदायां २०९८९२०० योजनसहस्रादिगतिहेतवो विद्या-मंत्र-तंत्रविशेषा निरूप्यन्ते। मायागतायां द्विकोटि-नवशतसहस्रैकान्नवतिसहस्रद्विशतपदायां २०९८९२०० मायाकरणहेतुविद्या-मंत्र-तंत्रतपांसि निरूप्यन्ते। रूपगतायां द्विकोटिनवशतसहस्रैकान्नवति सहस्रद्विशतपदायां २०९८९२०० चेतनाचेतनद्रव्याणां रूपपरावर्तनहेतुविद्या-मंत्र-तंत्र-तपांसि नरेन्द्रवाद-चित्र-चित्राभासादयश्च निरूप्यन्ते। आकाशगतायां द्विकोटिनवशतसहस्रैकान्नवतिशतसहस्रद्विशतपदायां २०९८९२०० आकाशगमनहेतुभूतविद्या-मंत्र-तंत्र-तपोविशेषा निरूप्यन्ते।

अत्र पूर्वाधिकारे प्रयोजनम्, स्वान्तर्भूतमहाकर्मप्रकृतिप्राभृतत्वात्।

पूर्वगतस्यावतार उच्यते — नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदेन चतुर्विधं पूर्वगतम्।

आद्यास्त्रयोऽपि निक्षेपा द्रव्यार्थिकनयप्रभवाः, भावनिक्षेपः पर्यायार्थिकनयप्रभवः। निक्षेपार्थ उच्यते — नामपूर्वगतं पूर्वगतशब्दो बाह्यार्थनिरपेक्ष आत्मनि वर्तते। स एष इत्येकत्वेन संकल्पितद्रव्यं स्थापनापूर्वगतं। द्रव्यपूर्वगतं द्विविधं — आगम-नोआगमभेदेन। पूर्वरूपाणवपारगोऽनुपयुक्त आगमद्रव्यपूर्वगतं। नोआगमद्रव्य-पूर्वगतं — ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदेन त्रिविधं। आद्ये द्वे सुगमे, बहुशः प्ररूपितत्वात्। पूर्वगत-शब्दसंघातो नोआगमतद्व्यतिरिक्त-द्रव्यपूर्वगतं, पूर्वगतकारणत्वात्। भावपूर्वगतमागम-नोआगमभेदेन द्विविधं — चतुर्दशविद्यास्थानपारग उपयुक्त आगमभावपूर्वगतं। आगमेन विना केवलावधि-मनःपर्ययज्ञानैः पूर्वगतार्थ-परिच्छेदको नोआगमभावपूर्वगतम्।

जलगता चूलिका में दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पद हैं उसमें जलगमन के कारण मंत्र, औषधि एवं तपविशेष का निरूपण किया जाता है। स्थलगता चूलिका में दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पद हैं, जिसमें हजारों योजन जाने की कारणभूत विद्या, मंत्र, तंत्र और तपविशेषों का निरूपण किया जाता है। मायागता चूलिका में दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पद हैं, जिसमें माया करने की हेतुभूत विद्या, मंत्र, तंत्र एवं तप का निरूपण किया जाता है। रूपगता चूलिका में दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पद हैं, उसमें चेतन और अचेतन द्रव्यों के रूप बदलने की कारणभूत विद्या, मंत्र, तंत्र एवं तप का तथा नरेन्द्रवाद, चित्र और चित्राभासादिका निरूपण किया जाता है। दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पदों से संयुक्त आकाशगता चूलिका में आकाशगमन की कारणभूत विद्या, मंत्र, तंत्र व तपविशेष का निरूपण किया जाता है।

यहाँ पूर्वकृत (पूर्वगता) अधिकार से प्रयोजन है, क्योंकि वह महाकर्मप्रकृतिप्राभृत को अपने अन्तर्गत करता है।

पूर्वगत का अवतार कहते हैं — नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से पूर्वगत चार प्रकार का है।

आदि के तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के निमित्त से होने वाले हैं, किन्तु भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नय के निमित्त से होने वाला है। निक्षेप का अर्थ कहते हैं — बाह्य अर्थ से निरपेक्ष अपने आप में प्रवर्तमान पूर्वगत शब्द नामपूर्वगत है। 'वह यह है' इस प्रकार अभेदरूप से संकल्पित द्रव्य को स्थापनापूर्वगत कहते हैं। द्रव्यपूर्वगत आगम और नोआगम के भेद से दो प्रकार का होता है। पूर्वरूप समुद्र के पार को प्राप्त हुआ उपयोगरहित जीव आगमद्रव्यपूर्वगत है। नो आगमद्रव्यपूर्वगत ज्ञायकशरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें आदि के दो सुगम हैं, क्योंकि उनका बहुत बार कथन हो चुका है। पूर्वगत शब्दसमूह नोआगमतद्व्यतिरिक्त द्रव्यपूर्वगत है, क्योंकि वह पूर्वगत का कारण है। भावपूर्वगत आगम और नोआगम के भेद से दो प्रकार का है। चौदह विद्याओं का जानकार उपयोग से युक्त जीव आगमभावपूर्वगत है। आगम के बिना केवलज्ञान, अवधिज्ञान

अत्र केन निक्षेपेण प्रकृतम् ?

पर्यायार्थिकनयं प्रतीत्य आगमभावनिक्षेपेण प्रकृतम्। द्रव्यार्थिकनयं प्रतीत्य नोआगमतद्व्यतिरिक्त-द्रव्यपूर्वगतेन अक्षरस्थापनापूर्वगतेन च प्रकृतं। नैगमनयं प्रतीत्य पूर्वगतज्ञानजनितसंस्कारविशिष्टजीवद्रव्यस्य ग्रहणं।

एवं निक्षेप-नयाभ्यां पूर्वगतस्यावतारः कृतः।

प्रमाणप्रमेययोर्द्वयोरप्यत्रानुगमः, करणकर्मकारकयोरनुगमशब्दनिष्पत्तेः। पूर्वानुपूर्व्या पूर्वगतं चतुर्थं, पश्चादानुपूर्व्या द्वितीयं। यत्र तत्रानुपूर्व्या अवक्तव्यं, प्रथमं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पंचमं वा इति नियमाभावात्। पूर्वं कृतं पूर्वगतमिति निष्पत्तेः गुणनाम। अक्षर-पद-संघात-प्रतिपत्ति-अनियोगद्वारैः संख्यातं। अर्थतोऽनन्तं, प्रमेयानन्त्यात्। वक्तव्यं स्वसमयः, न परसमयः, तस्यार्थप्ररूपणाभावात्। अर्थाधिकारः चतुर्दशविधः। तद्यथा—

उत्पादपूर्वं अग्रायणं वीर्यप्रवादं अस्ति-नास्तिप्रवादं ज्ञानप्रवादं सत्यप्रवादं आत्मप्रवादं कर्मप्रवादं प्रत्याख्याननामधेयं विद्यानुप्रवादं कल्याणनामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं लोकबिन्दुसारमिति।

पुद्गल-काल-जीवादीनां यदा यत्र यथा च पर्यायेणोत्पादा वर्ण्यन्ते तदुत्पादपूर्वं एककोटिपदं १०००००००। अग्राणि चांगानां स्वसमयविषयश्च यत्राख्यापितस्तदग्रायणं षण्णवतिशतसहस्रपदं ९६००००००। छद्मस्थानां केवलानां वीर्यं सुरेन्द्रदैत्याधिपानां वीर्यद्वयो नरेन्द्र-चक्रधर-बलदेवानां वीर्यलाभो द्रव्याणां आत्मपरोभय-क्षेत्र-भवर्षितपोवीर्यं सम्यक्त्वलक्षणं च यत्राभिहितं तद्वीर्यप्रवादं सप्ततिशतसहस्रपदं

और मनःपर्ययज्ञान से पूर्वगत के अर्थ का जानने वाला नोआगमभावपूर्वगत है।

शंका — यहाँ कौन सा निक्षेप प्रकृत है ?

समाधान — पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा आगम भावनिक्षेपप्रकृत है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नोआगम तद्व्यतिरिक्तद्रव्यपूर्वगत और अक्षरस्थापनापूर्वगत प्रकृत है और नैगम नय की अपेक्षा पूर्वगत के ज्ञान से उत्पन्न हुए संस्कार से विशिष्ट जीव द्रव्य का यहाँ ग्रहण है।

इस प्रकार निक्षेप और नय से पूर्वगत का अवतार किया है।

प्रमाण और प्रमेय दोनों का ही यहाँ अनुगम है, क्योंकि करण कारक और कर्म कारक में अनुगम शब्द सिद्ध — निष्पन्न हुआ है। पूर्वानुपूर्वी से पूर्वगत चतुर्थ और पश्चादानुपूर्वी से वह द्वितीय है। यत्र-तत्रानुपूर्वी से वह अवक्तव्य है, क्योंकि प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ अथवा पंचम है, ऐसे नियम का अभाव है। पूर्वी से जो कृत है वह पूर्वगत है, इस प्रकार सिद्ध होने से पूर्वकृत शब्द गुणनाम है। अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारों की अपेक्षा वह संख्यात है। अर्थ की अपेक्षा वह अनन्त है, क्योंकि उसके प्रमेय अनन्त हैं। वक्तव्य स्वसमय है, परसमय वक्तव्य नहीं है, क्योंकि यहाँ उसकी प्ररूपणा का अभाव है।

अर्थाधिकार चौदह प्रकार का है। वह इस प्रकार से हैं — उत्पादपूर्व, अग्रायणपूर्व, वीर्यप्रवाद, अस्ति-नास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननाम, विद्यानुप्रवाद, कल्याणनाम, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार।

जिसमें पुद्गल, काल और जीव आदिकों के जब जहाँ पर और जिस प्रकार से पर्यायरूप से उत्पादों का वर्णन किया जाता है, वह उत्पादपूर्व कहलाता है। इसमें एक करोड़ पद हैं १०००००००। जिसमें अंगों के अग्र अर्थात् मुख्य पदार्थों का तथा स्वसमय के विषय का वर्णन किया गया हो, वह अग्रायणपूर्व है। वह छ्यानबै लाख पदों से संयुक्त है ९६००००००। जिसमें छद्मस्थ व केवलियों के वीर्य का, सुरेन्द्र व दैत्येन्द्रों के वीर्य — शक्ति एवं ऋद्धि का, राजा, चक्रवर्ती और बलदेवों के वीर्य लाभ का, द्रव्यों का आत्मवीर्य, परवीर्य,

७००००००। षण्णां द्रव्याणां भावाभावपर्यायविधिना स्व-परपर्यायाभ्यामुभयनयवशीकृताभ्यामर्पितानर्पित-सिद्धाभ्यां यत्र निरूपणं षष्टिपदशतसहस्रैः ६०००००० क्रियते तदस्तिनास्तिप्रवादं। तद्यथा—

स्वरूपादिचतुष्टयेन अस्ति घटः, तथाविधरूपेण प्रतिभासनात्। पररूपादिचतुष्टयेन नास्ति घटः, तद्रूपतया घटस्याप्रतिभासनात्। ताभ्यामन्योन्यात्मकत्वेन प्राप्तजात्यन्तराभ्यामर्थपर्यायरूपाभ्यां वा आदिष्टोऽवक्तव्यः। अथवा घटोपयोगघटः स्वरूपेणास्ति, न पटोपयोगादिरूपेण। ताभ्यामक्रमेणादिष्टोऽवक्तव्यः। इत्यादिप्रकारेण सकलार्थमस्ति-नास्तितावक्तव्यभंगा योजनीयाः। अस्तित्व-नास्तिताव्याभ्यां क्रमेण विशेषितः अस्ति च नास्ति च घटः। अस्तित्वावक्तव्याभ्यां क्रमेणादिष्टः अस्ति चावक्तव्यश्च घटः। नास्तितावक्तव्याभ्यां क्रमेणादिष्टः नास्ति चावक्तव्यश्च घटः। अस्ति-नास्त्यवक्तव्यैः क्रमेणादिष्टः अस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घटः। एवं शेषधर्माणामपि सप्तभंगी योज्या।

पञ्चानामपि ज्ञानानां प्रादुर्भाव-विषयायतनानां ज्ञानिनामज्ञानिनामिन्द्रियाणां च प्राधान्येन यत्र भागोऽनाद्यनिधन-अनादिसनिधन-साद्यनिधन-सादिसनिधनादिविशेषैर्विभावितस्तद्ज्ञानप्रवादम्। तच्चैकोनकोटिपदम् १११११११।

वाग्गुप्तिः संस्कारकारणं प्रयोगो द्वादशधा भाषा वक्तारश्चानेकप्रकारं मृषाभिधानं दशप्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र प्ररूपितस्तत्सत्यप्रवादम्। एतस्य पदप्रमाणं षडधिकैककोटी १००००००६। अथवा

उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, भववीर्य, ऋषिवीर्य, तपोवीर्य एवं सम्यक्त्व के लक्षण का कथन किया गया है, वह वीर्यप्रवादपूर्व है। यह सत्तर लाख पदों से संयुक्त है ७००००००। जिसमें छहों द्रव्यों का भाव व अभावरूप पर्याय के विधान से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों के अधीन एवं प्रधान व अप्रधान भाव से सिद्ध स्वपर्याय और परपर्याय द्वारा निरूपण किया जाता है, वह अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व है। उसमें साठ लाख ६०००००० पद हैं।

वह इस प्रकार है—स्वरूपादि चतुष्टय के द्वारा घट है, क्योंकि उसी स्वरूप से वह प्रतिभासमान है। पररूपादि चतुष्टय से घट नहीं है, क्योंकि उन चारों रूपों से घट का प्रतिभास नहीं होता है। उन दोनों की अपेक्षा परस्पर अन्योन्यात्मकरूप होने से जात्यन्तर भाव को प्राप्त अथवा द्रव्यपर्यायरूप स्वचतुष्टय की अपेक्षा एक साथ कहने पर घट अवक्तव्य है। अथवा मिट्टी का घट अपने स्वरूप मिट्टी के घटरूप से है, पट उपयोग आदि रूप से नहीं है, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है। उन दोनों धर्मों से एक साथ कहा गया अवक्तव्य है। इत्यादि इसी प्रकार से सम्पूर्ण पदार्थों के साथ अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य भगों को बना लेना चाहिए। अस्तित्व और नास्तित्व धर्मों से क्रमशः विशेषित घट 'है भी और नहीं भी है'। अस्तित्व और अवक्तव्य धर्मों द्वारा क्रम से कहा गया घट 'है भी और अवक्तव्य भी है'। नास्तित्व और अवक्तव्य धर्मों द्वारा क्रम से कहा गया घट 'नहीं भी है अवक्तव्य भी है'। अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य धर्मों द्वारा क्रम से कहा गया घट 'है भी नहीं भी है और अवक्तव्य भी है'। इसी प्रकार शेष धर्मों में भी सप्तभंगी जोड़ लेना चाहिए।

जिसमें अनाद्यनिधन, अनादि-सनिधन, सादि-अनिधन और सादि-सनिधन और विशेषों से पाँचों ही ज्ञानों का प्रादुर्भाव, विषय व स्थान इनका तथा ज्ञानियों का अज्ञानियों का और इन्द्रियों का प्रधानता से विभाग बतलाया गया हो, वह ज्ञानप्रवाद कहलाता है। इसमें एक कम एक करोड़ पद हैं ११११११११।

जिसमें वाग्गुप्ति, वचन संस्कार के कारण, प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, वक्ता अनेक प्रकार का असत्यवचन और दश प्रकार का सत्यसद्भाव, इनकी प्ररूपणा की गई हो, वह सत्यप्रवादपूर्व है। इसके पदों

व्यलीकनिवृत्तिर्वाच्यमत्वं वा वाग्गुप्तिः। वाक्संस्कारकारणानि शिरःकंठादीन्यष्टौ स्थानानि। वाक्प्रयोगः शुभेतरलक्षणः सुगमः। अभ्याख्यान-कलह-पैशून्य-अबद्धप्रलाप-रत्यरत्युपधि-निकृति-अप्रणति-मोष-सम्यग्मिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा। अयमस्य कर्तेति अनिष्टकथनमभ्याख्यानं। कलहः प्रतीतः। पृष्ठतो दोषविष्करणं पैशून्यं। धर्मार्थकाममोक्षासम्बद्धा वागबद्धप्रलापः। शब्दादिविषयेषु रत्युत्पादिका रतिवाक्। शब्दादिविषयेषु अरत्युत्पादिका अरतिवाक्। यां वाचं श्रुत्वा परिग्रहार्जनरक्षणादिष्वसज्यते सोपधिवाक्। वणिग्व्यवहारे यामवधार्य निकृतिप्रवण आत्मा भवति सा निकृतिवाक्। यां श्रुत्वा तपोविज्ञानाभ्यधिकेष्वपि न प्रणमति सा अप्रणतिवाक्। यां श्रुत्वा स्तेये प्रवर्तते सा मोषवाक्। सम्यङ्मार्गस्योपदेष्टी सम्यग्दर्शनवाक्। तद्विपरीता मिथ्यादर्शनवाक्।

वक्ताश्चाविष्कृतवक्तृत्वपर्याया द्वीन्द्रियादयः। द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयमनेकप्रकारमनुतम्।

दशविधः सत्यसद्भावः नाम-रूप-स्थापना-प्रतीत्य-संवृति-संयोजना-जनपद-देश-भाव-समयसत्यभेदेन। तत्र सचेतनेतरद्रव्यस्य असत्यप्यर्थे संव्यवहारार्थं संज्ञाकरणं तन्नामसत्यं, इन्द्र इत्यादि। यदर्थेऽसन्निधानेऽपि रूपमात्रेणोच्यते तद्रूपसत्यं, यथा चित्रपुरुषादिष्वसत्यपि चैतन्योपयोगादावर्थे पुरुष इत्यादि। असत्यप्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं द्यूताक्षनिक्षेपादिषु तत्स्थापनासत्यं। साद्यनादीन् भावान् प्रतीत्य

का प्रमाण एक करोड़ छह है १००००००६। अथवा असत्य वचन के त्याग अथवा वचन के संयम को वाग्गुप्ति कहते हैं। शिर व कण्ठादिक आठ स्थान वचनसंस्कार के कारण हैं। शुभ या अशुभ रूप वचन का प्रयोग सुगम है। अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, अबद्धप्रलाप, रति, अरति, उपधि, निकृति, अप्रणति, मोष, सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शनस्वरूप भाषा बारह प्रकार की है। यह इसका कर्ता है इस प्रकार अनिष्ट कथन का नाम अभ्याख्यान है। कलह प्रसिद्ध है। पीछे दोषों का प्रगट करना पैशून्य कहा जाता है। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष से असम्बद्ध वचन का नाम अबद्धप्रलाप है। शब्दादिक विषयों में रति को उत्पन्न करने वाला वचन रतिवाक् है। शब्दादिक विषयों में अरति को उत्पन्न करने वाला वचन अरतिवाक् है। जिस वचन को सुनकर परिग्रह के उपार्जन करने और उसके रक्षणादिक में आसक्त होता है वह उपधिवाक् कहलाता है। जिस वचन को सुनकर आत्मा वणिक्व्यवहार अर्थात् व्यापार में कपटपरायण होता है, वह निकृतिवाक् है। जिस वचन को सुनकर प्राणी तप और विज्ञान से अधिक जीवों को भी प्रणाम नहीं करता है वह अप्रणतिवाक् है। जिस वचन को सुनकर चौर्य कार्य में प्रवृत्त होता है, वह मोषवचन है। समीचीन मार्ग का उपदेश करने वाला वचन सम्यग्दर्शनवाक् है। इससे विपरीत अर्थात् मिथ्यामार्ग का उपदेश करने वाला वचन मिथ्यादर्शनवाक् है।

वक्ता — वचनरूप से प्रगट हुई वक्तृत्व पर्याय से संयुक्त द्वीन्द्रियादिक जीव है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर असत्य वचन अनेक प्रकार के हैं।

नाम, रूप, स्थापना, प्रतीत्य, संवृति, संयोजना, जनपद, देश, भाव और समय सत्य के भेद से सत्यसद्भाव दश प्रकार का है। उनमें पदार्थ के न होने पर भी व्यवहार के लिए सचेतन और अचेतन द्रव्य की संज्ञा करने को नाम सत्य कहते हैं, जैसे — इन्द्र इत्यादि। पदार्थ का सन्निधान न होने पर भी रूपमात्र की अपेक्षा जो कहा जाता है वह रूपसत्य है, जैसे — चित्रपुरुषादिकों में चैतन्य उपयोगादिरूप पदार्थ के न होने पर भी 'पुरुष इत्यादि' कहना। पदार्थ के न होने पर भी कार्य के लिए जो जुए के पांसे आदि निक्षेपों में स्थापना की जाती है वह स्थापना सत्य है। सादि व अनादि आदि भावों की अपेक्षा करके जो वचन कहा जाता है वह प्रतीत्यसत्य है। जो वचन लोकरुद्धि के आश्रित है, वह संवृतिसत्य है, जैसे पृथिवी आदि अनेक कारणों के

यद्वचस्तत्प्रतीत्यसत्यं। यल्लोकसंवृतौ श्रुतं वचस्तत्संवृतिसत्यम्, यथा पृथिव्यादि-अनेककारणत्वेऽपि सति पंके जातं पंकजमित्यादि। धूप-चूर्ण-वासानुलेपनप्रघर्षादिषु पद्म-मकर-हंस-सर्वतोभद्र-कौंचव्यूहादिषु इतरेतरद्रव्याणां यथाविभागविधि-सन्निवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यं। द्वात्रिंशज्जनपदेषु आर्यानार्यभेदेषु धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रापकं यद्वचस्तज्जनपदसत्यं। ग्राम-नगर-राज-गण-पाखंड-जाति-कुलादिधर्माणां व्यपदेश्यद्वचः^१ तद्देशसत्यं। छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्राशुकमिदमा-प्राशुकमित्यादि यद्वचस्तद्भावसत्यं। प्रतिनियतषट्कतयद्रव्यपर्यायाणा-मागमगम्यानां याथात्म्याविष्करणं यद्वचस्तत्समयसत्यम्।

अन्यत्रापि भावसत्यलक्षणं वर्तते। तथाहि—

“अतीन्द्रियार्थेषु प्रवचनोक्तविधि-निषेधसंकल्पपरिणामो भावः, तदाश्रितं वचनं भावसत्यं। यथा शुष्क-पक्व-ध्वस्ताम्ल-लवणसंमिश्र-दग्धादिद्रव्यं प्रासुकम्, ततस्तत्सेवने पापबंधो नास्तीति पापवर्जनवचनं। अत्र सूक्ष्मप्राणिनामिन्द्रियागोचरत्वेऽपि प्रवचनप्रामाण्येन प्रासुकाप्रासुकसंकल्परूपभावाश्रितवचनस्य सत्यत्वात्, समस्तातीन्द्रियार्थज्ञानिप्रणीतप्रवचनस्य सत्यत्वादेव कारणात्।”

यत्रात्मनोऽस्तित्वनास्तित्वादयो धर्माः षड्जीवनिकायभेदाश्च युक्तितो निर्दिष्टास्तदात्मप्रवादम्। एतस्य पदप्रमाणं षड्विंशतिः कोटयः २६०००००००।

होने पर भी पंक अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न होने से ‘पंकज’ इत्यादि वचन प्रयोग संवृतिसत्य कहलाता है। सुगंधित धूपचूर्ण के लेपने और घिसने में (अथवा) पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और कौंचरूप व्यूह (सैन्य रचना) आदिकों में भिन्न-भिन्न द्रव्यों की विभागविधि के अनुसार की जाने वाली रचना को प्रगट करने वाला जो वचन है वह संयोजना सत्यवचन कहलाता है। आर्य व अनार्य भेद से युक्त बत्तीस जनपदों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रापक जो वचन है वह जनपदसत्य है। जो वचन ग्राम, नगर, राजा, गण, पाखण्ड, जाति एवं कुल आदि धर्मों का व्यपदेश करने वाला है वह देशसत्य है। छद्मस्थज्ञानी के द्रव्य के यथार्थ स्वरूप का दर्शन न होने पर भी संयत अथवा संयतासंयत के अपने गुणों का पालन करने के लिए यह प्रासुक है और यह अप्रासुक है, इत्यादि जो वचन कहा जाता है, वह भावसत्य है। जो वचन आगमगम्य प्रतिनियत छह द्रव्य व उनकी पर्यायों की यथार्थता को प्रगट करने वाला है, वह समयसत्य है।

अन्यत्र भी भावसत्य का लक्षण कहा है। जो इस प्रकार है—

अतीन्द्रिय पदार्थों में प्रवचन में कहे गये विधि-निषेध के संकल्परूप परिणाम को भाव कहते हैं। उसके आश्रित वचन भाव सत्य हैं, जैसे सूखा हुआ, पकाया हुआ, छिन्न-भिन्न किया हुआ, खटाई या नमक मिलाया हुआ तथा जला हुआ द्रव्य प्रासुक है। अतः उसके सेवन में पापबंध नहीं है। इस प्रकार के पाप के त्यागरूप वचन भावसत्य हैं।

यहाँ सूक्ष्म प्राणियों के इन्द्रियों के अगोचर होने पर भी आगम की प्रामाणिकतासे प्रासुक और अप्रासुक संकल्परूप भाव के आश्रय से वचन सत्य है, क्योंकि आगम में ऐसा कहा है और समस्त अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञाता के द्वारा उपदिष्ट आगम सत्य ही होता है, इसलिए उसके आधार से जो संकल्प भावपूर्वक वचन है, वह सत्य है।

जिसमें आत्मा के अस्तित्व एवं नास्तित्व आदि गुणों का तथा षट्काय के जीवों के भेदों का युक्ति से निर्देश किया गया हो, उसे आत्मप्रवाद पूर्व कहते हैं। इसके पदों का प्रमाण छब्बीस करोड़ (२६०००००००) है।

अत्रोपयोगिन्यौ गाथे स्तः—

जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोक्ता य पोग्लो।

वेदो विण्हु सयंभू य शरीरी तह माणओ॥१॥

सत्ता जंतू माई य माणी जोगी य संकटो।

असंकटो य खेत्तण्हु अंतरप्पा तहेव य^१॥२॥

एतयोरर्थ उच्यते— जीवति जीविष्यति अजीवीदिति जीवः। शुभमशुभं करोतीति कर्ता। सत्यमसत्यं ब्रवीतीति वक्ता। प्राणा यस्य सन्तीति प्राणी। चतुर्गतिसंसारं कुशलमकुशलं भुंक्ते इति भोक्ता। पूरणगलनात् पुद्गलः। सुखमसुखं वेदयतीति वेदः। स्वशरीराशेषावयवान् वेवेष्टीति विष्णुः। स्वयमेव भूतवानिति स्वयंभूः। शरीरमस्यास्ति इति शरीरी। मनौ भवः मानवः। स्वजन-संबन्धि-मित्रवर्गादिषु सजतीति सक्ता। चतुर्गतिसंसारं आत्मानं जनयति जायते इति वा जन्तुः। माया अस्यास्तीति मायी। मानोऽस्यास्तीति मानी। योगोऽस्यास्तीति योगी। संहरधर्मत्वात्संकटः। विसर्पणधर्मत्वादसंकटः। षड्द्रव्याणि क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिन् तत्क्षेत्रम्, षड्द्रव्यस्वरूपमित्यर्थः तज्जानातीति क्षेत्रज्ञः। अथवा, प्रदेशज्ञः जीव इत्ययमस्यार्थः। क्षेत्रज्ञशब्दस्य कुशलशब्दवत् जहत्स्वार्थवृत्तित्वात्। अन्तश्चासौ आत्मा च अन्तरात्मा इति।

बंधोदयोपशमनिर्जरापर्यायाः अनुभवप्रदेशाधिकरणानि स्थितिश्च जघन्यमध्यमोत्कृष्टा यत्र निर्दिश्यन्त तत्कर्मप्रवादम्, अथवा ईर्यापथकमादिसप्तकर्माणि यत्र निर्दिश्यन्ते तत्कर्मप्रवादम्। तत्र पदप्रमाणमशीतिशत-

यहाँ उपयोगी गाथाएँ प्रस्तुत हैं—

गाथार्थ— जीव कर्ता, वक्ता, प्राणी, भोक्ता, पुद्गल, वेद, विष्णु, स्वयंभू, शरीरी, मानव, सक्त, जन्तु, मायी, मानी, योगी, संकट, असंकट, क्षेत्रज्ञ और अन्तरात्मा है॥१-२॥

इन दोनों गाथाओं का विशेष अर्थ कहते हैं— जो जीता है, जीता रहेगा और जीता था वह जीव है। जीव शुभ और अशुभ कार्यों को करता है, अतः वह कर्ता है। सत्य और असत्य वचन बोलने के कारण वक्ता है। प्राणों से संयुक्त होने के कारण प्राणी है। चतुर्गतिरूप संसार में शुभ और अशुभ कर्म के फलस्वरूप सुख-दुःख को भोगता है अतः भोक्ता है। कर्मरूप पुद्गल को ग्रहण करता है और गलाता है, अतः पुद्गल है। सुख और दुःख का वेदन करता है अतः वेद है। अपने शरीर के समस्त अवयवों को पुनः पुनः वेष्टित करता है अतः विष्णु है। स्वयं ही उत्पन्न होने के कारण स्वयंभू है। शरीर होने के कारण शरीरी है। मनु अर्थात् ज्ञान में उत्पन्न होने से मानव है। अपने कुटुम्बी जन, संबंधी एवं मित्रवर्गादिकों में आसक्त रहता है अतः सक्ता कहा जाता है। चतुर्गति रूप संसार में अपने को उत्पन्न कराता है या उत्पन्न होता है अतः जन्तु है। माया युक्त होने से मायी है। मान युक्त होने से मानी है। योग युक्त होने से योगी है। संकोचरूप स्वभाव के कारण संकट है। फैलनरूप धर्म से संयुक्त होने के कारण असंकट कहलाता है। छह द्रव्य जिसमें रहते हैं अर्थात् वास करते हैं वह क्षेत्र कहलाता है, अर्थात् जो छह द्रव्य स्वरूप है उसका नाम क्षेत्र है और उसको जो जानता है वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। अथवा जीव प्रदेशज्ञ है, यह इसका अर्थ है, क्योंकि क्षेत्रज्ञ शब्द कुशल शब्द के समान जहत्स्वार्थवृत्ति लक्षणरूप है। अभ्यन्तर होने से वह अन्तरात्मा कहा जाता है।

जिसमें बंध, उदय, उपशम और निर्जरारूप पर्यायों का, अनुभाग, प्रदेश व अधिकरण तथा जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट स्थिति का निर्देश किया जाता है, वह कर्मप्रवाद पूर्व है, अथवा जिसमें ईर्यापथकर्म आदि सात कर्मों का निर्देश

सहस्राधिका एका कोटी १८००००००।

व्रत-नियम-प्रतिक्रमण-प्रतिलेखन-तपः-कल्प-उपसर्ग-आचार-प्रतिमाविराधन-आराधन-विशुद्ध्यु-
पक्रमाः श्रामण्यकारणं च परिमितापरिमितद्रव्य-भावप्रत्याख्यानं च यत्राख्यातं तत्प्रत्याख्याननामधेयम्।
तत्र चतुरशीति-शतसहस्रपदानि ८४००००००।

समस्तविद्या अष्टौ महानिमित्तानि तद्विषयो रज्जुराशिविधिः क्षेत्रं श्रेणिलोकप्रतिष्ठा संस्थानं समुद्घातश्च
यत्र कथ्यते तद् विद्यानुप्रवादम्। तत्रांगुष्ठप्रसेनादीनामल्पविद्यानां सप्तशतानि, महाविद्यानां रोहिण्यादीनां
पञ्चशतानि। अन्तरिक्ष-भौमांग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यंजन-चिन्हान्यष्टौ महानिमित्तानि। तेषां विषयो लोकः।
क्षेत्रमाकाशं। पटसूत्रवच्चर्मावयववद्वानुपूर्विणोर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यवस्थिताः आकाशप्रदेशपंक्तयः श्रेणयः।
अन्यत्सुगमं। अत्र पदानि दशशतसहस्राधिका एका कोटी ११०००००००।

रवि-शशि-ग्रह-नक्षत्र-तारागणानां चारोपपाद-गतिविपर्ययफलानि शकुनव्याहृतिमहद्-बलदेव-वासुदेव-
चक्रधरादीनां गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि च यत्रोक्तानि तत्कल्याणनामधेयम्। तत्र पदप्रमाणं
षड्विंशतिकोट्यः २६००००००००।

कायचिकित्साद्यष्टांगः आयुर्वेदः भूतिकर्म जांगुलिप्रक्रमः प्राणापानविभागो यत्र विस्तरेण
वर्णितस्तत्प्राणावायम्।

उक्तं च—

उस्सासाउअपाणा इंदियपाणा परक्कमो पाणो।

एदेसिं पाणाणं वड्डी-हाणीओ वण्णेदि^१॥१॥

किया जाता है, वह कर्मप्रवादपूर्व कहलाता है। उसमें पदों का प्रमाण एक करोड़ अस्सी लाख है (१८००००००)।

जिसमें व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप, कल्प, उपसर्ग, आचार, प्रतिमा विराधन, आराधन और
विशुद्धि का उपक्रम, श्रमणता का कारण तथा द्रव्य और भाव की अपेक्षा परिमित व अपरिमित कालरूप
प्रत्याख्यान का कथन हो वह प्रत्याख्यान नामक पूर्व है। उसमें चौरासी लाख पद हैं ८४००००००।

जिसमें समस्त विद्याओं, आठ महानिमित्तों, उनके विषय, राजुराशिविधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोक, प्रतिष्ठा,
संस्थान और समुद्घात का वर्णन किया जाता है वह विद्यानुप्रवाद पूर्व कहलाता है। उनमें अंगुष्ठप्रसेनादिक
अल्पविद्यायें सात सौ और रोहिणी आदि महाविद्यायें पाँच सौ हैं। अंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण,
व्यंजन और चिन्ह, ये आठ महानिमित्त हैं। उनका विषय लोक है। क्षेत्र का अर्थ आकाश है। वस्त्रतन्तु के
समान अथवा चर्म अवयव के समान अनुक्रम से ऊपर, नीचे और तिरछेरूप से व्यवस्थित आकाश प्रदेशों
की पंक्तियाँ श्रेणियाँ कहलाती हैं। शेष सुगम है। इसमें एक करोड़ दस लाख पद हैं ११०००००००।

सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारागणों का संचार, उत्पत्ति व विपरीत गति का फल, शकुनव्याहृति अर्थात्
शुभाशुभ शकुनों का फल, अरहन्त, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदिकों के गर्भ में आने आदि के
महाकल्याणकों की जिसमें प्ररूपणा की गई हो, वह कल्याणवाद नाम का पूर्व है। उसमें पदों का प्रमाण
छब्बीस करोड़ है २६००००००००।

जिसमें शरीरचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म अर्थात् भस्मलेपनादि, जंगुलिप्रक्रम अर्थात् विषचिकित्सा
और प्राण व अपान वायुओं का विभाग इनका विस्तार से वर्णन किया गया हो वह प्राणावाय पूर्व है।

कहा भी है—

गाथार्थ — प्राणावाय पूर्व उच्छ्वास, आयुप्राण, इन्द्रियप्राण और पराक्रम अर्थात् बलप्राण, इन प्राणों

अत्र पदानां त्रयोदशकोट्यः १३०००००००।

लेखादिकाः कलाः द्वासप्ततिः गुणाश्चतुःषष्टिः स्त्रैणाः शिल्पानि काव्यगुण-दोषक्रिया-छन्दोविचितिक्रिया-फलोपभोक्तारश्च यत्र व्याख्यातास्तत्क्रियाविशालम्। अत्र पदानां नव कोट्यो भवन्ति ९०००००००।

यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि क्रियाविभागश्चोपदिष्टः तल्लोकबिन्दुसारम्। तत्र पञ्चाशच्छत-सहस्राधिक-द्वादशकोट्यः पदानां १२५०००००००।

अत्र केन पूर्वणाधिकारः ?

अत्र अग्रायणेन अधिकारः, तत्र महाकर्मप्रकृतिप्राभृतस्यावस्थानम्।

अधुना अग्रायणीयस्य पूर्वस्य चतुर्भिः प्रकारैरवतार उच्यते। तद्यथा — नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदेन-चतुर्विधमग्रायणीयम्। तत्राद्यास्त्रयोऽपि निक्षेपा द्रव्यार्थिकनयनिबन्धनाः, ध्रौव्येण विना तेषां स्वरूपोपलंभाभावात्। भावनिक्षेपः पर्यायार्थिकनयनिबन्धनो, वर्तमानपर्यायेण प्रतिगतद्रव्यस्य भावत्वाभ्युपगमात्।

निक्षेपार्थ उच्यते —

अग्रायणीयशब्दो बाह्यार्थं मुक्त्वा स्वात्मनि वर्तमानो नामाग्रायणीयं। स एष इति बुद्ध्या अग्रायणीयेण प्राप्तार्थः स्थापनाग्रायणीयं। द्रव्याग्रायणीयमागम-नोआगमभेदेन द्विविधं। तत्र अग्रायणीयपूर्वधारकोऽनुपयुक्त आगमद्रव्याग्रायणीयं। नोआगमद्रव्याग्रायणीयं ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्ताग्रायणीयभेदेन त्रिविधं। तत्र ज्ञायकशरीर-भाविनोआगमद्रव्याग्रायणीयद्विकं सुगमं, बहुशः उक्तत्वात्। तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्या-

की वृद्धि एवं हानि का वर्णन करता है॥१॥

इसमें तेरह करोड़ पद हैं १३००००००००।

जिसमें लेखन आदि बहत्तर कलाओं का, स्त्रीसंबंधी चौंसठ गुणों का, शिल्पों का, काव्य संबंधी गुण-दोषक्रियाका, छन्द रचने की क्रिया और उसके फल के उपभोक्ताओं का वर्णन किया गया हो, वह क्रिया विशालपूर्व कहलाता है। इसमें नौ करोड़ पद हैं ९००००००००।

जिसमें आठ प्रकार के व्यवहारों, चार बीजों और क्रियाविभाग का उपदेश किया गया हो, वह लोकबिन्दुसारपूर्व है। उसमें बारह करोड़ पचास लाख पद हैं १२५०००००००।

प्रश्न — यहाँ किस पूर्व का अधिकार है ?

उत्तर — यहाँ अग्रायणपूर्व का अधिकार है, क्योंकि उसमें महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का अवस्थान है।

यहाँ अग्रायणीयपूर्व का चार प्रकार से अवतार कहा जाता है। वह इस प्रकार है — नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से अग्रायणीय पूर्व चार प्रकार का है। इनमें आदि के तीन निक्षेप द्रव्यार्थिकनय के निमित्त से हैं, क्योंकि ध्रौव्य के बिना उनका स्वरूप नहीं पाया जाता है। भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नय के निमित्त से होने वाला है, क्योंकि वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव माना गया है।

अब निक्षेप का अर्थ कहते हैं —

बाह्यार्थ को छोड़कर अपने आप में रहने वाला अग्रायणीय शब्द नामअग्रायणीय है। 'वह यह है' इस बुद्धि से अग्रायणीय के साथ एकता को प्राप्त पदार्थ स्थापनाअग्रायणीय है। द्रव्य अग्रायणीय आगम और नोआगम के भेद से दो प्रकार का है। उनमें अग्रायणीयपूर्व धारक उपयोग से रहित जीव आगमद्रव्य अग्रायणीय है। नोआगमद्रव्य अग्रायणीय ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त अग्रायणीय के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें ज्ञायकशरीर और भावी नोआगमद्रव्य अग्रायणीय ये दो सुगम हैं। क्योंकि बहुत बार उनका अर्थ कहा जा चुका है। अग्रायणीयरूप शब्दागम अथवा उसके कारणभूत द्रव्य तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्य

ग्रायणीयं अग्रायणीय शब्दागमः तत्कारणद्रव्याणि वा। भावाग्रायणीयं द्विविधं—आगम नोआगमभेदेन। तत्र अग्रायणीयपूर्वधारक उपयुक्त आगमभावाग्रायणीयं। अग्रायणीयपूर्वार्थविषयः केवलावधि-मनःपर्ययज्ञानोपयोगो नोआगमभावाग्रायणीयं।

अत्र द्रव्यार्थिकनयं प्रतीत्य तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्याग्रायणीयेण अक्षरस्थापनाग्रायणीयेण च प्रकृतं। पर्यायार्थिकनयमपेक्ष्य आगमभावाग्रायणीयेण प्रकृतं। नैगमनयं प्रतीत्य अग्रायणीयपूर्वधरत्रिकोटिपरिणतजीवद्रव्येण प्रकृतं—उत्पादव्ययध्रौवैः परिणतजीवद्रव्येण द्रव्यगुणपर्यायपरिणतेन सदसदुभयस्वरूपपरिणतेन वा प्रकृतं ज्ञातव्यं।
एवं निक्षेप-नयाभ्यामवतारः प्ररूपितः।

प्रमाणप्रमेययोर्द्वयोरप्यत्र ग्रहणं कर्तव्यं, अन्योऽन्याविनाभावात्।

पूर्वानुपूर्व्या द्वितीयमग्रायणीयं। पश्चादानुपूर्व्या त्रयोदशं। यत्र तत्रानुपूर्व्या अवक्तव्यं, प्रथमं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पंचमं षष्ठं सप्तममष्टमं नवमं दशममेकादशं द्वादशं वेति नियमाभावात्।

अंगानामग्रं प्रधानपदार्थं गच्छति प्रतिपादयतीति गौण्यनाम अग्रायणीयं। अक्षर-पद-संघात-प्रतिपत्ति-अनियोगद्वारैः संख्यातमनन्तं वा अर्थानन्त्यात्। वक्तव्यं स्वसमयः, परसमयप्ररूपणाभावात्।

अर्थाधिकारश्चतुर्दशविधः—पूर्वान्त-अपरान्त-ध्रुव-अध्रुव-चयनलब्धि-अध्रुवसंप्रणिधान-कल्प-अर्थ-भौमावयाद्य-सर्वार्थकल्पनिर्याण-अतीतकाल-अनागतकाल-सिद्ध-बुद्धाश्चेति।

चतुर्दशानां पूर्वाणामधिकारप्ररूपणं कुर्वन्ति आचार्यदेवाः।

अग्रायणीय है। भाव अग्रायणीय आगम और नोआगम भाव अग्रायणीय भेद से दो प्रकार का है। उनमें अग्रायणीयपूर्व का धारक उपयोग युक्त जीव आगमभावअग्रायणीय कहलाता है। अग्रायणीय पूर्व के अर्थ को विषय करने वाला केवलज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानरूप उपयोग नोआगमभावअग्रायणीय कहलाता है। यहाँ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा करके तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यअग्रायणीय और अक्षर स्थापनारूप अग्रायणीय प्रकृत है। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा करके आगमभाव अग्रायणीय प्रकृत है। नैगमनय की अपेक्षा करके अग्रायणीयपूर्व का धारक त्रिकोटीपरिणत जीवद्रव्य प्रकृत है। अर्थात् उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य, अथवा द्रव्य, गुण व पर्याय, अथवा सत्, असत् व उभय स्वरूप परिणत होने से प्रकृत है, ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार निक्षेप और नय से अवतार की प्ररूपणा की गई है।

प्रमाण और प्रमेय दोनों का ही यहाँ ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वे परस्पर में अविनाभावी हैं।

पूर्वानपूर्वी से यह अग्रायणीयपूर्व द्वितीय पूर्व है। पश्चादानुपूर्वी से वह तेरहवाँ है। यत्रतत्रानुपूर्वी से वह अवक्तव्य है, क्योंकि प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम, आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ, ग्यारहवाँ, अथवा बारहवाँ है, इस प्रकार उक्त आनुपूर्वी की अपेक्षा कोई नियम नहीं है।

अंगों के अग्र अर्थात् प्रधान पदार्थ को वह प्राप्त होता है अर्थात् प्रतिपादन करता है अतः अग्रायणीय यह गौण्य नाम है। अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारों की अपेक्षा संख्यात है, अथवा अर्थों की अनन्तता की अपेक्षा वह अनन्त है। वक्तव्य स्वसमय है, क्योंकि परसमय की प्ररूपणा का यहाँ अभाव है।

अर्थाधिकार चौदह प्रकार का है। वह इस प्रकार से है—पूर्वान्त, अपरान्त, ध्रुव, अध्रुव, चयनलब्धि, अध्रुवसंप्रणिधान, कल्प, अर्थ, भौमावयाद्य, सर्वार्थ, कल्पनिर्याण, (सर्वार्थकल्पनिर्याण), अतीतकाल और अनागतकाल, सिद्ध और बुद्ध।

इन चौदह पूर्वों के अधिकारों की संख्या का प्ररूपण आचार्य देव करते हैं—

दस चोद्दस अट्टद्वारस बारस य दोसु पुव्वेसु।
 सोलस बीसं तीसं दसमम्मि य पण्णरस वत्थू॥१॥
 एदेसिं पुव्वाणं एवदिओ वत्थुसंग्गहो भणिदो।
 सेसाणं पुव्वाणं दस दस वत्थू पणिवयामि॥२॥

एतेषामकविन्यासो यथाक्रमेण—

१०	१४	८	१८	१२	१२	१६	२०	३०	१५	१०	१०	१०	१०
----	----	---	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----

अत्र कतितमोऽधिकारो विवक्षितोऽस्ति ?

अत्र चयनलब्धिनाम पञ्चमोऽधिकारो विवक्षितः, संगृहीतमहाकर्मप्रकृतिप्राभृतत्वात्।

अधुना चयनलब्धिश्चतुर्विधोऽवतारः कथ्यते। तद्यथा—चयनलब्धिश्चतुर्विधः—नाम-स्थापना-द्रव्य-भावचयनलब्धिभेदेन। तत्र चयनलब्धिशब्दो बाह्यार्थं मुक्त्वा आत्मनि वर्तमानो नामचयनलब्धिर्भवति। सा एषा इति चयनलब्ध्या एकत्वेन संकल्पितनार्थः स्थापनाचयनलब्धिः। द्रव्यचयनलब्धिर्द्विविधा—आगम-नोआगम-चयनलब्धिभेदेन। तत्र चयनलब्धिवस्तुपारगोऽनुपयुक्त आगमद्रव्यचयनलब्धिः। नोआगम-द्रव्यचयनलब्धिस्त्रिविधा—ज्ञायकशरीरभावि-तद्व्यतिरिक्तद्रव्यचयनलब्धिभेदेन। ज्ञायकशरीर-भाविद्रव्य-चयन-लब्धिलक्षणं सुगमं, बहुशः उक्तार्थत्वात्। तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यचयनलब्धिश्चयनलब्धिः शब्दरचना। भावचयनलब्धिः आगम-नोआगमभेदेन द्विविधा—तत्र चयनलब्धिवस्तुपारग उपयुक्त आगमभाव-

गाथार्थ—दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस और दशवें में पन्द्रह, इस प्रकार क्रम से आदि के इन दश पूर्वों की इतनी मात्र वस्तुओं का संग्रह कहा गया है। शेष चार पूर्वों के दस-दस वस्तु हैं। इनको मैं नमस्कार करता हूँ॥१-२॥

यथाक्रम से इनके अंकों की रचना इस प्रकार है—

१०	१४	८	१८	१२	१२	१६	२०	३०	१५	१०	१०	१०	१०
----	----	---	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----

प्रश्न—यहाँ कौन सा अधिकार विवक्षित है ?

उत्तर—यहाँ चयनलब्धि नाम का पाँचवाँ अधिकार विवक्षित है, क्योंकि उसमें महाकर्मप्रकृतिप्राभृत संग्रहीत है।

अब चयनलब्धि के चार प्रकार का अवतार कहते हैं। जो इस प्रकार है—

चयनलब्धि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार की है। उनमें बाह्य अर्थ को छोड़कर अपने में रहने वाला चयनलब्धि शब्द नामचयनलब्धि है। 'वह यह है' इस प्रकार चयनलब्धि के साथ अभेदरूप से संकल्पित अर्थ स्थापनाचयनलब्धि है। द्रव्यचयनलब्धि, आगमचयनलब्धि और नोआगमचयनलब्धि के भेद से दो प्रकार की है। उनमें चयनलब्धि वस्तु का पारगामी उपयोग रहित जीव आगमद्रव्य चयनलब्धि कहलाता है। नोआगमद्रव्य चयनलब्धि ज्ञायकशरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त द्रव्यचयनलब्धि के भेद से तीन प्रकार की है। ज्ञायकशरीर और भावी नोआगमद्रव्यचयनलब्धि ये दो सुगम हैं, क्योंकि उनका अर्थ बहुत बार कहा जा चुका है। तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्य चयनलब्धि की शब्दरचना है।

भावचयनलब्धि आगम और नोआगम भावचयनलब्धि के भेद से दो प्रकार की हैं। उनमें चयनलब्धि

चयनलब्धिः कथ्यते। आगमेन विना अर्थोपयुक्तो नोआगमभावचयनलब्धिः। एतेषु निक्षेपेषु द्रव्यार्थिकनयं प्रतीत्य नोआगमतद्रव्यतिरिक्तद्रव्यचयनलब्धेरधिकारः। पर्यायार्थिकनयं प्रतीत्य आगमभावचयनलब्धेरधिकारः। नैगमनयं अपेक्ष्य चयनलब्धिवस्तुपारग-त्रिकोटिपरिणामरूप-जीवद्रव्यस्याधिकारोऽस्ति।

एवं निक्षेपनयाभ्यां चयनलब्धेरवतारः कथितः।

चयनलब्धेरनुगमः प्रमाणप्रमेयौ, कर्मकरणयोरनुगमशब्दनिष्पत्तेः। पूर्वानुपूर्व्या चयनलब्धिः पञ्चमी। पश्चादानुपूर्व्या दशमी। यथातथानुपूर्व्या प्रथमा द्वितीय तृतीया चतुर्थी पंचमी षष्ठी वा इति नियमाभावात्। चयनलब्धिरिति गुणनाम, चयनलब्धिप्ररूपणात्। अक्षर-पद-संघात-प्रतिपत्ति-अनियोगद्वारैः संख्यातमर्थ-तोऽनन्तं आनन्त्यात्। वक्तव्यं स्वसमयः, परसमयप्ररूपणाभावात्। अर्थाधिकारो विंशतिविधः, सर्ववस्तुषु प्राभृतसंज्ञितविंशतिविंशत्यधिकारसंभवात्।

उक्तं च श्रीकुन्दकुन्ददेवेन —

एक्केक्कमिह य वत्थू वीसं वीसं च पाहुडा भणिदा।

विसम-समा हि य वत्थू सव्वे पुण पाहुडेहि समा।।

पूर्वाणां पृथक्-पृथक् प्राभृतसमास एषः कथितः — द्विशतानि, अशीत्युत्तरद्विशतानि, षष्ठ्युत्तरैकशतानि, षष्ठ्यधिकत्रिशतानि, चत्वारिंशदधिकद्विशतानि, चत्वारिंशदुत्तरद्विशतानि, विंशत्यधिकत्रिशतानि, चतुःशतानि, षट्शतानि, त्रिशतानि, द्विशतानि, द्विशतानि, द्विशतानि, द्विशतानि चेति। सर्ववस्तुसमासः पञ्चनवति

वस्तु का पारगामी उपयोग युक्त जीव आगमभावचयनलब्धि है। आगम के बिना अर्थ में उपयोग रखने वाला जीव नोआगमभावचयनलब्धि है। इन निक्षेपों में द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा करके नोआगमतद्रव्यतिरिक्तद्रव्यचयन-लब्धि का अधिकार है। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा करके आगमभावचयनलब्धि का अधिकार है। नैगमनय की अपेक्षा करके चयनलब्धि वस्तु के पारगामी त्रिकोटिपरिणामरूप जीव द्रव्य का अधिकार है।

इस प्रकार निक्षेप और नय से चयनलब्धि के अवतार की प्ररूपणा की है।

चयनलब्धि का अनुगम प्रमाण और प्रमेय है, क्योंकि कर्म और करण कारक में अनुगम शब्द सिद्ध हुआ है। पूर्वानुपूर्वी से चयनलब्धि पाँचवीं है। पश्चादानुपूर्वी से वह दसवीं है। यत्र-तत्रानुपूर्वी से वह अवक्तव्य है, क्योंकि प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पाँचवीं, अथवा छठी है, ऐसे नियम का यहाँ अभाव है। चयनलब्धि यह गुणनाम है, क्योंकि इसमें चयनलब्धि की प्ररूपणा है। अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारों की अपेक्षा संख्यात और अर्थ की अपेक्षा वह अनन्त है, क्योंकि उसके प्रमेय अनन्त हैं। वक्तव्य स्वसमय है, क्योंकि परसमय प्ररूपणा का यहाँ अभाव है। अर्थाधिकार बीस प्रकार का है, क्योंकि सब वस्तुओं में प्राभृत संज्ञा वाले बीस-बीस अधिकार संभव हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने कहा है —

गाथार्थ — एक-एक वस्तु में बीस-बीस प्राभृत कहे गये हैं। पूर्वों में वस्तुएँ सम व विषम हैं किन्तु वे सब वस्तुएँ प्राभृतों की अपेक्षा सम हैं।।

पूर्वों के पृथक्-पृथक् प्राभृतों का योग इस प्रकार कहा गया है —

दो सौ (२००), दो सौ अस्सी (२८०), एक सौ साठ (१६०), तीन सौ साठ (३६०), दो सौ चालिस (२४०), दो सौ चालिस (२४०), तीन सौ बीस (३२०), चार सौ (४००), छह सौ (६००), तीन सौ (३००), दो सौ (२००), दो सौ (२००), दो सौ (२००) और दो सौ (२००)। सब वस्तुओं का कुल योग

शतमात्रः (१९५) सर्वप्राभृतसमासः त्रिसहस्र-नवशतमात्रः कथ्यते (३९००)।

अत्र चयनलब्धेः विंशतिप्राभृतेषु कतितमोऽधिकारोऽस्ति ?

तदेव कथ्यते —

अत्र चयनलब्धेः विंशतिप्राभृतेषु चतुर्थस्य कर्मप्रकृतिप्राभृतस्य अधिकारो वर्तते। तस्यापि उपक्रमो निक्षेपोऽनुगमो नय इति चतुर्विधोऽवतारोऽस्ति।

तत्र तावत् निक्षेप उच्यते — नाम-स्थापना-द्रव्य-भावकर्मप्रकृतिप्राभृतमिति चतुर्विधं कर्मप्रकृतिप्राभृतम्। तेषु आद्यास्त्रयोऽपि निक्षेपा द्रव्यार्थिकनयसंभवाः, भावनिक्षेपः पर्यायार्थिकनयप्रभवः। कर्मप्रकृतिप्राभृतशब्दः बाह्यार्थनिरपेक्षः आत्मनि वर्तमानः नामनिक्षेपः कर्मप्रकृतिप्राभृतं। तदेव एष इति बुद्ध्या कर्मप्रकृतिप्राभृतेन एकत्वेन उपगतार्थः स्थापनाकर्मप्रकृतिप्राभृतं। द्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृतमागम-नोआगमकर्मप्रकृतिप्राभृतं इति द्विविधं ज्ञातव्यं। कर्मप्रकृतिप्राभृतज्ञायकोऽनुपयुक्त आगमद्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृतं। नोआगमद्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृतं ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृतमिति त्रिविधं कथ्यते।

आद्ये द्वे सुगमे, बहुशः उक्तत्वात्। कर्मप्रकृतिप्राभृतशब्दरचना तत्स्थापनारचना वा नोआगमतद्व्यतिरिक्तद्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृतं। भावकर्मप्रकृतिप्राभृतं द्विविधं — आगम-नोआगमभेदेन। कर्मप्रकृतिप्राभृतज्ञायकः उपयुक्त आगमकर्मप्रकृतिप्राभृतं। आगमेन विना तदर्थोपयुक्तो नोआगमभावकर्मप्रकृतिप्राभृतमुपचारात्।

अत्र द्रव्यार्थिकनयापेक्षया तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृतस्याधिकारोऽस्ति। पर्यायार्थिकनयं

एक सौ पंचानवे मात्र होता है। सब प्राभृतों का योग तीन हजार नौ सौ मात्र होता है।

प्रश्न — यहाँ चयनलब्धि के बीस प्राभृतों में से किस प्राभृत का अधिकार है ?

उत्तर — उसी को कहते हैं — यहाँ चयनलब्धि के बीस प्राभृतों में से चतुर्थ कर्मप्रकृति प्राभृत का अधिकार है। उसका भी उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय, इस प्रकार से चार का अवतार है।

उनमें निक्षेप को कहते हैं — कर्मप्रकृतिप्राभृत के नामकर्मप्रकृतिप्राभृत, स्थापनाकर्मप्रकृतिप्राभृत, द्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृत और भावकर्मप्रकृतिप्राभृत इस प्रकार चार भेद हैं। इनमें आदि के तीनों ही निक्षेप द्रव्यार्थिकनय के निमित्त से होने वाले हैं, किन्तु भावनिक्षेप पर्यायार्थिकनय के निमित्त से होने वाला है। बाह्य अर्थ की अपेक्षा न रखकर अपने में रहने वाला कर्मप्रकृतिप्राभृत यह शब्द नामकर्मप्रकृतिप्राभृत है। 'वह यह है' इस प्रकार की बुद्धि से कर्मप्रकृतिप्राभृत के साथ एकता को प्राप्त पदार्थ स्थापनाकर्मप्रकृतिप्राभृत कहा जाता है। द्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृत आगमकर्मप्रकृतिप्राभृत और नोआगमकर्मप्रकृतिप्राभृत के भेद से दो प्रकार का है। कर्मप्रकृतिप्राभृत का जानकार उपयोग रहित जीव आगम द्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृत कहलाता है। नोआगमद्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृत ज्ञायकशरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृत के भेद से तीन प्रकार का है।

इनमें से आदि के दो सुगम हैं, क्योंकि उनका अर्थ बहुत बार कहा जा चुका है। कर्मप्रकृतिप्राभृत की शब्दरचना अथवा उसकी स्थापनारूप रचना नोआगमतद्व्यतिरिक्त द्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृत है। भावकर्मप्रकृतिप्राभृत आगम और नोआगम के भेद से दो प्रकार का है। कर्मप्रकृतिप्राभृत का जानकार उपयोग युक्त जीव आगम भावकर्मप्रकृतिप्राभृत कहलाता है। आगम के बिना उसके अर्थ में उपयोग युक्त जीव उपचार से नोआगमभावकर्मप्रकृतिप्राभृत कहलाता है।

यहाँ द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा करके तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृत का अधिकार है।

प्रतीत्य आगमभावकर्मप्रकृतिप्राभृतस्याधिकारः। नैगमनयमाश्रित्य कर्मप्रकृतिप्राभृतज्ञायकः त्रिकोटिपरिणामयुक्तः जीवोऽधिकृतो भवति।

एवं कर्मप्रकृतिप्राभृतस्य निक्षेप-नयाभ्यामवतारः कृतः।

प्रमाणप्रमेययोर्द्वयोरप्यत्रानुगमः, एकानुगमस्य इतरानुगमाविनाभावात्। पूर्वानुपूर्व्या कर्मप्रकृतिप्राभृतं चतुर्थमस्ति। पश्चादानुपूर्व्या सप्तदशं। यत्र तत्रानुपूर्व्या अवक्तव्यं। कर्मप्रकृतिप्ररूपणात् कर्मप्रकृतिप्राभृतमिति गुणनाम। अक्षर-पद-संघात-प्रतिपत्ति-अनियोगद्वारैः संख्यातमनन्तं वा, आनन्त्यात्। वक्तव्यं स्वसमयः, परसमयप्ररूपणाभावात्। अर्थाधिकारः चतुर्विंशतिविधः—कृति-वेदना-स्पर्श-कर्म-प्रकृति-बंधन-निबंधन-प्रक्रम-उपक्रम-उदय-मोक्ष-संक्रम-लेश्या-लेश्याकर्म-लेश्यापरिणाम-सातासात-दीर्घ-ह्रस्व-भवधारणीय-पुद्गलात्म-निधत्त-अनिधत्त निकाचितानिकाचित-कर्मस्थिति-पश्चिमस्कंध-अल्पबहुत्वानि च सर्वत्र इति सूत्रनिबद्धोऽयं वर्तते।

एतेषां चतुर्विंशतिअनियोगद्वाराणां वक्तव्यप्ररूपणा क्रियते। तद्यथा—कृति-अनियोगद्वारे औदारिक-वैक्रियिक-तैजस-आहारक-कर्मण-शरीराणां संघातन-परिशातनकृतयो भवप्रथमाप्रथमचरमाचरमे स्थितजीवानां कृति-नोकृति-अवक्तव्यसंख्याश्च प्ररूप्यन्ते। वेदनानियोगद्वारे वेदनासंज्ञितानां कर्मपुद्गलानां वेदनानिक्षेपादि-षोडशभिरनियोगद्वारैः प्ररूपणा क्रियते।

स्पर्शानियोगद्वारे ज्ञानावरणादिभेदेनाष्टभेदमुपगतानां कर्मपुद्गलानां स्पर्शगुणसंबंधेन प्राप्तस्पर्शानाम्नां स्पर्शनिक्षेपादिषोडशाभिरनियोगद्वारैः प्ररूपणा क्रियते। कर्मानियोगद्वारे ज्ञानावरणादिकर्मकरणक्षमत्वेन

पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा करके आगम भावकर्मप्रकृतिप्राभृत का अधिकार है। नैगमनय की अपेक्षा कर्मप्रकृतिप्राभृत का जानकार त्रिकोटिपरिणाम युक्त जीव अधिकृत होता है।

इस प्रकार निक्षेप और नय से कर्मप्रकृतिप्राभृत के अवतार की प्ररूपणा की है।

प्रमाण और प्रमेय दोनों का ही यहाँ अनुगम है, क्योंकि एक अनुगम का दूसरे अनुगम के साथ अविनाभाव है। पूर्वानुपूर्वी से कर्मप्रकृतिप्राभृत चतुर्थ है। पश्चादानुपूर्वी से वह सत्तरहवाँ है। यत्र-तत्रानुपूर्वी से अवक्तव्य है। कर्मप्रकृतियों की प्ररूपणा करने से कर्मप्रकृतिप्राभृत यह गुणनाम है। अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारों की अपेक्षा वह संख्यात अथवा अर्थ की अनन्तता की अपेक्षा अनन्त है। वक्तव्य स्वसमय है, क्योंकि इसमें परसमय की प्ररूपणा का अभाव है। अर्थाधिकार चौबीस प्रकार का है—कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, बंधन, निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सात-असात, दीर्घ-ह्रस्व, भावधारणीय, पुद्गलात्म, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित-अनिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिमस्कंध और सर्वत्र अल्पबहुत्व। यह सूत्र निबद्ध कथन है।

इन चौबीस अनुयोगद्वारों की विषयप्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार है—

कृति अनुयोगद्वार में औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, आहारक और कर्मण शरीरों की संघातन और परिशातनरूप प्रकृति की तथा भव के प्रथम, अप्रथम, चरम और अचरम समय में स्थित जीवों की कृति, नोकृति एवं अवक्तव्यरूप संख्याओं की प्ररूपणा की जाती है। वेदना अनुयोगद्वारों में वेदना संज्ञा वाले कर्मपुद्गलों का वेदनानिक्षेप आदि सोलह अनुयोगद्वारों के द्वारा प्ररूपणा करते हैं।

स्पर्शनानुयोगद्वार में स्पर्श गुण के संबंध से स्पर्श नाम को व ज्ञानावरणादि के भेद से आठ भेद को भी प्राप्त हुए कर्मपुद्गलों की स्पर्शनिक्षेप आदि सोलह अनुयोगद्वारों से प्ररूपणा की जाती है। कर्म अनुयोगद्वार में

प्राप्तकर्मसंज्ञानां पुद्गलानां कर्मनिक्षेपादिषोडशाभिरनियोगद्वारैः प्ररूपणा क्रियते।

प्रकृतिरित्यनियोगद्वारे पुद्गलानां कृत्यनियोगद्वारे प्ररूपितसंघातानां वेदनाधिकारे प्रज्ञापितावस्थाविशेष-प्रत्ययादीनां स्पर्शाधिकारे प्ररूपितजीवसंबंधानां जीवसंबंधगुणेन कर्माधिकारे निरूपितव्यापाराणां प्रकृतिनिक्षेपादि-षोडशानियोगद्वारैः स्वभावप्ररूपणा क्रियते।

यद्बन्धनं तच्चतुर्विधः—बन्धो बंधको बंधनीयं बंधविधानमिति। तत्र बन्धो जीव-कर्मप्रदेशयोः सादिकमनादिकं च बन्धं वर्णयति। बंधकाधिकारोऽष्टविधकर्मबंधकान् प्ररूपयति। सः च क्षुद्रकबंधे प्ररूपितोऽस्ति। बंधनीयं बंधप्रायोग्य-तदप्रायोग्यपुद्गलद्रव्यं प्ररूपयति। बंधविधानं प्रकृतिबंधं स्थितिबंधं अनुभागबंधं प्रदेशबंधं च प्ररूपयति।

निबंधनानियोगद्वारं मूलोत्तरप्रकृतीनां निबंधनं वर्णयति। यथा चक्षुरिन्द्रियं रूपे निबद्धं, श्रोत्रेन्द्रियं शब्दे निबद्धं, घ्राणेन्द्रियं गंधे निबद्धं, जिह्वेन्द्रियं रसे निबद्धं, स्पर्शेन्द्रियं कर्कशादिस्पर्शेषु निबद्धं, तथा इमाः प्रकृतयः एतेषु अर्थेषु निबद्धा इति निबंधनं प्ररूपयति, एष भावार्थः।

प्रक्रम इत्यनियोगद्वारं अक्रमस्वरूपेण स्थितानां मूलोत्तरप्रकृतिस्वरूपेण परिणममानानां प्रकृतिस्थिति-अनुभागविशेषेण विशिष्टानां कार्मणवर्गणास्कंधानां प्रदेशप्ररूपणं करोति।

उपक्रम इत्यनियोगद्वारस्य चत्वारोऽधिकाराः सन्ति—बंधनोपक्रम उदीरणोपक्रम उपशामनोपक्रमो विपरिणामोपक्रमश्चेति। तत्र बंधोपक्रमोऽधिकारो बंधद्वितीयसमयप्रभृति अष्टानां कर्मणां प्रकृतिस्थित्यनुभाग-कर्मनिक्षेप आदि सोलह अनुयोगद्वारों के द्वारा ज्ञानावरण आदि कार्यों के करने में समर्थ होने से कर्म संज्ञा को प्राप्त पुद्गलों की प्ररूपणा की जाती है।

प्रकृति अनुयोगद्वार में कृति अधिकारों में जिनके संघातन स्वरूप की प्ररूपणा की गई है, वेदना अधिकारों में जिनके अवस्था विशेष व प्रत्ययादिकों की प्ररूपणा की गई है, स्पर्श अधिकार में जिनके जीव के साथ संबंध की प्ररूपणा की गई है तथा जीव संबंध गुण से कर्म अधिकार में जिनके व्यापार की प्ररूपणा की गई है। उन पुद्गलों के स्वभाव की प्रकृतिनिक्षेप आदि सोलह अनुयोगद्वारों से प्ररूपणा की जाती है।

जो बंधन अनुयोगद्वार है वह चार प्रकार का है—बंध, बंधक, बंधनीय और बंधविधान। उनमें बंध अधिकार जीव और कर्म के प्रदेशों के सादि व अनादि बंध का वर्णन करता है। बंधक अधिकार आठ प्रकार के कर्मों को बांधने वाले जीवों की प्ररूपणा करता है। उसकी क्षुद्रकबंध में प्ररूपणा की जा चुकी है। बंधनीय अधिकार बंध के योग्य और उसके अयोग्य पुद्गल द्रव्य की प्ररूपणा करता है। बंधविधान प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध की प्ररूपणा करता है।

निबंधन अनुयोगद्वार मूल और उत्तरप्रकृतियों के निबंधन का वर्णन करता है। जैसे—चक्षुइन्द्रिय रूप में निबद्ध है, श्रोत्र इन्द्रिय शब्द में निबद्ध है, घ्राण इन्द्रिय गंध में निबद्ध है, जिह्वा इन्द्रिय रस में निबद्ध है और स्पर्श इन्द्रिय कर्कशादि—कठोर, मृदु स्पर्शों में निबद्ध है, उसी प्रकार ये प्रकृतियाँ इन अर्थों में निबद्ध हैं, इस प्रकार निबंधन की प्ररूपणा करता है, यह भावार्थ है।

प्रक्रम यह अनुयोगद्वार उपक्रम स्वरूप से स्थित, मूल व उत्तर प्रकृतियों के स्वरूप से परिणमन करने वाले तथा प्रकृति, स्थिति व अनुभाग के भेद से विशेषता को प्राप्त हुए कार्मणवर्गणास्कन्धों के प्रदेशों की प्ररूपणा करता है।

उपक्रम अनुयोगद्वार के चार अधिकार हैं—बंधनोपक्रम, उदीरणोपक्रम, उपशामनोपक्रम और विपरिणामोपक्रम। उनमें बंधोपक्रम अधिकार बंध के द्वितीय समय से लेकर आठ कर्मों के प्रकृतिबंध,

प्रदेशानां बंधवर्णनं करोति। उदीरणोपक्रमोऽधिकारः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानामुदीरणां प्ररूपयति। उपशामनोपक्रमोऽधिकारः प्रशस्तोपशामनामप्रशस्तोपशामनां च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्नं कथयति। विपरिणामोपक्रमोऽधिकारः प्रकृतिस्थिति-अनुभागप्रदेशानां देशनिर्जरां सकलनिर्जरां च प्ररूपयति।

उदयानियोगद्वारं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानामुदयं कथयति।

मोक्ष इत्यनियोगद्वारं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानां मोक्षं वर्णयति।

अत्र कश्चित् शिष्यः पृच्छति — मोक्ष-विपरिणामोपक्रमयोः को भेदः ?

आचार्यदेवः उत्तरयति —

विपरिणामोपक्रमो देशसकलनिर्जराणां स्वरूपं वर्णयति। मोक्षाधिकारः पुनः देश-सकलनिर्जराभ्यां सह परप्रकृतिसंक्रमण-अपकर्षण-उत्कर्षण-कालस्थितिगलनैः प्रकृति-स्थित्यनुभागप्रदेशभिन्नं मोक्षं वर्णयतीति अस्ति भेदोऽनयोः।

संक्रम इत्यनियोगद्वारं प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशसंक्रमान् प्ररूपयति।

लेश्या इत्यनियोगद्वारं षड्रव्यलेश्याः कथयति।

लेश्याकर्म इत्यनियोगद्वारमन्तरंगषड्रव्यलेश्यापरिणतजीवानां बाह्यकार्यप्ररूपणं करोति।

लेश्यापरिणाम इत्यनियोगद्वारं जीवपुद्गलानां द्रव्यभावलेश्याभ्यां परिणमनविधानं वर्णयति।

सातमसातमित्यनियोगद्वारं एकान्तसात-अनेकान्तसात-एकान्तासात-अनेकान्तासातानां गत्यादिमार्गणाः आश्रित्य प्ररूपणं करोति।

दीर्घ-ह्रस्वानियोगद्वारं प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशानाश्रित्य दीर्घह्रस्वत्वं वर्णयति।

स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध का वर्णन करता है। उदीरणोपक्रम अधिकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों के भेद से भिन्न उदीरणा की प्ररूपणा करता है। उपशामनोपक्रम अधिकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से भेद को प्राप्त प्रशस्तोपशामना एवं अप्रशस्तोपशामना का वर्णन करता है। विपरिणामोपक्रम अधिकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों की देशनिर्जरा और सकलनिर्जरा को प्ररूपित करता है।

उदयानुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों के उदय को कहता है।

मोक्षानुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों के मोक्ष का वर्णन करता है।

यहाँ कोई शिष्य पूछता है कि — मोक्ष और विपरिणामोपक्रम में क्या भेद है ?

इस शंका के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि — विपरिणामोपक्रम अधिकार देशनिर्जरा और सकलनिर्जरा के स्वरूप का वर्णन करता है, परन्तु मोक्षानुयोगद्वार देशनिर्जरा व सकलनिर्जरा के साथ परप्रकृतिसंक्रमण, अपकर्षण, उत्कर्षण और अधःस्थितिगलन से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध से भेदरूप मोक्ष का वर्णन करता है, यह दोनों में भेद है।

संक्रम अनुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों के संक्रमण की प्ररूपणा करता है।

लेश्यानुयोगद्वार छह द्रव्यलेश्याओं का कथन करता है।

लेश्याकर्मानुयोगद्वार अन्तरंग छह लेश्याओं से परिणत जीवों के बाह्य कार्य का प्ररूपण करता है।

लेश्यापरिणामानुयोगद्वार जीव और पुद्गलों के द्रव्य और भावलेश्यारूप से परिणमन करने के विधान का वर्णन करता है।

सातासातानुयोगद्वार एकान्तसाता, अनेकांत साता, एकान्तअसाता और अनेकांतअसाता की गति आदि मार्गणाओं का आश्रय करके प्ररूपण करता है।

दीर्घ-ह्रस्वानुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों का अश्रय करके दीर्घता-ह्रस्वता की प्ररूपणा करता है।

भवधारणीय इत्यनियोगद्वारं केन कर्मणा नारक-तिर्यङ्-मनुष्यदेवभवा धार्यन्त इति निरूपयति।

पुद्गलात्मेति अनियोगद्वारं ग्रहणात् आत्ताः पुद्गलाः परिग्रहात् आत्ताः पुद्गलाः उपभोगात् आत्ताः पुद्गलाः आहारादात्ताः पुद्गलाः ममत्वादात्ताः पुद्गलाः परिग्रहादात्ताः पुद्गलाः इति विवक्षिताविवक्षितपुद्गलानां, पुद्गलानां संबंधेन पुद्गलत्वं प्राप्तजीवानां च प्ररूपणं करोति।

निधत्तमनिधत्तमित्यनियोगद्वारं प्रकृतिस्थित्यनुभागानां निधत्तमनिधत्तं च प्ररूपयति।

कश्चित् पृच्छति —

निधत्तमिति किं नाम ?

आचार्यः समाधत्ते —

यत् प्रदेशाग्रं उदये दातुं परप्रकृतिं वा संक्रामयितुं न शक्यं तन्निधत्तमिति नाम। तद्विपरीतमनिधत्तम्।

निकाचितमनिकाचितमित्यनियोगद्वारं प्रकृति-स्थित्यनुभागानां निकाचनानिकाचनं प्ररूपयति।

निकाचनमिति किं ?

यत्प्रदेशाग्रं अपकर्षयितुं उत्कर्षयितुं परप्रकृतिरूपेण संक्रामयितुं उदये दातुं वा न शक्यं तन्निकाचितं नाम। तद् विपरीतमनिकाचितं। तदेव कथ्यते —

उदए संकम-उदए चदुसु वि दादुं कमेण णो सक्कं।

उवसंतं च णिधत्तं णिकाचिदं चावि जं कम्मं।^१

भवधारणीय अनुयोगद्वार किस कर्म से तिर्यच पर्याय, किस कर्म से मनुष्य पर्याय और किस कर्म से देव पर्याय धारण की जाती है इसकी प्ररूपणा करता है।

पुद्गलात्त अनुयोगद्वार ग्रहण से आत्त — प्राप्त पुद्गल और परिग्रह से आत्त — प्राप्त पुद्गल, उपभोग से आत्त पुद्गल, आहार से आत्त पुद्गल, ममत्व से आत्त पुद्गल और परिग्रह से आत्त पुद्गल इस प्रकार विवक्षित और अविवक्षित पुद्गलों के संबंध से पुद्गलत्व को प्राप्त जीवों की भी प्ररूपणा करता है।

निधत्तानिधत्त अनुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभाग के निधत्त एवं अनिधत्त की प्ररूपणा करता है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि — निधत्त किसे कहते हैं ?

आचार्य समाधान देते हैं — जो प्रदेशाग्र उदय में देने — प्राप्त कराने के लिए अथवा अन्य प्रकृतिरूप परिणामाने के लिए शक्य नहीं है, वह निधत्त कहलाता है। इससे विपरीत अनिधत्त है।

निकाचितानिकाचित अनुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभाग के निकाचन और अनिकाचन की प्ररूपणा करता है।

शंका — निकाचन किसे कहते हैं ?

समाधान — जो प्रदेशपुंज अपकर्षण के लिए, उत्कर्षण के लिए, अन्य प्रकृतिरूप परिणामाने के लिए अथवा उदय में देने — आने के लिए शक्य नहीं है, वह निकाचित कहलाता है। इससे विपरीत अनिकाचित है। उसी को गाथा के द्वारा कहते हैं —

गाथार्थ — जो कर्म उदय में नहीं आ सके, वह उपशान्त कहलाता है। जो कर्म संक्रमण व उदय में नहीं आ सके, उसे निधत्त कहते हैं। जो कर्म उदय, संक्रमण, उत्कर्षण व अपकर्षण, इन चारों में ही आ सकता है। वह निकाचित कहा जाता है।

कर्मस्थितिरिति अनियोगद्वारं सर्वकर्मणां शक्तिरूपकर्मस्थितिमुत्कर्षणापकर्षणजनितस्थितिं च प्ररूपयति।
पश्चिमस्कंधानियोगद्वारं दण्ड-कपाट-प्रतर-लोकपूरणानि तत्र स्थितिकाण्डक-अनुभागकाण्डकघातन-
विधानं योगकृष्टीः कृत्वा योगनिरोधस्वरूपं कर्मक्षपणविधानं च प्ररूपयति।

अल्पबहुत्वानियोगद्वारं अतीतसर्वानियोगद्वारेषु अल्पबहुत्वं प्ररूपयति।

तात्पर्यमत्र — अत्र संक्षेपेण भगवतां वाणीं चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारस्वरूपां ज्ञात्वा पठित्वा पुनः पुनः
अध्ययनं अध्यापनं च कृत्वा स्मृतिपथमवतार्य परमानन्दोऽनुभवनीयोऽस्माभिः। एतेन श्रुतज्ञानेनैव भावश्रुतज्ञानं
प्रकटीकर्तव्यम्।

एवं प्रथमस्थले अस्य वेदनाखण्डनाम चतुर्थखण्डस्योत्पत्ति-चतुर्विंशत्यनियोगद्वारलक्षणनिरूपणपूर्वकत्वेन एकं
सूत्रं गतम्।

अधुना श्रीभूतबलिसूरिवर्यः कृति-अनियोगद्वारप्ररूपणार्थं सूत्रमवतारयति —

**कदि त्ति सत्तविहा कदी — णामकदी ठवणकदी दव्वकदी गणणकदी
गंधकदी करणकदी भावकदी चेति॥४६॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सूत्रे 'कदि त्ति' अत्र य इतिशब्दस्तस्याष्टौ अर्थाः सन्ति। तथाहि —

हेतावेवं प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये।

प्रादुर्भावे समाप्तौ च इतिशब्दः प्रकीर्तितः॥^१

कर्मस्थिति अनुयोगद्वार सब कर्मों की शक्तिरूप कर्मस्थिति और उत्कर्षण-अपकर्षण से उत्पन्न स्थिति की प्ररूपणा करता है।

पश्चिमस्कंध अनुयोगद्वार दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातों की, उनमें स्थितिकाण्डक व अनुभागकाण्डकों के घातने के विधान की, योगकृष्टियों को करके होने वाले योगनिरोध के स्वरूप की तथा कर्मों के क्षय करने की विधि की प्ररूपणा करता है।

अल्प-बहुत्व अनुयोगद्वार पिछले सब अनुयोगद्वारों में अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा करता है।

तात्पर्य यह है कि — यहाँ संक्षेप में भगवान् की वाणी को चौबीस अनुयोगस्वरूप जानकर उसे पढ़कर पुनः पुनः उसका अध्ययन और अध्यापन करके उसे स्मृतिपथ में उतारकर हम सभी को परम आनन्द का अनुभव करना चाहिए और इस श्रुतज्ञान के द्वारा ही भावश्रुतज्ञान को प्रगट करना चाहिए।

इस प्रकार प्रथम स्थल में इस वेदनाखण्ड नाम के चतुर्थ खण्ड की उत्पत्ति एवं चौबीस अनियोगद्वारों के लक्षण का निरूपण करने वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ।

अब श्री भूतबली आचार्य कृति अनियोगद्वार को प्ररूपित करने हेतु सूत्र को अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

**कृति अनुयोगद्वार में कृति सात प्रकार की है — नामकृति, स्थापनाकृति, द्रव्यकृति,
गणनकृति, ग्रन्थकृति, करणकृति और भावकृति॥४६॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सूत्र में 'कदिति' में यहाँ जो इति शब्द है उसके आठ अर्थ हैं। वह इस प्रकार हैं—

श्लोकार्थ — हेतु, एवं, प्रकार, आदि, व्यवच्छेद, विपर्यय, प्रादुर्भाव और समाप्ति इन आठ अर्थों में इति शब्द प्रयोग किया जाता है॥

एतेष्वर्थेषु क्वायमिति शब्दः प्रवर्तते ?

अत्र स्वरूपावधारणे वर्तते।

ततः किं सिद्धं भवति ?

कृतिरित्यस्य शब्दस्य योऽर्थः सोऽपि कृतिरस्ति, अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्या इति न्यायात्तस्य ग्रहणं सिद्धं। स च कृत्यर्थः सप्तविधः नामकृत्यादिभेदेन।

कथमेकः कृतिशब्दोऽनेकेषु अर्थेषु वर्तते ?

नैतद् वक्तव्यं, अनेकसहकारिकारणसन्निधानवशेन एकस्मादपि बहूनां कार्याणामुत्पत्तिदर्शनात्। दृश्यते च क्रमाक्रमाभ्यामनेकधर्मैः परिणमन्तोऽर्थाः। न च दृष्टस्यापलापः कर्तुं शक्यते अतिप्रसंगात्। एष कृतिशब्दः कर्तृवर्जितेषु त्रिकालगोचराशेषकारकेषु वर्तते इति सप्तस्वपि कृतिषु यथासंभवकारकयोजना विधेया। सप्तानां कृतीनामन्ते स्थित इतिशब्दः आदौ-आद्यत्वे वर्तते इति गृहीतव्यः, सप्त चैव कृतीनां निक्षेपा भवन्तीति नियमाभावात्।

संप्रति भूतबलिगुरुवर्येण प्रश्नरूपेण सूत्रमवतार्यते —

कदिणयविभासणदाए को णओ काओ कदीओ इच्छदि ?।।४७।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — सप्तानां निक्षेपाणां नामनिर्देशं कृत्वा तेषामर्थप्ररूपणामकृत्वा किमर्थं नयविभाषणता — नयव्याख्यानं क्रियते इति चेत् ?

शंका — इन अर्थों में से कौन से अर्थ में यहाँ इति शब्द की प्रवृत्ति है ?

समाधान — यहाँ स्वरूप के अवधारण में इति शब्द की प्रवृत्ति हुई है।

शंका — इससे क्या सिद्ध होता है ?

समाधान — कृति इस शब्द का जो अर्थ है वह भी कृति है, क्योंकि अर्थ, अभिधान और प्रत्यय ये तुल्य नाम हैं। इस न्याय से स्वरूप के अवधारण में इति शब्द का ग्रहण सिद्ध है। और वह कृति यह शब्द नामकृति आदि के भेद से सात प्रकार की है।

शंका — एक कृति शब्द अनेक अर्थों में कैसे रहता है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अनेक सहकारी कारणों की समीपता होने से एक से भी बहुत कार्यो की उत्पत्ति देखी जाती है तथा क्रम से, अक्रम से, अनेक धर्मरूप से परिणमन करने वाले पदार्थ देखे भी जाते हैं और देखे गये पदार्थ का अपलाप नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ऐसा होने पर अतिप्रसंग दोष आता है। यह कृति शब्द कर्ताकारक को छोड़कर तीनों काल विषयक समस्त कारकों में है, अतएव सातों कृतियों में यथासंभव कारकों की योजना करना चाहिए। सात कृतियों के अन्त में स्थित इति शब्द आदि अर्थात् आद्यत्व अर्थ में हैं ऐसा ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि कृतियों के सात ही निक्षेप हैं, ऐसा नियम नहीं है।

अब भूतबली आचार्य के द्वारा प्रश्नरूप से सूत्र अवतरित किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

कृतियों के नयों का व्याख्यान करने में कौन सा नय किस कृति की इच्छा करता है ?।।४७।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — सात निक्षेपों का नामनिर्देश करके उनके अर्थ की प्ररूपणा न करके नयों का व्याख्यान किसलिए किया जाता है ? ऐसा प्रश्न होने पर —

उच्यते — यथा सर्वे लोकव्यवहारा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयमाश्रित्य स्थितास्तथा एषोऽपि नामादिव्यवहारो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयमाश्रित्य स्थित इति ज्ञापनार्थं क्रियते।

एतेषां नामादिव्यवहाराणां द्विविधनयावलम्बनत्वज्ञापनस्य किं फलम् ?

एतेषां व्यवहाराणां सत्यत्वप्रज्ञापनफलम्।

द्वयोर्नययोर्महत्त्वं श्रीवीरसेनाचार्यः स्वयमेव ब्रवीति —

“ण च दुविहणयणिबंधणो संववहारो चप्पलओ, अणुवलंभादो।^१”

केचित् कथयन्ति — द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाख्यद्विविधनयनिमित्तकः संव्यवहारो मिथ्या भवति, परस्परविरोधिप्रतिपादनत्वात्। किन्तु आचार्यदेवः कथयति — नैतत् कथयितव्यं। परस्परसापेक्षा नयाः समीचीना निरपेक्षा एव मिथ्या। तदेवोच्यते —

“ण च दुण्णयाणं सच्चत्तमत्थि, णिसिद्धपडिवक्खविसयाणं सगविसयाभावादो सच्चत्ताभावादो। तदो ण दुण्णया संववहारकारणं।^२”

कथं सुनयाः स्वविषयाः ?

एकान्तेन प्रतिपक्षनिषेधं न कुर्वन्ति गुणप्रधानभावेन प्रमाणबाधामपसारयन्ति अत एव स्वविषयव्यवस्थां व्यवस्थापयन्त्येव।

यदि एकान्तोऽवस्तु तर्हि कथं व्यवहारकारणं भवतीति चेत् ?

इसका समाधान करते हैं कि — जिस प्रकार सब लोकव्यवहार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का आश्रय करके स्थित है, उसी प्रकार यह नामादिक व्यवहार भी द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिकनय का आश्रय करके स्थित है, यह ज्ञापित करने के लिए नयों का व्याख्यान किया जाता है।

शंका — ये नामादिक व्यवहार दो प्रकार के नयों के आश्रित हैं, यह बतलाने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान — नामादिक व्यवहारों की सत्यता प्रगट करना इसका प्रयोजन है।

दोनों नयों का महत्त्व श्री वीरसेनाचार्य स्वयमेव बतलाते हैं —

“यदि कहा जाये कि दोनों प्रकार के नयों के निमित्त से होने वाला संव्यवहार मिथ्या है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है।”

कोई कहते हैं कि — द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों प्रकार के नयनिमित्तक संव्यवहार मिथ्या होता है, क्योंकि ये परस्पर में विरोध का प्रतिपादन करते हैं किन्तु आचार्य देव कहते हैं कि — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि परस्पर में सापेक्ष नय समीचीन होते हैं और जो निरपेक्ष हैं, वे मिथ्या हैं। उसी को कहते हैं —

“दुर्नयों के सत्यता नहीं हो सकती है, क्योंकि वे प्रतिपक्षभूत विषयों का सर्वथा निषेध करते हैं तथा स्वविषयों का अभाव होने से उनकी सत्यता नहीं रह सकती है। इस कारण दुर्नय संव्यवहार के कारण नहीं हैं।”

शंका — सुनय अपने विषय सहित कैसे है ?

समाधान — चूँकि सुनय एकान्त से — सर्वथा प्रतिपक्षभूत विषयों का निषेध नहीं करते हैं किन्तु वे गौणता और प्रधानता की अपेक्षा प्रमाण की बाधा को दूर कर देते हैं, इसलिए उनमें उक्त विषयव्यवस्था अच्छी प्रकार से बन जाती है।

शंका — जबकि एकान्त अवस्तुस्वरूप है, तब वह व्यवहार का कारण कैसे हो सकता है ?

अवस्तुस्वरूप एकान्तो न संव्यवहारकारणं, किन्तु तत्कारणं प्रमाणविषयीकृतोऽनेकान्तः, वस्तुत्वात्।
कथं पुनः नयः सर्वसंव्यवहाराणां कारणमिति चेत् ?

उच्यते — क एवं भणति 'नयः सर्वसंव्यवहाराणां कारणमिति।' प्रमाणं प्रमाणविषयिकृतार्थाश्च
सकलसंव्यवहारकारणं ? किन्तु सर्वः संव्यवहारः प्रमाणनिबन्धनो नयस्वरूप इति प्ररूपयामः, सर्वसंव्यवहारेषु
गुणप्रधानभावोपलंभात्।

अथवा प्रमाणान्नयानामुत्पत्तिः, अनवगतार्थे गुणप्रधानभावाभिप्रायानुत्पत्तेः। नयेभ्यः संव्यवहारोत्पत्तिः,
आत्मनोऽभिप्रायवशेन एकानेकव्यवहारोपलंभात्। ततो नयोऽपि संव्यवहारकारणमित्युक्ते न कोऽस्ति दोषः।

किमर्थं संव्यवहारो नयात्मक एव ?

न, स्वाभाव्यात् अन्यथा व्यवहर्तुमुपायाभावात्।

निक्षेपार्थप्ररूपणायां कृतायां पश्चात् नयविभाषणा किन्न क्रियते ?

न, नयप्ररूपणाया विना द्विविधनयस्थितजीवानां प्ररूपयिष्यमाणनिक्षेपप्ररूपणायाः संकरव्यतिकर-
भावेनात्मसमर्पणं कुर्वन्त्या विफलत्वप्रसंगात्।

नेदं पृच्छासूत्रं, किन्तु आचार्याशंकासूत्रं, पूर्वोक्तसूत्रचालनावशेन एतस्य सूत्रस्यावतारात्।

पूर्वकथितसूत्रस्याशंकायां समाधानं कुर्वता श्रीमद्भूतबलिसूरिवर्येण सूत्रमवतार्यते —

समाधान — अवस्तुस्वरूप एकान्त संव्यवहार का कारण नहीं है, किन्तु उसका कारण प्रमाण को
विषय करने वाला अनेकान्त है, क्योंकि वह वस्तुस्वरूप है।

शंका — यदि ऐसा है तो फिर नय सभी संव्यवहारों का कारण कैसे है ?

इसका समाधान करते हैं — ऐसा कौन कहता है कि “नय सब संव्यवहारों का कारण है”, प्रमाण
और प्रमाण से विषय किये गये पदार्थ समस्त संव्यवहारों के कारण हैं किन्तु प्रमाणनिमित्तक सब संव्यवहार
नयस्वरूप हैं, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि सब संव्यवहारों में गौणता और प्रधानता पाई जाती है।

अथवा प्रमाण से नयों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि अनवगत अर्थ में गौणता और प्रधानता का अभिप्राय नहीं
बन सकता है और नयों से संव्यवहार की उत्पत्ति बन जाती है, क्योंकि अपने अभिप्राय के वश से एक व
अनेकरूप व्यवहार पाया जाता है। इस कारण नय भी संव्यवहार का कारण है, ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है।

शंका — संव्यवहार नयस्वरूप ही कैसे है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना, क्योंकि ऐसा ही स्वभाव है तथा अन्य प्रकार से व्यवहार करने के लिए
और कोई उपाय नहीं है।

शंका — निक्षेपों के अर्थ की प्ररूपणा कर चुकने पर पीछे नयों का व्याख्यान क्यों नहीं किया जाता है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना, क्योंकि नयप्ररूपणा किये बिना दो प्रकार के नयों के आश्रित जीवों के
लिए कही जाने वाली निक्षेपप्ररूपणा संकर व व्यतिकररूप से अर्थ का समर्पण करने वाली हो जाएगी, अतः
उसके निष्फल होने का प्रसंग आ जाएगा।

यह पृच्छासूत्र नहीं है, किन्तु आचार्य का आशंकासूत्र है, क्योंकि पूर्वोक्त सूत्र की चालना के वश से इस
सूत्र का अवतार हुआ है।

अब पूर्व में कथित सूत्र की आशंका के होने पर समाधान करते हुए आचार्य श्री भूतबली सूत्र को
अवतरित करते हैं —

णङ्गम-ववहार-संगहा सव्वाओ ॥४८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अत्र 'इच्छन्ति' इति क्रिया पूर्वसूत्रादनुवर्तते। न तदेकवचनार्थो गृहीतव्यः, किंच 'अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामो भवतीति' वचनं संपद्यते।

कश्चिदाह —

नामकृतिरेतेषां त्रयाणां नयानां विषया भवतु नाम, जन्मप्रभृति मरणपर्यन्तं अवस्थितार्थे सर्वकालमवस्थितत्वेन निश्चितशब्दार्थयोः संज्ञासंज्ञिसंबंध उपलभ्यते। स्थापनाकृतिरपि द्रव्यार्थिकनयविषया एव भवति, पृथग्भूतद्रव्याणामेकत्वनिश्चयेन विना स्थापनानुपपत्तेः। द्रव्यकृतिरपि द्रव्यार्थिकनयविषया, आगमनोआगम-द्रव्ययोः प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययविषयत्वेन अवगतावस्थानेषु द्रव्यकृतित्वं दृश्यते। कथं गणनकृतिः द्रव्यार्थिकनयविषया भवतीति चेत् ?

आचार्यः प्राह —

नैतद् वक्तव्यं, गणयद्-गणयिष्यमाणानां ध्रुवावस्थानेन विना गणनकृतेरसंभवात्। एकमिति गणयित्वा यदि गणना कारकस्तत्रैव विनष्टस्तर्हि द्वायादिगणनाकारको न भवति, असतः कर्तृत्वविरोधात्। न च द्वितीयक्षणसमुत्पन्नो द्विसंख्यमवहारयति, अगृहीतैकसंख्यस्य द्विसंख्यानिश्चयानुपपत्तेः। न च गणयिष्यमाणे अनित्ये सति गणनकृतियुज्यते, 'एकमिति' गणितद्रव्ये विनष्टे द्वायादि-गणनाकरणानुपपत्तेः। ततो गणनकृति-द्रव्यार्थिकनयविषया भवतीति निश्चेतव्या।

सूत्रार्थ —

नैगम, व्यवहार और संग्रह नय सब कृतियों को स्वीकार करते हैं ॥४८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — यहाँ "इच्छन्ति" अर्थात् इच्छा करते हैं या स्वीकार करते हैं इस क्रिया की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति चली आ रही है। उससे एक वचन का अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए, किन्तु अर्थ के वश से विभक्ति का परिवर्तन होता है, ऐसा वचन प्राप्त होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि —

नामकृति इन तीन नयों का विषय भले ही हो, क्योंकि जन्म से लेकर मरण पर्यन्त अवस्थित स्वरूप से निश्चित शब्द और अर्थ में संज्ञा-संज्ञीरूप संबंध पाया जाता है। स्थापनाकृति भी द्रव्यार्थिकनय का ही विषय है, क्योंकि पृथग्भूत द्रव्यों के एकत्व के निश्चय विना स्थापना नहीं बन सकती। द्रव्यकृति भी द्रव्यार्थिक नय का विषय है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान प्रत्यय के विषयरूप से जिनका अवस्थान अर्थात् स्थिरता अवगत है, ऐसे आगम व नोआगमरूप द्रव्यों में द्रव्यकृतिपना देखा जाता है। गणनकृति द्रव्यार्थिक नय का विषय कैसे है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं कि — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि गिनने वाले व्यक्ति और गिनी जाने वाली वस्तुओं की ध्रुवपने के बिना गणनकृति संभव नहीं है। कारण यह है कि 'एक' इस प्रकार गिनकर यदि गणना करने वाला वहाँ ही नष्ट हो जावे, तो फिर वह 'दो' आदि गिनती का करने वाला नहीं हो सकता है, क्योंकि असत् के कर्ता होने का विरोध है और द्वितीय क्षण में उत्पन्न व्यक्ति दो संख्या का व्यवहार नहीं कर सकता, क्योंकि 'एक' संख्या को जिसने नहीं जाना है, उसके 'दो' संख्या का व्यवहार नहीं बन सकता और गिनी जाने वाली वस्तु के अनित्य होने पर गणनकृति उचित नहीं है, क्योंकि 'एक' इस प्रकार गिने जाने वाले द्रव्य के नष्ट हो जाने पर 'दो' आदि गिनती करना बन नहीं सकता। इस कारण गणनकृति द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

ग्रन्थकृतेर्द्रव्यार्थिकनयविषयत्वमेवमेव वक्तव्यं, शब्दार्थकर्तृणां नित्यत्वेन विना ग्रन्थकृतेरसंभवात्।
करणकृतिरपि द्रव्यार्थिकनयविषया, छिन्दन्-छिद्यमाणद्रव्ययोः असि-वास्यादिकरणानां च अनित्यत्वे तदनुपपत्तेः।

कश्चिदाह — भावकृतिः द्रव्यार्थिकनयविषया न भवति।

उक्तं च तथैव —

गामद्ववणादवियं एसो दव्वद्वियस्स णिक्खेवो।

भावो दु पज्जवद्वियपरूवणा एस परमत्थो॥^१

किं च वर्तमानपर्यायेणोपलक्षितं द्रव्यं भाव इति भण्यते। न इति चैष भावो द्रव्यार्थिकनयविषयो भवति, पर्यायार्थिकनयस्य निर्विषयत्वप्रसंगात् ?

आचार्यदेवोऽत्र परिहरति —

पर्यायो द्विविधः — अर्थपर्यायभेदेन। तत्र अर्थपर्याय एकादिसमयावस्थानः संज्ञासंज्ञिसंबंधवर्जितोऽल्प-कालावस्थानादतिविशेषाद्वा। तत्र यः स व्यञ्जनपर्यायो जघन्योत्कृष्टाभ्यां अन्तर्मुहूर्तसंख्यातलोकमात्र-कालावस्थानः अनादि-अनन्तो वा। तत्र व्यञ्जनपर्यायेण प्रतिगृहीतं द्रव्यं भावो भवति। एतस्य वर्तमानकालो जघन्योत्कृष्टाभ्यामन्तर्मुहूर्तः संख्यातलोकमात्रोऽनादिनिधनो वा, अर्पितपर्यायप्रथमसमयप्रभृति आचरमसमयाद् एष वर्तमानकाल इति न्यायात्। तेन भावकृतेर्द्रव्यार्थिकनयविषयत्वं न विरुद्ध्यते। न च सन्मत्तिसूत्रेण सह विरोधः, शुद्धजुसूत्रनय-विषयीकृतपर्यायेणोपलक्षितद्रव्यस्य सूत्रे भावत्वाभ्युपगमात्। एवमुक्ताशेषार्थं मनसि

ग्रन्थकृति के भी द्रव्यार्थिक नय के विषयपने का इसी प्रकार कथन करना चाहिए, क्योंकि शब्द, अर्थ और कर्ता के नित्य होने के बिना ग्रन्थकृति संभव नहीं है। करणकृति भी द्रव्यार्थिकनय का विषय है, क्योंकि छेदने वाले व्यक्ति, छेदे जाने वाले काष्ठादि द्रव्य और तलवार एवं वसूला आदि करणों के अनित्य वह नहीं बन सकती है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — भावकृति द्रव्यार्थिक नय का विषय नहीं होता है।

इसी संबंध में कहा भी है —

गाथार्थ — नाम, स्थापना और द्रव्य, यह द्रव्यार्थिक नय का निक्षेप है। किन्तु भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नय का निक्षेप है, यह परमार्थ सत्य है।

दूसरी बात यह है कि वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भाव कहा जाता है। सो यह भाव द्रव्यार्थिक नय का विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा होने पर पर्यायार्थिकनय के निर्विषय होने का प्रसंग आता है ?

तब आचार्यदेव यहाँ इस शंका का परिहार करते हैं कि — अर्थ और व्यञ्जन पर्याय के भेद से पर्याय दो प्रकार की है। उनमें अर्थपर्याय थोड़े समय तक रहने से अथवा अति विशेष होने से एक आदि समय तक रहने वाली और संज्ञा-संज्ञी संबंध से रहित है और उनमें जो व्यञ्जनपर्याय है वह जघन्य और उत्कृष्टरूप से क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और असंख्यात लोकमात्रकाल तक रहने वाली अथवा अनादि-अनन्त है। उनमें व्यञ्जनपर्याय से स्वीकृत द्रव्यभाव होता है। इसका वर्तमानकाल जघन्य और उत्कृष्टरूप से क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और संख्यात लोकमात्र अथवा अनादिनिधन है, क्योंकि विवक्षित पर्याय के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय तक यह वर्तमानकाल है, ऐसा न्याय है। इस कारण भावकृति की द्रव्यार्थिकनय विषयपना विरुद्ध नहीं है। सन्मत्ति सूत्र के साथ विरोध भी नहीं आता है। क्योंकि शुद्ध ऋजुसूत्र नय से विषय की गई पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को सूत्र में भाव स्वीकार किया गया है। इस प्रकार कहे हुए सब अर्थ को मन में करके नैगम, व्यवहार

कृत्वा नैगमव्यवहारसंग्रहनयाः सर्वाः कृतीः इच्छन्तीति भूतबलिभट्टारकेण कथितं भवति।

तात्पर्यमत्र — एतत् सर्वं सिद्धान्तरहस्यं ज्ञात्वा श्रुतज्ञानवृद्ध्यर्थमुपायो विधातव्यः परिणामविशुद्ध्या सरस्वतीदेव्य उपासनया चास्माभिरिति।

अधुना ऋजुसूत्रनयस्य विषयकथनार्थमाचार्यवर्येण सूत्रमवतार्यते —

उजुसुदो ड्रवणकदिं णेच्छदि।।४९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ऋजुसूत्रनयः स्थापनाकृतिं नेच्छति, अवशेषाः कृतीः इच्छति।

कथमेतत्सूत्रेऽनुक्तं ज्ञायते ?

अर्थापत्तेर्ज्ञायते।

ऋजुसूत्रनयः पर्यायार्थिकः, पुनः नाम-द्रव्य-गणन-ग्रन्थकृतीः असौ कथं विषयीकरोति, विरोधात् अविरोधे वा स्थापनाकृतिरपि तस्य विषयः स्वीकर्तव्यः इति चेत् ?

अत्र परिहार उच्यते —

ऋजुसूत्रो द्विविधः — शुद्धोऽशुद्धश्चेति। अयं विषयीकृतार्थपर्यायः शुद्धः ऋजुसूत्रनयः प्रतिक्षणं विवर्तमानाशेषार्थं विषयीकुर्वन् आत्मनो विषयात् सादृश्य-तद्भावलक्षणसामान्यमपसारयति। अत एतस्य भावं मुक्त्वान्यकृतीः न संभवन्ति, विरोधात्। तत्र योऽसौ अशुद्धः ऋजुसूत्रनयः स चक्षुरिन्द्रियविषयव्यञ्जनपर्यायं गृण्हाति। तेषां कालो जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टेन षणमासाः संख्यातवर्षाणि वा।

और संग्रह नय सब कृतियों को स्वीकार करती हैं, ऐसा भूतबली भट्टारक ने कहा है।

तात्पर्य यह है कि — सिद्धान्त के इस सम्पूर्ण रहस्य को जानकर अपने परिणामों की शुद्धिपूर्वक हम सभी को सरस्वती माता की उपासना करते हुए श्रुतज्ञान की वृद्धि के लिए उपाय करना चाहिए।

अब ऋजुसूत्र नय के विषय का कथन करने हेतु आचार्यवर्य सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

ऋजुसूत्र नय स्थापनाकृति को स्वीकार नहीं करता है।।४९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ऋजुसूत्र नय स्थापनाकृति की इच्छा नहीं करता है — स्थापनाकृति को स्वीकार नहीं करता है, शेष कृतियों को वह स्वीकार करता है।

शंका — यह सूत्र में नहीं कहा हुआ अर्थ कैसे जाना जाता है ?

समाधान — यह अर्थापत्ति से जाना जाता है।

शंका — ऋजुसूत्र नय पर्यायार्थिक है अतः वह नामकृति, द्रव्यकृति, गणनकृति और ग्रन्थकृति को कैसे विषय कर सकता है, क्योंकि इसमें विरोध है। अथवा इसमें यदि कोई विरोध नहीं है, तो फिर स्थापनाकृति को भी ऋजुसूत्र नय का विषय करना चाहिए, क्योंकि उसमें कोई विशेषता नहीं है ?

समाधान — यहाँ इस शंका का परिहार करते हैं —

ऋजुसूत्र नय दो प्रकार का है — शुद्ध और अशुद्ध ऋजुसूत्र नय। उनमें अर्थपर्याय को विषय करने वाला शुद्ध ऋजुसूत्रनय प्रत्येक क्षण में परिणमन करने वाले समस्त पदार्थों को विषय करता हुआ अपने विषय से सादृश्य सामान्य और तद्भाव सामान्य को दूर करने वाला है। अतः भावकृति को छोड़कर अन्य कृतियाँ संभव नहीं हैं, क्योंकि इसमें विरोध है। उनमें जो अशुद्ध ऋजुसूत्रनय है वह चक्षु इन्द्रिय की विषयभूत व्यंजनपर्यायों को ग्रहण करने वाला है। उन पर्यायों का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल छहमास अथवा संख्यातवर्ष है।

कुतः ?

चक्षुरिन्द्रियग्राह्यव्यञ्जनपर्यायाणामप्रधानीभूतद्रव्याणामेतावत्कालमवस्थानोपलंभात्।

कश्चिदाह—

यद्येतादृशोऽपि पर्यायार्थिकनयोऽस्ति तर्हि—

उप्यज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स।

दव्वट्टियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं।^१

इत्येतेन सन्मतिसूत्रेण ग्रन्थेण सह विरोधो भवति ?

आचार्यः प्राह—

न भवति, एतेनाशुद्धऋजुसूत्रनयेन विषयीकृतव्यञ्जनपर्यायाः अप्रधानीकृतशेषपर्यायाः पूर्वापरकोटीनाम-भावेन उत्पत्ति-विनाशौ मुक्त्वाऽवस्थानानुपलंभात्। तस्मात् ऋजुसूत्रनये स्थापनां मुक्त्वा सर्वनिक्षेपाः संभवन्तीति उक्तं भवति।

ऋजुसूत्रनयस्य स्थापनानिक्षेपः कथं विषयो न भवतीति चेत् ?

अस्य नयस्यापेक्षया संकल्पवशेन अन्यस्य द्रव्यस्यान्यस्वरूपेण परिणामानुपलंभात् सदृशत्वेन द्रव्याणामे-कत्वानुपलंभात् स्थापनानिक्षेपो विषयो न भवति।

सादृश्यसामान्येन एकत्वानभ्युपगमे कथं नाम-गणन-ग्रन्थकृतीनां संभवः ?

नैतद् वक्तव्यं, तद्भावसामान्य-सादृश्यसामान्याभ्यां विनापि वर्तमानकालविशेषापेक्षयापि तासां

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—क्योंकि, चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य व्यंजन पर्याय में द्रव्य की प्रधानता से रहित होती हुई इतने काल तक अवस्थित पाई जाती हैं।

यहाँ कोई शंका करता है कि—यदि ऐसा भी पर्यायार्थिक नय है तो—

गाथार्थ—पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और व्यय को प्राप्त होते हैं। किन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सब पदार्थ सदा उत्पाद और विनाश से रहित हैं।

इस सन्मतिसूत्ररूप ग्रंथ के साथ विरोध आता है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं—इसमें विरोध नहीं होगा, क्योंकि अशुद्ध ऋजुसूत्रनय के द्वारा व्यंजनपर्यायें ही विषय की जाती हैं और पर्यायें अप्रधान हैं, पूर्वापर कोटियों का अभाव होने के कारण उत्पत्ति व विनाश को छोड़कर अवस्थान नहीं पाया जाता है। इस कारण ऋजुसूत्रनय में स्थापना को छोड़कर सब निक्षेप संभव है, ऐसा कहा गया है।

शंका—स्थापनानिक्षेप ऋजुसूत्रनय का विषय कैसे नहीं है ?

समाधान—क्योंकि इस नय की अपेक्षा संकल्प के वश से एक द्रव्य का अन्य स्वरूप से परिणमन नहीं पाया जाता है, दूसरे संकल्प के वश से सदृशपने से द्रव्यों में एकता नहीं पाई जाती है। अतः स्थापनानिक्षेप यहाँ संभव नहीं है।

शंका—सादृश्य सामान्य से एकता के नहीं स्वीकार करने पर नामकृति, गणनकृति और ग्रंथकृति की संभावना कैसे हो सकती है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि तद्भावसामान्य और सादृश्य सामान्य के बिना भी

कृतीनामस्तित्वं प्रति विरोधाभावात्।

कश्चिदाह —

ऋजुसूत्रनयस्य न गणनकृतिस्तस्य नयस्यानेकसंख्या अवस्तु इति चेत् ?

आचार्यः प्राह —

न, पर्यायार्थिकनैगमनयेऽवलम्ब्यमानेऽनेकसंख्याया अपि वस्तुत्वोपलंभात्।

शब्दादिनयानां विषयनिरूपणार्थं सूत्रमवतार्यते —

सद्वादो णामकदिं भावकदिं च इच्छंति॥५०॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — शब्दादिनया नामकृतिं भावकृतिं च स्वीकुर्वन्ति।

कश्चिदाह —

भवतु नाम भावकृतिः शब्दनयानां विषयः, तेषां विषये द्रव्यादीनामभावात्। किन्तु न तेषां नामकृतियुज्यते, द्रव्यार्थिकनयं मुक्त्वान्यत्र संज्ञासंज्ञिसंबंधानुपपत्तेः ?

आचार्यदेवः आह —

क्षणक्षयिभावमिच्छतां मतावलंबिनां संज्ञासंज्ञिसंबंधा मा घटन्तां नाम। किन्तु येन शब्दनयाः शब्दजनित-भेदप्रधानास्तेन संज्ञासंज्ञिसंबंधानामघटनां न स्वीकुर्वन्ति। स्वमते संज्ञासंज्ञिसंबंधोऽस्ति चैवेति अध्यवसायं

वर्तमानकाल विशेष की विवक्षा से भी उन कृतियों के अस्तित्व के प्रति कोई विरोध नहीं आता है।

यहाँ कोई शंका करता है कि —

ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा गणनकृति संभव नहीं है, क्योंकि इस नय की दृष्टि में 'अनेक संख्या अवस्तु है' ऐसा वचन है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं कि —

ऐसा नहीं कहना, क्योंकि पर्यायार्थिक नैगमनय का अवलम्बन लेने पर अनेक संख्या के भी वस्तुपना पाया जाता है।

अब शब्द आदि नयों का निरूपण करने हेतु सूत्र अवतरित होता है —

सूत्रार्थ —

शब्द आदि नय नामकृति और भावकृति को स्वीकार करते हैं॥५०॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — शब्दादि नय नामकृति को और भावकृति को स्वीकार करते हैं यह इस सूत्र का अभिप्राय है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि —

भावकृति शब्द नयों को अपना विषय भले ही बनावे, क्योंकि उनके विषय में द्रव्यादिक कृतियों का अभाव पाया जाता है। किन्तु नामकृति तो उनका विषय हो नहीं सकती है, क्योंकि द्रव्यार्थिक नय को छोड़कर अन्य नयों में संज्ञा और संज्ञी का संबंध नहीं बन सकता है ?

आचार्यदेव इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि —

पदार्थ को क्षणक्षयी स्वीकार करने वाले मतावलम्बियों के यहाँ संज्ञा और संज्ञी संबंध भले ही घटित न हो, किन्तु चूँकि वे शब्दनय शब्द जनित भेद की प्रधानता स्वीकार करते हैं अतः वे संज्ञा-संज्ञी संबंधों के अघटन को स्वीकार नहीं कर सकते हैं। इसीलिए स्वमत में संज्ञा-संज्ञी संबंधी है ही, ऐसा निश्चय करके

कृत्वा व्यवहारस्वभावाः शब्दनयाः, तेषामन्यथा शब्दनयत्वानुपपत्तेः। तेन त्रिषु शब्द-समभिरूढ-एवंभूतनयेषु नामकृतिरपि युज्यते।

एवं द्वितीयस्थले कृतिअनुयोगद्वारस्य संख्यानिरूपणत्वेन सूत्रपंचकं गतम्।

संप्रति निषेधार्थप्ररूपणार्थमुत्तरसूत्रमवतार्यते श्रीमद्भूतबलिसूरिवर्येण —

जा सा णामकदी णाम सा जीवस्स वा, अजीवस्स वा, जीवाणं वा, अजीवाणं वा, जीवस्स च अजीवस्स च, जीवस्स च अजीवाणं च, जीवाणं च अजीवस्स च, जीवाणं च अजीवाणं च॥५१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — या सा नामकृतिः सा एकस्य जीवस्य, एकस्याजीवस्य, बहुजीवानां, बहु-अजीवानां वा, एकस्य जीवस्य एकस्याजीवस्य च, एकस्य जीवस्य बहु-अजीवानां च, बहुजीवानां एकस्य जीवस्य च, बहुजीवानां बहु-अजीवानां च।

यस्य कृतिरेतन्नाम क्रियते सा सर्वा नामकृतिर्भण्यते।

सप्तसु कृतिषु या सा प्रथम उद्दिष्टा नामकृतिस्तस्या अर्थप्ररूपणाक्रियमाणे तावद्विषयप्ररूपणा क्रियते —

सा नामकृतिरष्टविषया, एकानेकजीवाजीवेषु संज्ञिवादभंगानामष्टसंख्यातोऽधिकानामनुपलंभात्।

शब्दनय भेद करने रूप स्वभाव वाले हैं, क्योंकि इसके बिना उनके शब्दनयत्व ही नहीं बन सकता। अतएव तीन शब्दनयों में शब्द-समभिरूढ और एवंभूत इन तीन नयों में नामकृति भी उचित है।

इस प्रकार द्वितीय स्थल में कृति अनुयोगद्वार की संख्या का निरूपण करने वाले पाँच सूत्र पूर्ण हुए।

अब निक्षेप के अर्थ का प्ररूपण करने हेतु श्री भूतबली आचार्य के द्वारा उत्तर सूत्र अवतरित किया जाता है —

सूत्रार्थ —

जो वह नामकृति है, वह एक जीव के, एक अजीव के, बहुत जीवों के, बहुत अजीवों के, एक जीव और एक अजीव के, एक जीव और बहुत अजीवों के, बहुत जीव और एक अजीव के तथा बहुत जीवों और बहुत अजीवों के जिसका 'कृति' ऐसा नाम है, वह सब नामकृति है॥५१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — यहाँ जो नामकृति कही गई है वह एक जीव के और एक अजीव के, बहुत जीव अथवा बहुत अजीवों के, एक जीव के और एक अजीव के, एक जीव के और बहुत अजीवों के, बहुत जीवों के और एक जीव के, बहुत जीवों के और बहुत अजीवों के होती है।

जिसका कृति यह नाम किया गया है, वह सब नामकृति संज्ञा से कही जाती है।

सात कृतियों में जो सर्वप्रथम बतलाई गई नामकृति है, उसके अर्थ की प्ररूपणा करने पर पहले उनके विषय की प्ररूपणा की जाती है —

उस नामकृति के आठ विषय हैं क्योंकि, एक व अनेक जीव एवं अजीव में संयोग से होने वाले भंगों की आठ ही संख्या है, इससे अधिक-अधिक संख्या पाई नहीं जाती है। इन आठ भंगों में जिसका 'कृति' ऐसा नाम किया जाता है वह अपने आपमें रहने वाली कृति संज्ञा आधार के भेद से आठ प्रकार और अवान्तर भेद से अनेक करोड़ भेदों को प्राप्त है, वह सब नामकृति कहलाती है।

यह नामकृति भी क्षणिक एकान्तवाद में घटित नहीं होती है, क्योंकि उसमें संज्ञा-संज्ञी संबंध का ग्रहण

एतेष्वष्टभंगेषु यस्य कृतिरिति नाम क्रियते सा कृतिसंज्ञा स्वात्मनि वर्तमाना आधारभेदनाष्टप्रकारा अवान्तरभेदेन बहुकोटिभेदमावन्ना सा सर्वा नामकृतिर्नाम।

एषा अपि न क्षणिकैकान्तवादे घटते, तत्र संज्ञासंज्ञिसंबंधग्रहणानुपपत्तेः। न नित्यैकान्तवादिमते, तत्र अनाधेयातिशये प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभेदाभावात्। नोभयपक्षोऽपि, विरोधादुभयदोषानुषङ्गात्। नानुभयपक्षोऽपि, निःस्वभावतापत्तेः। न शब्दार्थयोरैक्यपक्षोऽपि, कारण-करणदेशादिभेदाभावासंजनात्। ततस्त्रिकोटि-परिणामात्मकाशेषार्थवादिनां जैनवादिनामेवैतद् घटते, नान्येषाम्। न स्फोटोऽर्थप्रतिपादकः, तस्यानुपलंभतोऽसत्त्वात्। ततो बहिरंगवर्णजनितमन्तरंगवर्णात्मकं पदं वाक्यं वा अर्थप्रतिपादकमिति निश्चेतव्यम्।

एवं तृतीयस्थले नामकृतिलक्षणकथनत्वेन एकं सूत्रं गतम्।

अधुना स्थापनाकृति प्ररूपणार्थं सूत्रमवतार्यते —

जा सा ठवणकदी णाम सा कट्टकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा पोत्तकम्मेसु वा लेप्पकम्मेसु वा लेण्णकम्मेसु वा सेलकम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा दंतकम्मेसु वा भेंडकम्मेसु वा अक्खो वा वराडओ वा जे चामण्णे एवमादिया ठवणाए ठविज्जंति कदि त्ति सा सव्वा ठवणकदी णाम।।५२।।

करना नहीं बनता है। और न वह सर्वथा नित्यता को मानने वालों के मत में बनती है, क्योंकि उनके यहाँ पदार्थ के अनाधेयातिशय अर्थात् निरतिशय होने से यह प्रतिपाद्य है और यह प्रतिपादक है, ऐसा भेद संभव नहीं है। उभय पक्ष अर्थात् परस्पर निरपेक्ष नित्यानित्य पक्ष भी नहीं बनता है, क्योंकि वैसा मानने में विरोध आता है तथा दोनों पक्षों में कहे हुए दोषों का प्रसंग भी आता है। अनुभय पक्ष भी घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर वस्तु के निःस्वभावता की आपत्ति आती है। शब्द और अर्थ का अभेद पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि ऐसा होने पर कारण, करण और देश आदि के भेद के अभाव का प्रसंग आता है। अतएव त्रिकोटिपरिणामस्वरूप समस्त पदार्थों को मानने वाले जैनवादियों के यहाँ ही वह घटित होता है, अन्य मतावलम्बियों के यहाँ यह घटित नहीं होता है। स्फोट अर्थ का प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि अनुपलब्ध होने से उसका सत्त्व संभव नहीं है। इस कारण बहिरंग वर्णों से उत्पन्न अतरंग वर्णों स्वरूप पद अथवा वाक्य अर्थ प्रतिपादक है, ऐसा निश्चय करना चाहिए।

इस प्रकार तृतीय स्थल में नामकृति का लक्षण बतलाने वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ।

अब स्थापनाकृति का प्ररूपण करने हेतु सूत्र अवतरित होता है —

सूत्रार्थ —

जो वह स्थापनाकृति है वह काष्ठकर्मों में अथवा चित्रकर्मों में अथवा पोतकर्मों में अथवा लेप्यकर्मों में अथवा लयनकर्मों में अथवा शैलकर्मों में, अथवा गृहकर्मों में, अथवा भित्तिकर्मों में, अथवा दन्तकर्मों में, अथवा भेंडकर्मों में, अथवा अक्ष या वराटक, तथा इनको आदि लेकर अन्य भी जो 'कृति' इस प्रकार स्थापना में स्थापित किये जाते हैं, वह सब स्थापनाकृति कही जाती हैं।।५२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ‘या सा स्थापनाकृतिर्नाम’ इति वचनेन इयं प्ररूपणा स्थापनाकृतिविषया इति ज्ञापनार्थं पूर्वोद्दिष्टस्थापनाकृतिः पुनरपि उद्दिष्टा।

‘यथा उद्देशस्तथा निर्देशः’ इति न्यायात् स्थापनाकृतिप्ररूपणा एव नामकृतिप्ररूपणानन्तरं भवति इति ज्ञायते। ततो नेदं वक्तव्यमिति चेत् ?

भवति एष न्यायः पूर्वानुपूर्विविवक्षया, न शेषद्विप्ररूपणाभ्यां, ततः शेषद्विप्ररूपणाप्रतिषेधकरणाथं स्थापनाकृतिस्मरणं न निष्फलं। तत्र तावत् सद्भावस्थापनाया आधारभूतदेशामर्शकः क्रियते —

सा स्थापनाकृतिः ‘कटुकम्मेसु वा’ इत्युक्ते काष्ठे क्रियन्त इति निष्पत्तेः देव-नारक-तिर्यग्मनुष्याणां नर्तन-हसन-गान-तूर्य-वीणादि-वादनक्रियासु व्यापृतानां काष्ठघटितप्रतिमाः काष्ठकर्माणि इति भण्यन्ते।

“चित्तकम्मेसु वा” पट-कुड्य-फलकादिषु नर्तनादिक्रियाव्यापृतदेवनारक-तिर्यग्मानुषाणां प्रतिमाः चित्रकर्म चित्रेण क्रियन्त इति व्युत्पत्तेः।

“पोत्तकम्मेसु वा” पोत्तं वस्त्रं, तेन कृताः प्रतिमाः पोत्तकर्म उच्यन्ते।

“लेप्पकम्मेसु वा” कट-शर्करा-मृत्तिकादीनां लेपो लेप्यं, तेन घटितप्रतिमाः लेप्यकर्म।

“लेण्णकम्मेसु वा” लयनं पर्वतः, तस्मिन् घटितप्रतिमाः लयनकर्म।

“सेलकम्मेसु वा” शैलः प्रस्तरः तस्मिन् घटितप्रतिमाः शैलकर्म।

“गिहकम्मेसु वा” — गृहाणि जिनगृहादीनि, तेषु कृतप्रतिमाः गृहकर्म। हस्ति-अश्व-नर-वराहस्वरूपेण

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ‘स्थापनाकृति’ नाम से जो यह कृति है, इस वचन से यह प्ररूपणा स्थापना कृति को अपना विषय बनाती है, यह बतलाने हेतु पूर्व में निर्दिष्ट की गई स्थापनाकृति यहाँ पुनः भी कही गई है।

प्रश्न — जैसा उद्देश्य होता है वैसा ही निर्देश होता है, इस न्याय से नामकृति की प्ररूपणा के पश्चात् स्थापनाकृति की ही प्ररूपणा है, यह स्वयं जाना जाता है। इस कारण उक्त वाक्यांश नहीं कहना चाहिए ?

उत्तर — यह न्याय पूर्वानुपूर्वी की विवक्षा में भले ही लागू हो, किन्तु शेष दो पश्चादानुपूर्वी और यत्र-तत्रानुपूर्वी प्ररूपणाओं में वह लागू नहीं होता अतएव शेष दो प्ररूपणाओं का प्रतिषेध करने से स्थापनाकृति का स्मरण कराना निष्फल नहीं है। उसमें पहले सद्भावस्थापना के आधारभूत देशामर्शक से वर्णन करते हैं अर्थात् कुछ दृष्टान्त देते हैं —

वह स्थापनाकृति काष्ठकर्मों में है ऐसा कहने पर ‘काष्ठ में जो किये जाते हैं वे काष्ठकर्म हैं’ इस निरुक्ति के अनुसार नाचना, हंसना, गाना तथा तुरही एवं वीणा आदि वाद्यों के बजानेरूप क्रियाओं में प्रवृत्त हुए देव, नारकी, तिर्यच और मनुष्यों की काष्ठ से निर्मित प्रतिमाओं को काष्ठकर्म कहते हैं।

वह स्थापनाकृति चित्रकर्मों में है ऐसा कहने पर कुड्य (भित्ति), एवं फलहिका (काष्ठ आदि का तख्ता) आदि में नाचने आदि क्रिया में प्रवृत्त देव, नारकी, तिर्यच और मनुष्यों की प्रतिमाओं को चित्रकर्म कहते हैं, क्योंकि ‘जो चित्र से किये जाते हैं वे चित्रकर्म हैं’ ऐसी व्युत्पत्ति है। “पोत्तकम्मेसु वा” अर्थात् पोत्त का अर्थ वस्त्र है, उससे की गई प्रतिमाओं का नाम पोत्तकर्म है। “लेप्पकम्मेसु वा” अर्थात् खड़िया मिट्टी शर्करा (बालु) व मृत्तिका आदि के लेप का नाम लेप्य है। उससे निर्मित प्रतिमाएँ लेप्यकर्म कही जाती हैं। लेण्णकम्मेसु वा” अर्थात् लयन का अर्थ पर्वत है, उसमें निर्मित प्रतिमाओं का नाम लयनकर्म है। “सेलकम्मेसु वा” अर्थात् शैल का अर्थ पत्थर है, उसमें निर्मित प्रतिमाओं का नाम शैलकर्म है। “गिहकम्मेसु वा” अर्थात्

घटितगृहाणि गृहकर्मैति उक्तं भवति।

‘भित्तिकम्मेसु वा’ गृहभित्तिषु ततोऽभेदेन घटितप्रतिमाः भित्तिकर्म कथ्यते।

‘दंतकम्मेसु वा’ हस्तिदन्तेषु उत्कीर्णप्रतिमाः दन्तकर्म।

‘भेंडकम्मेसु वा’ भेंडो सुप्रसिद्धः, तेन घटितप्रतीमाः, भेंडकर्म।^१

एते सद्भावस्थापनाः। एते देशामर्शका दश प्ररूपिताः।

संप्रति असद्भावस्थापनाविषयस्योपलक्षणार्थं भण्यते—

‘अक्ष’ इत्युक्ते द्यूताक्षः शकटाक्षो वा गृहीतव्यः। वराटक इत्युक्ते कपर्दिका गृहीतव्या। ये चान्ये एवमादिका इतिवचनं द्वयोरवधारणप्रतिषेधफलं। तेन स्तंभकर्म-तुलाकर्म-हलकर्म-मुसलकर्मादीनां ग्रहणं कर्तव्यं।

स्थाप्यतेऽस्मिन्निति स्थापना। अमा—अभेदेन, स्थापनायां—सद्भावासद्भावस्थापनायाम्। ठविज्जंति—स्थाप्यन्ते कृतिरिति, सा सर्वा स्थापनाकृतिर्नाम कथ्यते।

तात्पर्यमत्र—स्थापनानिक्षेपेण पूज्या भवन्ति जिनप्रतिमाः। अतः जिनप्रतिमादीनां भक्त्या श्रद्धया नतिर्विधातव्या ध्यातव्याश्चास्माभिरिति।

एवं चतुर्थस्थले स्थापनाकृतिलक्षणनिरूपणत्वेन सूत्रमेकं गतम्।

संप्रति द्रव्यकृतिभेदप्ररूपणार्थं सूत्रमवतार्यते श्रीमद्भूतबलिसूरिवर्येण—

गृहों से अभिप्राय जिनगृहादिकों का है, उनमें की गई प्रतिमाओं का नाम गृहकर्म है, घोड़ा, हाथी, मनुष्य एवं वराह (शूकर) आदि के स्वरूप से निर्मित घर गृहकर्म कहलाते हैं, यह अभिप्राय है। “भित्तिकम्मेसु वा” अर्थात् घर की दीवारों में उनसे अभिन्न रची गई प्रतिमाओं का नाम भित्तिकर्म है। “दंतकम्मेसु वा” अर्थात् हाथी दातों पर खोदी हुई प्रतिमाओं का नाम दंतकर्म है। “भेंडकम्मेसु वा” अर्थात् भेंड सुप्रसिद्ध है। उससे निर्मित प्रतिमाओं का नाम भेंडकर्म है। ये सद्भावस्थापना के उदाहरण हैं। ये दस सूत्र देशामर्शक कहे गये हैं।

अब असद्भावस्थापनासंबंधी विषय के उपलक्षणार्थ कहते हैं—“अक्ष” ऐसा कहने पर द्यूताक्ष अथवा शकटाक्ष का ग्रहण करना चाहिए। वराटक ऐसा कहने पर कपर्दिका—कौड़ी का ग्रहण करना चाहिए। ‘इस प्रकार इनको आदि लेकर और भी जो अन्य हैं’ इस वचन का प्रयोजन दोनों (अक्ष व वराटक) के ही अवधारण का प्रतिषेध करना है। इसलिए स्तंभकर्म, तुलाकर्म, हलकर्म व मूसलकर्म आदिकों का ग्रहण होता है।

जिसमें स्थापित किया जाता है, वह स्थापना है। अमा अर्थात् अभेदरूप से स्थापना अर्थात् सद्भाव व असद्भावरूप स्थापना में ‘कृति’ है, इस प्रकार जो स्थापित किये जाते हैं वह सब स्थापनाकृति कही जाती है।

तात्पर्य यह है कि—जिनप्रतिमाएँ स्थापना निक्षेप से पूज्य होती है अतः जिनप्रतिमा आदिकों की हम सभी को भक्ति श्रद्धापूर्वक नमस्कार करना चाहिए एवं उनका ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकार चतुर्थ स्थल में स्थापनाकृति का लक्षण निरूपण करने वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ।

अब द्रव्यकृति के भेदों को बतलाने हेतु श्री भूतबली आचार्य सूत्र अवतरित करते हैं—

जा सा द्रव्यकदी णाम सा दुविहा आगमदो द्रव्यकदी चेव णोआगमदो चेव।।५३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — “आगमो सिद्धंतो सुदणाणमिदि एयद्वो”।

आगमस्य लक्षणं वर्ण्यते —

पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो दोषसंहतेः।

द्योतकः सर्वभावानामाप्तव्याहृतिरागमः।।^१

एतस्मादागमाद् यद् द्रव्यं तदागमद्रव्यं, तस्य कृतिरागमद्रव्यकृतिर्नाम। आगमादन्यो नोआगमः। ततो यद् द्रव्यं तन्नोआगमद्रव्यं, तस्य कृतिर्नोआगमद्रव्यकृतिर्नाम भण्यते।

द्रव्यकृतेर्द्विविधत्वं प्ररूप्य आगमविकल्पप्ररूपणार्थमुत्तरसूत्रं भण्यते —

जा सा आगमदो द्रव्यकदी णाम तिस्से इमे अट्टाहियारा भवन्ति—ट्टिदं जिदं परिजिदं वायणोपगदं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं णामसमं घोससमं। एवं णव अहियारा आगमस्स होंति।।५४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—एतेषामर्थाधिकाराणां लक्षणान्युच्यन्ते। तत्र स्थितस्यागमस्य स्वरूपप्ररूपणा क्रियते—‘ट्टिदं’ अवधृतमात्रं स्थितं, यः पुरुषो भावागमे वृद्धो ग्लान इव शनैः शनैः संचरति सः तादृशसंस्कारयुक्तः

सूत्रार्थ —

उस द्रव्यकृति के दो भेद हैं—आगम से द्रव्यकृति और नोआगम से द्रव्यकृति है।।५३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—आगम, सिद्धान्त व श्रुतज्ञान इन शब्दों का एक ही अर्थ है। उनमें से आगम का लक्षण कहते हैं—

श्लोकार्थ—जो आप्तवचन पूर्वापरविरुद्ध आदि दोषों के समूह से रहित और सब पदार्थों का प्रकाशक है वह आगम कहलाता है।

इस आगम से जो द्रव्य है वह आगमद्रव्य है, उसकी कृति आगमद्रव्यकृति कहलाती है। आगम से भिन्न नोआगम कहा जाता है, उससे जो द्रव्य है, वह नोआगमद्रव्य और उसकी कृति नोआगमद्रव्यकृति कहलाती है।

द्रव्यकृति के दो भेदों को प्ररूपित करके अब आगमद्रव्यकृति के भेदों को बतलाने हेतु उत्तरसूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ —

आगम से जो द्रव्यकृति कही है, उसके ये अर्थाधिकार हैं—स्थित, जित, परिजित (परिचित), वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रंथसम, नामसम और घोषसम। इस प्रकार आगम के नौ अधिकार हैं।।५४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—इन अर्थाधिकारों के लक्षण कहते हैं। उनमें स्थित आगम के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

“ट्टिदं” अर्थात् स्थित-अवधृत मात्र को स्थित कहते हैं। अर्थात् जो पुरुष भावआगम में वृद्ध व

पुरुषस्तद्भावागमश्च स्थित्वा प्रवृत्तेः स्थितं^१ नाम।

‘जितं’ नैसर्ग्यवृत्तिर्जितं, येन संस्कारेण पुरुषो भावागमेऽस्खलितः संचरति तेन संयुक्तो पुरुषस्तद्भावा-
गमश्च जितमिति भण्यते^२।

‘परिजितं’ यत्र यत्र प्रश्नः क्रियते तत्र तत्राशुतमवृत्तिः परिचितम्, क्रमेणोत्क्रमेणानुभयेन च
भावागमाम्भोधौ मत्स्यवच्चटुलतमवृत्तिः जीवो भावागमश्च परिचितम्।^३

‘वायणोपगदं’ शिष्याध्यापनं वाचना।

अधुनास्मिन् षट्खण्डागमस्य चतुर्थखण्डस्य चतुःपंचाशत्तमसूत्रे श्रीमद्वीरसेनाचार्यो वाचनां विशेषेण
विवृणोति —

शिष्याणामध्यापनं वाचना। सा चतुर्विधा — नन्दा भद्रा जया सौम्या चेति। पूर्वपक्षीकृतपरदर्शनानि
निराकृत्य स्वपक्षस्थापिका व्याख्या नन्दा। युक्तिभिः प्रत्यवस्थाय पूर्वापरविरोधपरिहारेण तंत्रस्थाशेषार्थव्याख्या
भद्रा। पूर्वापरविरोधपरिहारेण विना तंत्रार्थकथनं जया। क्वचित् क्वचित् स्खलितवृत्तेर्व्याख्या सौम्या।
एतासां वाचनानामुपगतं वाचनोपगतं परप्रत्यायनसमर्थं इति यावत्^४।

व्याधिपीडित मनुष्य के समान धीरे-धीरे संचार करता है उस प्रकार के संस्कार से युक्त पुरुष और भावागम
में स्थित होकर प्रवृत्ति करने से स्थित कहलाता है।

नैसर्ग्य वृत्ति का नाम ‘जित’ है। अर्थात् जिस संस्कार से पुरुष भावागम में अस्खलितरूप से संचार
करता है उससे युक्त पुरुष और उसका भावागम ‘जित’ आगम इस प्रकार कहा जाता है।

जिस-जिस विषय में प्रश्न किया जाता है, उस-उसमें शीघ्रतापूर्ण प्रवृत्ति का नाम परिचित है। अर्थात्
क्रम से, क्रम को छोड़कर और अनुभयरूप से भावागमरूपी समुद्र में मछली के समान अत्यन्त चपलतापूर्ण
प्रवृत्ति करने वाला जीव और भावागम परिचित कहा जाता है।

“वायणोपगदं” अर्थात् शिष्यों को अध्यापन कराना वाचना है।

यहाँ इस षट्खण्डागम में चतुर्थखण्ड में चौव्वनवें (५४वें) सूत्र में श्रीवीरसेनाचार्य ने वाचना का विशेष
वर्णन करते हुए कहा है कि—

शिष्यों को पढ़ाने का नाम वाचना है। वह चार प्रकार की है— नन्दा, भद्रा, जया और सौम्या। अन्य दर्शनों
का पूर्वपक्ष करके उनका निराकरण करते हुए अपने पक्ष को स्थापित करने वाली व्याख्या नन्दा कहलाती है।
युक्तियों के द्वारा समाधान करके पूर्वापर विरोध का परिहार करते हुए तंत्र सिद्धान्त में स्थित समस्त पदार्थों की
व्याख्या का नाम भद्रा है। पूर्वापर विरोध के परिहार के बिना सिद्धान्त के अर्थों का कथन करना जया वाचना
कहलाती है। कहीं-कहीं स्खलनपूर्ण वर्जनरूप जो व्याख्या की जाती है, वह सौम्या वाचना कही जाती है। इन चार
प्रकार की वाचनाओं को प्राप्त वाचनोपगत कहलाता है। अर्थात् दूसरों को ज्ञान कराने के लिए जो समर्थ है, उसे
वाचनोपगत कहते हैं।

१. तत्रादित आरभ्य पठनक्रियया यावदन्तं नीतं तच्छिक्षितमुच्यते। तदेवाविस्मरणतश्चेत्तसि स्थितं स्थितत्वात् स्थितमप्रच्युतमित्यर्थः।
अनु. टीका सूत्र १३। २. परावर्तनं कुर्वतः परेण वा क्वचित् पृष्टस्य यच्छीघ्रमागच्छति तज्जितम्। अनु. टी. सू. १३।
३. परिसमन्तात् सर्व प्रकारैर्जितम् परिजितम्, परावर्तनं कुर्वतो यत् क्रमेणोत्क्रमेण वा समागच्छतीत्यर्थः, अनु. टीका. सूत्र १३।
४. गुरुप्रदत्तया वाचनया उपगतं प्राप्तं गुरुवाचनोपगतं, न तु कर्णाघाटकेन शिक्षितं न वा पुस्तकात्। स्वयमेवाधीतमिति वा
भावः। अनु. टी. सू. १३। (धवला पु. ९, पृ. २५२-२५३ के आधार से ये टिप्पण हैं)

अत्र व्याख्यातृभिः शृण्वद्भिरपि द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिभिर्व्याख्यानपठनव्यापारः कर्तव्यः।

एतस्या वाचनायाः चतुर्विधशुद्धिकरणविधानं सिद्धान्तग्रंथ-पठन-पाठनयोरेव ज्ञातव्यं। एतेषां सिद्धान्त-ग्रंथानां अध्ययनाध्यापनकरणमपि मुनीनामार्यिकाणामेव मूलाचारे कथितं अस्ति।

द्रव्यशुद्धिः — तत्र ज्वर-कुक्षि-शिरोरोग-दुःस्वप्न-रुधिर-विट्-मूत्र-लेपातीसार-पूयस्त्रावादीनां शरीरेऽभावो द्रव्यशुद्धिः कथ्यते।

क्षेत्रशुद्धिः — व्याख्यातृव्यवस्थितप्रदेशात् चतसृष्वपि दिक्ष्वष्टाविंशतिसहस्रायतासु^१ विणमूत्रास्थि-केश-नख-त्वगाद्यभावः षष्ठातीतवाचनातः^२ आरात्पंचेन्द्रियशरीराद्रास्थि-त्वग्मांसासृक्संबन्धाभावश्च क्षेत्रशुद्धिः^३।

कालशुद्धिः — विद्युदिन्द्रधनुर्ग्रहोपरागाकालवृष्ट्यभ्रगर्जन-जीमूतव्रातप्रच्छाद-दिग्दाह-धूमिकापात-संन्यास-महोपवास-नन्दीश्वर-जिनमहिमाद्यभावः कालशुद्धिः।

अत्र कालशुद्धिकरणविधानमभिधास्ये। तं जहा-‘पच्छिमरत्तिसज्झायं खमाविय बहिं णिक्कलिय पासुवे भूमिपदेसे काओसग्गेण पुव्वाहिमुहो ट्ठाइदूण णवगाहापरियट्ठणकालेण पुव्वदिसं सोहिय पुणो पदाहिणेण पल्लट्ठिय ऐदणेव कालेण जम-वरुण सोमदिसासु सोहिदासु छत्तीसगाहुच्चारणकालेण। ३६। अट्ठसदुस्सासकालेण वा कालसुद्धी सम्पपदि। १०८। अवरणे वि एवं चेव कालसुद्धी कायव्वा। णवरि

यहाँ व्याख्यान करने वाले और सुनने वालों को भी द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की शुद्धि के साथ व्याख्यान और अध्ययन में प्रवृत्ति करना चाहिए, ऐसा अभिप्राय है।

इस वाचना की चार प्रकार से शुद्धिकरण के विधान को सिद्धान्तग्रंथ के पठन-पाठन में ही जानना चाहिए। इन सिद्धान्तग्रंथों के अध्ययन और अध्यापन का नियम भी मुनि-आर्यिकाओं के लिए ही मूलाचार में कहा गया है।

द्रव्यशुद्धि — उनमें ज्वर, कुक्षिरोग, शिरोरोग, कुत्सित स्वप्न, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, लेप, अतीसार और पीव का बहना इत्यादिकों का शरीर में न रहना द्रव्यशुद्धि कही जाती है।

क्षेत्रशुद्धि — व्याख्याता से अधिष्ठित प्रदेश से चारों ही दिशाओं में अट्ठाईस हाथ आयत क्षेत्र में विष्ठा, मूत्र, हड्डी, केश, नख और चमड़े आदि के अभाव को तथा छठी अतीत वाचना से समीप में पंचेन्द्रिय जीव के शरीर संबंधी गीली हड्डी, चमड़ा, मांस और रुधिर के संबंध के अभाव को क्षेत्रशुद्धि कहते हैं।

कालशुद्धि — बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्र का ग्रहण, अकालवृष्टि, मेघगर्जन, मेघों के समूह से आच्छादित दिशाएं, दिशादाह, धूमिकापात (कुहरा), संन्यास, महोपवास, नन्दीश्वरमहिमा और जिनमहिमा इत्यादि के अभाव को कालशुद्धि कहते हैं।

यहाँ कालशुद्धि करने के विधान को कहते हैं। वह इस प्रकार है — “पश्चिम रात्रि के स्वाध्याय को समाप्त करके बाहर निकलकर प्रासुक भूमिप्रदेश में कायोत्सर्ग से पूर्वाभिमुख स्थित होकर नौ गाथाओं के (सत्ताईस स्वासोच्छ्वास में नौ बार णमोकार मंत्र) उच्चारण काल से पूर्व दिशा को शुद्ध करके फिर प्रदक्षिणारूप से पलटकर इतने ही काल से (अर्थात् नौ-नौ बार णमोकार मंत्र पढ़कर) दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशाओं को शुद्ध कर लेने पर छत्तीस ३६ गाथाओं के उच्चारणकाल से अथवा एक सौ आठ १०८

१. ‘अष्टाविंशतिसहस्रायतासु’ एतस्य वाक्यस्यार्थो नावबुद्ध्यते। २. षष्ठातीतवाचनातः एतस्यापि वाक्यस्यार्थो न स्फुटति।

३. क्षेत्रे क्षेत्रतः षष्टिहस्ताभ्यन्तरे परिहरणीयं, न परतः। टीका-प्रवचनसारोद्धार गाथा १४६४। (टिप्पण्यां)।

एक्केक्काए दिसाए सत्त-सत्तगाहा परियट्टणेण परिच्छिण्णकाला त्ति गायव्वा। एत्थ सव्वगाहा पमाणमट्ठावीस। २८। चउरासीदिउस्सासा (८४)। पुणो अणत्थ मिदे दिवायरे खेत्तसुद्धिं काटूण अत्थमिदे कालसुद्धिं पुवं व कुज्जा। णवरि एत्थ कालो वीसगाहुच्चारणमेत्तो। २०। सट्ठिउस्सासमेत्तो वा। ६०। अवरत्ते णत्थि वायणा, खेत्तसुद्धिकरणोवायाभावादो।

ओहिमणपज्जवणाणीणं सयलंगसुदधराणमागासट्ठियचारणाणं मेरुकुलसेलगब्भट्ठियचारणाणं च अवरत्तियवायणा वि अत्थि अवगयखेत्तसुद्धीदो।

अवगयराग-दोसाहंकारट्ट-रुद्धज्झाणस्स पंचमहव्वयकलिदस्स तिगुत्तिगुत्तस्स णाणदंसणचरणादि-चारणवट्ठिदस्स भिक्खुस्स भावसुद्धी होदि।''

अत्र वाचनास्वाध्याये वैरात्रिकस्वाध्यायं अपरनामपश्चिमरात्रिकस्वाध्यायं निष्ठाप्य स्ववसतिकाया बहिः निष्क्रम्य प्रासुकभूमिप्रदेशे कायोत्सर्गेण पूर्वाभिमुखः स्थित्वा नवगाथापरिवर्तनकालेन सप्तविंशति-श्वासोच्छ्वासप्रमाणेन नववारं णमोकार महामंत्रं पठित्वा पूर्वदिशं शोधयित्वा पुनः प्रदक्षिणारूपेण परिवर्त्य एतेनैव कालेन — नव-नववार-णमोकारमंत्रजाप्येन दक्षिण-पश्चिम-उत्तरदिशासु शोधितासु षट्त्रिंशद्गाथोच्चारण-कालेन अष्टोत्तरशतोच्छ्वासकालेन वा कालशुद्धिः समाप्यते। अपराण्हेऽपि एवमेव कालशुद्धिः कर्तव्या।

उच्छ्वास काल से कालशुद्धि समाप्त होती है। अपरान्हकाल में भी इसी प्रकार की कालशुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है कि इस समय की कालशुद्धि एक-एक दिशा में सात-सात गाथाओं के उच्चारणकाल से सीमित है, ऐसा जानना चाहिए। यहाँ सब गाथाओं का प्रमाण अट्ठाईस अथवा उच्छ्वासों का प्रमाण चौरासी ८४ है। पश्चात् सूर्य के अस्त होने से पहले अर्थात् अपरान्ह स्वाध्याय के बाद क्षेत्रशुद्धि करके सूर्य के अस्त हो जाने पर अपरान्हकालीन सामायिक के अनन्तर पूर्व के समान कालशुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है कि यहाँ काल बीस २० गाथाओं के उच्चारण प्रमाण (अर्थात् प्रत्येक दिशा में पाँच-पाँच बार णमोकार मंत्र पढ़कर) अथवा साठ उच्छ्वास प्रमाण है। अपररात्रि अर्थात् रात्रि के पिछले भाग में वाचना नहीं की जाती है, क्योंकि उस समय क्षेत्रशुद्धि करने का कोई उपाय नहीं है।

अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, समस्तअंगश्रुत के धारक, आकाशस्थित चारण ऋद्धिधारक तथा मेरु व कुलाचलों के मध्य में स्थित चारण ऋषियों के अपररात्रि की वाचना भी है, क्योंकि वे क्षेत्रशुद्धि से रहित हैं, अर्थात् भूमि पर न रहने से उन्हें क्षेत्रशुद्धि करने की आवश्यकता नहीं होती।

राग, द्वेष, अहंकार, आर्त व रौद्र ध्यान से रहित, पाँच महाव्रतों से युक्त, तीन गुप्तियों से रक्षित तथा ज्ञान, दर्शन व चारित्र आदि आचार से वृद्धि को प्राप्त भिक्षुक — यति के भावशुद्धि होती है।

यहाँ वाचना नामक स्वाध्याय में वैरात्रिक स्वाध्याय जिसका दूसरा नाम पश्चिमरात्रिक स्वाध्याय है, उस स्वाध्याय को समापन करके अपनी वसतिका से बाहर निकलकर प्रासुक भूमिप्रदेश में कायोत्सर्ग आसन से पूर्व दिशा की ओर मुख करके खड़े होकर नौ गाथा परिवर्तनकाल में सत्ताईस स्वासोच्छ्वासप्रमाण से नौ बार णमोकार महामंत्र को पढ़कर पूर्व दिशा की शुद्धि करके पुनः प्रदक्षिणारूप से परिवर्तन करके इतने ही काल से (अर्थात् सत्ताईस स्वासोच्छ्वासपूर्वक) नौ-नौ बार णमोकारमंत्र के जाप्य को करके दक्षिण, पश्चिम और उत्तरदिशा में कुल छत्तीस णमोकार मंत्र की गाथाप्रमाण उच्चारण काल के द्वारा अथवा एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास काल से कालशुद्धि सम्पन्न की जाती है। अपरान्हकालीन वाचना स्वाध्याय हेतु भी इसी प्रकार

नवरि — एकैकस्यां दिशायां सप्त-सप्त गाथा परिवर्तनेन परिमितकाला इति ज्ञातव्या। अत्र सर्वगाथाप्रमाण-मष्टाविंशतिः चतुरशीत्युच्छ्वासाः भवन्ति। पुनः अनस्तमिते दिवाकरे क्षेत्रशुद्धिं कृत्वा अस्तमिते सूर्ये कालशुद्धिं पूर्ववत् कुर्यात्। नवरि — अत्र कालो विंशतिगाथोच्चारणमात्रः षष्ठ्युच्छ्वासमात्रो वा। अपररात्रौ वाचना नास्ति, क्षेत्रशुद्धिकरणोपायाभावात्। किन्तु अवधिज्ञानि-मनःपर्ययज्ञानिमुनीनां सकलांगश्रुतधारिणां आकाशस्थितचारणमुनीनां मेरुकुलशैलमध्यस्थितचारणर्द्धिसहितानां च अपररात्रिकवाचनापि अस्ति अपगतक्षेत्रशुद्धेः किं चैतेषां महासाधूनां क्षेत्रशुद्धेरावश्यकता नास्ति^१।

इतो विस्तरोऽवगन्तव्यः —

मुनीनां आवश्यकक्रियासु अष्टाविंशतिकृतिकर्माणि भवन्ति। आचारग्रंथेषु मूलाचारानगारधर्माभूताचार-सारादिषु कथितमस्ति।

उक्तं च मूलाचारे —

“चत्वारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होति सज्झाए।

पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होति॥६०२॥

आचारवृत्तिटीका — ‘सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतितीर्थकरस्तवपर्यन्तः कृतिकर्मैत्युच्यते। प्रतिक्रमणकाले चत्वारि क्रियाकर्माणि स्वाध्यायकाले च त्रीणि क्रियाकर्माणि भवन्त्येवं पूर्वाण्हे क्रियाकर्माणि सप्त तथापराण्हे च क्रियाकर्माणि सप्तैवं पूर्वाण्हेऽपराण्हे च क्रियाकर्माणि चतुर्दश भवन्तीति। शेषाणां

से कालशुद्धि करना चाहिए। केवल विशेषता यह है कि इस वाचना में एक-एक दिशा में सात-सात बार णमोकार मंत्र की गाथा पठनप्रमाणकाल होता है, ऐसा जानना चाहिए। यहाँ सभी गाथाओं का प्रमाण $७ \times ४ = २८$ अट्ठाईस और चौरासी (८४) स्वासोच्छ्वास होते हैं। पुनः सूर्यास्त से पूर्व क्षेत्रशुद्धि करके पूर्वरात्रि के वाचना संबंधी कालशुद्धि पूर्ववत् करना चाहिए। विशेषतया यह कालशुद्धि का काल बीस गाथा उच्चारणमात्र अथवा साठ स्वासोच्छ्वासमात्र होता है। अपररात्रि में सिद्धान्तवाचना नहीं होती है, क्योंकि उस समय क्षेत्रशुद्धि को करने का उपाय नहीं पाया जाता है। किन्तु अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी मुनियों के, सम्पूर्ण अंगश्रुतज्ञानधारी मुनियों के, आकाश में गमन करने वाले चारण मुनियों के और मेरुपर्वत — कुलाचलपर्वतों के मध्य रहने वाले चारणऋद्धि समन्वित मुनियों के अपररात्रिक वाचना स्वाध्याय भी होता है। वे क्षेत्रशुद्धि से रहित होते हैं, क्योंकि उन महासाधुओं को क्षेत्रशुद्धि की आवश्यकता नहीं होती है।

इस विषय का विस्तृत कथन भी जानने योग्य है —

मुनियों की आवश्यक क्रियाओं में अट्ठाईस कृतिकर्म होते हैं। मूलाचार, अनगारधर्माभूत एवं आचारसार आदि आचारग्रंथों में कहा है।

जैसा कि मूलाचार में कहा है —

गाथार्थ — प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म, स्वाध्याय में तीन ये पूर्वाह्न और अपराह्न से संबंधित ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं॥

आचारवृत्ति टीका — सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशति तीर्थकरस्तवपर्यंत जो क्रिया है, उसे ‘कृतिकर्म’ कहते हैं। प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म और स्वाध्याय में तीन कृतिकर्म इस तरह पूर्वाह्न संबंधी कृतिकर्म सात होते हैं तथा अपराह्न संबंधी भी सात कृतिकर्म होते हैं, ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं। शेष वन्दना आदि क्रियाओं का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रधान पद का ग्रहण किया है, जिससे पूर्वाह्न कहने

वंदनादिक्रियाकर्मणामत्रैवान्तर्भावो द्रष्टव्यः। प्रधानपदोच्चारणं कृतं यतः पूर्वाणहे दिवस इति एवमपराणहे रात्रावपि द्रष्टव्यं भेदाभावात्। अथवा—

पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे क्रियाकर्माणि चत्वारि स्वाध्याये त्रीणि वंदनायां द्वे, सवितर्युदिते स्वाध्याये त्रीणि मध्याह्नवंदनायां द्वे एवं पूर्वाणहक्रियाकर्माणि चतुर्दश भवन्ति। तथाऽपराणहवेलायां स्वाध्याये त्रीणि क्रियाकर्माणि प्रतिक्रमणे चत्वारि वंदनायां द्वे योगभक्तिग्रहणोपसंहारकालयोः द्वे रात्रौ प्रथमस्वाध्याये त्रीणि। एवमपराणह- क्रियाकर्माणि चतुर्दश भवन्ति प्रतिक्रमणस्वाध्यायकालयोरुपलक्षणत्वादिति^१।।''

अन्यस्मिन् ग्रन्थेऽस्य कृतिकर्मणः कायोत्सर्ग इति नामापि कथ्यते। तथाहि—

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्-वन्दनेऽष्टौ प्रतिक्रमे।

कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचराः^२।।७५।।

अस्मिन्नेव शास्त्रे मुनीनामार्यिकाणां चाहोरात्रचर्या कथितास्ति।

कश्चिदपि साधुः साध्वी वा अर्द्धरात्रौ न्यूनतमद्विमुहूर्तपर्यन्तं योगनिद्रया विश्रम्य—निद्रां गृहीत्वोत्थाय महामन्त्रं स्मृत्वा पश्चिमरात्रिकं स्वाध्यायं प्रतिष्ठाप्य सूर्योदयात् घटिकाद्वयावशेषे स्वाध्यायं निष्ठाप्य पूर्वाणहवाचनाहेतोः नव-नवगाथाभिः प्रदक्षिणाक्रमेण चतुर्दिशो विशोधयेत्।

सिद्धान्तग्रन्थवाचनाहेतोः दिक्शुद्धिविधानं वर्णितमस्ति अन्यत्रापि ग्रंथे—

से दिवस का और अपरान्ह कहने से रात्रि का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि पूर्वान्ह से दिवस में और अपरान्ह से रात्रि में कोई भेद नहीं है।

अथवा पश्चिम रात्रि के प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म, स्वाध्याय में तीन और वंदना में दो, सूर्य उदय होने के बाद स्वाध्याय के तीन, मध्याह्न वंदना के दो इस प्रकार से पूर्वाणह संबंधी चौदह कृतिकर्म चौदह होते हैं तथा अपरान्हबेला में स्वाध्याय में तीन कृतिकर्म, प्रतिक्रमण में चार, वंदना में दो, योगभक्ति ग्रहण और उपसंहार में दो एवं रात्रि में प्रथम स्वाध्याय के तीन इस तरह अपरान्ह संबंधी चौदह कृतिकर्म होते हैं। प्रतिक्रमण और स्वाध्याय काल उपलक्षणरूप है।

अन्य ग्रंथ (अनगारधर्मावृत) में इस कृतिकर्म का कायोत्सर्ग यह नाम भी कहा गया है। जो इस प्रकार है—

श्लोकार्थ—स्वाध्याय में बारह, वंदना में छह, प्रतिक्रमण में आठ और योगभक्ति में दो इस प्रकार अहोरात्र संबंधी १२+६+८+२=२८ अट्ठाईस कायोत्सर्ग होते हैं।।७५।।

इसी अनगारधर्मावृत शास्त्र में मुनि-आर्यिकाओं की अहोरात्र—दिन और रात में करने योग्य सम्पूर्ण चर्या कही है।

कोई भी साधु अथवा साध्वी अर्द्ध रात्रि में कम से कम दो मुहूर्त अर्थात् डेढ़ घंटे तक योगनिद्रापूर्वक विश्राम करके—नींद लेकर (सोकर) पुनः नींद से उठकर सर्वप्रथम महामन्त्र णमोकार को पढ़कर पश्चिमरात्रिक स्वाध्याय की प्रतिष्ठापना करके सूर्योदय से दो घड़ी शेष रहने पर अर्थात् सूर्योदय से ४८ मिनट पहले स्वाध्याय का निष्ठापन करके पूर्वाणहकालीन वाचना हेतु नौ-नौ गाथा—णमोकार मंत्रों के द्वारा प्रदक्षिणाक्रम से चारों दिशाओं की शुद्धि करें।

सिद्धान्तग्रंथ की वाचना हेतु दिक्शुद्धि का विधान अन्य ग्रंथों में भी बताया है—

“णवसत्तपंचागाहा-परिमाणं दिसिविभागसोहीए।

पुव्वणहे अवरणहे पदोसकाले य सज्झाए॥१२७३॥

दिशां विभागो दिग्विभागस्तस्य शुद्धिरुल्कापातादिरहितत्वं दिग्विभागशुद्धेर्निमित्तं कायोत्सर्गमास्थाय प्रतिदिशं पूर्वाणहकाले स्वाध्यायविषये नव नव गाथापरिमाणं जाप्यं। तत्र यदि दिशादाहादीनि भवन्ति तदा कालशुद्धिर्न भवतीति वाचनाभंगो भवति। एषा कालशुद्धी रात्रि-पश्चिमयामस्वाध्याये कर्तव्या। एवमपराणहे स्वाध्यायनिमित्तं कायोत्सर्गमास्थाय प्रतिदिशं सप्त-सप्तगाथापरिमाणं पाठ्यं। अपराणहस्वाध्याये तथा प्रदोषवाचनानिमित्तं पंच पंच गाथाप्रमाणं प्रतिदिशं घोष्यमिति। सर्वत्र दिशादाहाद्यभावे कालशुद्धिरिति^१।

एवं दिक्शुद्धिविधिं कृत्वा रात्रिकप्रतिक्रमणं विधाय योगभक्त्या रात्रियोगं समापयेत्। ततः भास्करोदये द्विघटिकापर्यन्तं देववन्दनामपरनामसामायिकं कृत्वा गुरुवंदनां कुर्यात्।

तदनु बहिर्गमनादिक्रियाया निवृत्य पौर्वाण्हकस्वाध्यायं प्रारभ्य द्विघटिकावशेषे मध्याह्ने स्वाध्यायं समाप्य अपराणहवाचनाहेतोः पूर्वकथितविधिना दिक्शुद्धिं कृत्वा मध्याह्नदेववंदनां गुरुवंदनां च कृत्वा आहारार्थं निर्गच्छेत्। यदि उपवासो भवेत्तर्हि जाप्यादिकं कुर्यात्।

मध्याह्नसामायिकानन्तरं आहारचर्याविधिर्मूलाचारेऽपि लिखितं वर्तते। तथाहि—

“मध्याह्नदेववंदनां कृत्वा पूर्णोदरबालकान् भिक्षाहारान् काकादिबलीनन्यानपि लिंगिनो भिक्षावेलायां ज्ञात्वा प्रशान्ते धूममुशलादिशब्दे गोचरं प्रविशेन्मुनिः^२।”

गाथार्थ — पूर्वाणह, अपराणह और प्रदोषकाल के स्वाध्याय करने में दिशाओं के विभाग की शुद्धि के लिए नव, सात और पाँच बार गाथा प्रमाण णमोकार मंत्र को पढ़ें।

दिशाओं का विभाग दिग्विभाग है। उसकी शुद्धि अर्थात् दिशाओं का उल्कापात आदि से रहित होना। पूर्वाणह काल के स्वाध्याय के विषय में इस दिग्विभाग की शुद्धि के निमित्त प्रत्येक दिशा में कायोत्सर्ग से स्थित होकर नव-नव गाथा परिमाण जाप्य करना चाहिए। उसमें यदि दिशादाह आदि होते हैं तब कालशुद्धि नहीं होती है। इसलिए वाचना भंग होती है अर्थात् वाचना नामक स्वाध्याय नहीं किया जाता है। यह कालशुद्धि रात्रि के पश्चिम भाग में अस्वाध्याय काल में करना चाहिए। इसी प्रकार पौर्वाणहकालीन स्वाध्याय के अनंतर अपराणह स्वाध्याय के निमित्त कायोत्सर्ग में स्थित होकर प्रत्येक दिशा में सात-सात गाथा प्रमाण अर्थात् सात-सात बार णमोकार मंत्र पढ़ना चाहिए तथा अपराणह स्वाध्याय के अनन्तर प्रदोषकाल — पूर्वात्रि की वाचना के निमित्त पाँच-पाँच बार णमोकार मंत्र प्रत्येक दिशा में बोलना चाहिए। सर्वत्र दिशादाह आदि के अभाव में कालशुद्धि होती है।

इस प्रकार दिक्शुद्धि करके पुनः रात्रिकप्रतिक्रमण करके योगभक्ति पढ़कर रात्रियोग का समापन करें। उसके पश्चात् सूर्योदय होने पर दो घड़ी पश्चात् तक देववंदना अपरनाम सामायिक करके गुरुवंदना करना चाहिए।

उसके बाद बहिर्गमन-शौच आदि क्रियाओं से निवृत्त होकर पौर्वाण्हक स्वाध्यायप्रारंभ करके मध्याह्न में दो घड़ी शेष रहने पर स्वाध्याय समाप्त करके अपराणहकालीन वाचना हेतु पूर्वकथित विधि से दिक्शुद्धि करके मध्याह्नकालिक देववंदना और गुरुवंदना करके आहारचर्या हेतु निकलें। यदि उपवास हो तो जाप्यादिक कर लेना चाहिए।

मध्याह्न सामायिक के अनन्तर आहारचर्या की विधि मूलाचार में भी लिखी है। जो इस प्रकार है —

“मध्याह्नकाल की देववंदना — सामायिक करें अर्थात् मध्याह्न के पहले दो घड़ी जो शेष रही थी, उसमें सामायिक करें। पुनः जब बालक भोजन करके निकलते हैं, काक आदि को बलि (दाने आदि) भोजन

तदनु गोचरीं कृत्वागत्य गोचरप्रतिक्रमणं विधाय गुरोः सकाशे प्रत्याख्यानं गृण्हीयात्। पुनः अपराण्हिक-स्वाध्यायं प्रतिष्ठाप्य मुहूर्तावशेषे सूर्यास्ते स्वाध्यायं समाप्य पूर्वरात्रिकवाचनाहेतोः पूर्वकथितविधिना पंचपंचवारान् महामन्त्रैः दिक्शुद्धिं कृत्वा दैवसिकप्रतिक्रमणं कुर्यात्। ततस्तदानीमेव सायंकालीनगुरुवंदनां विदध्यात्।

अनंतरं अपराण्हदेववंदनां कृत्वा पूर्वरात्रिकस्वाध्यायं विधिना विधाय द्विघटिकावशेषेऽर्द्धरात्रौ एकत्वभावनां भावयन् शरीरक्लमापनोदार्थं निद्रां गृण्हीयात्।

पश्चिमरात्रिकस्वाध्यायार्थं निद्रातः प्राग्दिक्शुद्धिः किन्न कारिता ?

न कारिता, किंच मध्यरात्र्यनन्तरं सिद्धान्तवाचनास्वाध्यायाभावात् पूर्वरात्रिकस्वाध्यायानन्तरं दिक्शुद्धेरावश्यकता एव नास्तीति ज्ञातव्यं। सा वाचनापि अवधिमनःपर्ययादिज्ञानिमहामुनीनामेव संभवतीति श्रीमद्वीरसेनाचार्येण स्वयमेव प्रोक्तं।

आभिश्चतसृभिः शुद्धिभिः सह अन्या अपि शुद्ध्यः कथिताः सन्ति धवलाटीकायां।

अत्रोपयोगिश्लोकास्त एव प्रोच्यन्ते—

यमपटहरवश्रवणे रुधिरस्त्रावेऽगतोऽतिचारे च।

दातृष्वशुद्धकायेषु भुक्तवति चापि नाध्येयम्॥१॥

डाला जाता है और भिक्षा के लिए अन्य सम्प्रदायवाले साधु भी विचरण कर रहे होते हैं तथा गृहस्थों के घर में धुआं और मूसल आदि शब्द शान्त हो चुका होता है अर्थात् भोजन बनाने का कार्य पूर्ण हो चुका होता है, इन सब कारणों से मुनि आहार की बेला जानकर गोचरी के लिए निकले।

नोट—वर्तमान में साधुओं की आहारचर्या मध्याह्न की सामायिक से पूर्व (लगभग प्रातः ९ से ११.३० बजे के मध्य) होती है।

उसके पश्चात् गोचरी — आहारचर्या करके वापस आकर गोचरप्रतिक्रमण करके गुरु के पास प्रत्याख्यान (अगले दिन आहार करने तक चतुर्विध आहार का त्याग करना प्रत्याख्यान है) ग्रहण करें। पुनः अपराण्हिक स्वाध्याय का प्रतिष्ठापन करके सूर्यास्त से एक मुहूर्त पहले स्वाध्याय को समाप्त करके पूर्वरात्रिकवाचना के लिए पूर्वकथित विधि से चारों दिशाओं में पाँच-पाँच बार महामन्त्र पाठ के द्वारा दिक्शुद्धि करके दैवसिक प्रतिक्रमण करें, पुनः उसी समय सायंकालीन गुरुवंदना करें।

उसके पश्चात् अपराण्हकालीन देववंदना करके विधिपूर्वक पूर्वरात्रिक स्वाध्याय को करके अर्द्धरात्रि में दो घड़ी शेष रहने पर स्वाध्याय को समापन करके एकत्व भावना को भाते हुए शारीरिक श्रम को दूर करने हेतु निद्रा ग्रहण करें— शयन करें।

प्रश्न—निद्रा से पहले पश्चिमरात्रिक स्वाध्याय के लिए दिक्शुद्धि करने की बात क्यों नहीं कराई गई है ?

उत्तर—नहीं कराई गई है, क्योंकि मध्यरात्रि के पश्चात् सिद्धान्त ग्रंथों की वाचना का अभाव है, इसीलिए पूर्वरात्रिक स्वाध्याय के अनन्तर दिक्शुद्धि की आवश्यकता ही नहीं है, ऐसा जानना चाहिए। वह सिद्धान्त वाचना भी अवधि-मनःपर्ययज्ञानी आदि महामुनियों के ही संभव होती है, ऐसा श्री वीरसेनाचार्य ने स्वयं ही कहा है।

इन चार शुद्धियों के साथ अन्य प्रकार की शुद्धि भी धवला टीका में कही है। यहाँ वे ही उपयोगी श्लोक प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

श्लोकार्थ—यमपटह का शब्द सुनने पर, अंग से रक्तस्राव के होने पर, अतिचार के होने पर तथा दातारों के अशुद्धकाय होते हुए उनके द्वारा दिये गये भोजन को कर लेने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए॥१॥

तिलपलल-पृथुक-लाजा-पूपादिस्निग्धसुरभिगंधेषु।
 भक्तेषु भोजनेषु च दावाग्निधूमे च नाध्येयम्॥२॥
 योजनमंडलमात्रे सन्यासविधौ महोपवासे च।
 आवश्यकक्रियायां केशेषु च लुच्यमानेषु॥३॥
 सप्तदिनान्यध्ययनं प्रतिषिद्धं स्वर्गगते श्रमणसूरौ।
 योजनमात्रे दिवसत्रितयं, त्वतिदूरतो दिवसम्॥४॥

आवश्यकक्रियावसरादिषु स्वाध्यायनिषेधं आचारसारेऽपि कथितं अस्तितथैव प्रोक्तं—

सर्वपर्वक्रियावश्यकक्रियावसरादिभिः ।

व्यपेतता भवेत्काले कालशुद्धिर्विशुद्धिदा^१॥७१॥

पुनश्च—

प्राणिनि च तीव्रदुःखान् म्रियमाणे स्फुरति चातिवेदनया।

एकनिवर्तनमात्रे तिर्यक्षु चरत्सु च न पाठ्यम्॥५॥

तावन्मात्रे स्थावरकायक्षयकर्मणि प्रवृत्ते च।

क्षेत्राशुद्धौ दूराद् दुर्गन्धे वातिकुणपे वा॥६॥

विगतार्थागमने वा स्वशरीरे शुद्धिवृत्तिविरहे वा।

नाध्येयः सिद्धान्तः शिवसुखफलमिच्छता व्रतिना॥७॥

तिलमोदक, चिउड़ा, लाई और पुआ आदि चिक्कण—तले हुए पकवान्न आदि गरिष्ठ भोजन एवं सुगंधित भोजनों के खाने पर तथा दावानल का धुआं होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए॥२॥

एक योजन के घेरे में संन्यासविधि, महोपवासविधि, आवश्यकक्रिया एवं केशों का लोंच होने पर तथा आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिन तक अध्ययन का प्रतिषेध है॥३॥

पूर्वकथित घटनाओं के एक योजनमात्र में होने पर तीन दिन तक तथा अत्यन्त दूर होने पर एक दिन तक सिद्धान्त ग्रंथों की वाचना निषिद्ध होती है॥४॥

आचारसार ग्रंथ में भी आवश्यक क्रिया के अवसर आदि समयों में सिद्धान्त ग्रंथों के स्वाध्याय का निषेध किया है, उसी को कहते हैं—

श्लोकार्थ—सभी पर्वों के अवसर पर की जाने वाली क्रियाओं के समय, किन्हीं आवश्यक क्रिया के अवसर आदि में (पंचकल्याणक महामहोत्सव आदि में) वाचना का अकाल होता है तथा इनसे अतिरिक्त काल में कालशुद्धिपूर्वक की गई वाचना आत्मविशुद्धि को प्रदान करती है॥७१॥

पुनश्च—

श्लोकार्थ—प्राणी के तीव्र दुःख से मरणासन्न होने पर या अत्यन्त वेदना से छटपटाने पर तथा एक निवर्तन (एक बीघा या गुंठा) मात्र में तिर्यचों का संचार होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए॥५॥

उतने मात्र में स्थावरकाय जीवों के घात रूप कार्य में प्रवृत्त होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर, दूर से सुगंधि आने पर अथवा अत्यन्त सड़ी गंध के आने पर, ठीक अर्थ समझ में न आने पर अथवा अपने शरीर के शुद्धि से रहित होने पर मोक्षसुख के चाहने वाले व्रती—साधु पुरुष को सिद्धान्त ग्रन्थ का अध्ययन नहीं

प्रमितिररत्तिशतं स्यादुच्चारविमोक्षणक्षितेरात्।

तनुसलिलमोक्षणेऽपि च पंचाशदरत्तिरेवातः॥८॥

मानुषशरीरलेशावयवस्याप्यत्र दण्डपंचाशत्।

संशोध्य तिरश्चां तदर्द्धमात्रैव भूमिः स्यात्॥९॥

व्यन्तरभेरीताडन-तत्पूजासंकटे कर्षणे वा।

संमृक्षण-संमार्जन-समीपचाण्डालबालेषु॥१०॥

अग्निजलरुधिरदीपे मांसास्थिप्रजनने तु जीवानां।

क्षेत्रविशुद्धिर्न स्याद-यथोदितं सर्वभावज्ञैः॥११॥

क्षेत्रं संशोध्य पुनः स्वहस्तपादौ विशोध्य शुद्धमनाः।

प्रासुकदेशावस्थो गृण्हीयाद् वाचनां पश्चात्॥१२॥

युक्त्या समधीयानो वक्षणकक्षाद्यमस्पृशन् स्वाङ्गम्।

यत्नेनाधीत्य पुनर्यथाश्रुतं वाचनां मुञ्चेत्॥१३॥

तपसि द्वादशसंख्ये स्वाध्यायः श्रेष्ठ उच्यते सद्भिः।

अस्वाध्यायदिनानि ज्ञेयानि ततोऽत्र विद्वद्भिः॥१४॥

पर्वसु नन्दीश्वरवर-महिमादिवसेषु चोपरागेषु।

सूर्याचन्द्रमसोरपि नाध्येयं जानता व्रतिना॥१५॥

करना चाहिए॥६-७॥

मल छोड़ने की भूमि से सौ अरत्ति प्रमाण दूर, तनुसलिल अर्थात् मूत्र के छोड़ने में भी इस भूमि से पचास अरत्ति दूर, मनुष्यशरीर से लेशमात्र अवयव के स्थान से पचास धनुष, तथा तिर्यचों के शरीरसंबन्धी अवयव के स्थान से उसे आधी मात्र अर्थात् पच्चीस धनुष प्रमाण भूमि को शुद्ध करना चाहिए॥८-९॥

व्यन्तरो के द्वारा भेरीताड़न होने पर, उनकी पूजा का संकट होने पर, कर्षण के होने पर, चाण्डाल बालकों के समीप में होने पर, झाड़ा-बुहारी होने पर, अग्नि, जल व रुधिर की तीव्रता होने पर तथा जीवों के मांस व हड्डियों के निकाले जाने पर क्षेत्र की विशुद्धि नहीं होती है। जैसा कि सर्वज्ञों ने कहा है॥१०-११॥

क्षेत्र की शुद्धि करने के पश्चात् अपने हाथ और पैरों को शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मन से युक्त होकर प्रासुक देश में स्थित होकर वाचना को ग्रहण करे॥१२॥

बाजू और कांख आदि अपने अंग का स्पर्श न करते हुए उचित रीति से अध्ययन करे और यत्नपूर्वक अध्ययन करके पश्चात् शास्त्रविधि से वाचना को छोड़ दें — पूर्ण करें॥१३॥

साधु पुरुषों ने बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय को श्रेष्ठ कहा है। इसीलिए विद्वानों को स्वाध्याय न करने के दिनों को — अस्वाध्यायकाल को जानना चाहिए॥१४॥

पर्वदिनों (अष्टमी व चतुर्दशी आदि), नन्दीश्वर के श्रेष्ठ महिमदिवसों अर्थात् अष्टान्हिक के दिनों में और सूर्य-चन्द्र का ग्रहण होने पर विद्वान् व्रती को अध्ययन नहीं करना चाहिए॥१५॥

अष्टम्यामध्ययनं गुरु-शिष्यद्वयवियोगमावहति।

कलहं तु पौर्णमास्यां करोति विघ्नं चतुर्दश्याम्॥१६॥

कृष्णचतुर्दश्यां यद्यधीयते साधवो ह्यमावस्यायाम्।

विद्योपवासविधयो विनाशवृत्तिं प्रयान्त्यशेषं सर्वे॥१७॥

मध्याह्ने जिनरूपं नाशयति करोति संध्योर्व्याधिम्।

तुष्यन्तोऽप्यप्रियतां मध्यमरात्रौ समुपयान्ति॥१८॥

अतितीव्रदुःखितानां रुदतां संदर्शने समीपे च।

स्तनयितुविद्युदभ्रेष्वतिवृष्ट्या उल्कनिर्घाते^१॥१९॥

सिद्धान्तग्रंथस्याध्ययनं न कर्तव्यमिति संबंधो विज्ञेयः।

श्रीकुन्दकुन्ददेवो ब्रवीति—

दवादिबदिककमणं करोदि सुत्तथसिक्खलोहेण।

असमाहिमसज्झायं कलहं वाहिं वियोगं च^२॥१७१॥

किं च कालशुद्ध्यादिभिः शास्त्रं पठितं कर्मक्षयाय भवत्यन्यथा कर्मबन्धायेति^३।

कानीमानि शास्त्राणि यानि द्रव्यादिशुद्धिभिर्विना पठितुं न शक्यन्ते ?

सिद्धान्तग्रंथसूत्राण्येव न पठितुं युज्यन्ते शेषशास्त्राणां पठन-पाठनयोर्नास्ति दोषः।

अष्टमी में अध्ययन गुरु और शिष्य दोनों के वियोग को करता है। पूर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह और कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के दिन किया गया अध्ययन विघ्न को करता है॥१६॥

यदि साधुजन कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते हैं तो विद्या और उपवासविधि सब विनाशवृत्ति को प्राप्त होते हैं॥१७॥

मध्याह्नकाल में किया गया अध्ययन जिनरूप को नष्ट करता है, दोनों संध्याकालों में किया गया अध्ययन व्याधि को करता है तथा मध्यम रात्रि में किये गये अध्ययन से अनुरक्त जन भी द्वेष को प्राप्त होते हैं॥१८॥

अतिशय तीव्र दुख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या समीप में होने पर, मेघों की गर्जना व बिजली के चमकने पर और अतिवृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए॥१९॥

अर्थात् इन श्लोकों के द्वारा कथित दिनों में सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन नहीं करना चाहिए, ऐसा संबंध सभी जगह जोड़ लेना चाहिए।

श्री कुन्दकुन्द ने भी इस विषय में कहा है—

गाथार्थ—यदि सूत्र के अर्थ की शिक्षा के लोभ से द्रव्य, क्षेत्र आदि का मुनिजन उल्लंघन करते हैं, तो वे असमाधि, अस्वाध्याय, कलह, रोग और वियोग को प्राप्त करते हैं॥१७१॥

क्योंकि काल आदि शुद्धि से पढ़ा गया शास्त्र कर्मक्षय के लिए होता है। अन्यथा कर्मबंध के लिए होता है।

प्रश्न—वे कौन से शास्त्र हैं, जो द्रव्यादि की शुद्धि के बिना नहीं पढ़े जा सकते हैं ?

उत्तर—सिद्धान्तग्रंथों के सूत्र ही द्रव्यादि की शुद्धि के बिना नहीं पढ़े जा सकते हैं, इनके अतिरिक्त शेष

उक्तं च कुन्दकुन्ददेवेन—

सुत्तं गणहरकहिदं तहेव पत्तेयबुद्धकहिदं च।

सुदकेवलिणा कहिदं अभिण्णदसपुव्वकहिदं च॥२७७॥

सूत्रं—अंगपूर्ववस्तुप्राभृतादि गणधरदेवैः कथितं सर्वज्ञमुखकमलादर्थं गृहीत्वा ग्रन्थस्वरूपेण रचितं गौतमादिभिः। तथैवेकं कारणं प्रत्याश्रित्य बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः। धर्मश्रवणाद्युपदेशमन्तरेण चारित्रावरणादि-क्षयोपशमात् ग्रहणोल्लापातादिदर्शनात् संसारस्वरूपं विदित्वा गृहीतसंयमाः प्रत्येकबुद्धास्तैः कथितं। श्रुतकेवलिना कथितं रचितं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वधरेणोपदिष्टं। अभिन्नानि रागादिभिरपरिणतानि दशपूर्वाणि उत्पादपूर्वादीनि येषां तेऽभिन्नदशपूर्वास्तैः कथितं प्रतिपादितमभिन्नदशपूर्वकथितं च सूत्रमिति संबंधः।

एतत्सूत्रग्रन्थस्य पठनेऽधिकारिणः के के सन्तीति चेत् ?

श्रीमत्कुन्दकुन्ददेवरचितगाथया एवावगन्तव्यम्।

तं पढिदुमसज्झाए णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।

एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए॥२७८॥

तत्सूत्रं पठितुमस्वाध्याये न कल्प्यते न युज्यते विरतवर्गस्य संयतसमूहस्य स्त्रीवर्गस्य चार्यिकावर्गस्य च। इतोऽस्मादन्यो ग्रंथः कल्प्यते पठितुमस्वाध्यायेऽन्यत्पुनः सूत्रं कालशुद्ध्याद्यभावेऽपि युक्तं पठितुमिति।

शास्त्रों के पठन-पाठन में कोई दोष नहीं है।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने भी कहा है—

गाथार्थ—गणधरदेव द्वारा कथित, प्रत्येकबुद्धि ऋद्धिधारी द्वारा कथित, श्रुतकेवली द्वारा कथित और अभिन्न दशपूर्वी ऋषियों द्वारा कथित ग्रन्थ को सूत्र कहते हैं॥२७७॥

सर्वज्ञदेव के मुखकमल से निकले हुए अर्थ को ग्रहण कर गौतम देव आदि गणधर देवों द्वारा ग्रंथरूप से रचित जो अंग, पूर्व, वस्तु और प्राभृतक आदि हैं, वे सूत्र कहलाते हैं। जो किसी एक कारण को निमित्त करके प्रबुद्ध हुए हैं, वे प्रत्येक बुद्ध हैं अर्थात् जो धर्मश्रवण आदि उपदेश के बिना ही चारित्र के आचरण करने वाले ऐसे चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से बोध को प्राप्त हुए हैं, जिन्होंने ग्रहण—सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण या उल्लापात आदि देखने से संसार के स्वरूप को जानकर संयम ग्रहण किया है, वे प्रत्येक बुद्ध हैं। अर्थात् प्रत्येकबुद्धि नाम की एक प्रकार की ऋद्धि से सहित जो महर्षि हैं, उनके द्वारा कथित शास्त्र सूत्रसंज्ञक है। उसी प्रकार से द्वादशांग और चौदहपूर्व ऐसे सम्पूर्ण श्रुत के धारक जो श्रुतकेवली हैं, उनके द्वारा कथित-उपदिष्ट-रचितशास्त्र भी सूत्र संज्ञक हैं। जो ग्यारह अंग और उत्पादपूर्व से लेकर विद्यानुवाद नामक दशवें पूर्व को पढ़कर पुनः रागादि भावों में परिणत नहीं हुए हैं, वे अभिन्न दशपूर्वी हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित शास्त्र भी सूत्र हैं, ऐसा समझना।

इन सूत्र ग्रंथों को पढ़ने के अधिकारी कौन-कौन हैं ?

श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित गाथा से ही इसे जानना चाहिए।

गाथार्थ—अस्वाध्याय काल में मुनिवर्ग और आर्यिकाओं को इन सूत्र ग्रंथ का पढ़ना ठीक नहीं है। इनसे भिन्न अन्य ग्रंथ को अस्वाध्याय काल में पढ़ सकते हैं॥२७८॥

इसकी आचारवृत्ति टीका में कहा है कि—विरतवर्ग अर्थात् संयतसमूह को और स्त्रीवर्ग अर्थात् आर्यिकाओं को अस्वाध्यायकाल में—पूर्वोक्त काल शुद्धि आदि से रहित काल में इन सूत्रग्रंथों का स्वाध्याय

किं तत्सूत्रमित्यत आह —

आराहणणिज्जुत्ती मरणविभक्ती य संगहत्थुदिओ।

पच्चक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसओ॥२७९॥

आराधना — सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामुद्योतनोद्यवननिर्वाहणसाधनादीनि तस्या निर्युक्तिराधना-निर्युक्तिः। मरणविभक्तिः सप्तदशमरणप्रतिपादकग्रंथरचना। संग्रहः पंचसंग्रहादयः। स्तुतयः देवागम-परमेष्ठ्यादयः। प्रत्याख्यानं त्रिविधचतुर्विधाहारादिपरित्यागप्रतिपादनो ग्रंथः सावद्यद्रव्यक्षेत्रादिपरिहारप्रतिपादनो वा। आवश्यकः सामायिक-चतुर्विंशतिस्तववन्दनादिस्वरूपप्रतिपादको ग्रंथः। धर्मकथास्त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरितानि द्वादशानुप्रेक्षादयश्च। ईदृग्भूतोऽन्योऽपि ग्रंथः पठितुमस्वाध्यायेऽपि च युक्तः।^१

ये केचित्कथयन्ति — मुनय एव सिद्धान्तग्रंथाध्ययनस्याधिकारिणः न चार्थिकास्तैरपि एताः गाथाः विलोक्य निश्चेतव्यं यत् ‘इत्थिवग्गस्स’ श्रीकुन्दकुन्दरचितमूलाचारस्य वाक्यस्यार्थो टीकायां श्रीमद्वसु-नन्दिसिद्धान्तविद् आचार्यदेवेन कथितं “आर्थिकावर्गस्येति” अत एव आर्थिका यदि चतुरनुयोगग्रंथपठन-पाठनकुशलास्तर्हि सिद्धान्तग्रंथाध्ययनाध्यापनलेखनादिकं कर्तुं ता अपि अधिकारिण्यो भवन्ति।

करना युक्त नहीं है, किन्तु इन सूत्रग्रंथों से अतिरिक्त अन्य ग्रंथों को कालशुद्धि आदि के अभाव में भी पढ़ा जा सकता है, ऐसा समझना।

क्या वे सूत्र हैं ? ऐसा पूछने पर कहते हैं —

गाथार्थ — आराधना के कथन करने वाले ग्रंथ, मरण को कहने वाले ग्रंथ, संग्रह ग्रंथ, स्तुति ग्रंथ प्रत्याख्यान, आवश्यक क्रिया और धर्मकथा संबंधी ग्रंथ तथा और भी ऐसे ही ग्रंथ अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकते हैं॥२७९॥

इसकी आचारवृत्ति टीका में श्री वसुनन्दि आचार्य ने कहा है कि — सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप-इन चारों के उद्योतन, उद्यवन, निर्वाहण, साधन और निस्तरण आदि का वर्णन जिन ग्रंथों में है, वे आराधना निर्युक्त ग्रंथ है। सत्रह प्रकार के मरणों के प्रतिपादक ग्रंथों की जो रचना है, वह मरणविभक्ति है। संग्रह ग्रंथ से ‘पंचसंग्रह’ आदि लिये जाते हैं। स्तुतिग्रंथ से देवागम स्तोत्र, पंचपरमेष्ठी स्तोत्र आदि संबंधी ग्रंथ होते हैं। तीन प्रकार और चार प्रकार आहार के त्याग के प्रतिपादक ग्रंथ प्रत्याख्यान ग्रंथ हैं। अथवा सावद्य — सदोष द्रव्य, क्षेत्र, आदि के परिहार करने के प्रतिपादक ग्रंथ प्रत्याख्यान ग्रंथ है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना आदि के स्वरूप को कहने वाले ग्रंथ आवश्यक ग्रंथ हैं। त्रैसठ शलाकापुरुषों के चरित्र को कहने वाले ग्रंथ तथा द्वादश अनुप्रेक्षा आदि ग्रंथ धर्मकथा ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों को और इन्हीं सदृश अन्य ग्रंथों को भी अस्वाध्याय काल में पढ़ा जा सकता है।

जो कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि — मुनिजन ही सिद्धान्तग्रंथ को अध्ययन करने — पढ़ने के अधिकारी होते हैं, आर्थिकाएँ नहीं, उन्हें भी ये गाथाएँ देखकर — पढ़कर निश्चय कर लेना चाहिए कि आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव के द्वारा रचित मूलाचार ग्रंथ की गाथा में जो “इत्थिवग्गस्स” शब्द है उसका अर्थ श्री आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्तविद् ने अपनी आचारवृत्ति टीका में “आर्थिकावर्ग का” ऐसा किया है। अतएव आर्थिकाएँ यदि चारों अनुयोग के ग्रंथ पठन-पाठन में कुशल रहती हैं तो सिद्धान्त ग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन और लेखन आदि करने की भी वे अधिकारी होती हैं।

पुराणग्रन्थेऽपि कथितमस्ति —

“एकादशांगभृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना।”^१

एतादृशानागमान् दृष्ट्वैव मया षट्खण्डागमग्रंथस्य सिद्धान्तचिन्तामणिटीका लिखितुमारब्धा, यद्यपि अतिसाहसोऽयं मम तथापि अल्पबुद्ध्यापि केवलं स्वज्ञानवृद्धयै स्वात्मसिद्ध्यै परिणामविशुद्ध्यै चैव भूयादयं मे प्रयासः।

स्वाध्यायमाहात्म्यं प्रदर्शयन् श्रीकुन्दकुन्ददेवः कथयति —

विणएण सुदमधीतं किह वि पमादेण होइ विस्सरिदं।

तमुट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि।।^२

एतत्पर्यन्तं आगमद्रव्यकृतश्चतुर्थो वाचनोपगतोऽधिकारो वर्णितः।

सुत्तसमं — पूर्वं सूत्रस्य लक्षणं कथितं पुनरपि संक्षेपेण कथ्यते —

अल्पाक्षरसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्।

निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः।।^३

इति वचनात् तीर्थकरवचनविनिर्गत-बीजपदं सूत्रं। तेन सूत्रेण समं वर्तते उत्पद्यत इति गणधरदेवे स्थितश्रुतज्ञानं सूत्रसमं।

अर्थसमं — अर्थते परिच्छिद्यते गम्यते इत्यर्थो द्वादशांगविषयः, तेनार्थेन समं — सह वर्तते इत्यर्थसमं। द्रव्यश्रुता-चार्याननपेक्ष्य संयमजनितश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशम समुत्पन्नद्वादशांगश्रुतं स्वयंबुद्धाधारमर्थसममित्युक्तं भवति।

पुराणग्रंथ में भी कहा है —

“आर्यिका सुलोचना भी ग्यारह अंगरूप श्रुतज्ञान से समन्वित हुई हैं।”

इस प्रकार के आगम ग्रंथों को देखकर ही मैंने षट्खण्डागम ग्रंथ की “सिद्धान्तचिन्तामणि” टीका लिखना प्रारंभ किया। यद्यपि यह टीका लिखना मेरे लिए अतिसाहस है, फिर भी मैंने अपनी अल्पबुद्धि से भी मात्र अपनी ज्ञानवृद्धि हेतु, निजात्मा की सिद्धि हेतु एवं परिणामों की विशुद्धि हेतु ही यह प्रयास किया है।

जैसा कि स्वाध्याय की महिमा प्रदर्शित करते हुए श्री कुन्दकुन्ददेव ने कहा है —

गाथार्थ — विनयपूर्वक पढ़ा गया श्रुत यदि इस भव में प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है, तो भी अगले भवों में कभी न कभी वह स्मरण में अवश्य आता है और केवलज्ञान तक को भी उत्पन्न कराने में निमित्त बन जाता है।।

यहाँ तक आगमद्रव्यकृत नाम के चतुर्थ वाचनोपगत अधिकार का वर्णन किया गया है।

सूत्रसम पूर्व में सूत्र का लक्षण कहा गया है, फिर भी यहाँ पुनः संक्षेप में कहते हैं —

श्लोकार्थ — जो कम अक्षर वाला हो, सन्देह रहित — असंदिग्ध हो, सारगर्भित हो, गूढ़ अर्थ का निर्णय करने वाला हो, निर्दोष हो, हेतुमान — युक्तियुक्त हो और तथ्य समन्वित हो, उसे विद्वज्जन ‘सूत्र’ कहते हैं।।

इस वचन के अनुसार तीर्थकर के मुख से निकला बीजपद सूत्र कहलाता है। उस सूत्र के साथ चूँकि रहता अर्थात् उत्पन्न होता है अतः गणधर देव में स्थित श्रुतज्ञान सूत्रसम कहा गया है।

जो अर्थसम — ‘अर्थते’ अर्थात् जाना जाता है, वह द्वादशांग का विषयभूत अर्थ है। उस अर्थ के साथ रहने के कारण अर्थसम कहलाता है। द्रव्यश्रुत आचार्यों की अपेक्षा न करके संयम से उत्पन्न हुए श्रुतज्ञानावरण

ग्रंथसमं — गणधरदेवविरचितद्रव्यश्रुतं ग्रंथः, तेन सह वर्तत उत्पद्यत इति बोधितबुद्धाचार्येषु स्थितद्वाद-
शांगश्रुतज्ञानं ग्रंथसमं।

णामसमं — नाना मिनोतीति नाम। अनेकैः प्रकारैरर्थपरिच्छित्तिं नामभेदेन करोति इति एकाक्षराणां
द्वादशांगानियोगानां मध्यस्थितद्रव्यश्रुतज्ञानविकल्पा नामेति उक्तं भवति। तेन नाम्ना द्रव्यश्रुतेन समं सह
वर्तत उत्पद्यत इति शेषाचार्येषु स्थितश्रुतज्ञानं नामसमं कथ्यते।

घोषसमं—

अणियोगो य णियोगो भास विहासा य वट्टिया चेव।

एदे अणियोगस्स दु णामा एयट्टया पंच॥१॥

सूई मुदा पडिघो संभव - दल - वट्टिया चेव।

अणियोगणिरुत्तीए दिट्ठंता होंति पंचैते॥२॥

इति वचनात् अनियोगस्य घोषसंज्ञा नामैकदेशेन अनियोग उच्यते। सत्यभामा पदेन अवगम्यमानार्थस्य
तदेकदेशभामाशब्दादपि अवगमात्।

कथमनियोगस्य दृष्टान्तसंज्ञा ?

उपमेये उपमानोपचारात्। द्रव्यानियोगद्वारेण घोषेण समं सह वर्तते उत्पद्यते इति घोषसमं नाम
अनियोग श्रुतज्ञानम्।

केचिदाचार्याः प्ररूपयन्ति—

विभक्त्यन्तभेदेन पठनं सूत्रसमं, कारकभेदेनार्थसमम्, विभक्त्यन्ताभेदेन ग्रंथसमं।

के क्षयोपशम से उत्पन्न स्वयंबुद्धों में रहने वाला द्वादशांगश्रुत अर्थसम है, यह अभिप्राय है।

ग्रंथसम—गणधर देव से रचा गया द्रव्यश्रुत ग्रंथ कहा जाता है। उसके साथ रहने अर्थात् उत्पन्न होने
के कारण बोधित बुद्ध आचार्यों में स्थित द्वादशांग श्रुतज्ञान ग्रंथसम कहलाता है।

ज्ञानसम—‘नाना मिनोति’ अर्थात् नानारूप से जो जानता है, उसे नाम कहते हैं, अर्थात् अनेक प्रकारों
से अर्थज्ञान को नाम के अभेद द्वारा करने के कारण एक आदि अक्षरों स्वरूप बारह अंगों के अनुयोगों के मध्य
में स्थित द्रव्य श्रुतज्ञान के भेद नाम है, यह अभिप्राय है। उस नाम के अर्थात् द्रव्यश्रुत के साथ रहने अर्थात्
उत्पन्न होने के कारण शेष आचार्यों में स्थित श्रुतज्ञान नामसम कहलाता है।

घोषसम—

गाथार्थ—अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वर्तिका, ये पाँच अनुयोग के समानार्थक नाम हैं॥१॥

अनुयोग की निरुक्ति में सूची, मुदा, प्रतिघ, संभवदल और वर्तिका ये पाँच दृष्टान्त हैं॥२॥

इस वचन से घोष संज्ञा वाले अनुयोग का (घोषानुयोग) नाम का एक देश होने से अनुयोग कहा जाता है,
क्योंकि सत्यभामा पद से अवगम्यमान अर्थ उक्त पद के एक देशभूत भामा शब्द से भी जाना ही जाता है।

शंका—अनुयोग की दृष्टान्त संज्ञा कैसे दी गई है ?

समाधान—उपमेय में उपमान का उपचार करने से वह भी संभव ही है। अर्थात् अनुयोग उपमेय है और
दृष्टान्त उपमान है। उनके इस संबंध के कारण अनुयोग को भी दृष्टान्त संज्ञा प्राप्त है। घोष अर्थात् द्रव्यानियोगद्वार
के सम अर्थात् साथ रहता है अर्थात् उत्पन्न होता है, इस कारण अनुयोगश्रुतज्ञान घोषसम कहलाता है।

कोई आचार्य कहते हैं कि—

विभक्त्यन्त भेद से पढ़ना सूत्रसम, कारक भेद से अर्थसम और विभक्त्यन्त के अभेद से पढ़ना ग्रंथसम है।

लिंगत्तियं वयणसमं अविणुदुवणिणदमिस्सयं चेव।

अज्झत्थं च बहित्थं पचक्खपरोक्ख सोलसिमे।।^१

एतैः षोडशवचनैः पठनं नामसमं। उदात्त-अनुदात्त-स्वरितस्वरभेदेन पठनं घोषसममिति।

तत्र घटते, अनवस्थाप्रसंगात्।

कुतः ?

विभक्ति-लिंग-कारक-काल-प्रत्यक्ष-परोक्ष-अभ्यन्तर-बाह्य-भेदाभेदैः श्रुतज्ञानस्य अनेकविधत्वप्रसंगात्। न च लिंगादिभिः श्रुतज्ञानभेदो भवति, तैर्विना पठनानुपपत्तेः। एते आगमस्य नव अर्थाधिकाराः प्ररूपिताः। एषोऽर्थः प्रकृतकृतौ योजयितव्यः।

कश्चिदाशङ्कते —

कथमनियोगस्यानियोगाः ?

आचार्यः प्राह — न, कृतावपि सत्संख्यादिनानानियोगसंभवात्।

तात्पर्यमेतत् — अत्र पर्यन्तं आगमस्य स्थित-जित-परिजित-वाचनोपगत-सूत्रसम-अर्थसम-ग्रंथसम-नामसम-घोषसमनामानः नवाधिकाराः प्ररूपिताः। एतान् सर्वान् ज्ञात्वा मुनिभिरार्यिकाभिर्वा द्रव्यक्षेत्रकालभाव-शुद्धिसमन्वितैः प्रत्यहं सिद्धान्तग्रंथस्य अध्ययनं अध्यापनं चापि कर्तव्यम्। अनेन स्वाध्यायेनैव ज्ञानावरण-कर्मक्षयोपशमो वर्धिष्यते, अशुभादिकर्मनिर्जरा शुभकर्माश्रवश्च भविष्यति समीचीनज्ञानवृद्धिप्रभावेन भेदविज्ञानं चापि भविष्यति पुनश्च एतत् भावश्रुतज्ञानं परंपरया केवलज्ञानमपि प्रापयतीति ज्ञातव्यम्।

गाथार्थ — तीनों वचनों के साथ तीन लिंग, अपनीत, उपनीत व मिश्र अर्थात् उदात्त, अनुदात्त व स्वरित, अभ्यन्तर, बाह्य, प्रत्यक्ष और परोक्ष, ये सोलह हैं।।

इन सोलह वचनों से पढ़ना नामसम है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के भेद से पढ़ने का नाम घोषसम है।

ऐसा घटित नहीं होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था का प्रसंग आता है।

‘कैसे’ ? कारण यह है कि इस प्रकार विभक्ति, लिंग, कारक, काल, प्रत्यक्ष, परोक्ष, अभ्यन्तर और बाह्य के भेदाभेदों से श्रुतज्ञान के अनेक प्रकार होने का प्रसंग आता है और लिंगादिकों से श्रुतज्ञान का भेद नहीं होता है, क्योंकि उनके बिना पढ़ना नहीं बन सकता है। ये आगम के नौ अर्थाधिकार कहे गये हैं। यह अर्थ प्रकृत कृति में जोड़ लेना चाहिए।

यहाँ कोई शंका करता है कि — अनुयोग का अनुयोग कैसे संभव है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं कि — ऐसा नहीं कहना, क्योंकि कृति अनुयोग के सत्-संख्या आदि नाना अनुयोग संभव हैं।

तात्पर्य यह है कि — यहाँ तक आगम के स्थित-जित-परिजित-वाचनोपगत-सूत्रसम-अर्थसम-ग्रंथसम-नामसम-घोषसम नाम के नौ अधिकार प्ररूपित किये गये हैं। इन सबको जानकर मुनियों और आर्यिकाओं को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की शुद्धि से समन्वित होकर प्रतिदिन सिद्धान्त ग्रंथों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। इस स्वाध्याय से ही ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम वृद्धिगंत होगा, अशुभकर्मों की निर्जरा और शुभकर्म का आश्रव होगा और समीचीन ज्ञान की वृद्धि के प्रभाव से भेदविज्ञान भी होगा। पुनश्च यही भावश्रुतज्ञान परम्परा से केवलज्ञान को भी प्राप्त कराता है, ऐसा जानना चाहिए।

संप्रति एतेषु य उपयोगस्तस्य भेदप्ररूपणार्थमुत्तरसूत्रमवतार्यति श्रीमद्भूतबलिसूरिवर्येण —

**जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्ठणा वा
अणुपेक्खणा वा थय-थुदि-धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया।।५५।।**

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — या तत्र नवसु आगमेषु वाचना अन्येषां भव्यानां यथाशक्तिग्रन्थार्थप्ररूपणा उपयोगो नाम। तत्रागमे अज्ञातार्थपृच्छा वा उपयोगः। आचार्यभट्टारकैः प्ररूप्यमानार्थावधारणं प्रतीच्छना नाम। साध्युपयोगः। अत्र सर्वत्र वाशब्दः समुच्चयार्थो गृहीतव्यः।

अविस्मरणार्थं पुनः पुनो भावागमस्य परिमलनं परिशीलनं परिवर्तना नाम। एषापि उपयोगः। कर्मनिर्जराथमस्थि-मज्जानुगतस्य श्रुतज्ञानस्य परिमलनं-परिशीलनमनुप्रेक्षणा नाम। एषापि श्रुतज्ञानोपयोगः।

सकलांगविषयप्रधानात् द्वादशांगोपसंहारः स्तवो नाम। तस्मिन् य उपयोगो वाचना-पृच्छना-परिवर्तना-नुप्रेक्षणास्वरूपः सोऽपि स्तव उपचारेण उच्यते।

द्वादशांगेषु एकांगोपसंहारः स्तुतिर्नाम। तस्मिन् य उपयोगः सोऽपि स्तुतिरिति गृहीतव्यः।

एकांगस्य एकाधिकारोपसंहारो धर्मकथा। तत्र य उपयोगः सोऽपि धर्मकथा इति मन्तव्यः।

ये चामी अन्ये एवमादिका इत्युक्ते कृति-वेदनादि-उपसंहार-विषया उपयोगा गृहीतव्याः। उपयोगशब्दः यद्यपि सूत्रे नास्ति तर्ह्यपि अर्थापत्तेः अध्याहर्तव्यः। एवमेतेऽष्टौ श्रुतज्ञानोपयोगाः प्ररूपिताः।

अब इनमें जो उपयोग है, उसके भेदों का प्ररूपण करने हेतु आचार्य श्री भूतबली स्वामी उत्तरसूत्र को अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

उन नौ आगमों में जो वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा एवं इनको आदि लेकर और भी जो अन्य हैं वे उपयोग हैं।।५५।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — जो उन नौ प्रकार के आगमों की वाचना अर्थात् अन्य भव्य जीवों के लिए शक्त्यनुसार ग्रंथ के अर्थ की प्ररूपणा की जाती है, वह उपयोग है। अथवा वहाँ आगम में नहीं जाने हुए अर्थ के विषय में पूछना भी उपयोग है। आचार्य भट्टारकों द्वारा कहे जाने वाले अर्थ के निश्चय करने का नाम प्रतीच्छना है। वह भी उपयोग है। यहाँ सब जगह वा — शब्द को समुच्चयार्थक ग्रहण करना चाहिए।

ग्रहण किया हुआ अर्थ विस्मृत न हो जावे, एतदर्थ बार-बार भावागम का परिशीलन — चिन्तन करना परिवर्तना है। यह भी उपयोग है। कर्मों की निर्जरा के लिए अस्थि-मज्जानुगत अर्थात् पूर्णरूप से हृदयंगम हुए श्रुतज्ञान के परिशीलन करने का नाम अनुप्रेक्षणा है। यह भी श्रुतज्ञान का उपयोग है।

सब अंगों के विषयों की प्रधानता से बारह अंगों के उपसंहार को स्तव कहा जाता है। उसमें जो वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षणास्वरूप उपयोग है वह भी उपचार से स्तव कहा जाता है।

बारह अंगों में एक अंग के उपसंहार का नाम स्तुति है। उसमें जो उपयोग है, वह भी स्तुति है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

एक अंग के एक अधिकार के उपसंहार का नाम धर्मकथा है। उसमें जो उपयोग है वह भी धर्मकथा है, ऐसा मानना चाहिए।

‘इनको आदि में लेकर और जो वे अन्य हैं’ इस प्रकार कहने पर कृति व वेदना आदि के उपसंहार विषयक उपयोगों का ग्रहण करना चाहिए। उपयोग शब्द यद्यपि सूत्र में नहीं है, तो भी अर्थापत्ति से उसका

संप्रति कृतेरष्टविधोपयोगानां प्ररूपणा क्रियते —

अन्येषां जीवानां कृतेरर्थप्ररूपणा वाचना। अनवगतार्थपृच्छा पृच्छना। कथयिष्यमानार्थावधारणं प्रतीच्छना। अविस्मरणार्थं पुनः पुनः कृत्यर्थपरिमलनं परिवर्तना। सांगीभूतकृतेः कर्मनिर्जरार्थमनुसरणमनुप्रेक्षणा। कृतेरुपसंहारस्य सकलानियोगद्वारेषु उपयोगः स्तवो नाम। तत्रैकानियोगद्वारोपयोगः स्तुतिर्नाम। एकमार्गणोपयोगो धर्मकथा नाम। एवं कृतेरष्टोपयोगाः प्ररूपिताः। शेषं सुगमं।

एतैर्व्यतिरिक्तजीवः श्रुतज्ञानक्षयोपशमसहितो नष्टक्षयोपशमो वा अनुपयुक्तो नाम।

सूत्रेऽनुपयुक्तजीवलक्षणमप्ररूपितं कथं ज्ञायते ?

नैतद् वक्तव्यं, उपयुक्तप्ररूपणायाः तदवगमात् तज्ज्ञानं स्वयमेवोपजायते।

अधुना अनुपयुक्तजीवप्ररूपणार्थमुत्तरसूत्राण्यवतार्यन्ते —

पोगम-ववहाराणमेगो अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी अणेया वा अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी।।५६।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — नैगमव्यवहारयोरपेक्षा एक उपयोगरहितो जीवः आगमाद् द्रव्यकृतिर्भवति। अथवा अनेक अनुपयुक्तो जीवः आगमाद् द्रव्यकृतिः कथ्यते।

कश्चिदाशङ्कते —

अध्याहार करना चाहिए। इस प्रकार ये आठ श्रुतज्ञानोपयोग कहे गये हैं।

अब कृति के विषय में आठ प्रकार के उपयोगों की प्ररूपणा करते हैं —

अन्य जीवों के लिए कृति के अर्थ की प्ररूपणा करना वाचना कहलाती है। अज्ञान अर्थ के विषय में पूछना पृच्छना है। प्ररूपित किये जाने वाले अर्थ का निश्चय करने को प्रतीच्छना कहते हैं। विस्मरण न होने देने के लिए बार-बार कृति के अर्थ का परिशीलन करना परिवर्तना है। सांगीभूत कृति का कर्मनिर्जरा के लिए अनुस्मरण अर्थात् विचार करना अनुप्रेक्षणा कही जाती है। समस्त अनुयोगों में कृति के उपसंहारविषयक उपयोग का नाम स्तव है। कृति के एक अनुयोगद्वार विषयक उपयोग का नाम स्तुति है। एक मार्गणाविषयक उपयोग धर्मकथा कहलाता है। इस प्रकार से कृति के आठ उपयोग कहे गये हैं। शेष प्ररूपणा सुगम है।

इन उपयोगों से भिन्न श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से सहित अथवा नष्ट हुए क्षयोपशम वाला जीव अनुपयुक्त कहलाता है।

शङ्का — सूत्र में अप्ररूपित यह अनुपयुक्त जीव का लक्षण कैसे जाना जाता है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उपयुक्त जीव की प्ररूपणा करने से उसका ज्ञान स्वयमेव हो जाता है।

अब अनुपयुक्त जीवों की प्ररूपणा करने हेतु उत्तरसूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

नैगम और व्यवहारनय की अपेक्षा एक अनुपयुक्त जीव आगम से द्रव्यकृति है अथवा अनेक अनुपयुक्त जीव आगम से द्रव्यकृति हैं।।५६।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — नैगमनय और व्यवहारनय की अपेक्षा एक उपयोगरहित जीव आगम से द्रव्यकृति होता है अथवा अनेक अनुपयुक्त — उपयोगरहित जीव आगम से द्रव्यकृति कहलाते हैं।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि —

अत्र सूत्रस्य प्रथमावयवो घटते, एकस्यानुपयुक्त इति एकवचनेन निर्देशात्। न द्वितीयोऽवयवो घटते, अनेकेषामनुपयुक्त इति एकवचनप्रयोगात् ?

आचार्य प्राहः —

नैष दोषः, अनेकेषामपि आगमद्रव्यकृतित्वेन एकत्वमापन्नानां एकवचनविषयसंभवेन 'अनुपयुक्त' इत्येकवचननिर्देशो घटते एव।

संग्रहनयापेक्षया सूत्रमवतार्यते श्रीभूतबलिसूत्रिणा —

संग्रहणयस्स एयो वा अणेया वा अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी।।५७।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — एष संगृहीतार्थग्राहीति संग्रहनयो भण्यते। तेनात्र संग्रहरूपणया भवितव्यमिति। अस्त्यत्र संग्रहः, जाति-व्यक्ति-एकत्ववाचकयोर्द्वयोरपि आगमात् द्रव्यकृत्योरेकत्वाभ्युपगमात्।

पूर्वोक्तनयैरेतयोर्द्वयोः कृत्योरेकत्वं किन्न स्वीकृतम् ?

जाति-व्यक्तिगतैकत्वयोरेकानेकद्रव्याधारयोः एकयोग-क्षेमविरहितयोरेकत्वविरोधात्। एष नयः पुनः संग्रहणस्वभावो जातिव्यक्तिस्थितसंख्ययोरेकत्वेन भेदाभावात् द्वयोरगमतो द्रव्यकृत्योरेकत्वं स्वीकरोति।

अधुना ऋजुसूत्रापेक्षया सूत्रमवतार्यते —

उजुसुदस्स एओ अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी।।५८।।

यहाँ सूत्र का प्रथम अवयव घटित होता है, क्योंकि उसमें एक अनुपयुक्त के लिए 'अणुवजुत्तो' इस प्रकार एक वचन का निर्देश किया गया है। किन्तु द्वितीय अवयव घटित नहीं होता है, क्योंकि उसमें अनेकों के लिए 'अणुवजुत्तो' इस प्रकार एक वचन का प्रयोग किया गया है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं कि —

यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आगम द्रव्यकृतिरूप से एकता को प्राप्त अनेकों के भी एक वचन विषय के संभव होने से 'अणुवजुत्तो' ऐसा एक वचन का निर्देश घटित होता ही है।

अब श्री भूतबली आचार्य संग्रहनय की अपेक्षा सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

संग्रहनय की अपेक्षा एक अथवा अनेक अनुपयुक्त जीव आगम से द्रव्यकृति हैं।।५७।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — यह संग्रहीत अर्थों को ग्रहण करता है, इसीलिए संग्रहनय कहलाता है। इसी कारण यहाँ संग्रह की प्ररूपणा होना चाहिए। यहाँ संग्रह है ही, क्योंकि जाति और व्यक्ति की एकता की वाचक दोनों ही आगम में द्रव्यकृतियों को एक स्वीकार किया गया है।

शंका — पूर्वोक्त नयों से इन दोनों कृतियों को एक क्यों नहीं स्वीकार किया है ?

समाधान — एक व अनेक द्रव्यों के आश्रित रहने वाली तथा एक योग और क्षेम से रहित जाति व व्यक्तिगत एकताओं की एकता का विरोध होने से उक्त नयों से उन दोनों कृतियों को एक नहीं स्वीकार किया गया। परन्तु यह नय संग्रहण स्वभाव होता हुआ जाति व व्यक्तिगत संख्याओं की एकता की अपेक्षा कोई भेद न होने से दोनों आगमद्रव्यकृतियों की एकता को स्वीकार करता है।

अब ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा सूत्र अवतरित किया जाता है —

सूत्रार्थ —

ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा एक अनुपयुक्त जीव आगम से द्रव्यकृति है।।५८।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — ऋजुसूत्रनयापेक्षया 'अनेका' इत्यवस्तु वर्तते।

पर्यायार्थिकस्य ऋजुसूत्रनयस्य द्रव्यस्य संभावना कथं भवति ?

नैतत्, अशुद्धे ऋजुसूत्रनये द्रव्यसंभावनां प्रति विरोधाभावात्।

ऋजुसूत्रनये किमिति अनेकसंख्या नास्ति ?

अस्य नयस्यापेक्षया एकशब्दस्य एकप्रमाणस्य चैकत्वं मुक्त्वा अनेकार्थेषु एककाले प्रवृत्तिविरोधात्।
न च शब्दप्रमाणे बहुशक्तियुक्ते स्तः, एकस्मिन् विरुद्धानेकशक्तीनां संभवविरोधात् एकसंख्यां मुक्त्वानेक-
संख्याभावाद्वा।

शब्दनयापेक्षया सूत्रमवतार्यते —

सद्गणयस्स अवत्तव्वं॥५९॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — शब्दनयापेक्षया अवत्तव्वं ज्ञातव्यं, एतस्य नयस्य विषये द्रव्याभावोऽस्तीति निश्चेतव्यं।
पुनरपि कथ्यते —

सा सव्वा आगमदो दव्वकदी णाम॥६०॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — 'सा सव्वा' इति वचनेन पूर्वोक्ताशेषकृतीनां ग्रहणं कर्तव्यं।

कथं बहूनामेकवचननिर्देशः कृतः ?

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा 'अनेक' यह शब्द अवस्तु होता है।

शंका — पर्यायार्थिक ऋजुसूत्रनय के द्रव्य की संभावना कैसे हो सकती है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि अशुद्ध ऋजुसूत्रनय में द्रव्य की संभावना के प्रति विरोध का अभाव पाया जाता है।

शंका — ऋजुसूत्रनय में अनेक संख्या क्यों नहीं संभव हैं ?

समाधान — चूँकि इस नय की अपेक्षा एक शब्द और एक प्रमाण के एक अर्थ को छोड़कर अनेक अर्थों में एक काल में प्रवृत्ति का विरोध है अतः उसमें अनेक संख्या संभव नहीं हैं और शब्द व प्रमाण बहुत शक्तियों से युक्त हैं नहीं, क्योंकि एक में विरुद्ध अनेक शक्तियों के होने का विरोध है, अथवा एक संख्या को छोड़कर अनेक संख्याओं का वहाँ अभाव रहता है।

अब शब्दनय की अपेक्षा सूत्र अवतरित होता है —

सूत्रार्थ —

शब्दनय की अपेक्षा अवत्तव्य है॥५९॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — शब्दनय की अपेक्षा अवत्तव्य जानना चाहिए, क्योंकि इस नय के विषय में द्रव्य का अभाव रहता है, ऐसा निश्चय करना चाहिए।

पुनरपि अगलासूत्र कहते हैं —

सूत्रार्थ —

वह सब आगम से द्रव्यकृति कहलाती है॥६०॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — "वह सब" इस वचन से पूर्वोक्त समस्त कृतियों का ग्रहण करना चाहिए।

शंका — बहुत कृतियों के लिए एक वचन का निर्देश क्यों किया है ?

नैष दोषः, बहूनामपि कृतित्वेन एकत्वमापन्नानामेकवचननिर्देशो युक्तिसंगतोऽस्ति।

अधुना नोआगमद्रव्यकृतिप्ररूपणार्थं श्रीमद्भूतबलिदेवेन सूत्रमवतार्यते —

**जा सा णोआगमदो दव्वकदी णाम सा तिविहा — जाणुगसरीरदव्वकदी
भवियदव्वकदी जाणुगसरीर-भवियवदिरित्तदव्वकदी चेदि।।६१।।**

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — या सा नोआगमतो 'द्रव्यकृति' रतिवचनेन पूर्वोद्दिष्टा नोआगमतो द्रव्यकृतेः
अर्थप्ररूपणार्थं स्मृतिः कारिता। ज्ञायकस्य शरीरं ज्ञायकशरीरम्।

कस्य ज्ञायकः ?

कृतिप्राभृतस्य ज्ञायकः।

कथमेतज्ज्ञायते ?

प्रकरणवशाद् ज्ञायते। तदेव द्रव्यकृतिज्ञायकशरीरद्रव्यकृतिः। भविष्यतीति भव्या।

केन भविष्यति ?

कृतिपर्यायेण भविष्यति।

एतत्कुतो ज्ञायते ?

प्रकरणात्। सा चैव द्रव्यकृतिः भविष्यद्द्रव्यकृतिरिति गीयते। ताभ्यां व्यतिरिक्ता तद्व्यतिरिक्ता, सा

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कृतिस्वरूप से अभेद को प्राप्त बहुत कृतियों के लिए भी एक वचन का निर्देश युक्तिसंगत है।

अब नोआगम द्रव्यकृति का प्ररूपण करने हेतु श्री भूतबली आचार्यदेव सूत्र अवतीर्ण करते हैं —

सूत्रार्थ —

**'जो वह नोआगम से द्रव्यकृति है', वह तीन प्रकार की है — ज्ञायकशरीर द्रव्यकृति,
भावी द्रव्यकृति और ज्ञायकशरीर-भाविव्यतिरिक्त द्रव्यकृति।।६१।।**

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — "जो वह नोआगम से द्रव्यकृति है" इस वचन से पूर्वोद्दिष्ट नोआगम से द्रव्यकृति की अर्थ प्ररूपणा के लिए स्मरण कराया गया है। ज्ञायक का शरीर ज्ञायकशरीर है।

शंका — वह किसका ज्ञायक है ?

समाधान — वह कृतिप्राभृत का ज्ञायक है।

शंका — यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान — प्रकरण के संबंध में यह जाना जाता है। वही द्रव्यकृति ज्ञायकशरीर द्रव्यकृति कहलाती है। जो आगे होने वाली है उसका नाम भावी है।

शंका — आगे किस रूप से होने वाली है ?

समाधान — आगे कृति पर्यायरूप से होने वाली है।

शंका — यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान — यह प्रकरण से जाना जाता है। वही द्रव्यकृति भावी द्रव्यकृति नाम से कही जाती है।

उन दोनों कृतियों से व्यतिरिक्त तद्व्यतिरिक्त द्रव्यकृति है। वही द्रव्यकृति तद्व्यतिरिक्त द्रव्यकृति है।

चैव द्रव्यकृतिः, तद्रव्यतिरिक्तद्रव्यकृतिः। तिसृणां नोआगमद्रव्यकृतीनां स्वरूपो भणितः।

अधुना तासां तिसृणां नोआगमकृतीनां विशेषप्ररूपणार्थं सूत्रमवतार्यते —

**जा सा जाणुगसरीरदव्वकदी णाम तिस्से इमे अत्थाहियारा भवंति ढ्ठिदं
जिदं परिजिदं वायणोवगदं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं णामसमं घोससमं।।६२।।**

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — एतेषां नवानां अर्थाधिकाराणां अर्थो यद्यपि पूर्वकथितमस्ति तथापि संक्षेपेण पुनरप्युच्यते —

तत्र शनैः शनैः स्वकविषये वर्तमानः कृत्यनियोगः स्थितं नाम।

प्रतिस्खलनेन विना मंथरगत्या स्वकविषये संचरन् कृत्यनियोगो जितं नाम।

त्वरितगत्या प्रतिस्खलनेन विना आविद्धकुलालचक्रमिव स्वकविषये परिभ्रमणक्षमः कृत्यनियोगः परिजितं नाम।

प्राप्तनन्दादिस्वरूपं कृतिश्रुतज्ञानं वाचनोपगतं नाम। अस्य विस्तरः कालशुद्ध्यादिभेदेन कृतोऽभवत्। जिनवचनविनिर्गतबीजपदात् अनन्तार्थावग्रहणेन अक्षरनिर्देशरहितत्वेन च प्राप्तश्रुतनामतो गणधरदेवेषूत्पन्न कृत्यनियोगः सूत्रेण सह वृत्तेः सूत्रसमं।

ग्रंथ-बीजपदाभ्यां विना संयमबलेन केवलज्ञानमिव स्वयंबुद्धेषूत्पन्नकृत्यनियोगोऽर्थेण सह वर्तते इति अर्थसमं नाम।

अर्हदुक्तार्थो गणधरदेवग्रन्थितः शब्दकलापो ग्रंथो नाम। तस्मात्समुत्पन्नो भद्रबाहुश्रुतकेवलत्यादिस्थविरेषु

इस प्रकार तीन नोआगम द्रव्य कृतियों का स्वरूप कहा गया है।

अब उन तीनों नोआगम द्रव्यकृतियों की विशेष प्ररूपणा हेतु सूत्र कहा जा रहा है —

सूत्रार्थ —

**जो वह ज्ञायक शरीर द्रव्यकृति है उसके ये अर्थाधिकार हैं — स्थित, जित, परिजित,
वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम।।६२।।**

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — इन सभी नौ अर्थाधिकारों का अर्थ यद्यपि पूर्व में कहा जा चुका है, फिर भी यहाँ संक्षेप में पुनः कहते हैं —

उनमें से धीरे-धीरे अपने विषय में वर्तमान 'स्थित' नाम वाला कृतिअनुयोगद्वार कहलाता है। बिना स्खलन — रुकावट के मंद गति से अपने विषय में संचार करने वाला "जित" नामका कृतिअनुयोगद्वार कहलाता है। रुकावट के बिना अति शीघ्र गति से घुमाए हुए कुम्हार के चक्र के समान अपने विषय में जो संचार करने में समर्थ है, वह कृति अनुयोग 'परिजित' हैं। नन्दा आदि के स्वरूप को प्राप्त कृतिश्रुतज्ञान का नाम 'वाचनोपगत' है। इसका विस्तार कालशुद्धि आदि के भेदों से किया जा चुका है। अनन्त पदार्थों का ग्रहण करने और अक्षरनिर्देश से रहित होने के कारण सूत्र नाम को प्राप्त हुए जिन भगवान् के मुख से निकले बीजपद से गणधर देवों में उत्पन्न हुआ कृतिअनुयोग सूत्र के साथ रहने से 'सूत्रसम' कहा जाता है। ग्रंथ और बीजपदों के बिना संयम के प्रभाव से केवलज्ञान के समान स्वयंबुद्धों में उत्पन्न कृतिअनुयोग अर्थ के साथ रहने से 'अर्थसम' कहलाता है। अरहन्त देव के द्वारा जिसका अर्थ कहा गया है तथा जो गणधरों से गूँथित है ऐसे शब्द कलाप को 'ग्रंथ' कहते हैं। उससे उत्पन्न हुआ भद्रबाहु आदि स्थविरो में रहने वाला कृति अनुयोग ग्रंथ के साथ रहने से 'ग्रंथसम' कहलाता है। बुद्धिविहीन पुरुषों के भेद से एक

वर्तमानः कृत्यनियोगो ग्रंथेण सह वर्तत इति ग्रंथसमो नाम।

बुद्धिविहीनपुरुषभेदेन एकाक्षरादिभिः न्यूनकृत्यनियोगो नाना मिनोतीति व्युत्पत्तेः — नानार्थं गृण्हातीति नाम भण्यते। तेन सह वर्तमानो भावकृत्यनियोगो नामसमं नाम।

तस्य कृति-अनियोगद्वारस्य एकानियोगो घोषः। तस्माद् घोषात्समुत्पन्नः कृति-अनियोगो घोषसमं, तस्मात् असमुत्पद्य च एतेन समोऽपि घोषसमं कथ्यते।

एवं नवविधः कृति-अनियोगः प्ररूपितः। ज्ञायका अपि एतावन्तश्चैव, द्वयोर्भेदाभावात्।

अग्रे ज्ञायकशरीरद्रव्यकृतिप्ररूपणार्थं सूत्रमवतार्यते श्रीमद्भूतबलिसूरिपुंगवेन —

तस्स कदिपाहुडजाणयस्स चुद-चइद-चत्तदेहस्स इमं सरीरमिदि सा सव्वा जाणुगसरीरदव्वकदी णाम।।६३।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — आयुषः क्षयेण स्वयं पतितादिशरीरवतो कृतिप्राभृतज्ञायकस्य शरीरं ज्ञायकशरीरद्रव्यकृतिः कथ्यते। संप्रति च्युतादिनां लक्षणं क्रियते —

स्वयमेवायुःक्षयेण पतितशरीरः च्युत-देह उच्यते। उपसर्गेण पतितशरीरः कृति-प्राभृतज्ञायकः साधुः च्यावितदेहः कथ्यते। भक्तप्रत्याख्यान-इंगिनी-पादोपगमनविधानैः छंदितशरीरः साधुः कृतिप्राभृतज्ञायकस्त्य-क्तदेहो निगद्यते। एतेषां कृतिप्राभृतज्ञायकानां च्युत-च्यावित-त्यक्तदेहानां इदं शरीरमिति कृत्वा तानि सर्वशरीराणि ज्ञायक-शरीरद्रव्यकृतिर्नाम कथ्यते।

दो अक्षर आदिकों से हीन कृति अनुयोग 'नाना मिनोति' अर्थात् जो नाना अर्थों को ग्रहण करता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'नाम' कहा जाता है। उसके साथ रहने वाले भावकृति अनुयोग को "नामसम" कहते हैं। उस कृतिअनुयोगद्वार का एक अनुयोग 'घोष' कहलाता है। उससे उत्पन्न कृति अनुयोग को और उससे न उत्पन्न होकर उसके समान भी कृति अनुयोग को 'घोषसम' कहते हैं।

इस प्रकार नौ प्रकार का कृति अनुयोगद्वार कहा गया है। ज्ञायक भी इतने ही हैं, क्योंकि उन दोनों में कोई भेद नहीं है।

अब आगे ज्ञायकशरीर द्रव्यकृति की प्ररूपणा करने हेतु आचार्यपुंगव श्री भूतबली मुनिराज सूत्र का अवतार करते हैं —

सूत्रार्थ —

च्युत, च्यावित और त्यक्त देह वाले उस कृतिप्राभृतज्ञायक का यह शरीर है, ऐसा समझकर वह सब ज्ञायकशरीरद्रव्यकृति कहलाती है।।६३।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — आयु के क्षय से स्वयं पतित आदि शरीर वाले कृतिप्राभृत शरीर को ज्ञायकशरीर द्रव्यकृति कहते हैं। अब यहाँ च्युत आदि शरीरों के लक्षण बताते हैं —

आयु के क्षय के कारण स्वयं ही गिरे हुए शरीर वाला जीव च्युतदेह कहलाता है। उपसर्ग से गिराये हुए (निर्जीव हुए) शरीर वाला कृति प्राभृत का जानकार साधु च्यावितदेह कहा जाता है। भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन विधान से शरीर को छोड़ने वाला कृतिप्राभृत का जानकार साधु व्यक्तदेह कहा जाता है। इन च्युत, च्यावित और त्यक्त देह वाले कृतिप्राभृत के ज्ञायकों का यह शरीर है, ऐसा जानकर वे सब शरीर ज्ञायकशरीर द्रव्यकृति नाम वाले कहलाते हैं।

कथं शरीराणां नोआगमद्रव्यकृतिव्यपदेशः संभवति ?

आधारे आधेयोपचारात् संभवति।

यद्येवं तर्हि शरीराणामागमत्वमुपचारेण किन्नोच्यते ?

आगम-नोआगमयोर्भेदप्रतिपादनार्थं नोच्यते प्रयोजनाभावाच्चापि न कथ्यते।

भावि-वर्तमानज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्यकृती सूत्रे केन नयेन न कथिते इति चेत् ?

शरीर-शरीरिणोरभेदप्रज्ञापनेन नयेन ते कृती सूत्रे न प्रोक्ते।

शरीरात् शरीरी अभिन्नः कथमिति चेत् ?

आचार्येण कथ्यते — शरीरदाहे जीवे दाहोपलंभात्, शरीरे भिद्यमाने छिद्यमाने च जीवे वेदनोपलंभात्, शरीराकर्षणे जीवाकर्षणदर्शनात्, शरीरगमनागमनैः जीवस्य गमनागमनदर्शनात्, प्रतीहार-खड्गयोरिव द्वयोर्भेदानुपलंभात्, एकीभूतदुग्धोदकमिव एकत्वेनोपलंभात्। ततः कृतिप्राभृतज्ञायकश्चैव शरीरमिति ज्ञायकभावि-वर्तमानशरीरे आगमद्रव्यकृतौ प्रविष्टे इति जीवशरीराभेदप्रज्ञापकेन नयेन ते द्रव्यकृती पृथग्नोक्ते इति ज्ञायते।

जीवशरीरयोर्भेदप्रज्ञापनीयेन नयेन ते द्वे अपि कृती प्ररूप्येते। तद्यथा — जीवः शरीराद् भिन्नः, अनादि-अनंतात् किन्तु शरीरे सादि-सान्तभावो दृश्यते। सर्वशरीरेषु जीवस्य अनुगमो दृश्यते परन्तु शरीरस्य जीवस्यानुगमो नास्ति।

जीवशरीरयोरकारणत्वसकारणत्वमपि लक्ष्यते। सकारणं शरीरं, मिथ्यात्वाद्यास्रवफलत्वात्। निष्कारणो

शंका — शरीरों की नोआगमद्रव्यकृति संज्ञा कैसे संभव है ?

समाधान — आधार में आधेय का उपचार करने से शरीरों की उक्त संज्ञा संभव है।

शंका — यदि ऐसा है तो शरीरों को उपचार से आगम क्यों नहीं कहते हैं ?

समाधान — आगम और नोआगम का भेद बतलाने के लिए तथा कोई प्रयोजन न होने से भी शरीरों को आगम नहीं कहते हैं।

शंका — भावी और वर्तमान ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्यकृतियों को सूत्र में किस नय से नहीं कहा है ?

समाधान — शरीर और शरीरी का अभेद बतलाने वाले नय से उन्हें सूत्र में नहीं कहा है।

शंका — शरीर से शरीरधारी जीव अभिन्न कैसे है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं कि — चूँकि शरीर का दाह होने पर जीव में दाह पाया जाता है, शरीर के भेदे जाने पर जीव में वेदना पाई जाती है, शरीर के खींचने पर जीव का खींचना देखा जाता है, शरीर के गमनागमन से जीव का गमनागमन देखा जाता है, जैसे प्रतीहार और खड्ग में भेद देखा जाता है, वैसे इन दोनों में भेद नहीं पाया जाता है। तथा एक रूप हुए दूध और पानी के समान दोनों में एकरूपता पाई जाती है। इस कारण शरीर से शरीरधारी अभिन्न है। इस कारण चूँकि कृतिप्राभृत का जानकार ही शरीर है, अतः भावी और वर्तमान ज्ञायकशरीरों के आगमद्रव्यकृति में प्रविष्ट होने से नय से उन्हें पृथक् नहीं कहा गया है, ऐसा जानना चाहिए।

जीव और शरीर के भेद प्रज्ञापनीय नय से उन दोनों कृतियों की प्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार है — जीव शरीर से भिन्न है, क्योंकि वह अनादि अनन्त है, परन्तु शरीर में सादि-सान्तता देखी जाती है, सब शरीरों में जीव का अनुगम देखा जाता है, किन्तु शरीर के जीव का अनुगम नहीं पाया जाता है।

जीव के अकारणपना और शरीर के सकारणपना देखा जाता है। शरीर सकारण है, क्योंकि वह

जीवः, जीवभावेन — चेतनत्वेन ध्रुवत्वात्, देहदाहच्छेद-भेदे हि जीवस्य दाहच्छेदभेदानुपलंभात्। तेन द्वे अपि कृती मंगलादिषु प्ररूपिते स्तः।

अधुना भाविद्रव्यकृतिनिरूपणार्थं सूत्रमवतार्यते —

जा सा भवियदव्वकदी णाम — जे इमे कदि त्ति अणिओगद्वारा भविओवकरणदाए जो ढिदो जीवो ण ताव तं करेदि सा सव्वा भविय-दव्वकदी णाम।।६४।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — ‘जे इमे कदि त्ति अणियोगद्वारा’ एतेन बहुवचनान्तसूत्रावयवेन कृत्यनियोगद्वाराणां बहुत्वं प्ररूपितं। तेषामनियोगद्वाराणामिति संबंधः कर्तव्यः, अन्यथार्थानुपपत्तेः। ‘भवियओवकरणदाए’ इति उपकरणं कारणं। तच्च त्रिविधं भूतं भावि वर्तमानमिति। तत्र यः कृत्यनियोगद्वाराणां ‘भवियओवकरणदाए’ भविष्यत्काले एतेषां अनियोगद्वाराणामुपादानकारणताया यः स्थितो जीवो न तावत् तत् करोति सा सर्वा भाविद्रव्यकृतिर्नाम्ना उच्यते।

संप्रति ज्ञायकशरीर-भाविनोः भिन्नद्रव्यकृतीनां भेदप्ररूपणार्थं सूत्रमवतार्यते —

जा सा जाणुगसरीर-भवियवदिरित्तदव्वकदी णाम सा अणेयविहा। तं जहा-गंथिम-वाइम-वेदिम-पूरिम-संघादिम-अहोदिम-णिक्खोदिम-

मिथ्यात्व आदि आस्रवों का कार्य है। जीव निष्कारण — कारण रहित है, क्योंकि वह चेतनभाव की अपेक्षा ध्रुव नित्य है तथा शरीर के दाह, छेदन और भेदन से जीव का दहन, छेदन एवं भेदन नहीं पाया जाता है। इसीलिए दोनों ही कृतियों की मंगल आदिकों में प्ररूपणा की गई है।

अब भाविद्रव्यकृति का निरूपण करने हेतु सूत्र अवतरित होता है —

सूत्रार्थ —

जो वह भावी द्रव्यकृति नाम है — जो वे कृति अनुयोगद्वार हैं उनके भविष्य में होने वाले उपादान कारणरूप से जो जीव स्थित होकर उसे उस समय नहीं करता है, वह सब भावी नोआगमद्रव्यकृति कहलाती है।।६४।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — “जो ये कृति अनुयोगद्वार हैं” इस बहुवचनान्त सूत्र के अवयव से कृति अनुयोगद्वारों की बहुलता प्ररूपित की है। यहाँ ‘उन अनुयोगद्वारों की’ ऐसा संबंध करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना अर्थ नहीं बनता है। ‘भवियओवकरणदाए’ यहाँ उपकरण का कारण है। वह तीन प्रकार की है — भूत, भविष्यत् और वर्तमान। उनमें जो कृति अनुयोगद्वारों के ‘भवियओवकरणदाए’ अर्थात् भविष्य काल में इन अनुयोगद्वारों के उपादानकारण स्वरूप से जो जीव स्थित होता हुआ उस समय उसे नहीं करता है, वह सब भावी द्रव्यकृति कही जाती है।

अब ज्ञायकशरीर और भाविशरीर से भिन्न द्रव्यकृति के भेद बतलाने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

जो वह ज्ञायकशरीर और भावी से भिन्न द्रव्यकृति है वह अनेक प्रकार की है। वह इस प्रकार से है — ग्रन्थिम, वाइम, वेदिम, पूरिम, संघातिम, अहोदिम, णिक्खोदिम,

ओवेल्लिम-उव्वेल्लिम-वण्ण-चुण्ण-गंधविलेवणादीणि जे चामण्णे एवमादिया सा सव्वा जाणुगसरीर-भवियवदिरित्तद्व्यकदी णाम।।६५।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — ज्ञायकशरीर-भावितद्रव्यतिरिक्तद्रव्यकृतिरनेकधा वर्तते।

तद्वेदानां कथनं संक्षेपेण प्ररूप्यते —

ग्रन्थिम-वाइम-वेदिम-पूरिम-संघातिम-अहोदिम-णिक्खोदिम-ओवेल्लिम-उद्वेल्लिम-वर्ण-चूर्ण-गंध-विलेपनादीनि यानि चान्यानि अपि सा सर्वा ज्ञायकशरीर-भावितद्रव्यतिरिक्तद्रव्यकृतिः कथ्यते।

१. तत्र ग्रंथनक्रियानिष्पन्नं पुष्पादिद्रव्यं ग्रंथिमं नाम।

२. तंतुवायातान-क्रियानिष्पन्नं सूर्य-पच्छिका-चंगेरि-कृतक-चालनी-कंबलवस्त्रादिद्रव्यं वाइमं नाम।

३. सूति-इंधुव-कोश-पल्यादिद्रव्यं वेधनक्रियानिष्पन्नं वेदिमं नाम।

४. तडागपालि-जिनगृहाधिष्ठानादिद्रव्यं पूरणक्रियानिष्पन्नं पूरिमं नाम।

५. कृत्रिमजिनभवन-गृह-प्राकार-स्तूपादिद्रव्यं काष्ठ-इष्टिका-प्रस्तरादि संघातनक्रियानिष्पन्नं संघातिमं नाम।

६. निम्बाम्र-जंबू-जंबीरादिद्रव्यं अधोधिमक्रियानिष्पन्नं अधोधिमं नाम। इयमधोधिमक्रिया सचित्त-अचित्त द्रव्याणां रोपणक्रिया इत्युक्तं भवति।

७. पुष्करिणी-वापी-कूप-तडाग-लयन-सुरंगादिद्रव्यं निस्खननक्रियानिष्पन्नं। णिक्खोदिमं नाम —

ओवेल्लिम, उद्वेल्लिम, वर्ण, चूर्ण, गंध और विलेपन आदि तथा और जो इसी प्रकार अन्य हैं वह सब ज्ञायकशरीर, भाविव्यतिरिक्तद्रव्यकृति कही जाती है।।६५।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — ज्ञायकशरीर भावितद्रव्यतिरिक्त द्रव्यकृति अनेक प्रकार की है। उसके भेदों का यहाँ संक्षेप से कथन करते हैं —

१. ग्रंथिम, २. वाइम, ३. वेदिम, ४. पूरिम, ५. संघातिम, ६. अहोदिम, ७. णिक्खोदिम, ८. ओवेल्लिम, ९. उद्वेल्लिम, १०. वर्ण, ११. चूर्ण, १२. गंध और १३. विलेपन आदि जो अन्य और भी हैं, वे सभी ज्ञायकशरीर भावितद्रव्यतिरिक्तद्रव्यकृति कही जाती हैं।

१. उनमें गूथने रूप क्रिया से सिद्ध हुए फूल माला आदि द्रव्य को ग्रन्थिम कहते हैं।

२. बुनना क्रिया से सिद्ध हुए सूप, टिपारी, चंगेर, (एक प्रकार की बड़ी टोकरी) कृतक, चालनी, कम्बल और वस्त्रादि द्रव्य वाइम कहलाते हैं।

३. वेधन क्रिया से सिद्ध हुई सूति (सोम निकालने का स्थान), ध्रुव (एंधी अर्थात् भट्टी), केश और पल्य आदि द्रव्य वेदिम कहे जाते हैं।

४. पूरण क्रिया से सिद्ध हुए तालाब का बांध व जिनगृह का चबूतरा आदि द्रव्य का नाम पूरिम है।

५. काष्ठ, ईंट और पत्थर आदि की संघातन क्रिया से सिद्ध हुए कृत्रिम जिनभवन, गृह, प्राकार और स्तूप आदि द्रव्य संघातिम कहलाते हैं।

६. नीम, आम, जामुन और जंबीर आदि द्रव्य अधोधिम क्रिया से सिद्ध हुए द्रव्य को अधोधिम कहते हैं। सचित्त और अचित्त द्रव्यों की रोपण क्रिया का नाम अधोधिम है इसका यह तात्पर्य है।

७. पुष्करिणी, वापी, कूप, तडाग, लयन और सुरंग आदि निष्खनन क्रिया से सिद्ध हुए द्रव्य णिक्खोदिम

निस्खननं नाम। किंच णिक्खोदणं खननमित्युक्तं भवति।

८. एक-द्वि-त्रिगुणसूत्र-डोरा-वेष्टादिद्रव्यमुपवेल्लनक्रियानिष्पन्नं उपवेल्लिमं नाम।

९. ग्रन्थिम-वाइमादिद्रव्याणामुपवेल्लनेन जातद्रव्यमुद्वेल्लिमं नाम।

१०. चित्रकाराणामन्येषां च वर्णोत्पादनकुशलानां क्रियानिष्पन्नद्रव्यं नरतुरगादिबहुसंस्थानं वर्णं नाम।

११. पिष्ट-पिष्टिका-कणिकादिद्रव्यं चूर्णनक्रियानिष्पन्नं चूर्णं नाम।

१२. बहूनां द्रव्याणां संयोगेनोत्पादितगंधप्रधानं द्रव्यं गंधं नाम।

१३. घृष्ट-पिष्ट-चंदन-कुंकुमादिद्रव्यं विलेपनं नाम।

‘जे च अमी अण्णे एवमादिद्या’ एतेन वचनेन अवधान-सुरणादीनां द्विसंयोगादिद्रव्याणां चास्तित्वं प्ररूपितं भवति।

कश्चिदाह —

कथमेतेषां द्रव्याणां कतिशब्दः प्ररूपकः ?

आचार्यः प्राह —

नैष दोषः, कर्मकारकेऽपि कतिशब्दनिष्पत्तेः। एषा सर्वापि ज्ञायकशरीर-भाविव्यतिरिक्तद्रव्यकृतिः कथ्यते। तात्पर्यमत्र — द्रव्यकृतिभेदप्रभेदान् ज्ञात्वा स्वात्मतत्त्वसिद्ध्यर्थमेवोपायः कर्तव्योऽस्माभिरिति।

एवं पंचमस्थले द्रव्यकृतिभेद-प्रभेदप्रतिपादनत्वेन त्रयोदशसूत्राणि गतानि।

अधुना गणनकृतिनिरूपणार्थं सूत्रमवतार्यते श्रीभूतबलिमुनिपुंगवेन —

कहलाते हैं। णिक्खोदण से अभिप्राय खोदना क्रिया से है इसका यह तात्पर्य है।

८. उपवेल्लन क्रिया से सिद्ध हुए एकगुणे, दुगुणे एवं तिगुणे सूत्र, डोरा व बेंत आदि द्रव्य उपवेल्लन कहलाते हैं।

९. ग्रन्थिम, वाइम आदि द्रव्यों के उद्वेल्लन से उत्पन्न द्रव्य उद्वेल्लिम कहे जाते हैं।

१०. चित्रकार एवं वर्णों के उत्पादन में निपुण दूसरों की क्रिया से सिद्ध मनुष्य व तुरग आदि अनेक आकाररूप द्रव्य वर्ण कहे जाते हैं।

११. चूर्णन क्रिया से सिद्ध हुए पिष्ट, पिष्टिका और कणिका आदि द्रव्य को चूर्ण कहते हैं।

१२. बहुत द्रव्यों के संयोग से उत्पादित गंध की प्रधानता रखने वाले द्रव्य का नाम गंध है।

१३. घोटे गये व पीसे गये चंदन और कुंकुम आदि द्रव्य विलेपन कहे जाते हैं।

‘इनको आदि लेकर जो वे और द्रव्य है’ इस वचन से अवधान व सुरण अर्थात् जोड़कर व काटकर बनाने व द्विसंयोगादि द्रव्यों के अस्तित्व की प्ररूपणा होती है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — कृति शब्द इन सब द्रव्यों का प्ररूपक कैसे है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कर्मकारक में भी कृति शब्द सिद्ध है। यह सब ही ज्ञायकशरीर-भाविव्यतिरिक्त द्रव्यकृति कहलाती है।

तात्पर्य यह है कि — द्रव्यकृति के भेद-प्रभेदों को जानकर हम सभी को निज आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिए ही उपाय करना चाहिए।

इस प्रकार पंचम स्थल में द्रव्यकृति के भेद-प्रभेदों का प्रतिपादन करने वाले तेरह सूत्र पूर्ण हुए।

अब गणनकृति का निरूपण करने हेतु आचार्य श्री भूतबली मुनिपुंगव सूत्र को अवतरित करते हैं —

जा सा गणणकदी णाम सा अणेयविहा। तं जहा — एओ णोकदी, दुवे अवत्तव्वा कदि त्ति वा णोकदि त्ति वा, तिप्पहुडि जाव संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा कदी, सा सव्वा गणणकदी णाम।।६६।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — एकोऽको नोकृतिर्भवति, यो राशिर्वर्गितः सन् वद्धते स्वकवर्गात् स्वकवर्गमूल-मपनीय वर्गिष्यमानो वृद्धिमाप्नोति सा कृतिर्नाम। एकांको वर्गिष्यमानो न वर्धते, वर्गमूलेऽपनीते निर्मूलं नश्यति। तेन एको नोकृतिरित्युक्तं भवति। एष एको गणनाप्रकारो दर्शितः।

द्वयोः रूपयोर्वर्गितयोः वृद्धिदर्शनात् द्वयोर्न नोकृतित्वं। ततो मूलमपनीय वर्गिते न वद्धते, पूर्वोक्तराशिश्चैव भवति, तेन द्वयोरपि न कृतित्वं अस्ति। एतन्मनसावधार्य 'द्विसंख्याया' अवक्तव्यमित्युक्तं भवति। एषा द्वितीया गणनाजातिः।

त्रिप्रभृति या संख्या सा वर्गितायां वद्धते, तत्र वर्गमूलमपनीय वर्गितेऽपि वृद्धिमाप्नोति, तेन सा कृतिरित्युक्ता। एतत्तृतीयगणनकृतिविधानम्। चतुर्थी गणनाकृतिर्नास्ति, तिसृभ्यर्व्यतिरिक्तगणनानुपलंभात्।

'एक, एक' इति गणनायां नोकृतिगणना। 'द्वौ द्वौ' इति गणनायां अवक्तव्या गणना। त्रि-चतुः-पंचादिक्रमेण गण्यमाने कृतिगणना इति। तेन गणनाकृतिस्त्रिविधा एव।

अथवा कृतिगतसंख्यातासंख्यातानन्तभेदैरनेकविधा गणना कृतिर्भवति। तत्र एकाद्येकोत्तरक्रमेण

सूत्रार्थ —

जो वह गणनकृति है वह अनेक प्रकार की है। वह इस प्रकार से है — एक संख्या नोकृति है, दो संख्या अवक्तव्य कृति है, अथवा नोकृति है, तीन को आदि लेकर संख्यात, असंख्यात व अनन्त कृति कहलाती हैं, वह सब गणनकृति है।।६६।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — एक की संख्या नोकृति होती है, क्योंकि जो राशि वर्गित होकर वृद्धि को प्राप्त होती है और अपने वर्ग में से अपने वर्ग के मूल को कम कर वर्ग करने पर वृद्धि को प्राप्त होती है उसे कृति कहते हैं। एक संख्या का वर्ग करने पर वृद्धि नहीं होती है तथा उसमें से वर्गमूल के कम कर देने पर वह निर्मूल नष्ट हो जाती है। इस कारण एक संख्या नोकृति है, ऐसा सूत्र में कहा है। यह 'एक' गणना का प्रकार बतलाया है।

दो रूपों का वर्ग करने पर वृद्धि देखी जाती है अतः दो की संख्या को नोकृति नहीं कहा जा सकता है और चूँकि उसके वर्ग में से मूल को कम करके वर्गित करने पर वह वृद्धि को प्राप्त नहीं होती, किन्तु पूर्वोक्त राशि ही रहती है, अतः 'दो' का अंक कृति भी नहीं हो सकता है। इस बात को मन से निश्चित कर दो संख्या अवक्तव्य है ऐसा सूत्र में निर्दिष्ट किया है। यह द्वितीय गणना की जाति है।

तीन को आदि लेकर जो संख्या है वह वर्गित करने पर बढ़ती है और उसमें से वर्ग मूल को घटाकर पुनः वर्ग करने पर भी वृद्धि को प्राप्त होती है इसी कारण उसे कृति ऐसा कहा है। यह तृतीय गणनकृति का विधान है। चतुर्थ कोई गणनकृति नहीं है, क्योंकि तीन से अतिरिक्त गणना पाई नहीं जाती है।

एक-एक ऐसी गणना करने पर नोकृतिगणना, दो-दो इस प्रकार गणना करने पर अवक्तव्यगणना तथा तीन, चार व पाँच इत्यादि क्रम से गणना करने पर कृतिगणना कहलाती है। अतएव गणनाकृति तीन प्रकार की ही होती है।

अथवा कृतिगत संख्यात, असंख्यात व अनन्त भेदों से गणनाकृति अनेक प्रकार की होती है। उनमें एक

वर्द्धितराशिर्नो कृतिसंकलना। द्वि-आदिद्वयोत्तरक्रमेण वृद्धिगतावक्तव्यसंकलना। त्रिचतुरादिषु अन्यतरमादिं कृत्वा तेष्वेव अन्यतरोत्तरक्रमेण गतवृद्धिः कृतिसंकलना। एतेषां द्विसंयोगेन अन्याः षट्संकलना उत्पादयितव्याः। एवं ऋणगणना नवविधा उत्पादयितव्याः।

अत्र विशेषेण कथ्यते —

एकस्यां संख्यायां एकैकोत्तरक्रमेण वर्द्धितायां — एक-द्वि-त्रि-चतुः-पंच-षट्-सप्तादिगणना नो कृतिसंकलना उच्यते।

द्विसंख्यामादिं कृत्वा द्वि-द्वि-उत्तरक्रमेण वर्द्धितायां — द्वि-चतुः-षट्-अष्ट-दश-द्वादश-चतुर्दशादिगणना अवक्तव्यसंकलना निगद्यते।

त्रिसंख्यामादिं कृत्वा त्रि-त्रयोत्तरवर्द्धिते सति — त्रि-षट्-नव-द्वादश-पंचदशादयः। चतुः-अष्ट-द्वादश-षोडश-विंशत्यादयः। पंच-दश-पंचदश-विंशति-पंचविंशत्यादयश्च कृतिसंकलना भण्यते।

एतासां तिसृणां द्विसंयोगिनो भंगाः षट् सन्ति — नो कृति-अवक्तव्यस्य चत्वारो भंगाः, नो कृति-कृतिभंगाः पंच, अवक्तव्यकृतिः षट्, अवक्तव्यनो कृतिः सप्त, कृति-नो कृतिः अष्टौ, कृति-अवक्तव्यस्य नव भंगाः सन्ति।

एतासां नवसंकलानां विपरीतक्रमेण ग्रहणे सति ऋणगणनानां नव प्रकाराः उत्पन्नाः सन्ति।

येनेदं सूत्रं देशामर्शकं तेनात्र धन-ऋण-धनऋणगणितं सर्वं वक्तव्यं। संकलना-वर्ग-वर्गावर्ग-घन-घनाघनराशि-उत्पत्तिनिमित्तगुणकारः कलासवर्णा यावत्तावद् भेदप्रकीर्णकजातयः त्रैराशिक-पंचराशिकादिकं

को आदि लेकर एक अधिक क्रम से वृद्धि को प्राप्त राशि नो कृतिसंकलना है। दो को आदि लेकर दो अधिक क्रम से वृद्धि को प्राप्त राशि अवक्तव्य संकलना है। तीन व चार इत्यादिकों में अन्यतर को आदि करके उनमें ही अन्यतर के अधिक क्रम से वृद्धिगत राशि कृतिसंकलना है। इनके द्विसंयोग से अन्य छह संकलनाओं को उत्पन्न कराना चाहिए। इसी प्रकार नौ प्रकार की ऋणगणनाओं को उत्पन्न कराना चाहिए।

यहाँ विशेषरूप से कथन करते हैं —

एक की संख्या में उत्तरोत्तर क्रम से एक-एक संख्या को बढ़ा देने पर — एक-दो-तीन-चार-पाँच-छह-सात आदि की गणना नो कृतिसंकलना कही जाती है।

दो संख्या को आदि करके उनमें उत्तरक्रम से दो-दो बढ़ा देने पर — दो-चार-छह-आठ-दश-बारह-चौदह आदि की गणना अवक्तव्यसंकलना कही जाती है।

तीन की संख्या को आदि में करके उत्तर क्रम से उनमें तीन-तीन संख्या की वृद्धि करने पर — तीन-छह-नौ-बारह-पन्द्रह आदि हो जाते हैं। चार की संख्या में उत्तरोत्तर चार का अंक बढ़ाने से — चार-आठ-बारह-सोलह-बीस आदि की गणना आती है। पाँच की संख्या में उत्तरोत्तर पाँच-पाँच का अंक जोड़ने से — पाँच-दश-पन्द्रह-बीस और पच्चीस आदि की गणना को कृतिसंकलना कहते हैं।

इन तीनों के द्विसंयोगी भंग छह होते हैं —

नो कृति अवक्तव्य के ४ भंग, नो कृति कृति के पाँच भंग, अवक्तव्यकृति के छह भंग, अवक्तव्यनो कृति के सात भंग, कृति-नो कृति के आठ भंग एवं कृति अवक्तव्य के नौ भंग होते हैं।

इन्हीं नौ संकलनाओं को विपरीत क्रम से ग्रहण करने पर ऋणगणनाओं के नौ प्रकार उत्पन्न होते हैं।

चूँकि यह सूत्र देशामर्शक है अतएव यहाँ धन, ऋण और धन-ऋण गणित सबको कहना चाहिए। संकलना, वर्ग, वर्गावर्ग, घन व घनाघन राशियों की उत्पत्ति में निमित्तभूत गुणकार और कलासवर्ण तक भेद

सर्वं धनगणितं। व्युत्कलना भागहारः क्षयकं च कलासवर्णादिसूत्रप्रतिबद्धसंख्या च ऋणगणितं। गतिनिवृत्तिगणितं कुट्टाकारादिगणितं च धनऋणगणितं। एवं त्रिविधं अपि गणितमत्र प्ररूपयितव्यम्।

अथवा कृतिमुपलक्षणं कृत्वा गणना-संख्यात-कृतीनामपि अत्र लक्षणं वक्तव्यम्। तद्यथा —

एकमादिं कृत्वा यावद् उत्कृष्टानन्ता इति तावद् गणना इत्युच्यते। द्व्यादिं कृत्वा यावदुत्कृष्टानन्ता इति या गणना संख्यातमिति भण्यते। त्र्यादिं कृत्वा यावदुत्कृष्टानन्ता इति गणना कृतिरिति कथ्यते।

उक्तं च —

एयादीया गणणा दोआदीया वि जाण संखे त्ति।

तीयादीणं णियमा कदि त्ति सण्णा दु बोद्धव्वा^१।।

अत्र तावत्कृति-नोकृति-अवक्तव्यानामुदाहरणार्थमियं प्ररूपणा क्रियते। तस्यां क्रियमाणायां ओघानुगमः प्रथमानुगमः चरमानुगमः संचयानुगमश्चेति चत्वारि अनियोगद्वाराणि।

तत्र तावद् ओघानुगम उच्यते —

स द्विविधः — मूलौघानुगम ओदशानुगमश्चेति।

तत्र तावन्मूलौघानुगम उच्यते — तद्यथा — जीवाः कृतिरिति।

कुत एतस्य मूलौघत्वं ?

शुद्धसंग्रहवचनात्।

आदेशौघो निगद्यते — गत्यादि चतुर्दशमार्गणास्थानेषु स्थितजीवाः कृतिः, तत्र शुद्धैकद्विजीवानुपलंभात्।

प्रकीर्णक-जातियाँ त्रैराशिक व पंचराशिक आदि सब धनगणित हैं। व्युत्कलना, भागहार और क्षयरूप कला सवर्ण आदि सूत्रप्रतिबद्ध संख्याएं ऋणगणित हैं। गतिनिवृत्तिगणित और कुट्टिकार आदि गणित धनऋणगणित हैं। इस प्रकार तीनों ही प्रकार के गणित की यहाँ प्ररूपणा करना चाहिए।

अथवा कृति का उपलक्षण कर गणना, संख्यात व कृति इनका भी यहाँ लक्षण कहना चाहिए। वह इस प्रकार है —

एक को आदि करके उत्कृष्ट अनन्त पर्यन्त 'गणना' कही जाती है। दो को आदि करके उत्कृष्ट अनन्त तक की गणना 'संख्यात' कहलाती है। तीन को आदि करके अनन्त तक की गणना 'कृति' कहलाती है।

कहा भी है —

गाथार्थ — एक आदि को गणना और दो आदि को संख्या समझो तथा तीन आदिक की नियम से 'कृति' यह संज्ञा जानना चाहिए।

यहाँ कृति, नोकृति और अवक्तव्य के उदाहरणों के लिए यह प्ररूपणा की जाती है। उस प्ररूपणा के करने में ओघानुगम, प्रथमानुगम, चरमानुगम और संचयानुगम, ये चार अनुयोगद्वार हैं।

उनमें पहले ओघानुगम को कहते हैं। वह दो प्रकार का है — मूलौघानुगम और आदेशानुगम। उनमें मूलौघानुगम को कहते हैं। वह इस प्रकार है — जीव कृति हैं।

शंका — इसके मूलौघपना कैसे घटित होता है।

समाधान — चूँकि यह कथन शुद्ध संग्रह नय की अपेक्षा किया गया है, अतः उसमें मूलौघपना घटित हो जाता है।

अब आदेशौघ को कहते हैं — गति आदि चौदह मार्गणास्थानों में स्थित जीव कृति हैं, क्योंकि उनमें

नवरि मनुष्य-अपर्याप्त-वैक्रियिकमिश्र-आहारद्विक-सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत-उपशमसम्यग्दृष्टि-सासादन-सम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टिजीवाः स्यात् कृतिः, त्रिप्रभृति-उपरिमसंख्यायां कदाचित्पुलंभात्। स्यान्नोऽकृतिः, एतेष्वष्टसु कदाचिदेकस्यैव जीवस्य दर्शनात्। स्यादवक्तव्यकृतिः, कदाचित् द्वयोरेवोपलंभात्।

एवं ओघानुगमः समाप्तः।

संप्रति प्रथमानुगम उच्यते —

कस्य प्रथमसमये एष अनुगमः क्रियते ?

मार्गणानां। अत्र अप्रथमानुगमोऽपि कर्तव्यः।

कुतः ?

प्रथमाप्रथमयोरन्योन्याविनाभावात्। नारकजीवाः प्रथमसमये स्यात् कृतिः। नारकाणामुपक्रमणानन्तरं जघन्येन एकसमयः, उत्कृष्टेन संख्यातावलयः। स्यान्नोऽकृतिः एतेनैवान्तरेणोत्पन्नप्रथमसमये कदाचिदेकस्यैव जीवस्योपलंभात्। स्यादवक्तव्यकृतिः, कदाचित् नारकजीवस्य प्रथमसमये द्वयोर्जीवयोरुपलंभात्।

अप्रथमा कृतिश्चैव, स्वकायुःद्वितीयसमयप्रभृति यावत् चरमसमय इति एषोऽप्रथमकालः, अत्र स्थितजीवानां नियमेन सर्वकालमसंख्यातत्वोपलंभात्।

एवं सर्वनारक-तिर्यग्मनुष्य-देवानां कृति-नोऽकृति-अवक्तव्यकृतिश्च धवलाटीकायामवगन्तव्यो भवति^१।

अधुना चरमानुगमः कथ्यते —

शुद्ध एक, दो जीव नहीं पाये जाते हैं। विशेषता इतनी है कि मनुष्य अपर्याप्त, वैक्रियिकमिश्र, आहारद्विक, सूक्ष्मसाम्परायिकशुद्धिसंयत, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव कथंचित् कृति हैं, क्योंकि वे तीन आदि उपरिम संख्या में कभी पाये जाते हैं। कथंचित् वे नोऽकृति हैं, क्योंकि इन आठ स्थानों में कभी एक ही जीव देखा जाता है। कथंचित् अवक्तव्य कृति हैं, क्योंकि कभी वहाँ दो ही जीव पाये जाते हैं।

इस प्रकार ओघानुगम समाप्त हुआ।

अब प्रथमानुगम को कहते हैं —

शंका — किसके प्रथम समय में यह अनुगम किया जाता है ?

समाधान — मार्गणाओं के प्रथम समय में यह अनुगम किया जाता है। यहाँ अप्रथमानुगम भी करना चाहिए।

क्यों ? क्योंकि प्रथम और अप्रथम का परस्पर में अविनाभाव है। नारकी जीव प्रथम समय में कथंचित् कृति हैं, क्योंकि नारकियों के उपक्रम का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से संख्यात आवलियाँ हैं। कथंचित् वे नोऽकृति हैं, क्योंकि इसी अन्तर से उत्पन्न होने के प्रथम समय में कभी एक ही जीव पाया जाता है। कथंचित् वे अवक्तव्यकृति हैं, क्योंकि कदाचित् नारकी होने के प्रथम समय में दो जीव पाये जाते हैं।

अप्रथमसमयवर्ती नारकी जीव कृति ही हैं, क्योंकि अपनी आयु के द्वितीय समय से लेकर अंतिम समय तक यह अप्रथम काल है, इस काल में स्थित जीव नियम से सर्वकाल असंख्यात पाये जाते हैं।

इसी प्रकार सब नारकी, तिर्यच, मनुष्य और देवों की कृति-नोऽकृति और अवक्तव्य धवला टीका से जानना चाहिए।

अब चरमानुगम कहा जाता है —

चरमानुगमोऽचरमानुगमेन सह वक्तव्यः, द्वयोरन्योऽन्याविनाभावात्। नारकाः चरमसमये स्यात्कृतिः, त्रिप्रभृतिसंख्यातासंख्यातानां नारकचरमसमये कदाचिदुपलंभात्। स्यान्नोकृतिः, चरमसमये वर्तमाननारकस्य कदाचिदेकस्यैव दर्शनात्। स्यादवक्तव्यं, कदाचित्तत्र द्वयोश्चैवोपलंभात्। नारका अचरमा नियमात् कृतिः, तत्रैकद्विजीवानामभावात्। एवं यथा प्रथमानुगमः प्ररूपितस्तथा प्ररूपयितव्यः।

विशेषेणापि धवलाटीकायां द्रष्टव्यं^१।

अधुना संचयानुगम उच्यते—

अत्र सत्प्ररूपणा द्रव्यप्रमाणानुगमः क्षेत्रानुगमः स्पर्शनानुगमः कालानुगमः अन्तरानुगमो भावानुगमोऽल्प-बहुत्वानुगमश्चेत्यष्टावनियोगद्वाराणि भवन्ति। तत्र एतेषामनियोगद्वाराणामर्थो विशेषेण धवलाख्यायां पठितव्यः। एषु मध्ये यत्किंचित् पठनीयं तद्द्रष्टव्यम्।

कालानुगमे इन्द्रियमार्गणायां कथ्यते—

बादर-एकेन्द्रियाः कृतिसंचितजीवाः कियत्कालपर्यन्तं भवन्ति ?

नानाजीवं प्रतीत्य सर्वकालं। एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणं, उत्कर्षेण अंगुलस्यासंख्यातभागः असंख्याता अवसर्पिणि-उत्सर्पिण्यः।

बादरैकेन्द्रियपर्याप्ताः कृतिसंचिताः कियच्चिरं कालात् भवन्ति ?

नानाजीवं प्रतीत्य सर्वकालं। एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन अन्तर्मुहूर्तं, उत्कर्षेण संख्यातानि वर्षसहस्राणि।

चरमानुगम को अचरमानुगम के साथ कहना चाहिए, क्योंकि दोनों का परस्पर में अविनाभाव है। नारकी जीव चरम समय में कथंचित् कृति हैं, क्योंकि तीन को आदि लेकर संख्यात व असंख्यात नारकी अंतिम समय में कदाचित् पाये जाते हैं। कथंचित् नोकृति हैं, क्योंकि कदाचित् चरम समय में वर्तमान नारकी एक ही देखा जाता है। कथंचित् अवक्तव्य हैं, क्योंकि कदाचित् वहाँ दो ही नारकी पाये जाते हैं। अचरम समयवर्ती नारकी नियम से कृति हैं, क्योंकि अचरम समय में एक दो जीवों का अभाव है। इस प्रकार जैसे प्रथमानुगम की प्ररूपणा की है, उसी प्रकार प्ररूपणा करना चाहिए।

विशेषरूप से इसका वर्णन धवला टीका से देखना चाहिए।

अब संचयानुगम को कहते हैं—

इस प्ररूपणा में सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम ये आठ अनुयोगद्वार होते हैं। इन सभी अनुयोगद्वारों का अर्थ विशेषरूप से धवला टीका में पढ़ना चाहिए। उनके मध्य में जो थोड़ा सा विषय पठनीय है, वह यहाँ द्रष्टव्य है—

कालानुगम में इन्द्रियमार्गणा में कहा है—

प्रश्न—बादर एकेन्द्रिय कृति संचित जीव कितने काल तक रहते हैं ?

उत्तर—नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल रहते हैं। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से क्षुद्रभव ग्रहण और उत्कर्ष से अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण रहते हैं।

प्रश्न—बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त कृतिसंचित कितने काल तक रहते हैं ?

उत्तर—नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल रहते हैं। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात हजार वर्ष प्रमाण रहते हैं।

तेषामेव अपर्याप्ताः कियच्चिरं कालपर्यन्तं ?

नानाजीवं प्रतीत्य सर्वकालं। एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणं, उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्तं।

सूक्ष्मैकेन्द्रियाः नानाजीवं प्रतीत्य सर्वकालं। एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणं, उत्कर्षेण असंख्यात-
लोकप्रमाणकालपर्यन्तं। तेषामेव पर्याप्ता नानाजीवं प्रतीत्य सर्वकालं। एकजीवापेक्षया जघन्येनोत्कर्षेणान्त-
र्मुहूर्तमेव। तेषां चैवापर्याप्ता नानाजीवापेक्षया सर्वकालं। एकजीवमपेक्ष्य जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणं, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तं।

द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियास्तेषामेव पर्याप्ताः त्रिपदाः नानाजीवं प्रतीत्य सर्वकालं। एकजीवं
प्रतीत्य जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणं अन्तर्मुहूर्तं, उत्कर्षेण संख्यातानि वर्षसहस्राणि। एषामेवापर्याप्ताः त्रिपदाः
नानाजीवापेक्षया सर्वकालं। एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणं, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तं।

पंचेन्द्रियाः पंचेन्द्रियपर्याप्ताश्च त्रिपदाः कियच्चिरं कालं ?

नानाजीवापेक्षया सर्वकालं। एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणं अन्तर्मुहूर्तं, उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं
पूर्वकोटिपृथक्त्वेनाभ्यधिकं सागरोपमशतपृथक्त्वम्।

सोधम्मे माहिंदे पढमपुढवीए होदि चदुगुणिदं।

बम्हादि आरणच्चुद पुढवीणं होदि पंचगुणं^१।।

एषा गाथा पंचेन्द्रियस्थितिं प्ररूपयति। सौधर्म-माहेन्द्र-प्रथमपृथिवीषु चतुश्चतुर्वारमुत्पन्नस्य द्वितीयादिषट्-

प्रश्न — उनमें ही अपर्याप्त जीव कितने काल तक रहते हैं ?

उत्तर — नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल रहते हैं। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से क्षुद्रभवग्रहण और उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त काल तक रहते हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल रहते हैं। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से क्षुद्रभवग्रहण और उत्कर्ष से असंख्यात लोकप्रमाण काल तक रहते हैं। उनमें ही पर्याप्त जीव नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल रहते हैं। एक जीव की अपेक्षा जघन्य व उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त तक रहते हैं। उनमें ही अपर्याप्त नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल रहते हैं। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से क्षुद्रभवग्रहण और उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त काल तक रहते हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व उनके ही पर्याप्त जीव तीनों पद वाले नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल रहते हैं। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से क्षुद्रभवग्रहण मात्र अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से संख्यात हजार वर्ष तक रहते हैं। उनमें ही अपर्याप्त तीनों पद वाले नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल रहते हैं। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से क्षुद्रभवग्रहण और उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त तक रहते हैं।

प्रश्न — पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्त तीनों पद वाले कितने काल तक रहते हैं ?

उत्तर — नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल तक रहते हैं। एक जीव की अपेक्षा वे क्रमशः जघन्य से क्षुद्रभवग्रहण व अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटि पृथक्त्व से अधिक एक हजार सागरोपम व सागरोपमशतपृथक्त्व काल तक रहते हैं।

गाथार्थ — सौधर्म, माहेन्द्र और प्रथम पृथिवी में चार बार और ब्रह्म कल्प से लेकर आरण-अच्युत कल्पों तथा द्वितीयादि पृथिवियों में पाँच बार उत्पन्न होने पर उक्त पंचेन्द्रिय काल पूर्ण होता है।।

यह गाथा पंचेन्द्रिय जीवों की स्थिति की प्ररूपणा करती है। सौधर्म, माहेन्द्र और प्रथम पृथिवी में चार-

पृथिवीषु ब्रह्मलोकादि-आरणाच्युतदेवेषु च पंचवारमुत्पन्नस्य पंचेन्द्रियस्थितिः सागरोपमसहस्रमात्रा (१०००) पूर्वकोटिपृथक्त्वेनाभ्यधिकाः (९६)। पंचेन्द्रियस्थितिं गृहीत्वा भ्रमतो जीवस्य एषा दिशा प्ररूपिता, न पुन एष नियमः, अन्येनापि प्रकारेण पंचेन्द्रियस्थितिः भ्रमणं प्रति संभवदर्शनात्।

पढमपुढवीए चदुरो पण पण सेसासु होंति पुढवीसु।

चदु चदु देवेसु भवा वावीसं ति सदपुधत्तं१॥१॥

प्रथमपृथिवीषु चतुर्वारमुत्पद्य शेषासु पृथिवीषु पंच-पंचवारमुत्पद्य सौधर्मादि यावदारणाच्युतदेवेषु चतुश्चतुर्वारमुत्पन्नस्य सागरोपमशतपृथक्त्वं पंचेन्द्रियपर्याप्तस्थितिर्भवति (१००)।

एवमेव त्रसपर्याप्ताः जघन्येनान्तर्मुहूर्त उत्कर्षेण द्विसागरोपमसहस्राणि। तद्यथा —

सोहम्मे माहिंदे पढमपुढवीसु होदि चदुगुणिदं।

बम्हादि आरणच्चुद पुढवीणं अट्टगुणं॥१॥

गेवज्जेसु च विगुणं उवरिमगेवज्जएगवज्जेसु।

दोणिण सहस्साणि भवे कोडिपुधत्तेण अहियाणि१॥२॥

षण्णवति-कोटिपूर्वाधिकद्विसहस्रसागरोपमं। तस्य स्पष्टीकरणं — कल्पेषु अष्टशतषट्त्रिंशत्सागराः, अष्टग्रैवेयकेषु चतुःशतचतुर्विंशत्सागराः, सप्तपृथिवीषु सप्तशत-चत्वारिंशत्सागराः (८३६+४२४+७४०= २०००) एतैर्मिलित्वा पूर्वकोटिपृथक्त्वेनाधिक — द्विसहस्रसागरोपमप्रमाणा त्रसकालस्थितिर्ज्ञातव्या। एतज्ज्ञात्वा

चार बार उत्पन्न हुए तथा द्वितीयादिक छह पृथिवियों व ब्रह्मलोक को आदि लेकर आरण-अच्युत कल्प तक के देवों में पाँच बार उत्पन्न हुए जीव का पंचेन्द्रियकाल पूर्वकोटिपृथक्त्व (९६) से अधिक एक हजार सागरोपम मात्र होता है। पंचेन्द्रियस्थिति को लेकर भ्रमण करने वाले जीव के यह एक रीति बतलाई है, किन्तु सर्वथा ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि अन्य प्रकार से भी पंचेन्द्रियस्थिति तक भ्रमण करना संभव है।

गाथार्थ — प्रथम पृथिवी में चार भव और शेष पृथिवियों में पाँच-पाँच भव होते हैं। बाईस सागरोपम स्थिति तक के देवों में चार-चार भव होते हैं। इस प्रकार पंचेन्द्रिय पर्याप्त काल सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण होता है।

प्रथम पृथिवी में चार बार उत्पन्न होकर और शेष पृथिवियों में पाँच-पाँच बार उत्पन्न होकर सौधर्म कल्प को आदि लेकर आरण-अच्युत कल्प तक के देवों में चार-चार बार उत्पन्न हुए जीव के सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण पंचेन्द्रिय पर्याप्त स्थिति पूर्ण होती है। (सात पृथिवियों में ४६४, सौधर्मादि कल्पों में ४३६, ४३६+४६४=९०० सागरोपम)।

इसी प्रकार त्रसपर्याप्त जीव जघन्य से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण एवं उत्कृष्ट से दो हजार सागर प्रमाण काल तक रहते हैं। उसे कहते हैं —

गाथार्थ — सौधर्म, माहेन्द्र स्वर्ग में और प्रथम पृथिवी में चार बार उत्पन्न होता है। ब्रह्म कल्प से आरण अच्युत कल्पों और द्वितीयादि शेष पृथिवियों में आठ बार उत्पन्न होता है। एक उपरिम ग्रैवेयक को छोड़कर सब ग्रैवेयकों में दो बार उत्पन्न होता है। इस प्रकार त्रस पर्याय का काल पूर्वकोटिपृथक्त्व से अधिक दो हजार सागरोपमप्रमाण होता है॥१-२॥

छानवे कोटिपूर्व अधिक दो हजार सागरोपम काल है। उसका स्पष्टीकरण करते हैं —

कल्पों में ८३६, आठ ग्रैवेयकों में ४२४, सात पृथिवियों में ७४० सागर (८३६+४२४ +७४०=२०००) है, ये सब मिलकर पूर्वकोटिपृथक्त्व से अधिक दो हजार सागरोपमप्रमाण काल त्रस जीवों के काल की स्थिति १. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित पु. ९, पृ. २९६। २. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित पु. ९, पृ. २९८।

अस्मिन् त्रसपर्यायकाले एव मोक्षप्राप्त्यर्थं धर्मपुरुषार्थो विधेयः किं च कदाचित् पुनः यदि एकेन्द्रियपर्यायेषुगमनं तर्हि ततो निर्गमनं दुष्करं एव।

इत्थमेव अन्तरानुगमे गतिमार्गणानुसारेण नरकगतौ नारकाणां कृतिनोकृति-अवक्तव्यसंचितानां जीवानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरं। एकजीवापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्त उत्कर्षेण अनन्तकालं असंख्यातपुद्गलपरिवर्तन-प्रमाणं।

तिर्यग्गतौ तिर्यगपंचेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तपंचेन्द्रियतिर्यञ्चः एकजीवापेक्षया जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणमुत्कर्षेण असंख्यातपुद्गलपरिवर्तनप्रमाणमनन्तकालं।

एवमेव मनुष्यत्रिक-सर्वविकलेन्द्रिय-सर्वपंचेन्द्रियाणां च वक्तव्यं अविशेषात्। मनुष्यापर्याप्तकेषु त्रिपदानां अंतरं, नानाजीवापेक्षया जघन्येन एकसमयः, उत्कर्षेण पल्योपमस्यासंख्यातभागः। एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणं, उत्कर्षेण अनन्तकालमसंख्यातपुद्गलपरिवर्तनं।

देवगतौ देवानां भवनवासि-वानव्यन्तर-ज्योतिष्कदेवानां सौधर्मैशानकल्पवासिनां अंतरप्ररूपणा नारकाणामिव।

सानत्कुमार-माहेन्द्रकल्पदेवानां जघन्येनान्तरं मुहूर्तपृथक्त्वमात्रं। सानत्कुमार-माहेन्द्रदेवेभ्यः तिर्यग्मनुष्येषु गर्भोपक्रान्तिकेषु उत्पद्य मुहूर्तपृथक्त्वं स्थित्वा आयुर्बधं कृत्वा सानत्कुमार-माहेन्द्रदेवेषु पुनः उत्पन्नस्य मुहूर्तपृथक्त्वमात्रमन्तरोपलंभात्।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लांतव-कापिष्ठदेवेषु जघन्यायुर्बधो दिवसपृथक्त्वं। शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारकल्पेषु

जानना चाहिए। ऐसा जानकर इस त्रसपर्याय के काल में ही मोक्ष की प्राप्ति हेतु धर्मपुरुषार्थ करना चाहिए, क्योंकि यदि कदाचित् यहाँ से पुनः एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में यह जीव चला गया, तो वहाँ से निकलना अति दुष्कर ही है।

इसी प्रकार से अन्तरानुगम में गतिमार्गणा के अनुसार नरकगति में नारकियों की कृति-नोकृति और अवक्तव्य से संचित जीवों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण है।

इसी प्रकार तिर्यच, पंचेन्द्रिय तिर्यच आदि तीन और पंचेन्द्रिय तिर्यच एक जीव की अपेक्षा जघन्य से क्षुद्रभवग्रहण और उत्कर्ष से असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण अनन्त काल तक होता है।

इसी प्रकार तीन प्रकार के मनुष्य सब विकलेन्द्रिय और सब पंचेन्द्रियों के भी कहना चाहिए, क्योंकि इनके उनसे कोई विशेषता नहीं है। मनुष्य अपर्याप्तों में तीनों पद वालों का अन्तर नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से क्षुद्रभवग्रहण और उत्कर्ष से असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण अनन्त काल अन्तर होता है।

देवगति में देवों में भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषी देवों और सौधर्म-ईशान कल्प के देवों की अन्तर प्ररूपणा नारकियों के समान है।

सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प के देवों का जघन्य अन्तर मुहूर्तपृथक्त्व मात्र होता है, क्योंकि सनत्कुमार, माहेन्द्र देवों में से गर्भोपक्रान्तिक तिर्यच व मनुष्यों में उत्पन्न होकर मुहूर्तपृथक्त्व काल रहकर आयु को बांधकर पुनः सनत्कुमार-माहेन्द्र देवों में उत्पन्न हुए जीव के मुहूर्तपृथक्त्व मात्र अन्तर पाया जाता है।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर और लान्तव-कापिष्ठ देवों में जघन्य आयु का बंध दिवसपृथक्त्व मात्र होता है। शुक्र व

पक्षपृथक्त्वं। आनत-प्राणत-आरणाच्युतकल्पेषु मासपृथक्त्वं। नवग्रैवेयकविमानवासिदेवेषु वर्षपृथक्त्वं। अनुदिशादि यावदपराजित इति वर्षपृथक्त्वं। एतानि जघन्यायूषि बंधयित्वा तिर्यग्मनुष्येषु उत्पद्य अर्पितदेवेषु उत्पन्नानां जघन्यमन्तरं भवति।

विशेषेण, आनत-प्राणत-आरणाच्युतदेवानां जघन्यान्तरे भण्यमाने मनुष्येषु मासपृथक्त्वमात्रायुर्बध्धयित्वा मनुष्येषूत्पद्य तत्र मासपृथक्त्वं जीवित्वा पुनः सम्मूर्च्छिमे तिरश्चि उत्पद्यान्तर्मुहूर्तेण संयमासंयमं गृहीत्वा कालं कृत्वा आनत-प्राणत-आरणाच्युतदेवेषु उत्पन्नस्य जघन्यान्तरं वक्तव्यम्।

कुतः ?

संयमासंयमेन संयमेन वा विना तत्र उपपादाभावात्।

कश्चिदाशंकते — सम्यक्त्वमेव ग्राहयित्वा किन्नोत्पादितः ?

आचार्यः समाधत्ते —

नैतद् वक्तव्यं, मनुष्येषु वर्षपृथक्त्वेन विना मासपृथक्त्वाभ्यन्तरे सम्यक्त्व-संयमं-संयमासंयमानां ग्रहणाभावात्।

पुनराशंका भवति —

सम्मूर्च्छिमेषु सम्यक्त्वं ग्राहयित्वा देवेषु किन्नोत्पादितः ?

समाधानं क्रियते —

भवतु नामैतत्, संयमासंयमेन विना तिर्यगसंयतसम्यग्दृष्टीनामानतादिषु उत्पत्तिदर्शनात्।

महाशुक्र और शतार-सहस्रार कल्पों में जघन्य आयु का बंध पक्षपृथक्त्व मात्र होता है। आनत-प्राणत और आरण-अच्युत कल्पों में जघन्य आयु का बंध मास पृथक्त्व मात्र होता है। नौ ग्रैवेयक विमानवासी देवों में जघन्य आयु का बंध वर्षपृथक्त्व मात्र होता है। अनुदिशों से लेकर अपराजित विमानवासी देवों में जघन्य आयु का बंध वर्ष पृथक्त्व मात्र होता है। इन जघन्य आयुओं को बांधकर तिर्यच व मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुनः विवक्षित देवों में उत्पन्न हुए जीवों के जघन्य अन्तर होता है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि बारहवें स्वर्ग तक के देव ही मरकर तिर्यचों में उत्पन्न हो सकते हैं, आगे के नहीं।

विशेषता इतनी है कि आनत-प्राणत और आरण-अच्युत देवों के जघन्य अन्तर की प्ररूपणा करते समय मनुष्यों में मासपृथक्त्व मात्र आयु को बांधकर मनुष्यों में उत्पन्न होकर और वहाँ मासपृथक्त्व काल जीवित रहकर पुनः सम्मूर्च्छिम तिर्यच्चों में उत्पन्न होकर अन्तर्मुहूर्त से संयमासंयम को ग्रहण करके मृत्यु को प्राप्त हो आनत-प्राणत और आरण-अच्युत देवों में उत्पन्न हुए जीव के जघन्य अन्तर कहना चाहिए।

क्यों कहना चाहिए ?

क्योंकि संयमासंयम अथवा संयम के बिना उन देवों में उत्पत्ति संभव नहीं है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — सम्यक्त्व को ही ग्रहण कराकर क्यों नहीं उत्पन्न कराया है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं कि — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि मनुष्यों में वर्षपृथक्त्व के बिना मासपृथक्त्व के भीतर ही सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयम के ग्रहण का अभाव पाया जाता है।

पुनः शंका होती है कि — सम्मूर्च्छिमों में सम्यक्त्व को ही ग्रहण कराकर देवों में क्यों नहीं उत्पन्न कराया है ?

इनका समाधान करते हैं कि —

यह भी संभव है, क्योंकि संयमासंयम के बिना तिर्यच असंयतसम्यग्दृष्टियों की आनतादिकों में उत्पत्ति देखी जाती है।

एतत्कुतो ज्ञायते ?

तिर्यगसंयतसम्यग्दृष्टीनां मारणान्तिकसमुद्घातापेक्षया षट्चतुर्दशभागमात्रस्पर्शनप्ररूपणात्।

पुनरप्याशंकते —

द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टी तत्र किन्नोत्पादितः ?

आचार्यः समाधत्ते —

नैतत् वक्तव्यं, वर्षपृथक्त्वेन विना मासपृथक्त्वाभ्यन्तरे द्रव्यलिंगग्रहणाभावात्। निर्ग्रन्थदिगम्बरो मुनिः यदि भावेन मिथ्यादृष्टिः स एव द्रव्यलिंगी कथ्यते इति।

सम्यग्दृष्टिः आनतादिदेवेभ्यो मनुष्येषु अवतार्य जघन्यान्तरं किं न प्रतिपादितम् ?

न, वर्षपृथक्त्वादधः सम्यग्दृष्टीनामायुर्बधाभावात्।

एवं सर्वेषां देवानां जघन्यान्तरप्ररूपणा कृता।

उपरिमग्रैवेयकाद्यधस्तनदेवानामुत्कृष्टान्तरमनंतकालमसंख्यातपुद्गलपरिवर्तनप्रमाणम्। अनुदिश-अनुत्तरदेवेषु द्विसागरोपमानि सातिरेकाण्युत्कृष्टान्तरम्, अर्पितदेवेभ्यो मनुष्येषूप्यद्य पूर्वकोटिं जीवित्वा सौधर्मैशानदेवेषु द्विसागरोपमायुष्केषूप्यद्य पुनरपि पूर्वकोट्यायुष्को मनुष्यो भूत्वा कालं कृत्वा अर्पितदेवेषूप्यत्रे सति द्विपूर्वकोटिभ्यां सातिरेकाणि द्विसागरोपमाणि उत्कृष्टान्तरं भवति।

सर्वार्थसिद्धिविमानेषु जघन्योत्कृष्टान्तरं नास्ति, ततश्च्युतानां पुनः तन्नोत्पादाभावात्।

शंका — यह कहाँ से जाना जाता है ?

समाधान — यह तिर्यच असंयतसम्यग्दृष्टियों के मारणान्तिक समुद्घात की अपेक्षा छह बटे चौदह भाग मात्र स्पर्शन की प्ररूपणा करने से जाना जाता है।

यहाँ पुनः भी शंका होती है कि — द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि को वहाँ क्यों नहीं उत्पन्न कराया है ?

आचार्य समाधान देते हैं कि — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वर्षपृथक्त्व के बिना मास पृथक्त्व के भीतर द्रव्यलिंग का ग्रहण करना संभव नहीं है। निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि यदि भाव से मिथ्यादृष्टि हैं, तो वे ही द्रव्यलिंगी कहे जाते हैं।

शंका — आनतादि देवों में से सम्यग्दृष्टियों को मनुष्यों में अवतार लिवाकर जघन्य अन्तरात्में नहीं बतलाया है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि वर्षपृथक्त्व के नीचे सम्यग्दृष्टियों के आयु का बंध नहीं होता है अतः उनके उस प्रकार से अन्तर बन नहीं सकता था।

इस प्रकार सब देवों के जघन्य अन्तर की प्ररूपणा की गई है।

उपरिम ग्रैवेयक को आदि लेकर अधस्तन देवों के उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण अनन्त काल होता है। अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवों में उत्कृष्ट अन्तर दो सागरोपमों से कुछ अधिक होता है, क्योंकि विवक्षित देवों में से मनुष्यों में उत्पन्न होकर पूर्वकोटि काल जीवित रहकर दो सागरोपम आयु वाले सौधर्म-ईशान कल्प के देवों में उत्पन्न होकर फिर भी पूर्वकोटि प्रमाण आयु वाला मनुष्य होकर मरकर विवक्षित देवों में उत्पन्न होने पर दो पूर्वकोटियों से अधिक दो सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर होता है।

सर्वार्थसिद्धि विमानों में जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर नहीं है, क्योंकि वहाँ से च्युत होने वाले देवों की फिर से वहाँ उत्पत्ति नहीं होती है।

एतत्सर्वमन्तरं ज्ञात्वा सम्यक्त्व-संयमासंयम-संयमांश्च यथा शक्ति गृहीत्वा मोक्षप्राप्तिपर्यन्तं सम्यक्त्वं न नश्येदिति भावना संततमेवाहर्निशं प्रतिक्षणमपि भावयितव्या भवद्भिः।

एवं षष्ठस्थले गणनाकृतिलक्षणप्रतिपादनत्वेन सूत्रमेकं गतम्।

एवं गणनाकृतिः समाप्ता।

अधुना ग्रंथकृतिप्ररूपणार्थं सूत्रमवतार्यते श्रीमद्भूतबलिसूरिपुंगवेन —

जा सा ग्रंथकदी णाम सा लोए वेदे समए सत्थबंधणा (सहपबंधणा)

अक्खरकव्वादीणं जा च ग्रंथरचणा कीरदे सा सव्वा ग्रंथकदी णाम।।६७।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — ग्रंथकृतिश्चतुर्विधा — नाम-स्थापना-द्रव्य-भावग्रंथकृतिभेदेन। नाम-स्थापनाकृती सुगमे। द्रव्यग्रंथकृतिर्द्विविधा — आगम-नोआगमभेदेन। आगमद्रव्यग्रंथकृतिः नोआगमज्ञायकशरीर-भाविग्रंथ-कृती च सुगमे, बहुशः उक्तत्वात्। या सा तद्व्यतिरिक्तद्रव्यग्रंथकृतिः सा ग्रंथिम-वाइम-वेदिम-पूरिमादि भेदेनानेकधा।

कथमेतेषां ग्रंथसंज्ञा ?

न, एते जीवा बुद्ध्या आत्मनि ग्रन्थयति इति तेषां ग्रंथत्वसिद्धेः।

जा सा भावग्रंथकृतिः सा द्विविधा — आगम-नोआगमभावग्रंथकृतिभेदेन। ग्रंथकृतिप्राभूतज्ञायक उपयुक्त आगमभावग्रंथकृतिर्नाम। नोआगमभागग्रंथकृतिर्द्विविधा — श्रुत-नोश्रुतभावग्रंथकृतिभेदेन। तत्र श्रुतं त्रिविधं —

यह सम्पूर्ण अन्तर जानकर सम्यक्त्व, संयमासंयम और सकलसंयम को यथाशक्ति ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त होने तक मेरा सम्यक्त्व नष्ट न होने पावे, यही भावना सदैव अहर्निश प्रतिक्षण आप सभी को भाते रहना चाहिए।

इस प्रकार छठे स्थल में गणना कृति का लक्षण प्रतिपादित करने वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ।

इस प्रकार गणनाकृति समाप्त हुई।

अब ग्रंथकृति के प्ररूपण हेतु श्री भूतबलीआचार्यपुंगव के द्वारा सूत्र अवतरित किया जा रहा है —

सूत्रार्थ —

जो वह ग्रंथकृति है वह लोक में, वेद में और समय में शास्त्रप्रबद्धरूप अक्षरात्मक काव्यादिकों के द्वारा जो ग्रंथरचना की जाती है, वह सब ग्रंथकृति कहलाती है।।६७।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से ग्रंथकृति चार प्रकार की है। इनमें से नाम व स्थापना ये दो ग्रंथकृतियाँ सुगम हैं। द्रव्यग्रंथकृति आगम और नोआगम के भेद से दो प्रकार की है। आगम द्रव्यग्रंथकृति नोआगम-ज्ञायकशरीर-द्रव्यग्रंथकृति और नोआगमभावद्रव्यग्रंथकृति सुगम हैं, क्योंकि उनका अर्थ बहुत बार कहा जा चुका है। जो तद्व्यतिरिक्त द्रव्यग्रन्थकृति है वह गूथना, बुनना, वेष्टित करना और पूरना आदि के भेद से अनेक प्रकार की है।

शंका — इनकी ग्रंथ संज्ञा क्यों दी गई है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना, क्योंकि इन्हें जीव बुद्धि से अपने में गूथता है अतः उनके ग्रंथपना सिद्ध है।

जो वह भावग्रन्थकृति है वह आगम और नोआगम भावग्रन्थकृति के भेद से दो प्रकार की है। ग्रंथकृतिप्राभूत का जानकार उपयुक्त जीव आगमभावग्रन्थकृति है। नोआगमभावग्रन्थकृति श्रुत और नोश्रुत भावग्रन्थकृति के भेद से दो प्रकार की है। उनमें से श्रुत तीन प्रकार का है — लौकिक, वैदिक और सामायिक। इनमें से प्रत्येक द्रव्य और

लौकिकं वैदिकं सामायिकं चेति। तत्रैकैकं द्विविधं द्रव्यभावश्रुतभेदेन। तत्र द्रव्यश्रुतस्य शब्दात्मकस्य तदव्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यग्रंथकृतौ प्ररूपणा कर्तव्या, भावाधिकारे द्रव्येण प्रयोजनाभावात्।

हस्त्यश्व-तंत्र-कौटिल्य-वात्स्यायनादिबोधो लौकिकभावश्रुतग्रंथः। द्वादशांगादिबोधो वैदिकभाव-श्रुतग्रंथः। नैयायिक-वैशेषिक-लोकायत-सांख्य-मीमांसक-बौद्धादिदर्शनविषयबोधः सामायिकभावश्रुतग्रंथः। एतेषां शास्त्रप्रबंधना अक्षरकाव्यादीनां या च ग्रंथरचना अक्षरकाव्यैर्ग्रन्थरचना प्रतिपाद्यविषया सा श्रुतग्रंथकृतिर्नाम।

या सा नोश्रुतग्रंथकृतिः सा द्विविधा आभ्यन्तरिका बाह्या चेति। तत्र आभ्यन्तरिका मिथ्यात्व-त्रिवेद-हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा-क्रोध-मान-माया-लोभ-भेदेन-चतुर्दशविधा। बाह्या क्षेत्र-वास्तु-धन-धान्य-द्विपद-चतुष्पद-यान-शयनासन-कुप्य-भाण्डभेदेन दशविधा।

कथं क्षेत्रादीनां भावग्रंथसंज्ञा ?

कारणे कार्योपचारात्। व्यवहारनयं प्रतीत्य क्षेत्रादयो ग्रंथः अभ्यन्तरग्रंथकारणत्वात्। एतस्य ग्रंथस्य परिहरणं निर्ग्रन्थत्वं। निश्चयनयं प्रतीत्य मिथ्यात्वादयो ग्रंथः, कर्मबंधकारणत्वात्। तेषां परित्यागो निर्ग्रन्थत्वं। नैगमनयेन रत्नत्रयानुपयोगी बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागो निर्ग्रन्थत्वम्।

तात्पर्यमेतत् — अत्र श्रुतग्रंथशब्देन ग्रंथरचनारूपं द्वादशांगं विवक्षितमस्ति। पुनश्च नोश्रुतग्रंथकृतिवर्णने बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूपं ग्रन्थं गृहीतं। अनेन बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेण ग्रंथेन रहितं निर्ग्रन्थरूपं मुनिलिंगं गृहीतमस्ति। एतज्ज्ञात्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहग्रंथं त्यक्त्वा निर्ग्रन्थो मुनिः भूत्वा द्वादशांगावबोधं संप्राप्य केवलज्ञानं

भावश्रुत के भेद से दो प्रकार की है। उनमें से शब्दात्मक द्रव्यश्रुत की तदव्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यग्रंथकृति में प्ररूपणा करनी चाहिए, क्योंकि भाव निक्षेप के अधिकार में द्रव्य निक्षेप से कोई प्रयोजन नहीं है।

हाथी, अश्व, तंत्र, कौटिल्य अर्थशास्त्र और वात्स्यायन कामशास्त्र आदि विषयक ज्ञानलौकिक भावश्रुत ग्रंथकृति है। द्वादशांगादि विषयक बोध वैदिक भावश्रुत ग्रंथकृति है तथा नैयायिक वैशेषिक, लोकायत, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध इत्यादि दर्शनों को विषय करने वाला बोध सामायिक भावश्रुत ग्रंथकृति है। इनको शास्त्र प्रबंधन रूप अक्षरकाव्यों द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को विषय करने वाली जो ग्रंथ रचना है, वह श्रुतग्रंथकृति नामसे जानी जाती है।

वह जो नोश्रुतग्रंथकृति है, वह दो प्रकार की है—अभ्यन्तर और बाह्य। उनमें से अभ्यन्तर नोश्रुतग्रंथकृति मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, और लोभ के भेद से चौदह प्रकार की है। बाह्य नोश्रुतग्रंथप्रकृति क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन, आसन, कुप्य और भाण्ड के भेद से दस प्रकार की है।

शंका — क्षेत्रादिकों की भावग्रंथ संज्ञा कैसे हो सकती है ?

समाधान — कारण में कार्य का उपचार करने से क्षेत्रादिकों की भावग्रंथ संज्ञा बन जाती है। व्यवहारनय की अपेक्षा क्षेत्रादिक ग्रंथ हैं, क्योंकि वे अभ्यन्तर ग्रंथ के कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्यात्वादिक ग्रंथ हैं, क्योंकि वे कर्म बंध के कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। नैगम नय की अपेक्षा तो रत्नत्रय में अनुपयोगी पड़ने वाला जो भी बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग है, वह निर्ग्रन्थता है।

‘तात्पर्य यह है कि — यहाँ श्रुतग्रंथ शब्द से ग्रंथरचनारूप द्वादशांग विवक्षित है। पुनश्च नोश्रुतग्रंथकृति के वर्णन में बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहरूप ग्रंथ को ग्रहण किया है। इस बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रहरूप ग्रंथ से रहित निर्ग्रन्थरूप मुनिलिंग का ग्रहण होता है। ऐसा जानकर बाह्य-आभ्यन्तरपरिग्रहग्रंथ का त्याग करके

प्रकटीकर्तव्यमिति अभिप्रायो गृहीतव्यः।

एवं सप्तमस्थले ग्रन्थकृतिनिरूपणत्वेन सूत्रमेकं गतम्।

एवं ग्रंथकृतिः समाप्ता।

अधुना करणकृतिप्रतिपादनार्थं सूत्रमवतार्यते श्रीभूतबलिभट्टारकेण —

जा सा करणकदी णाम सा दुविहा—मूलकरणकदी चेव उत्तरकदी चेव। जा सा मूलकरणकदी णाम सा पंचविहा—ओरालियमूलकरणकदी वेउव्वियसरीरमूलकरणकदी आहारसरीरमूलकरणकदी तेयासरीरमूल-करणकदी कम्मइयसरीरमूलकरणकदी चेदि।।६८।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका—‘जा सा करणकदी णाम’ इति पूर्वोक्ताधिकारसंस्मरणार्थं भणितं। सा द्विविधा—मूलोत्तरकरणेभ्यो व्यतिरिक्तकरणाभावात्। तद्यथा—करणेषु यत्प्रथमं करणं पंचशरीरात्मकं तन्मूलकरणं।

कथं शरीरस्य मूलत्वं ?

न, शेषकरणानामेतस्मात् प्रवृत्तेः शरीरस्य मूलत्वं प्रति विरोधाभावात्।

कर्तुः जीवस्य अभिन्नत्वेन शरीरेण कर्तृत्वमुपगतस्य कथं करणत्वं ?

न, जीवात् शरीरस्य कथंचिद्भेदोपलभात्। यदि अभेदो मन्येत तर्हि चेतनत्व-नित्यत्वादिजीवगुणाः

निर्ग्रन्थ मुनि बनकर द्वादशांग श्रुत का ज्ञान प्राप्त करके केवलज्ञान को प्रगट करना चाहिए, ऐसा अभिप्राय यहाँ ग्रहण करना है।

इस प्रकार सातवें स्थल में ग्रन्थकृति का निरूपण करने वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ।

इस प्रकार ग्रन्थकृति समाप्त हुई।

अब करणकृति के प्रतिपादन हेतु श्री भूतबली भट्टारक सूत्र अवतरित करते हैं—

सूत्रार्थ—

जो वह करणकृति है वह दो प्रकार की है—मूलकरणकृति और उत्तरकरणकृति। जो वह मूलकरणकृति है, वह पाँच प्रकार की है—औदारिकशरीरमूलकरणकृति, वैक्रियिकशरीरमूलकरणकृति, आहारकशरीरमूलकरणकृति, तैजसशरीरमूलकरणकृति और कार्मणशरीरमूलकरणकृति।।६८।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका—‘जो वह करणकृति’ यह वचन पूर्व में कहे गये अधिकार का स्मरण कराने की दृष्टि से कहा गया है। वह करणकृति दो प्रकार की है—क्योंकि, मूल और उत्तरकरण को छोड़कर अन्य करणों का अभाव है। यथा—करणों में जो पाँच शरीररूप प्रथम करण है, वह मूल करण है।

शंका—शरीर के मूलपना कैसे संभव है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि शेष करणों की प्रवृत्ति इस शरीर से होती है, अतः शरीर को मूलकरण कहने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—कर्तारूप जीव से शरीर अभिन्न है अतः कर्तापन को प्राप्त शरीर के करणपना कैसे संभव है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीव से शरीर का कथंचित् भेद पाया जाता है। सर्वथा

शरीरेऽपि संभवेयुः। किन्तु न चैवं, तथानुपलंभात्। ततः शरीरस्य करणत्वं न विरुद्धयते।

शेषकारकभावे शरीरे सति शरीरं करणमेवेति कथमुच्यते ?

नैष दोषः, सूत्रे करणमेवेति अवधारणाभावात्।

सा च मूलकरणकृतिः— औदारिक-वैक्रियिक-आहार-तैजस-कर्मणशरीरभेदेन पंचविधा चैव, षष्ठादिशरीराभावात्। एतेषां मूलकरणानां कृतिः कार्यं संघातनादि तन्मूलकरणकृतिर्नाम, क्रियते कृतिरिति व्युत्पत्तेः। अथवा मूलकरणमेव कृतिः, क्रियते अनया इति व्युत्पत्तेः।

कथं संघातनादीनां शरीरत्वं ?

नैष दोषः, तेषां ततो भेदाभावात्।

एवं मूलकरणकृतेः स्वरूपत्वं भेदं च प्रारूपयत्।

अधुना एकैकस्याः भेदप्ररूपणार्थं सूत्रमवतार्यते सूरिपुंगवेन —

**जा सा ओरालिय-वेउव्विय-आहारसरीरमूलकरणकदी णाम सा तिविहा-
संघादणकदी परिसादणकदी संघादण-परिसादणकदी चेदि। सा सव्वा
ओरालिय-वेउव्विय-आहारसरीरमूलकरणकदी णाम।।६९।।**

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — तत्रार्पितशरीरपरमाणूनां निर्जराया विना यः संचयः सा संघातनकृतिर्नाम।

अभिन्नपना स्वीकार करने पर चेतनता और नित्यत्व आदि जीव के गुण शरीर में भी होने चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि शरीर में इन गुणों की उपलब्धि नहीं होती। इस कारण शरीर के करणपना विरुद्ध नहीं है।

शंका — शरीर में शेष कारक भी संभव है। ऐसी अवस्था में शरीर करण ही है, ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सूत्र में 'शरीर करण ही है' ऐसा अवधारण के अर्थ में नियम नहीं किया गया है।

वह मूलकरणकृति औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कर्मणशरीर के भेद से पाँच प्रकार की ही है, क्योंकि छठे आदि शरीर का अभाव है। इन मूलकरणों की कृति अर्थात् संघातनादि कार्य मूलकरणकृति कही जाती है, क्योंकि जो किया जाता है, वह कृति है। ऐसी कृति शब्द की व्युत्पत्ति है अथवा मूलकरण ही कृति है, क्योंकि जिसके द्वारा किया जाता है वह कृति है, ऐसी कृति शब्द की व्युत्पत्ति है।

शंका — संघातन आदि के शरीरपना कैसे संभव है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वे शरीर से भिन्न नहीं हैं।

इस प्रकार मूलकरणप्रकृति के स्वरूप और भेदों का प्ररूपण किया है।

अब एक-एक के भेद बतलाने हेतु श्री आचार्यदेव सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

जो वह औदाकिरशरीरमूलकरणकृति, वैक्रियिकशरीरमूलकरणकृति और आहारक-शरीरमूलकरणकृति है वह तीन प्रकार की है — संघातनकृति, परिशातनकृति और संघातनपरिशातनकृति। वह सब औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरमूलकरणकृति हैं।।६९।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — उनमें विवक्षित शरीर के परमाणुओं का जो संचय निर्जरा के बिना होता

तेषां चैवार्पितशरीरपुद्गलस्कंधानां संचयेन विना या निर्जरा सा परिशातनकृतिर्नाम। अर्पित शरीरस्य पुद्गलस्कंधानामागमननिर्जरयोः युगपत् भवनं संघातन-परिशातनकृतिर्नाम।

तत्र तिर्यग्मनुष्येषु उत्पन्नप्रथमसमये ओरालियशरीरस्य संघातनकृतिश्चैव, तत्र तत्स्कंधानां निर्जराभावात्। द्वितीयसमय प्रभृतिसंघातन-परिशातनकृतिर्भवति, द्वितीयादिसमयेषु अभव्यसिद्धैरनन्तगुणानां सिद्धेभ्यरन्त-गुणहीनानां औदारिकशरीरस्कंधानामागमन-निर्जरयोरुपलंभात्। तिर्यग्मनुष्यैरुत्तरशरीरे उत्थापिते औदारिक-परिशातनकृतिर्भवति, तत्रौदारिकशरीरस्कंधानामागनाभावात्।

देवनारकेषु उत्पन्नप्रथमसमये वैक्रियिकशरीरस्य संघातनकृतिः, तत्र तत्स्कंधानां निर्जराभावात्। द्वितीयादिसमयेषु संघातनपरिशातनकृतिः, तत्र तत्स्कंधानामागमन-निर्जराणां दर्शनात्। उत्तरशरीरमुत्थाप्य मूलशरीरं प्रविष्टस्य परिशातनकृतिः, तत्र तत्स्कंधानामागमनाभावात्।

तिर्यग्मनुष्येषु विविधगुणद्विविधरहितशरीरेषु कथं वैक्रियिकशरीरसंभवः ?

नास्ति तिर्यग्मनुष्येषु वैक्रियिकशरीरं, एतेषु वैक्रियिकशरीरनामकर्मोदयाभावात्। किन्तु द्विविधमौदारिक-शरीरं विक्रियात्मकमविक्रियात्मकमिति। तत्र विक्रियात्मकं यदौदारिकशरीरं तद् वैक्रियिकमिति अत्र गृहीतव्यं।

आहारशरीरमुत्थापितप्रथमसमये आहारशरीरसंघातनकृतिः, तत्र तत्स्कंधानां परिशातनाभावात्। तस्मादुपरि

है, उसे संघातनकृति नाम से जाना जाता है। उन्हीं विवक्षित शरीर के पुद्गलस्कंधों की संचय के बिना जो निर्जरा होती है, वह परिशातनकृति कहलाती है तथा विवक्षित शरीर के पुद्गलस्कंधों का आगमन और निर्जरा का एक साथ होना संघातन-परिशातनकृति कही जाती है।

उनमें से तिर्यच और मनुष्यों के उत्पन्न होने के प्रथम समय में औदारिकशरीर की संघातनकृति ही होती है, क्योंकि उस समय उक्त शरीर के स्कंधों की निर्जरा नहीं पाई जाती। द्वितीय समय से लेकर आगे के समयों में औदारिक शरीर की संघातन-परिशातनकृति होती है, क्योंकि द्वितीयादिक समयों में अभव्यसिद्धिओं से अनन्तगुणे और सिद्धों से अनन्तगुणे हीन औदारिकशरीर के स्कंधों का आगमन और निर्जरा दोनों पाये जाते हैं तथा तिर्यच और मनुष्यों द्वारा उत्तम शरीर के उत्पन्न करने पर औदारिकशरीर की परिशातनकृति होती है, क्योंकि उस समय औदारिकशरीर के पुद्गलस्कंधों का आगमन नहीं होता है।

देव व नारकियों के उत्पन्न होने के प्रथम समय में वैक्रियिक शरीर की संघातनकृति होती है, क्योंकि उस समय वैक्रियिकशरीर के स्कंधों की निर्जरा नहीं होती। द्वितीयादिक समयों में उसकी संघातन-परिशातनकृति होती है, क्योंकि उस समय उक्त शरीर के संबंधों का आगमन और निर्जरा दोनों एक साथ देखे जाते हैं तथा उत्तरशरीर का उत्पादन कर मूलशरीर में प्रविष्ट हुए उनके उत्तरशरीर की परिशातनकृति होती है, क्योंकि उस समय उक्त शरीर के स्कंधों का आगमन नहीं होता है।

शंका — विविध प्रकार के गुण व ऋद्धि से रहित शरीर वाले तिर्यच व मनुष्यों के वैक्रियिकशरीर कैसे संभव है ?

समाधान — तिर्यच व मनुष्यों के वैक्रियिकशरीर नहीं होता है, क्योंकि इनके वैक्रियिकशरीर नामकर्म का उदय नहीं पाया जाता है। किन्तु औदारिकशरीर विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक के भेद से दो प्रकार का है। उनमें जो विक्रियात्मक औदारिकशरीर है उसे यहाँ वैक्रियिकरूप से ग्रहण करना चाहिए।

आहारकशरीर को उत्पन्न करने के प्रथम समय में आहारकशरीर की संघातन कृति होती है, क्योंकि उस

संघातन-परिशातनकृतिर्भवति, आगमन-निर्जरयोस्तत्रोपलंभात्। मूलशरीरं प्रविष्टे परिशातनकृतिः, तत्रागमनाभावात्। एवं तिस्रः कृतयः त्रयाणां शरीराणां प्ररूपिताः। एताः सर्वा औदारिक-वैक्रियिक आहारमूलकरणकृतय इति भण्यन्ते।

अधुना तैजस-कर्मणशरीरकृतिप्रतिपादनार्थं सूत्रमवतार्यते —

**जा सा तेजा कम्मइयसरीरमूलकरणकदी णाम सा दुविहा — परिसादण-
कदी संघादण-परिसादणकदी चेदि। सा सव्वा तेजाकम्मइयसरीरमूल-
करणकदी णाम।।७०।।**

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — अयोगकेवलिनि योगाभावात् बंधाभावात् एतेषां द्वयोः शरीरयोः परिशातन-कृतिर्भवति। अन्यत्र सर्वत्रापि तदुभयकृतिश्चैव संसारे सर्वत्र एतेषामागमन-निर्जरयोरुपलंभात्। एतयोर्द्वयोः शरीरयोः संघातनकृतिर्नास्ति, बंधसत्त्वोदयविरहितसिद्धानां बंधकारणाभावात्। एते सर्वे तैजस-कर्मणशरीरमूलकरणकृती इति भण्येते।

अधुना मूलकरणकृतीनां सत्प्ररूपणा कृतेति प्ररूपणार्थं सूत्रमवतार्यते —

एदेहि सुत्तेहि तेरसण्हं मूलकरणकदीणं संतपरूवणा कदा।।७१।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — पुन एतेन देशामर्शकसूत्रेण सूचिताधिकाराणां प्ररूपणा क्रियते।

समय उक्त शरीर के परिशातन का अभाव है। इससे आगे पर के समय में संघातन-परिशातनकृति होती है, क्योंकि उस समय उक्त शरीर के स्कंधों का आगमन और निर्जरा दोनों पाये जाते हैं। मूलशरीर में प्रविष्ट होने पर आहारकशरीर की परिशातनकृति होती है, क्योंकि उस समय उक्त शरीर स्कंधों का आगमन नहीं होता। इस प्रकार तीन शरीरों के तीन कृतियाँ कही गई हैं। ये सब औदारिक, वैक्रियिक और आहारकशरीरमूलकरण कृतियाँ कही जाती हैं।

अब तैजस-कर्मणशरीरकृति के प्रतिपादन हेतु सूत्र अवतरित होता है —

सूत्रार्थ —

**जो वह तैजस शरीर और कर्मणशरीर मूलकरणकृति है, वह दो प्रकार की है —
परिशातनकृति और संघातन-परिशातनकृति। यह सब तैजस शरीर और कर्मण शरीर
मूलकरणकृति है।।७०।।**

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — अयोगकेवली भगवन्तों के योग का अभाव होने के कारण बंध नहीं होता, इसलिए उनके इन दो शरीरों की परिशातनकृति होती है तथा अन्य सब जगह उक्त दोनों शरीरों की संघातन-परिशातनकृति ही होती है, क्योंकि संसार में सर्वत्र उनका आगमन और निर्जरा दोनों पाये जाते हैं। इन दोनों शरीरों की संघातनकृति नहीं होती है, क्योंकि बंध, सत्त्व और उदय से रहित सिद्ध भगवन्तों के बंध के कारणों का अभाव है। ये सब तैजसशरीर और कर्मणशरीर मूलकरणकृतियाँ हैं, ऐसा कहा जाता है।

अब मूलकरणकृतियों की सत्प्ररूपणा की है, ऐसा बतलाने हेतु सूत्र अवतीर्ण किया जाता है —

सूत्रार्थ —

इन सूत्रों के द्वारा तेरहमूल करणकृतियों की सत्प्ररूपणा की गई है।।७१।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — पुनः अब इस देशामर्शक सूत्र के द्वारा सूचित अधिकारों की प्ररूपणा करते हैं।

तद्यथा — पदमीमांसा-स्वामित्वमल्पबहुत्वं चेति त्रयोऽधिकाराः भवन्ति, एतैर्विना सत्प्ररूपणानुपपत्तेः।
तत्र पदमीमांसा उच्यते — औदारिकशरीरस्य संघातनकृतिरस्ति उत्कृष्टा अनुत्कृष्टा जघन्या अजघन्या च। एवं परिशातनकृतिस्तदुभयकृतिश्च उत्कृष्टा अनुत्कृष्टा जघन्या अजघन्या च सन्ति। इत्थमेव शेषशरीराणामपि वक्तव्यं।

पदमीमांसा गता।

स्वामित्वमुच्यते — औदारिकशरीरस्योत्कृष्टसंघातनकृतिः कस्य भवतीति चेत् ?

कथ्यते — यः कश्चित् मनुष्यो मनुष्यिनी वा तिर्यङ् तिर्यग्योनिनी वा पंचेन्द्रियः पर्याप्तः संज्ञी संख्यातवर्षायुष्कः त्रिसमयतद्भवस्थः तद्भवस्थस्य प्रथमसमयाहारकः उत्कृष्टयोगी एतेषु अन्यतरस्य उत्कृष्टा संघातनकृतिर्भवति। तद्विपरीतस्य अनुत्कृष्टा संघातनकृतिर्ज्ञातव्या। अत्र पंचेन्द्रियनिर्देशो विकलेन्द्रिय-प्रतिषेधफलः। अपर्याप्तयोगस्य प्रतिषेधार्थं पर्याप्तग्रहणं। असंज्ञियोगप्रतिषेधार्थः संज्ञिनिर्देशः। नारकेभ्य आगत्य तिर्यग्मनुष्येषु उत्पन्नस्य उत्कृष्टस्वामित्वं भवति इति ज्ञापनार्थं संख्यातवर्षायुष्कस्येति उक्तं। तृतीयसमयोत्कृष्टैकान्तानुवृद्धियोगग्रहणार्थं त्रिसमयतद्भवस्थादिवचनमस्ति।

उत्कृष्टा संघातनकृतिः कियन्ती ?

एकसमयप्रबद्धमात्रा भवति इति ज्ञातव्यं।

वह इस प्रकार है — पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्वं ये तीन अधिकार होते हैं, क्योंकि इनके बिना सत्प्ररूपणा नहीं बनती है।

उनमें से पदमीमांसा अधिकार का कथन करते हैं — औदारिकशरीर की संघातनकृति उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य चारों प्रकार की होती है। इसी प्रकार परिशातन और तदुभय कृतियाँ भी उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य के भेद से चार प्रकार की होती हैं। इसी प्रकार शेष शरीरों की पदमीमांसा का भी कथन करना चाहिए।

पदमीमांसा समाप्त हुई।

अब स्वामित्व अधिकार कहा जा रहा है — औदारिकशरीर की उत्कृष्ट संघातन कृति किसके होती है ?

ऐसा प्रश्न होने पर उसके विषय में बताते हैं —

जो कोई मनुष्य अथवा मनुष्यिनी, तिर्यच अथवा तिर्यचिनी-पंचेन्द्रिय स्त्रीवेदी तिर्यच योनि वाला जीव पर्याप्त है, संज्ञी है, संख्यात वर्ष की आयु वाला है, तीसरे समय में तद्भवस्थ हुआ है, तद्भवस्थ होने के प्रथम समयवर्ती आहारक है एवं उत्कृष्ट योग वाला है, उनमें किसी के उत्कृष्ट संघातनकृति होती है। इससे भिन्न जीव के अनुत्कृष्ट संघातनकृति होती है। यहाँ पंचेन्द्रिय पद का निर्देश विकलेन्द्रिय जीवों का प्रतिषेध करने के लिए किया है। अपर्याप्त योग का प्रतिषेध करने के लिए पर्याप्त पद को ग्रहण किया है। असंज्ञिसंबंधी योग का प्रतिषेध करने के लिए संज्ञी पद का निर्देश किया है। नारकियों में से आकर तिर्यच व मनुष्यों में उत्पन्न हुआ, ऐसा जीव उत्कृष्ट स्वामी होता है, इस बात के बतलाने के लिए 'संख्यातवर्षायुष्क' ऐसा कहा है। तृतीय समयवर्ती जीव के होने वाले उत्कृष्ट एकान्तानुवृद्धियोग का ग्रहण करने के लिए 'तृतीय समयवर्ती तद्भवस्थ' आदि पद का ग्रहण किया है।

प्रश्न — उत्कृष्ट संघातनकृति कितनी होती हैं ?

उत्तर — एक समयप्रबद्ध प्रमाण उत्कृष्ट संघातनकृति होती है, ऐसा जानना चाहिए।

औदारिकशरीरस्य उत्कृष्टा परिशातनकृतिः कस्य इति चेत् ?

कथ्यते — यः कश्चिन्मनुष्यो मनुष्यिनी वा पंचेन्द्रियतिर्यङ् पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिनी वा संज्ञी पर्याप्तः पूर्वकोट्यायुष्कः कर्मभूमिजस्य वा कर्मभूमिप्रतिभागस्य वा तस्य इयं कृतिर्भवति। येन जीवेन विवक्षित-भवस्थितप्रथमसमयप्रभृति उत्कृष्टेन योगेनाहारितं, उत्कृष्टवृद्ध्या वर्द्धितं, य उत्कृष्टयोगस्थानानि बहुशो बहुशो गच्छति, जघन्यानि न गच्छति, तत्प्रायोग्योत्कृष्टयोगी बहुशो बहुशो भवति, तत्प्रायोग्यजघन्ययोगी बहुशो बहुशो न भवति, इत्यादि विशेषणविशिष्टस्य उत्कृष्टपरिशातनकृतिर्भवति।

त्रिपल्योपमायुष्कं मुक्त्वा किमर्थं पूर्वकोट्यायुष्केषु स्वामित्वं कथितम् ?

नैष दोषः, नारकेभ्य आगतस्य भोगभूमिषु उत्पत्तेरभावात्। न च नरकभवनिमित्तकपर्यायं मुक्त्वान्यत्र औदारिकशरीरस्योत्कृष्टसंचयो भवति, अन्यत्र सुखेन जीवितस्य तिर्यग्मनुष्येषूत्पद्य अनुत्पन्नसंतोषस्य बहु-औदारिकप्रदेशग्रहणाभावात्।

अवशेषं सूत्रार्थं वर्गणाखण्डे श्रीवीरसेनाचार्यः प्ररूपयिष्यति। अत्र निर्जीर्यमाणोत्कृष्टद्रव्यं सार्धैकगुणहानि-गुणितसमयप्रबद्धमात्रं भवति, समय प्रबद्धस्य द्वितीयनिषेकप्रभृति सर्वनिषेकाणां तत्रोपलंभात्।

औदारिकशरीरस्य उत्कृष्टा संघातन-परिशातनकृतिः कस्य इति चेत् ?

एतस्य एष एवालापो वक्तव्यः। तस्य चरमसमयतद्भवस्थस्य उत्कृष्टयोगिनः उत्कृष्टा। तद्व्यतिरिक्ता अनुत्कृष्टा संघातन परिशातनकृतिर्भवति।

औदारिक शरीर की उत्कृष्ट परिशातनकृति किसके होती है ?

ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

जो कोई मनुष्य या तिर्यच अथवा पंचेन्द्रिय स्त्रीवेदी मनुष्ययोनिवाला या पंचेन्द्रिय स्त्रीवेदी तिर्यच योनिमती संज्ञी है, पर्याप्त है, पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाला है, कर्मभूमिज है, अथवा कर्मभूमिप्रतिभाग में उत्पन्न हुआ है, उसके यह कृति होती है। जिसने विवक्षित भव में स्थित होने के प्रथम समय से लेकर उत्कृष्ट योग के द्वारा आहार वर्गणाएँ ग्रहण कर ली हैं, जो उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, जो उत्कृष्ट योगस्थानों को बहुत-बहुत बार प्राप्त होता है, जघन्य योगस्थानों को प्राप्त नहीं होता है, जो तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट योगवाला बहुत-बहुत बार होता है, तत्प्रायोग्य जघन्ययोगवाला बहुत-बहुत बार नहीं होता है इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट जीव के उत्कृष्ट परिशातनकृति होती है।

शंका — तीन पल्योपम आयु वाले तिर्यच व मनुष्य को छोड़कर पूर्वकोटि मात्र आयु वालों में स्वामित्व किसलिए कहा है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि नारकियों में से आये हुए जीव की भोगभूमियों में उत्पत्ति नहीं होती है। नारक भव से पीछे आई हुई पर्याय के सिवा अन्यत्र औदारिक शरीर का उत्कृष्ट संचय होता है, क्योंकि अन्यत्र सुखपूर्वक जीवन बिताकर जो जीव तिर्यच व मनुष्यों में उत्पन्न होता है, उसके असंतोष उत्पन्न न होने से बहुत औदारिक प्रदेशों का ग्रहण नहीं होता है।

शेष सूत्रार्थ श्री वीरसेनाचार्य वर्गणाखण्ड में कहेंगे। यहाँ पर निर्जीर्ण होने वाल उत्कृष्ट द्रव्य डेढ़ गुणहानिगुणित समयप्रबद्ध मात्र होता है, क्योंकि समयप्रबद्ध के द्वितीय निषेक से लेकर सब निषेक वहाँ पाये जाते हैं।

औदारिक शरीर की उत्कृष्ट संघातन परिशातनकृति किसके होती है ?

इसके यही आलाप कहना चाहिए। यह जीव अब विवक्षित भव के अन्तिम समय में स्थित होता है और उत्कृष्ट योग वाला होता है तब उसके औदारिक शरीर की उत्कृष्ट संघातन-परिशातनकृति होती है। इससे भिन्न

शेषं सुगमं। अत्र संचयः सार्धैकसमयप्रबद्धमात्रोऽसंख्यातसमयप्रबद्धमात्रो वा।

औदारिकशरीरस्य जघन्या संघातनकृतिः कस्य ?

अन्यतरस्य सूक्ष्मस्य अपर्याप्तस्य प्रत्येकशरीरस्य अनादिलम्भे पतितस्य प्रथमसमयतद्भवस्थस्य प्रथम-समयाहारकस्य सर्वजघन्ययोगस्य औदारिकशरीरस्य जघन्या संघातनकृतिः। तद्व्यतिरिक्ता अजघन्या।

‘अनादिलम्भे पतितस्य। इति किमर्थमुच्यते ?

न, प्रथमलम्भे सर्वजघन्योपपादयोगानुपलम्भात्। अस्मिन् प्रकरणे श्रीवीरसेनाचार्यः सूत्रे किञ्चिन्मतभेदं प्रदर्शयति तत्र कस्यचिदपि निषेधो न कर्तव्य इति ब्रवीति—

“पत्नेयसरीरस्से त्ति संतकम्मपयडिपाहुडवयणं पुव्वकोडायुगचरिमसमए उक्कस्ससामित्तणिद्देसो च सुत्तविरुद्धो त्ति णाणायरो कायव्वो, दोण्णं सुत्ताणं विरोहे संते त्थप्पावलंबणस्स णाइयत्तादो^१।”

एतेन आचार्यदेवस्य आगमस्य विषये कदाचित् सूत्रयोर्द्वयोर्मतभेदे सति पापभीरुत्वं दृश्यते। किं च एकस्य सूत्रस्य असत्यकथने सति पापभीरुत्वं नश्यति। द्वयोर्मध्ये किं सत्यं किमसत्यं वा इति केवलि-श्रुतकेवलिनोरभावात् संप्रति कथयितुं न शक्यते।

औदारिकशरीरस्य जघन्या परिशातनकृतिः कस्य ?

अनुत्कृष्ट संघातन-परिशातन कृति है।

यह कथन सुगम है। यहाँ संचय डेढ गुणहानिगुणित समयप्रबद्धमात्र अथवा असंख्यात समयप्रबद्ध मात्र होता है।

औदारिक शरीर की जघन्य संघातनकृति किसके होती है ?

जो कोई जीव सूक्ष्म है, अपर्याप्त है, प्रत्येकशरीर है, अनादिलम्भ में पतित है अर्थात् जिसने अनेक बार इस पर्याय को ग्रहण किया है, प्रथम समय में तद्भवस्थ हुआ है, प्रथम समय से आहारक है और सबसे जघन्य योग वाला है, उसके औदारिक शरीर की जघन्य संघातनकृति होती है। इससे भिन्न अजघन्य संघातनकृति होती है।

शंका — ‘अनादिलम्भ में पतित’ यह किसलिए कहा जाता है ?

समाधान — नहीं, चूँकि प्रथम लम्भ में सर्व जघन्य उपपादयोग नहीं पाया जाता है, अतः ‘अनादिलम्भ में पतित’ ऐसा कहा है। इस प्रकरण में श्री वीरसेनाचार्य ने सूत्र में किञ्चित् मतभेद प्रदर्शित करके भी किसी का भी निषेध नहीं करना चाहिए, ऐसा कहा है —

“प्रत्येक शरीर के” यह सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत का वचन और पूर्वकोटि प्रमाण आयु के अन्तिम समय में उत्कृष्ट स्वामित्व का निर्देश, ये दोनों वचन सूत्र विरुद्ध हैं, फिर भी इनका अनादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि दो सूत्रों के मध्य में विरोध होने पर चुप्पी का अवलम्बन करना ही न्याय्य है।”

इस कथन से आगम के विषय में कदाचित् दो सूत्रों में मतभेद होने पर आचार्यदेव की पापभीरुता देखी जाती है, क्योंकि एक सूत्र को असत्य कहने पर पापभीरुता नष्ट होती है। दो कथन में कौन सा सत्य है और कौन सा असत्य है, यह केवली-श्रुतकेवली के अभाव में आज बतलाना — निर्णय करना शक्य नहीं है।

प्रश्न — औदारिकशरीर की जघन्य परिशातनकृति किसके होती है ?

अन्यतरस्य बादरवायुकायिकजीवस्य, येन प्रथमसमयतदभवस्थप्रभृति जघन्येन योगेन आहारितं, जघन्यवृद्ध्या वद्धितं, जघन्य योगस्थानानि बहुशो बहुशो गच्छति, उत्कृष्टयोगस्थानानि न गच्छति, तत्प्रायोग्यजघन्ययोगी बहुशो बहुशो भवति, तत्प्रायोग्य-उत्कृष्टयोगी बहुशो बहुशो न भवति, अधस्तनस्थितीनां निषेकस्य उत्कृष्टपदं, उपरितनस्थितीनां निषेकस्य जघन्यपदं च करोति। यः सर्वलघुं पर्याप्तिं गतः, सर्वलघुं उत्तरशरीरविक्रियां समापितः, सर्वचिरेण कालेन जीवप्रदेशान् निक्षेपयति, सर्वचिरेण कालेन उत्तरशरीरविक्रियां प्राप्तः, तस्य चरमसमयानिवृत्तिबादरवायुकायिकजीवस्य औदारिकशरीरस्य जघन्या परिशातनकृतिः।

तद्विपरीता अजघन्या।

सुगममेतत्।

जघन्या संघातन-परिशातनकृतिः कस्य ?

अन्यतरस्य सूक्ष्मस्य अपर्याप्तस्य प्रत्येकशरीरस्य अनादिलंभे पतितस्य द्विसमयतदभवस्थस्य द्वितीयसमयाहारकस्य तत्प्रायोग्यजघन्ययोगिनो जघन्या संघातन-परिशातनकृतिर्ज्ञातव्या। तद्विपरीता अजघन्या। सुगमं।

वैक्रियिकशरीरस्य उत्कृष्टा संघातनकृतिः कस्य ?

अन्यतरस्य वैमानिकदेवस्य सर्वमहन्तमसंबद्धरूपं विक्रियमाणस्य तस्य उत्तरशरीरविक्रियमाणप्रथमसमय-स्थितस्य उत्कृष्टयोगिनः वैक्रियिकस्य उत्कृष्टसंघातनकृतिर्भवति। तद्विपरीता अनुत्कृष्टा।

उत्तर — किसी एक बादर वायुकायिक जीव के होती है। जिस बादर वायुकायिक जीव ने उस भव में स्थित होने के प्रथम समय से लेकर जघन्य योग के द्वारा आहारक वर्गणाएँ ग्रहण की हैं, जो जघन्य वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, जो जघन्य योगस्थानों को बहुत-बहुत बार प्राप्त होता है, उत्कृष्ट योगस्थानों को नहीं प्राप्त होता है, उसके योग्य जघन्य योग वाला बहुत-बहुत बार होता है, उसके योग्य उत्कृष्ट योग वाला बहुत-बहुत बार नहीं होता है। अधस्तन स्थितियों के निषेक के उत्कृष्ट पद को करता है, उपरितन स्थितियों के निषेक के जघन्य पद को करता है, जो सर्वलघु काल में पर्याप्ति को प्राप्त हुआ है, सर्वलघु काल में उत्तर-शरीर की विक्रिया को समाप्त कर लेता है, सर्व चिर — सबसे दीर्घ काल से जीव प्रदेशों का निक्षेपण करता है, सर्व चिर-दीर्घकाल से उत्तरशरीर की विक्रिया को प्राप्त हुआ है, उस अंतिम समयवर्ती अनिवृत्ति बादरवायुकायिक जीव के औदारिक शरीर की जघन्य परिशातनकृति होती है।

इससे भिन्न अजघन्य परिशातनकृति है।

यह कथन सुगम है।

प्रश्न — औदारिक शरीर की जघन्य संघातन-परिशातनकृति किसके होती है ?

उत्तर — जो कोई सूक्ष्म अपर्याप्त प्रत्येक शरीर का जीव अनादिलम्भ में पतित है, दूसरे समय में तदभवस्थ हुआ है, आहारक होने के दूसरे समय में स्थित है और उसके योग्य जघन्य योग से युक्त है, उसके औदारिक शरीर की जघन्य संघातन-परिशातनकृति होती है। उससे भिन्न अजघन्य संघातन-परिशातनकृति है।

यह कथन सुगम है।

प्रश्न — वैक्रियिकशरीर की उत्कृष्ट संघातनकृति किसके होती है ?

उत्तर — जो कोई वैमानिक देव सबसे बड़े असंबद्धरूप की विक्रिया कर रहा है, उस उत्तरशरीर की विक्रिया करने के प्रथम समय में स्थित रहने वाले और उत्कृष्ट योग वाले जीव के वैक्रियिक शरीर की उत्कृष्ट संघातनकृति है इससे विपरीत अनुत्कृष्ट संघातनकृति है।

मूलशरीरात् पृथग्भूतशरीरविक्रियमाणेऽपि मूलशरीरस्य उत्तरशरीरस्येव वैक्रियिकनामकर्मोदयेन आगच्छन्तः पुद्गलस्कंधाः सन्ति, निर्जीर्यमाणा अपि सन्ति, उभयत्र जीवप्रदेशसंभवात्। ततोऽत्र संघातनकृतिर्न युज्यते, किन्तु संघातन-परिशातनकृतिश्चैवात्र भवति, द्वयोः सार्धमेवोपलंभात् इति चेत् ?

नैषः दोषः, मूलशरीरात् पृथग्भूतशरीरे विक्रियमाणे परिशातनकृतिमन्तरेण संघातनकृतिश्चैवेति कृत्वा संघातनत्वाभ्युपगमात्।

शेषं सुगमं।

वैक्रियिकशरीरस्य उत्कृष्टा परिशातनकृतिः कस्य ?

अन्यतरो मनुष्यो मनुष्यिनी वा तिर्यङ् पंचेन्द्रियः पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिनी वा संज्ञी पर्याप्तः पूर्वकोट्यायुष्कः कर्मभूमिजो वा कर्मभूमिप्रतिभागजो वा तस्य भवति, इत्यादि।

वैक्रियिकशरीरस्य उत्कृष्टसंघातन-परिशातनकृतिः कस्य ?

अन्यतरस्य आरणाच्युतदेवस्य द्वाविंशतिसागरोपमायुष्कस्य भवति। तेन तद्भवस्थप्रथमसमयादारभ्य उत्कृष्टयोगेन आहारं गृहीतं, उत्कृष्टवृद्ध्या वर्द्धितं, अधस्तनस्थितीनां निषेकस्य जघन्यपदं, उपरितनस्थितीनां निषेकस्योत्कृष्टपदं करोति, यस्य भाषाकालोऽल्पः, मनोयोगकालोऽल्पः, भाषाकालो ह्रस्वः, मनोयोगकालो ह्रस्वः, अन्तर्मुहूर्ते जीवितावशेषे विक्रियां न प्राप्तः, अन्तर्मुहूर्ते जीवितावशेषे योगस्थानानामुपरिमभागो

शंका — मूलशरीर से पृथग्भूत शरीर की विक्रिया करने पर भी उत्तरशरीर के समान मूलशरीर के लिए भी वैक्रियिक नामकर्म के उदय से पुद्गलस्कंध आते हैं और उनकी निर्जरा भी होती है, क्योंकि दोनों शरीरों में जीवप्रदेशों की संभावना है। इस कारण यहाँ पर वैक्रियिक शरीर की संघातनकृति नहीं बनती। किन्तु इसके संघातन-परिशातनकृति ही होती है, क्योंकि दोनों ही एक साथ उपलब्ध होती हैं ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि मूलशरीर से पृथग्भूत शरीर की विक्रिया करने पर परिशातनकृति के बिना संघातनकृति ही होती है, ऐसा मानकर संघातनकृति स्वीकार की गई है।

शेष कथन सुगम है।

प्रश्न — वैक्रियिक शरीर की उत्कृष्ट परिशातनकृति किसके होती है ?

उत्तर — जो कोई मनुष्य या मनुष्यिनी अथवा पंचेन्द्रिय तिर्यच या पंचेन्द्रिय तिर्यच योनिमती संज्ञी है, पर्याप्त है, पूर्वकोटि प्रमाण आयु से संयुक्त है, कर्मभूमिज है अथवा कर्मभूमि के प्रतिभाग में रहने वाला है उसके होती है।

प्रश्न — वैक्रियिकशरीर की उत्कृष्ट संघातन-परिशातनकृति किसके होती है ?

उत्तर — जो कोई आरण-अच्युत कल्पवासी देव, बाईस सागरोपम आयु वाला है। जिसने उस भव में स्थिर होने के प्रथम समय से लेकर उत्कृष्ट योग के द्वारा आहारवर्गणा ग्रहण किया है, जो उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, अधस्तन स्थितियों के निषेक का जघन्य पद करता है, उपरिम स्थितियों के निषेक का उत्कृष्ट पद करता है, जिसका भाषाकाल अल्प है, मनोयोगकाल अल्प है, भाषाकाल ह्रस्व है, मनोयोग का काल ह्रस्व है, अन्तर्मुहूर्त जीवित रहने पर विक्रिया को नहीं प्राप्त किया है, अन्तर्मुहूर्त मात्र जीवित के शेष होने पर जो योगस्थानों के उपरिम भाग में अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है, चरम — अंतिम समय में जीव गुणहानि स्थान के मध्य में आवली के असंख्यातवें भाग काल तक रहता है तथा जो चरम व द्विचरम समय

अन्तर्मुहूर्त स्थितः, चरमे जीवगुणहानिस्थानान्तरे आवलिकाया असंख्यभागं स्थितः, चरम-द्विचरमसमये उत्कृष्टयोगं गतः, तस्य चरमसमये तद्भवस्थस्य उत्कृष्टा तदुभयकृतिः। तद्व्यतिरिक्ता अनुत्कृष्टा।

सुगमं।

वैक्रियिकस्य जघन्या संघातनकृतिः कस्य ?

यः कश्चिन्नारकी देवो वा असंज्ञिपर्यायात् प्रत्यागतः प्रथमसमयतद्भवस्थः प्रथमसमयाहारकः तत्प्रायोग्यजघन्ययोगसंयुक्तः, तस्य जघन्या वैक्रियिकसंघातनकृतिः। तद्व्यतिरिक्ता अजघन्या।

वैक्रियिकस्य जघन्या परिशातनकृतिः कस्यचित् बादरवायुकायिकजीवस्य भवति। यः सर्वलघुं पर्याप्तिं गतः, सर्वलघुं उत्तरशरीरस्य विक्रिया कृता इत्यादि।

तद्व्यतिरिक्ताऽजघन्या।

वैक्रियिकस्य जघन्या संघातनपरिशातनकृतिः, अन्यतरस्य बादरवायुजीवस्य, इत्यादि।

तद्व्यतिरिक्ता अजघन्या।

अधुना आहारशरीरस्य कृतिः निरूप्यते—

आहारशरीरस्य उत्कृष्टा संघातनकृतिः कस्यचित् संयतस्य आहारकशरीरस्य प्रथमसमयाहारकस्य उत्कृष्टयोगसहितस्य भवति। तद्व्यतिरिक्ता अनुत्कृष्टा।

एवमेव परिशातनकृतिः संघातनपरिशातनकृतिश्चापि ज्ञातव्या।

तथैव जघन्याश्चापि टीकायां द्रष्टव्याः।

में उत्कृष्ट योग को प्राप्त है, उस भव में स्थित उसके चरम समय में उत्कृष्ट तदुभय कृति होती है। इससे विपरीत अनुत्कृष्ट कृति होती है।

शेष कथन सुगम है।

प्रश्न—वैक्रियिकशरीर की जघन्य संघातनकृति किसके होती है ?

उत्तर—जो कोई जीव असंज्ञी पर्याय से वापिस आकर नारकी व देव हुआ है, प्रथम समय में तद्भवस्थ हुआ है, प्रथम समय में आहारक हुआ है तथा उसके योग्य जघन्य योग से संयुक्त है, उसके जघन्य वैक्रियिकशरीर की संघातनकृति होती है। इससे भिन्न अजघन्य संघातनकृति होती है।

वैक्रियिकशरीर की जघन्य परिशातनकृति किसी बादर वायुकायिक जीव के होती है, जिसने सर्वलघु काल में पर्याप्ति को प्राप्त किया है, सर्वलघु काल में उत्तरशरीर की विक्रिया की है इत्यादि।

उससे भिन्न अजघन्य परिशातनकृति है।

वैक्रियिकशरीर की जघन्य संघातन-परिशातनकृति अन्यतर बादर वायुकायिक जीव के होती है। जो सर्वलघु काल में पर्याप्ति को प्राप्त हुआ है, जिसने सर्वलघु काल में उत्तरशरीर की विक्रिया की है।

इससे भिन्न अजघन्य संघातन-परिशातन कृति है।

अब आहारक शरीर की कृति का निरूपण करते हैं—

आहारकशरीर की उत्कृष्ट संघातनकृति किसी आहारक शरीर वाले संयत के आहारक होने के प्रथम समय में उत्कृष्ट योग से संयुक्त होने पर आहारकशरीर की उत्कृष्ट संघातनकृति होती है। इससे भिन्न अनुत्कृष्ट संघातनकृति होती है।

इसी प्रकार परिशातनकृति और संघातन-परिशातनकृति को भी जानना चाहिए।

उसी प्रकार से जघन्य कृति को भी टीका में देखना चाहिए।

संप्रति तैजसशरीरस्य कृतिः कथ्यते —

तैजसशरीरस्य उत्कृष्टपरिशातनकृतिः कस्य भवति ? यः कश्चित् जीवः मध्ये अन्तर्मुहूर्तकालस्यान्तरं दत्तैव त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकान् द्विनारकभवान् प्राप्नोति, येन तस्मिन् तस्मिन् प्रथमसमयतद्भवस्थप्रभृति उत्कृष्टेन योगेन आहारवर्गणां संप्राप्तः, उत्कृष्टवृद्ध्या वर्द्धितः, उत्कृष्टयोगस्थानानि बहुशो बहुशो गतः, जघन्ययोगस्थानानि न गतः, अधस्तनस्थित स्थानैर्निषेकस्य जघन्यपदं, उपरिमस्थितिस्थानैर्निषेकस्योत्कृष्टपदं करोति, अन्तर्मुहूर्ते जीवितावशेषे योगस्थानानामुपरिमभागोऽन्तर्मुहूर्त स्थितः, चरमगुणहानिस्थानान्तरे आवलिकाया असंख्यातभागं स्थितः, द्विचरम-चरमयोः समययोः उत्कृष्टयोगं गतः, चरमसमये ततः पर्यायात् उद्वर्त्य — निष्क्रम्य जल-स्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यग्योनिमतीषु उत्पन्नः, तस्मिन् प्रथमसमयप्रभृति स एवालापः कथयितव्यः।

पुनः नरकगतिं गत्वा ततो निर्गत्य जल-स्थलचरपंचेन्द्रियेषु उत्पन्नः, तस्मिन् भवेऽन्तर्मुहूर्त जीवित्वा मृतः, तत्पश्चात् गर्भोपक्रान्तिकेषु मनुष्येषु उत्पन्नः, सर्वलघुं योनिनिष्क्रमणजन्मना जातः, सर्वलघुं सम्यक्त्वं प्रतिपन्नः, अष्टवर्षिकः संयमं प्रतिपन्नः, सर्वलघुं ज्ञानमुत्पादयति, शैलेशप्रतिपन्नः, तस्य प्रथमसमयायोगिनः उत्कृष्टा तैजसशरीरस्य परिशातनकृतिर्भवति। तद्व्यतिरिक्ता अनुत्कृष्टा।

अष्टवर्षादध एव सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते इति ज्ञापनार्थं 'सर्वलघुं सम्यक्त्वं प्रतिपन्न' इत्युक्तं। संयमं पुनः अष्टवर्षेभ्योऽधो न भवतीति ज्ञापनार्थं 'अष्टवर्षीयः संयमं प्रतिपन्नः' इति भणितं। येन तैजसशरीरनोकर्मस्थितिः

अब तैजस शरीर की कृति का कथन करते हैं —

तैजस शरीर की उत्कृष्ट परिशातनकृति किसके होती है ?

जो जीव मध्य में अन्तर्मुहूर्त काल का अन्तर देकर तेतीस सागरोपम स्थिति वाले दो नारक भवों को प्राप्त करता है, ऐसा करते हुए जिसने उस-उस भव में तद्भवस्थ होने के प्रथम समय से लेकर दोनों बार उत्कृष्ट योग के साथ आहारवर्गणा को ग्रहण किया है, जो उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, उत्कृष्ट योग स्थानों को बहुत-बहुत बार प्राप्त हुआ है, जघन्य योगस्थानों को बहुत-बहुत बार नहीं प्राप्त हुआ है, अधस्तन स्थिति स्थानों के निषेक के जघन्य पद को और उपरिम स्थिति स्थानों के निषेक के उत्कृष्ट पद को करता है, आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर योगस्थानों के उपरिम भाग में स्थित रहा है, अन्तिम गुणहानिस्थान के मध्य में आवली के असंख्यातवें भाग मात्र काल तक स्थित रहा है, द्विचरम व चरम समय में उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ है, अन्तिम समय में उक्त पर्याय से निकलकर जलचर व थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यच योनिमती जीवों में उत्पन्न हुआ है, उस जीव में प्रथम समय से लेकर वही आलाप कहना चाहिए।

तत्पश्चात् फिर से नरकगति को प्राप्त हो व वहाँ से निकलकर जलचर व थलचर पंचेन्द्रियों में उत्पन्न हुआ है, फिर उस भव में अन्तर्मुहूर्त काल तक जीवित रहकर मरण को प्राप्त हो गर्भज मनुष्यों में उत्पन्न हुआ है, उसमें भी जो सर्वलघु काल में योनिनिष्क्रमणरूप जन्म से उत्पन्न हुआ है, अर्थात् सात मास गर्भ में रहकर ही जन्म ले लिया है, सर्वलघु काल में सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ है, आठ वर्ष का होकर संयम को प्राप्त हो सर्वलघु काल में केवलज्ञान को उत्पन्न करता है तथा सर्वलघु काल में जो शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुआ है, उस प्रथम समयवर्ती अयोगकेवली के तैजस शरीर की उत्कृष्ट परिशातनकृति होती है। इससे भिन्न अनुत्कृष्ट परिशातनकृति है।

आठ वर्ष से पहले ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, इस बात को बतलाने के लिए 'सर्वलघुकाल में सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ है' ऐसा कहा है। परन्तु संयम आठ वर्ष के नीचे नहीं होता है, इस बात को बतलाने

षट्षष्टिसागरोपममात्रास्ति तेन द्वितीयवारं नारकभवग्रहणमन्तर्मुहूर्तानत्रयस्त्रिंशत्सागरस्थितिप्रमाणमिति वक्तव्यं। शेषं सुगमं।

तैजससंघातनपरिशातनकृतिः उत्कृष्टा द्वितीयवारं नरकभवग्रहणे चरमसमयतद्भवस्थस्य भवति। तद्व्यतिरिक्ता अनुत्कृष्टा। सुगमं।

तैजसशरीरस्य जघन्या परिशातनकृतिः कस्य ?

यो जीवः षट्षष्टिसागरोपमपर्यन्तं सूक्ष्मेषु स्थितः, तस्मिन् पर्याप्तपर्याप्तयोर्भवग्रहणानि करोति, बहुवारं अपर्याप्तभवान् स्तोकवारांश्च पर्याप्तभवान् बभूवुः। अस्य अपर्याप्तकाला दीर्घाः पर्याप्तकालाः ह्रस्वा — अल्पाः। येन जघन्ययोगेन आहारग्रहणं कृतं, जघन्यवृद्ध्या वृद्धिगतः, जघन्ययोगस्थानानि बहुशो बहुशो गतः, उत्कृष्टयोगस्थानानि न गतः। अधस्तनस्थितिस्थानैर्निषेकस्य उत्कृष्टपदं, उपरितनस्थितिस्थानैर्निषेकस्य जघन्यपदं करोति। ततो निर्गत्य तिर्यक्षूतपन्नः, अन्तर्मुहूर्तं जीवित्वा उद्वर्त्य पूर्वकोट्यायुष्केषु मनुष्येषु उत्पन्नः, सर्वलघुं योनिनिष्क्रमणजन्मना जातः, सर्वलघुं सम्यक्त्वं प्रतिपन्नः, अष्टवर्षायुष्कः संयमं प्रतिपन्नः, सर्वलघुं केवलज्ञानमुत्पादयति, उत्पन्नज्ञानदर्शनधरो जिनः केवली देशोऽन्तर्मुहूर्तावशेषे जीवितावशेषे शैलेश्यं प्रतिपन्नः, तस्य चरमसमयभवसिद्धिकस्य क्षपितकर्माशिकस्य जघन्या परिशातनकृति-र्भवति। तद्व्यतिरिक्ता अजघन्या भवति। सुगमं।

के लिए 'आठ वर्षीय होकर संयम को प्राप्त हुआ है' ऐसा कहा है। चूँकि तैजसशरीर नोकर्म की स्थिति छ्यासठ सागरोपम प्रमाण है अतः दूसरी बार नरक पर्याय का ग्रहण अन्तर्मुहूर्त कम तेतीस सागर स्थिति प्रमाण होता है, ऐसा कहना चाहिए। शेष कथन सुगम है।

तैजस शरीर की उत्कृष्ट संघातन परिशातनकृति दूसरी बार नारक भव के ग्रहण करने पर उस भव में स्थित रहने के अंतिम समय को प्राप्त हुए नारकी के तैजस शरीर की उत्कृष्ट संघातन परिशातनकृति होती है। इससे भिन्न अनुत्कृष्ट संघातन परिशातनकृति है। यह कथन सुगम है।

तैजस शरीर की जघन्य परिशातनकृति किसके होती है ?

जो जीव छ्यासठ सागरोपमकाल तक सूक्ष्म जीवों में रहा है और वहाँ रहते हुए जो पर्याप्त व अपर्याप्त भवों को ग्रहण करता है, इनमें जिसके अपर्याप्त भव बहुत हुए हैं और पर्याप्त भव थोड़े हुए हैं, अपर्याप्तकाल दीर्घ रहे हैं पर्याप्त काल अल्प रहे हैं, जिसने जघन्य योग से आहार वर्गणाओं को ग्रहण किया है, जघन्य वृद्धि से जो वृद्धि को प्राप्त हुआ है, जो जघन्य योगस्थानों को बहुत-बहुत बार प्राप्त हुआ है, उत्कृष्ट योगस्थानों को बहुत-बहुत बार प्राप्त नहीं हुआ है। जो अधस्तन स्थिति स्थानों के द्वारा निषेक का उत्कृष्ट पद करता है और उपरिम स्थिति स्थानों के द्वारा निषेक का जघन्य पद करता है, पश्चात् सूक्ष्म पर्याय से निकलकर जो तिर्यचों में उत्पन्न हुआ और अन्तर्मुहूर्त काल तक जीवित रहकर वहाँ से निकल कर पूर्वकोटि प्रमाण आयु वाले मनुष्यों में आकर अतिशीघ्र योनिनिष्क्रमणरूप जन्म से उत्पन्न हुआ है, जिसने अति शीघ्र सम्यक्त्व को प्राप्त किया है, जो आठ वर्ष का होकर संयम को प्राप्त हो अतिशीघ्र केवलज्ञान को उत्पन्न करता है, फिर उत्पन्न हुए केवलज्ञान व केवलदर्शन से सहित होकर केवली जिन होता हुआ कुछ कम एक पूर्वकोटि काल तक विहार करता है तथा अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु के शेष रहने पर शैलेशी भाव को प्राप्त हुआ है, ऐसे उस चरम समयवर्ती भव्यसिद्धिक और क्षपितकर्माशिक जीव के जघन्य परिशातनकृति होती है। इससे भिन्न अजघन्य परिशातनकृति है। शेष कथन सुगम है।

तैजसशरीरस्य संघातन-परिशातनकृतिर्जघन्या कस्य भवतीति चेत् ?

यो जीवः षट्षष्टिसागरोपमाणि सूक्ष्मेषु स्थितः। एवं यावदुपरिमस्थितिस्थानैर्निषेकस्य जघन्यपदं भवति तावन्नेतव्यं। ततः सूक्ष्मैः पर्याप्तकैरुत्पन्नस्तस्य तस्मिन् पर्याप्तिभिः पर्याप्त्यपर्याप्तिभिरभीक्ष्णवृद्ध्या एकान्तवर्द्धमानस्य अपर्याप्तकस्य यस्मिन् समये बहुशो बंधो, निर्जरा च न भवति तस्मिन् समये स्थितः, तस्य तैजसशरीरस्य जघन्या संघातन-परिशातनकृतिर्भवति। तद्व्यतिरिक्ता अजघन्या।

कश्चिदाह — एकान्तानुवृद्ध्या स्वामित्वं किमर्थं दत्तम्?

आचार्यः प्राह — परिणामयोगैः संचितपुद्गलस्कंधगलनार्थं एकान्तानुवृद्ध्या स्वामित्वं कथितमस्ति।

अधुना कार्मणशरीरस्य कृतिरुच्यते —

कार्मणशरीरस्य उत्कृष्टपरिशातनकृतिः कस्य ?

यो जीवो द्विसहस्रसागरोपमैर्हीनत्रिंशत्कोटाकोटीसागरकालपर्यंतं बादरजीवेषु स्थितः, तत्र पर्याप्ता-पर्याप्तकानि भवग्रहणानि करोति, तत्र बहुकानि पर्याप्तकानि, स्तोकानि अपर्याप्तकानि, दीर्घाः पर्याप्तकालाः ह्रस्वा अपर्याप्तकाला भवन्ति, एवं कृत्वा उत्कृष्टेन योगेन आहारग्रहणं कृतं। उत्कृष्टवृद्ध्या वर्द्धितः, बहुशो बहुशो उत्कृष्टानि योगस्थानानि गतः, जघन्यानि न गतः, संक्लेशं बहुशो जातः, इत्थं बहुशः तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशयुक्तो भूत्वा विशुद्ध्या सन् तत्प्रायोग्यजघन्यविशुद्धिसहितः, अधस्तन-स्थितिस्थानैर्निषेकस्य जघन्यपदमुपरिमस्थितिस्थानैर्निषेकस्य उत्कृष्टपदं करोति, तत उद्वर्त्य बादरत्रसेषु उत्पन्नः।

प्रश्न — तैजस शरीर की जघन्य संघातन-परिशातनकृति किसके होती है ?

उत्तर — जो जीव छयासठ सागरोपम काल तक सूक्ष्म जीवों में रहा है। इस प्रकार उपरिम स्थिति स्थानों के निषेक के जघन्य पद के प्राप्त होने तक आलाप ले जाना चाहिए। पश्चात् जो सूक्ष्म पर्याप्तकों से उत्पन्न हुआ है, उससे उस भव में पर्याप्तियों पर्याप्ति-अपर्याप्तियों से अभीक्ष्ण वृद्धि द्वारा एकान्त वृद्धि से बढ़ते हुए अपर्याप्तक जीव के जिस समय में बहुत बंध और निर्जरा नहीं देखी होती है, उसके तैजस शरीर की जघन्य संघातनपरिशातनकृति होती है। इससे भिन्न अजघन्य संघातन-परिशातनकृति होती है।

यहाँ कोई शंका करता है कि — एकान्तानुवृद्धि से स्वामित्व किसलिए दिया — किया है ?

आचार्य समाधान देते हैं कि — परिणामयोगों से संचित पुद्गलस्कंधों के गलाने के लिए एकान्तानुवृद्धि से स्वामित्व कहा है।

अब कार्मणशरीर की कृति कहते हैं —

प्रश्न — कार्मणशरीर की उत्कृष्ट परिशातनकृति किसके होती है ?

उत्तर — जो जीव दो हजार सागरोपमों से हीन तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल तक बादर जीवों में रहा है, वहाँ रहते हुए जो पर्याप्त व अपर्याप्त भवग्रहणों को करता है, वहाँ पर्याप्त भव अधिक और अपर्याप्त भव थोड़े होते हैं तथा पर्याप्त भवों का काल दीर्घ और अपर्याप्त भवों का काल ह्रस्व होता है। जो उत्कृष्ट योग से आहार को ग्रहण करता है, उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त होता है, जो बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त होता है, जघन्य योगस्थानों को नहीं प्राप्त होता है, संक्लेश को बहुत बार प्राप्त होता है, इस प्रकार बहुत उसके योग्य उत्कृष्ट संक्लेश से युक्त होकर विशुद्धि को प्राप्त होता हुआ उसके योग्य जघन्य विशुद्धि से सहित होता है, अधस्तन स्थिति स्थानों के निषेक का जघन्य पद व उपरिम स्थिति स्थानों के निषेक का उत्कृष्ट पद करता है, पश्चात् उस पर्याय से निकलकर बादर त्रसों में उत्पन्न होता है।

अत्र कश्चिदाशंकते — त्रसेषु किं सूक्ष्माः सन्ति ?

आचार्यदेवः समाधत्ते —

न सन्ति, तस्मिन् पर्याप्ता अपर्याप्ता इति भेदोपलंभात् बादरवचनेनात्र त्रसपर्याप्तानां ग्रहणं कर्तव्यम्। तत्रापि उपरिमस्थितिस्थानेऽधस्तनस्थितिस्थानैर्निषेकस्य उत्कृष्टपदं करोति, सम्यक्त्वं संयमं वा न किञ्चित् गुणं प्रतिपद्यते, तदा पश्चिमेषु भवग्रहणेषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमिकेषु नारकेषु उत्पन्नः। उपरि यथा तैजसशरीरस्य उत्कृष्ट परिशातनकृतेः प्ररूपणा कृता तथा प्ररूपयितव्या। विशेषेण तु बहुशो बहुशो बहुसंकलेशं गत इति वक्तव्यं।

द्विचरम-त्रिचरमसमये उत्कृष्टसंकलेशं गतः, चरमद्विचरमसमये उत्कृष्टयोगं गत इति वक्तव्यं। एवं विधानेन आगतप्रथमसमयवर्ति-अयोगिजिनस्य उत्कृष्टा परिशातनकृतिर्भवति।

तद्व्यतिरिक्ता अनुत्कृष्टा। सुगमं।

संघातन-परिशातनकृतिः उत्कृष्टा एवमेव वक्तव्या भवति। विशेषेण तु सप्तमपृथिवीनारकस्य चरमसमये उत्कृष्टा भवति।

तद्व्यतिरिक्ता अनुत्कृष्टा भवति।

कार्मणशरीरस्य जघन्या परिशातनकृतिः कस्य ?

यो जीवः पल्योपमस्य असंख्यातभागेन ऊनं त्रिंशत्कोटाकोटीसागरोपमकालपर्यन्तं सूक्ष्मजीवेषु स्थितः, तत्र स्तोकाः पर्याप्तभवा बहवोऽपर्याप्तभवाश्च गृहीताः, दीर्घकालं अपर्याप्तेषु ह्रस्वकालं पर्याप्तेषु स्थितः।

यहाँ कोई शंका करता है — क्या त्रसों में सूक्ष्म होते हैं ?

आचार्यदेव समाधान देते हैं —

नहीं होते हैं। उनमें पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद अवश्य होते हैं। इसलिए यहाँ 'बादर' इस वचन से त्रस पर्याप्तों का ग्रहण करना चाहिए। वहाँ भी जो ऊपर के स्थिति स्थान में अधस्तन स्थिति स्थानों की अपेक्षा निषेक का उत्कृष्ट पद करता है, सम्यक्त्व या संयम किसी भी गुण को नहीं प्राप्त होता है, पश्चात् जो अन्तिम भवग्रहणों में तेतीस सागरोपम स्थितियुक्त नारकियों में उत्पन्न हुआ है, इसके आगे जैसे तैजस शरीर की उत्कृष्ट परिशातनकृति में प्ररूपणा की है वैसे ही प्ररूपणा करनी चाहिए। इतनी विशेषता है कि यहाँ बहुत संकलेश को बहुत-बहुत बार प्राप्त हुआ, ऐसा कहना चाहिए।

द्विचरम व त्रिचरम समय में उत्कृष्ट संकलेश को प्राप्त हुआ और चरम व द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ, ऐसा कहना चाहिए। इस प्रकार इस विधान से आये हुए प्रथम समयवर्ती अयोगिजिन के उत्कृष्ट परिशातनकृति होती है।

इससे भिन्न अनुत्कृष्ट परिशातनकृति है। शेष कथन सुगम है।

इसी प्रकार उत्कृष्ट संघातन-परिशातनकृति का भी कथन करना चाहिए। विशेष इतना है कि सप्तम पृथिवी के नारकी के अन्तिम समय में उत्कृष्ट संघातन-परिशातनकृति होती है।

इससे भिन्न अनुत्कृष्ट संघातन-परिशातनकृति है।

प्रश्न — कार्मणशरीर की जघन्य परिशातनकृति किसके होती है ?

उत्तर — जो जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल तक सूक्ष्म जीवों में रहा है, वहाँ रहते हुए जिसने पर्याप्तभव थोड़े व अपर्याप्तभव बहुत ग्रहण किये हैं, जिनका अपर्याप्त भवों का काल दीर्घ और पर्याप्त काल ह्रस्व रहा है, जिसने उस भव में स्थित होने के प्रथम समय से लेकर

तस्मिन् भवे स्थितस्य प्रथमसमयादारभ्य जघन्ययोगेन आहारग्रहणं कृतं, जघन्यवृद्ध्या वर्द्धितः, बहुशो बहुशो मंदसंकलेशं गतः, एवं तत्र परिवर्त्य उद्वर्तितः बादरेषूत्पन्नः, अन्तर्मुहूर्तं जीवित्वा उद्वर्त्य पूर्वकोट्यायुष्केषु मनुष्येषु उपपन्नः, सर्वलघुं योनिनिष्क्रमणजन्मना जातः, सर्वलघुकालेन सम्यक्त्वं प्रतिपन्नः, अष्टवर्षातीतः संयमं प्रतिपन्नः, द्विवारं कषायान् उपशामयति, अन्तर्मुहूर्तं जीवितशेषे मिथ्यात्वं गतः। ततो दशवर्षसहस्रस्थितिकेषु देवेषूत्पन्नः, सम्यक्त्वं प्रतिपन्नः, अनन्तानुबंधिकषायान् विसंयोज्य दशवर्षसहस्राणि सम्यक्त्वं अनुपालयति। तदनु मिथ्यात्वं गत्वा बादरेषु जीवेषु उत्पन्नः, तत्रान्तर्मुहूर्तं जीवित्वा सूक्ष्मेषु साधारणकायिकेषु उत्पन्नः, तत्र क्षपितकर्मांशिकलक्षणेन पल्योपमस्यासंख्यातभागमात्रं कालं स्थित्वा उद्वर्त्य बादरेषूत्पद्य अंतर्मुहूर्तं स्थित्वा पूर्वकोट्यायुष्केषु मनुष्येषु उत्पद्य द्विवारं कषायान् उपशाम्य दशवर्षसाहस्रिकेषु देवेषूत्पद्य पुनः बादरेषु उत्पद्य सूक्ष्मेषु पल्योपमस्य असंख्यातभागं स्थित्वा बादरेषूत्पद्य अन्तर्मुहूर्तं पुनरपि पूर्वकोट्यायुष्केषु मनुष्येषु उत्पन्नः, सर्वलघुकालेन योनिनिष्क्रमणजन्मना जातः, सर्वलघुं सम्यक्त्वं प्रतिपन्नः, अष्टवर्षातीतः संयमं प्रतिपद्य सर्वलघुकालेन केवलज्ञानमुत्पादितं, उत्पन्नज्ञानदर्शनधरः देशोनं पूर्वकोटिकालं विहरति, अंतर्मुहूर्तं जीवितावशेषे शैलेश्यं प्रतिपन्नः, तस्य चरमसमयभवसिद्धिकस्य क्षपितकर्मांशिकस्य जघन्या परिशातनकृतिः भवति। तद्व्यतिरिक्ता अजघन्या।

संघातनपरिशातनकृतिविषये एवमेव वक्तव्यं। विशेषेण तु जघन्या इयं कृतिः एकेन्द्रियेषु कथयितव्या।

जघन्य योग के द्वारा आहारक वर्गणाओं को ग्रहण किया है, जघन्य वृद्धि से जो वृद्धि को प्राप्त हुआ है, जो बहुत-बहुत बार मंद संकलेश को प्राप्त हुआ है, इस प्रकार भ्रमण करके वहाँ से निकला और बादर जीवों में उत्पन्न हुआ, अन्तर्मुहूर्त जीवित रहकर वहाँ से निकला और पूर्वकोटि आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ, सर्वलघु काल में योनिनिष्क्रमणरूप जन्म से उत्पन्न हो सर्वलघु काल में सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ, वह आठ वर्ष बिताकर संयम को प्राप्त हो दो बार कषायों को उपशमाता है, पुनः अन्तर्मुहूर्त जीवित के शेष रहने पर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ, पश्चात् दश हजार वर्ष आयु वाले देवों में उत्पन्न होकर सम्यक्त्व को प्राप्त हो अनन्तानुबंधि चतुष्टय का विसंयोजन करता है और दश हजार वर्ष तक सम्यक्त्व का पालन करता है, पश्चात् मिथ्यात्व को प्राप्त हो बादर जीवों में उत्पन्न हुआ वहाँ अन्तर्मुहूर्त जीवित रहकर सूक्ष्म साधारणकायिकों में उत्पन्न हुआ, वहाँ क्षपितकर्मांशिक स्वरूप से पल्योपम के असंख्यातवें भागमात्र काल तक रहकर निकला व बादर जीवों में उत्पन्न हुआ, पुनः वहाँ अन्तर्मुहूर्त रहकर पूर्वकोटि आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हो दो बार कषायों को उपशमाकर दश हजार वर्ष आयु वाले देवों में उत्पन्न हुआ, पुनः बादरों में उत्पन्न होकर सूक्ष्मों में पल्योपम के असंख्यातवें भाग काल तक रहकर तथा बादरों में फिर भी अन्तर्मुहूर्त काल तक रहकर पुनः पूर्वकोटि आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हो सर्वलघु काल में योनिनिष्क्रमणरूप जन्म से उत्पन्न हुआ, वहाँ सर्वलघु काल में सम्यक्त्व को प्राप्त कर आठ वर्ष बीतने पर संयम को प्राप्त होता हुआ सर्वलघुकाल में केवलज्ञान को उत्पन्न करता है, पुनः उत्पन्न हुए केवलज्ञान व केवलदर्शन को धारणकर कुछ कम एक पूर्वकोटि काल तक विहार करता है, पश्चात् आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर शैलेश्य भाव को प्राप्त करता है, उस चरम समयवर्ती भव्यसिद्धिक क्षपितकर्मांशिक जीव के कर्मण शरीर की जघन्य परिशातनकृति होती है। इससे भिन्न अजघन्य परिशातनकृति होती है।

संघातनपरिशातनकृति के विषय में इसी प्रकार कहना चाहिए। विशेष इतना है कि एकेन्द्रियों में यह जघन्य कृति कहना चाहिए।

अत्र विशेषो ज्ञातव्यः— औदारिक-वैक्रियिक-आहारकशरीराणां संघातनकृति-परिशातनकृति-संघातनपरिशातनकृतिनामभिस्तिस्त्रः कृतयो निगदिताः किन्तु तैजस-कार्मणशरीरयोः संघातनकृतिमन्तरेण द्वे एव कृती निरूपिते। किंच तैजसकार्मणशरीरे विग्रहगतावेव तत्र औदारिकादित्रिशरीराणि न सन्ति। तथा च विग्रहगतौ 'एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः' ॥३०॥ इति सूत्रेण अनाहारकावस्थायां आहारवर्गणा नागच्छन्ति, जीवेऽनाहारकः अतः संघातनकृतिर्न जायते इति अनुमीयते।

एवं स्वामित्वप्ररूपणा गता।

अधुना अल्पबहुत्वं प्ररूपयिष्यति। तद्यथा—

सर्वस्तोका औदारिकशरीरस्य जघन्या संघातनकृतिः, सूक्ष्मैकेन्द्रिय जघन्य-उपपादयोगेन आहारितौदारिक-पुद्गलस्कंधप्रमाणत्वात्। अस्यैव शरीरस्य जघन्या संघातन-परिशातनकृतिरसंख्यातगुणा, एकेन्द्रियसूक्ष्मस्य द्वितीयसमयतद्भवस्थस्य जघन्यैकान्तानुवृद्ध्या गृहीतैकसमयप्रबद्धेन सह तात्कालिकजघन्योपपादद्रव्यस्य प्रथमनिषेकेनोनस्य ग्रहणात्। अस्यैव शरीरस्य जघन्या परिशातनकृतिरसंख्यातगुणा, बादरवायुकायिकजीवस्य पर्याप्तस्य सर्वलघुमुत्तरशरीरमुत्थापितस्य दीर्घविक्रियाकालस्य चरमसमये वर्तमानस्य एकेन्द्रियपरिणामयोगेन आहारितौदारिकपुद्गलस्कंधग्रहणात्।

तस्मात् औदारिकस्य उत्कृष्टा संघातनकृतिरसंख्यातगुणा संज्ञिपंचेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यपर्याप्तस्य नरकभवपश्चा-दागतस्य संख्यातवर्षायुष्कस्य त्रिसमयतद्भवस्थस्य प्रथमसमयाहारकस्य तत्रस्थ-उत्कृष्टैकान्तानुवृद्धियोगस्य

यहाँ विशेष जानना चाहिए कि— औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरों की संघातनकृति, परिशातनकृति और संघातनपरिशातन कृति नाम की तीनों कृतियाँ कही जा चुकी हैं, किन्तु तैजस-कार्मणशरीर की संघातनकृति के बिना दो ही कृति निरूपित की हैं। क्योंकि तैजस-कार्मणशरीर विग्रहगति में ही हैं, वहाँ औदारिक आदि तीनों शरीर नहीं हैं तथा विग्रहगति में “जीव एक-दो अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है” इस सूत्र के अनुसार अनाहारक अवस्था में आहारवर्गणाओं को ग्रहण नहीं करता है—अनाहारक जीव में विग्रहगति में आहारवर्गणाएँ नहीं आती हैं अतः उनके उस समय संघातन कृति नहीं होती है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

इस प्रकार स्वामित्व प्ररूपणा समाप्त हुई।

अब अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करेंगे। वह इस प्रकार है—

औदारिक शरीर की जघन्य संघातनकृति सबसे स्तोक है, क्योंकि वह सूक्ष्म एकेन्द्रिय के जघन्य उपपादयोग से ग्रहण किये गये औदारिक पुद्गलस्कंधों के बराबर है। इसी औदारिक शरीर की जघन्य संघातन-परिशातनकृति असंख्यातगुणी है, क्योंकि इसमें एकेन्द्रिय सूक्ष्म जीव के उस भव में स्थित होने के द्वितीय समय में जघन्य एकान्तानुवृद्धि से ग्रहण किये गये एक समयप्रबद्ध के साथ प्रथम निषेक को छोड़कर तात्कालिक जघन्य उपपाद द्रव्य का ग्रहण किया गया है। उससे जघन्य परिशातनकृति असंख्यातगुणी है, क्योंकि इसमें पर्याप्त, सर्वलघु काल में उत्तर शरीर को उत्पन्न करने वाले और दीर्घ विक्रिया काल में अन्तिम समय में रहने वाले बादर वायुकायिक जीव के एकेन्द्रिय संबंधी परिणामयोग से ग्रहण किये गये अन्त के औदारिक पुद्गलस्कंधों का ग्रहण किया है।

उससे औदारिक शरीर की उत्कृष्ट संघातनकृति असंख्यातगुणी है, क्योंकि यहाँ जो नारक पर्याय से पीछे आया है, संख्यात वर्ष की आयु वाला है, तीसरे समय से तद्भवस्थ हुआ है, आहारक होने के प्रथम समय में स्थित है और वहाँ से उत्कृष्ट एकान्तानुवृद्धि योग से संयुक्त है, ऐसे संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच अथवा मनुष्य

एकसमयप्रबद्धग्रहणात्।

उत्कृष्टा परिशातनकृतिरसंख्यातगुणा, पंचेन्द्रियपर्याप्तमनुष्यस्य संज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्ततिरश्चो वा पूर्वकोटि-आयुष्कस्य उत्कृष्टयोगस्य अल्पभाषामनःकालस्य त्रिचरम-द्विचरमसमयैः उत्कृष्टयोगं गतस्य स्वकायुःस्थिति-चरमसमये उत्तरशरीरं विक्रियमाणस्य चरमसमये निर्जीर्यमाण नोकर्मपुद्गलस्कंधानां पंचेन्द्रियपरिणामयोगागत-सार्धैकगुणहानिगुणितसमयप्रबद्धमात्रत्वात्। उत्कृष्टा संघातन-परिशातनकृतिस्तस्मात् विशेषाधिका।

एवमेव वैक्रियिकशरीरस्य आहारकशरीरस्यापि तिस्रः कृतयो ज्ञातव्या धवलाटीकायां।

अत्र पर्यंतं स्वस्थानाल्पबहुत्वं समाप्तं।

अधुना परस्थानेऽल्पबहुत्वं कथ्यते —

सर्वस्तोका औदारिकशरीरस्य जघन्या संघातनकृतिः। संघातनपरिशातनकृतिर्जघन्या असंख्यातगुणा। अतः परिशातनकृतिर्जघन्या असंख्यातगुणा। औदारिकस्य उत्कृष्टा संघातनकृतिरसंख्यातगुणा। ततः उत्कृष्टा परिशातनकृतिरसंख्यातगुणा। तत उत्कृष्टा संघातन-परिशातनकृतिर्विशेषाधिका। अस्माद् औदारिकशरीरात् वैक्रियिकशरीरस्य जघन्यसंघातनकृतिरसंख्यातगुणा, अत्र गुणकारो जगच्छ्रेण्या असंख्येयभागः। तस्यैव जघन्या संघातन-परिशातनकृतिरसंख्यातगुणा। अस्यैव जघन्या परिशातनकृतिरसंख्यातगुणा। अस्मात् अस्यैव शरीरस्य उत्कृष्टा संघातनकृतिरसंख्यातगुणा। ततः परिशातनकृतिरुत्कृष्टा असंख्यातगुणा। अस्यैव संघातन-परिशातनकृतिरुत्कृष्टा विशेषाधिका ज्ञातव्या।

पर्याप्त के एक समय प्रबद्ध का ग्रहण किया है।

उससे उत्कृष्ट परिशातनकृति असंख्यातगुणी है, क्योंकि जो पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य या संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यच पूर्वकोटि की आयु वाला है, उत्कृष्ट योगवाला है, भाषा व मन के अल्प काल से युक्त है, त्रिचरमसमय अथवा द्विचरमसमय में उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ है और जिसने अपनी आयु के अंतिम समय में उत्तरशरीर की विक्रिया की है, उसके उस समय जो नोकर्मपुद्गलस्कंध निर्जीर्ण होते हैं, पंचेन्द्रिय के परिणामयोग के द्वारा प्राप्त हुए उनका परिणाम डेढ़गुणहानिगुणित समयप्रबद्ध प्रमाण है। उससे उत्कृष्ट संघातन-परिशातनकृति विशेष अधिक है।

इसी प्रकार वैक्रियिक शरीर की एवं आहारकशरीर की भी तीनों कृतियाँ धवलाटीका का स्वाध्याय करके जानना चाहिए।

यहाँ तक स्वस्थान अल्पबहुत्वं समाप्त हुआ।

अब परस्थान में अल्पबहुत्वं कहते हैं — औदारिक शरीर की जघन्य संघातनकृति सबमें स्तोक है। इससे इसी की जघन्य संघातन-परिशातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की जघन्य परिशातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे औदारिकशरीर की उत्कृष्ट संघातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की उत्कृष्ट परिशातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की उत्कृष्ट संघातन-परिशातनकृति विशेष अधिक है। इस औदारिक शरीर से वैक्रियिक शरीर की जघन्य संघातनकृति असंख्यातगुणी है। यहाँ गुणकार जगश्रेणी का असंख्यातवाँ भाग है। इससे वैक्रियिकशरीर की ही संघातन-परिशातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की जघन्य परिशातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की उत्कृष्ट संघातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की उत्कृष्ट परिशातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की उत्कृष्ट संघातनपरिशातनकृति विशेष अधिक जानना चाहिए।

अस्मात् वैक्रियिकशरीरात् आहारकशरीरस्य जघन्या संघातनकृतिरसंख्यातगुणा। ततः जघन्या संघातन-परिशातनकृतिरसंख्यातगुणा। ततोऽस्यैवोत्कृष्टा संघातनकृतिरसंख्यातगुणा। ततोऽस्यैव जघन्या परिशातनकृतिर-संख्यातगुणा। ततोऽसंख्यातगुणा अस्यैवोत्कृष्टा परिशातनकृतिः। ततो विशेषाधिका उत्कृष्टा संघातन-परिशातनकृतिः।

तैजसशरीरस्य जघन्या संघातन-परिशातनकृतिरनन्तगुणा। तस्यैव जघन्या परिशातनकृतिर्विशेषाधिका। उत्कृष्टा परिशातनकृतिरसंख्यातगुणा। उत्कृष्टा संघातन-परिशातनकृतिर्विशेषाधिका। कर्मणशरीरस्य जघन्या परिशातनकृतिरनन्तगुणा। तस्यैव जघन्या संघातन-परिशातनकृतिर्द्विगुणा विशेषाधिका। उत्कृष्टा परिशातनकृतिर-संख्यातगुणा। उत्कृष्टा संघातनपरिशातनकृतिः सातिरेका द्विगुणा।

एवमल्पबहुत्वं समाप्तम्।

संप्रत्यत्र श्रीवीरसेनाचार्यः अनियोगद्वाराणि देशामर्शकसूत्रसूचितानि भणिष्यति — तत्र सत्प्ररूपणायं द्विविधो निर्देशः — ओघेन आदेशेन च। ओघापेक्षया औदारिक-वैक्रियिक-आहारकशरीराणां संघातनकृतिः परिशातनकृतिः संघातनपरिशातनकृतिश्च तिस्रो भवन्ति। तैजस-कर्मणशरीरयोः परिशातनकृतिः संघातन-परिशातनकृतिश्चैव द्वे भवतः।^१

आदेशेन नरकगतौ नारकेषु वैक्रियिकशरीरसंघातनकृतिः संघातनपरिशातनकृतिश्च। तैजसकर्मणयोः संघातन-परिशातनकृतिश्च। नारकेषु वैक्रियिकपरिशातनकृतिर्नास्ति, पृथग्विक्रियाकरणाभावात्। एवं सप्तसु पृथिवीषु ज्ञातव्या।

इस वैक्रियिक शरीर से आहारकशरीर की जघन्य संघातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की जघन्य संघातन-परिशातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की उत्कृष्ट संघातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की जघन्य परिशातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की उत्कृष्ट परिशातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की उत्कृष्ट संघातन-परिशातनकृति विशेष अधिक है।

इससे तैजस शरीर की जघन्य संघातन-परिशातनकृति अनन्तगुणी है। इससे उसकी ही जघन्य परिशातनकृति विशेष अधिक है। इससे इसी की उत्कृष्ट परिशातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे इसी की उत्कृष्ट संघातन परिशातनकृति विशेष अधिक है। इससे कर्मणशरीर की जघन्य परिशातनकृति अनन्तगुणी है। इससे उसकी ही जघन्य संघातन-परिशातनकृति विशेष अधिक दुगुणी है। इससे इसी की उत्कृष्ट परिशातनकृति असंख्यातगुणी है। इससे उसी की उत्कृष्ट संघातन-परिशातनकृति कुछ अधिक दुगुणी है।

इस प्रकार अल्पबहुत्व समाप्त हुआ।

अब यहाँ श्री वीरसेनाचार्य देशामर्शक सूत्र के द्वारा सूचित अनुयोगद्वारों को कहेंगे — उनमें सत्प्ररूपणा के आश्रित निर्देश ओघ और आदेश के भेद से दो प्रकार का है। ओघ की अपेक्षा औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरों के संघातनकृति, परिशातनकृति और संघातन परिशातनकृति तीनों होती हैं। तैजस व कर्मणशरीरों के परिशातन, कृति और संघातन, परिशातनकृति ये दो कृति होती हैं।

आदेश की अपेक्षा नरकगति में नारकियों में वैक्रियिकशरीर की संघातनकृति और संघातन-परिशातनकृति होती है। तैजस और कर्मणशरीरों के संघातन-परिशातनकृति होती है, नारकियों में वैक्रियिक शरीर की परिशातनकृति नहीं होती है, क्योंकि उसके पृथक् विक्रिया का अभाव है। इस प्रकार सात पृथिवियों में जानना चाहिए।

सर्वदेवानामेवमेव कथयितव्या भवति।

कश्चिदाह — देवेषु पृथग्विक्रियासंभवात् वैक्रियिकपरिशातनकृतिः किन्न भण्यते ?

आचार्य आह — नैतद् वक्तव्यं, मूलशरीरमकृत्वा विक्रियमाणानां देवानां शुद्धपरिशातनानुपलंभात्।
एवं तिर्यग्गतिमादिं कृत्वा सर्वमार्गणासु ज्ञातव्या भवति।

एवं सत्प्ररूपणानुगमः समाप्तः।

अथ द्रव्यप्रमाणानुगमेन निर्देशो द्विविधः — ओघेन आदेशेन च।

तत्र ओघेन औदारिकसंघातनकृतिः संघातन-परिशातनकृतिः तैजसकार्मणसंघातन-परिशातनकृतिः
द्रव्यप्रमाणेन कियन्त्यः ?

अनन्ताः।

औदारिकपरिशातनकृतिः वैक्रियिकत्रिपदाश्च कियन्त्यः ?

जगत्प्रतरस्य असंख्यातभागोऽसंख्याताः।

आहारत्रिपदाः तैजसकार्मणपरिशातनकृतिश्च कियन्त्यः ?

संख्याताः।

कथं कृतिशब्दो जीवानां वाचकः ?

‘क्रियन्ते अस्यां पुद्गलपरिसादनादय इति कृतिशब्दनिष्पत्तिः, करणानां मूलं कारणमिदि जीवा मूलकरणम्।’^१

सब देवों के भी इसी प्रकार का ही कहना चाहिए।

यहाँ कोई शंका करता है कि — देवों में पृथक् विक्रिया संभव होने से वैक्रियिक शरीर की परिशातन-कृति क्यों नहीं कही जाती है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं कि — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि मूल शरीर को न छोड़कर विक्रिया करने वाले देवों के शुद्ध परिशातनकृति नहीं पाई जाती है।

इसी प्रकार तिर्यग्गति को आदि करके सभी मार्गणाओं में ज्ञातव्य है।

इस प्रकार सत्प्ररूपणानुगम समाप्त हुआ।

द्रव्यप्रमाणानुगम से ओघ और आदेश की अपेक्षा निर्देश दो प्रकार का है।

प्रश्न — उनमें ओघ की अपेक्षा औदारिकशरीर की संघातनकृति, संघातन-परिशातनकृति तथा तैजस व कार्मण शरीर की संघातन-परिशातनकृति युक्त जीव द्रव्य प्रमाण से कितने हैं ?

उत्तर — उक्त जीव अनन्त हैं।

प्रश्न — औदारिकशरीर की परिशातनकृति और वैक्रियिकशरीर के तीनों पद युक्त जीव कितने हैं ?

उत्तर — जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात हैं।

प्रश्न — आहारक शरीर के तीनों पद युक्त तथा तैजस व कार्मण शरीर की परिशातनकृति युक्त जीव कितने हैं ?

उत्तर — संख्यात हैं।

प्रश्न — कृति शब्द जीवों का वाचक कैसे हो सकता है ?

उत्तर — एक तो जिसमें पुद्गलों के परिशातनादिक किये जाते हैं वह कृति है, ऐसी कृति शब्द की व्युत्पत्ति है, इसलिए कृति शब्द से जीव लिये गये हैं। दूसरे, करणों का मूल अर्थात् कारण होने से जीव

तथैवटीकाधारेण आदेशेषु घटयितव्या भवति।

एवं द्रव्यप्रमाणानुगमः समाप्तः।

क्षेत्रानुगमेन द्विविधो निर्देशः— ओघेन आदेशेन च। तत्र तावदोघेन कथ्यते—

औदारिकसंघातनकृतिः संघातन-परिशातनकृतिः तैजस-कर्मणसंघातनपरिशातनकृतिश्च कियत् क्षेत्रे सन्ति ?

उपरि प्रश्ने कथिताः जीवाः सर्वलोके निवसन्ति।

औदारिकपरिशातनकृतिः कियत् क्षेत्रे ?

लोकस्य असंख्यातभागे, असंख्यातबहुभागेषु सर्वलोके वा।

वैक्रियिक-आहारकत्रिपदाः जीवाः कियत् क्षेत्रे ?

लोकस्य असंख्यातभागे तिष्ठन्ति।

एवमेव तैजस-कर्मण परिशातनकृतिश्चापि कथयितव्या।

आदेशेन नरकगत्यादिभिः प्रारभ्य आहारमार्गणापर्यन्तं ज्ञातव्यम्।

एवं क्षेत्रानुगमः समाप्तः।

स्पर्शनानुगमेन द्विविधो निर्देशः— ओघेन आदेशेन च।

प्रथमतः ओघेन कथ्यते—

औदारिकसंघातनकृतिः संघातनपरिशातनकृतिः तैजस-कर्मणसंघातनपरिशातनकृतिश्चाभिः कियत्

मूलकरण हैं इसलिए भी कृति शब्द का उपयोग जीवों के लिए किया गया है।

इसी प्रकार से टीका के आधार से मार्गणाओं में घटित कर लेना चाहिए।

इस प्रकार द्रव्यप्रमाणानुगम समाप्त हुआ।

क्षेत्रानुगम से ओघ और आदेश की अपेक्षा निर्देश दो प्रकार का है। उनमें ओघ की अपेक्षा कथन करते हैं—

प्रश्न—औदारिकशरीर की संघातन व परिशातनकृति तथा तैजस व कर्मणशरीर की संघातन-परिशातनकृति युक्त जीव कितने क्षेत्र में रहते हैं ?

उत्तर—उक्त प्रश्न में कहे गये जीव सम्पूर्ण लोक में रहते हैं।

प्रश्न—औदारिकशरीर की परिशातनकृति युक्त जीव कितने क्षेत्र में रहते हैं ?

उत्तर—लोक के असंख्यातवें भाग में, असंख्यात बहुभागों में अथवा सर्वलोक में रहते हैं।

प्रश्न—वैक्रियिक शरीर और आहारशरीर के तीनों पद युक्त जीव कितने क्षेत्र में रहते हैं ?

उत्तर—लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं।

इसी प्रकार तैजसशरीर और कर्मणशरीर की परिशातनकृति वाले जीवों का कथन करना चाहिए।

मार्गणा की अपेक्षा नरकगति आदि में प्रारंभ करके आहारमार्गणा पर्यन्त जानना चाहिए।

इस प्रकार क्षेत्रानुगम समाप्त हुआ।

स्पर्शनानुगम से ओघ और आदेश की अपेक्षा निर्देश दो प्रकार का है।

उनमें प्रथमतः ओघ की अपेक्षा कहते हैं—

प्रश्न—औदारिकशरीर की संघातनकृति व संघातन-परिशातनकृति तथा तैजस व कर्मण शरीर की

क्षेत्रं स्पृष्टम्?

सर्वलोकः स्पृष्टः।

औदारिकपरिशातनकृतिभिः कियत् क्षेत्रं स्पृष्टम् ?

लोकस्य असंख्यातभागः, असंख्यातस्य बहुभागाः सर्वलोको वा स्पृष्टाः।

वैक्रियिकसंघातनकृतिपरिशातनकृतिभिः कियत् क्षेत्रं स्पृष्टम् ?

लोकस्य असंख्यातभागः सर्वलोको वा स्पृष्टः।

वैक्रियिकसंघातन-परिशातननामकृतिभिः कियत् क्षेत्रं स्पृष्टम् ?

लोकस्य असंख्यातभागः अष्ट-चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोको वा स्पृष्टाः।

आहारकशरीरत्रिपदाः तैजस-कर्मण परिशातनकृतिभिः कियत् क्षेत्रं स्पृष्टम् ?

लोकस्य असंख्यातभागः स्पृष्टः।

इत्थमेवादेशेन उच्यमाने गत्यादिमार्गणास्वपि योजयित्वा ज्ञातव्याः।

एवं स्पर्शनानुगमः समाप्तः।

अधुना कालानुगमो निरूप्यते —

कालानुगमेन द्विविधो निर्देशः—ओघेन आदेशेन च ज्ञातव्यम्। प्रथमत ओघेनोच्यमाने प्रश्नोत्तरैः ज्ञातव्यं।

संघातन-परिशातनकृति युक्त जीवों द्वारा कितना क्षेत्र स्पर्श किया गया है ?

उत्तर — उक्त जीवों के द्वारा सर्व लोक का स्पर्श किया गया है।

प्रश्न — औदारिक शरीर की परिशातनकृति युक्त जीवों द्वारा कितना क्षेत्र स्पर्श किया गया है ?

उत्तर — उक्त जीवों द्वारा लोक का असंख्यातवाँ भाग, असंख्यात बहुभाग अथवा सर्वलोक स्पर्श किया गया है।

प्रश्न — वैक्रियिकशरीर की संघातनकृति व परिशातनकृति युक्त जीवों द्वारा कितना क्षेत्र स्पर्श किया गया है ?

उत्तर — लोक का असंख्यातवाँ भाग अथवा सर्वलोक स्पर्श किया जाता है।

प्रश्न — वैक्रियिकशरीर की संघातन परिशातनकृतियुक्त जीवों द्वारा कितना क्षेत्र स्पर्श किया गया है ?

उत्तर — उक्त जीवों द्वारा लोक का असंख्यातवाँ भाग, कुछ कम आठ बटे चौदह भाग, अथवा सर्वलोक स्पर्श किया गया है।

प्रश्न — आहारक शरीर के तीनों पद युक्त जीवों द्वारा तथा तैजस व कर्मणशरीर की परिशातनकृति-युक्त जीवों द्वारा कितना क्षेत्र स्पर्श किया गया है ?

उत्तर — लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पर्श किया गया है।

इसी प्रकार से आदेश की अपेक्षा कथन करने पर गति आदि मार्गणाओं में भी उनको घटित कर लेना चाहिए।

इस प्रकार स्पर्शनानुगम समाप्त हुआ।

अब कालानुगम का निरूपण करते हैं —

कालानुगम से ओघ और आदेश की अपेक्षा निर्देश के दो भेद हैं। उनमें से प्रथमतः ओघ के द्वारा कथन करने पर प्रश्नोत्तर के माध्यम से जानना चाहिए।

औदारिकशरीरसंघातनकृतिः कियच्चिरं कालाद् भवति ?

नानाजीवं प्रतीत्य सर्वकालं भवति। एकजीवं प्रतीत्य जघन्येनोत्कृष्टेन चाप्येकसमयः।

औदारिक-वैक्रियकपरिशातन कृतिः कियच्चिरं कालाद् भवति ?

नानाजीवं प्रतीत्य सर्वकालं। एक जीवं प्रतीत्य जघन्येन एक समयः उत्कृष्टेनान्तर्मुहूर्तं।

औदारिकसंघातनपरिशातनकृतिः कियच्चिरं कालाद् भवति ?

नानाजीवमाश्रित्य सर्वकालं। एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन एकसमयः, उत्कर्षेण एकसमयोनत्रिपल्योपमानि।

वैक्रियकसंघातनकृतिर्नानाजीवं प्रतीत्य जघन्येन एकसमयः, उत्कर्षेण आवल्या असंख्यातभागः। एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन एकसमयः, उत्कर्षेण द्विसमयौ। वैक्रियकसंघातन-परिशातनकृतिर्नानाजीवं प्रतीत्य सर्वकालं। एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन एकसमयः, उत्कृष्टेन समयोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। आहारसंघातनकृतिर्नानाजीवं प्रतीत्य जघन्येन एकसमयः, उत्कृष्टेन संख्याताः समयाः। एकजीवं प्रतीत्य जघन्योत्कृष्टाभ्यामेकसमयः। परिशातनकृतिर्नानाजीवं प्रतीत्य जघन्येन एकसमयः उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तं। एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन एकसमयः उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तं। संघातन-परिशातनकृतिः नानैकजीवं प्रतीत्य जघन्योत्कृष्टाभ्यामन्तर्मुहूर्तं। तैजसकार्मण-परिशातनकृतिर्नानैकजीवं प्रतीत्य जघन्येनोत्कृष्टेनापि अन्तर्मुहूर्तं। संघातन-परिशातनकृतिर्नानाजीवं प्रतीत्य

प्रश्न — औदारिक शरीर की संघातनकृति का कितना काल है ?

उत्तर — नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से भी एक समय है।

प्रश्न — औदारिक और वैक्रियक शरीर की परिशातनकृति का कितना काल है ?

उत्तर — नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से एक समय है और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त है।

प्रश्न — औदारिक शरीर की संघातन-परिशातनकृति का कितना काल है ?

उत्तर — नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से एक समय है और उत्कृष्ट एक समय कम तीन पल्योपम काल है।

वैक्रियक शरीर की संघातनकृति का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण काल है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से दो समय काल है। वैक्रियक शरीर की संघातन-परिशातनकृति का नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से एक समय कम तेतीस सागरोपम काल है।

आहारकशरीर की संघातनकृति का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से संख्यातसमय काल है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट एकसमय काल है। आहारकशरीर की परिशातनकृति का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से भी अन्तर्मुहूर्त काल है। आहारकशरीर की संघातन-परिशातनकृति का नाना व एक जीव की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट से भी अन्तर्मुहूर्त काल है।

तैजस व कार्मणशरीर की परिशातनकृति का नाना जीव व एक जीव की अपेक्षा जघन्य व उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त काल है। इनकी संघातन-परिशातनकृति का नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीव की

सर्वकालं । एकजीवं प्रतीत्य अनादिकोऽपर्यवसितोऽनादिकः सपर्यवसितः ।

आदेशेन — चतुर्दशसु मार्गणासु योजयितव्या आगमानुसारेण ।

एवं कालानुगमः समाप्तः ।

अथान्तरानुगमः कथ्यते —

अन्तरानुगमेन द्विविधो निर्देशः — ओघेन आदेशेन च ।

तत्रौघेनौदारिकशरीरसंघातनकृतेरन्तरं कियत्काल-पर्यंतं भवति ?

नानाजीवं प्रतीत्य नास्त्यन्तरं निरन्तरं । एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन चतुःसमयोनं क्षुद्रभवग्रहणं, उत्कर्षेण समयाधिकपूर्वकोट्या सातिरेकाणि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ।

एकजीवं प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तं, उत्कर्षेणानन्तकालमसंख्याताः पुद्गलपरिवर्ताः । एवं वैक्रियिक-संघातनपरिशातनकृतेरन्तरं ज्ञातव्यं । नवरि जघन्येन एकसमयः औदारिकशरीर संघातनपरिशातनकृतेर्नानाजीवं प्रतीत्य नास्त्यन्तरं । एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन एकसमयः, उत्कर्षेण त्रिसमयाधिकान्तर्मुहूर्ताधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । वैक्रियिकसंघातनकृतेर्नानाजीवं प्रतीत्य जघन्येन एकसमयः, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तं । एकजीवं प्रतीत्य जघन्येन एकसमयः, उत्कर्षेणानन्तकालमसंख्याताः पुद्गलपरिवर्ताः भवन्ति ।

आहारशरीरत्रिपदानां नानाजीवं प्रतीत्य जघन्येन एकसमयः, उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वं । एकजीवं प्रतीत्य

अपेक्षा अनादि अपर्यवसित — अनन्त और अनादि सपर्यवसित — सान्तकाल है ।

आदेश अर्थात् चौदह मार्गणाओं में आगमानुसार इसे घटित कर लेना चाहिए ।

इस प्रकार कालानुगम समाप्त हुआ ।

अब अन्तरानुगम का कथन किया जा रहा है —

अन्तरानुगम से ओघ और आदेश की अपेक्षा निर्देश दो प्रकार का है ।

प्रश्न — उनमें से ओघ की अपेक्षा औदारिकशरीर की संघातनकृति का अन्तर कितने काल तक होता है ?

उत्तर — नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है, निरन्तर है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य से चार समय कम क्षुद्रभवग्रहण प्रमाण और उत्कृष्ट से एक समय अधिक पूर्वकोटि से संयुक्त तेतीस सागरोपमकाल प्रमाण होता है ।

एक जीव की अपेक्षा उसका अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से अनन्तकाल प्रमाण होता है, जो असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण है । इसी प्रकार वैक्रियिकशरीर की संघातनपरिशातनकृति का अन्तर कहना चाहिए । विशेष इतना है कि उसका अन्तर जघन्य से एक समय है ।

औदारिकशरीर की संघातन-परिशातनकृति का अन्तर नाना जीवों की अपेक्षा नहीं होता है । एक जीव की अपेक्षा उसका अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से तीन समय व अन्तर्मुहूर्त से अधिक तेतीस सागरोपमकाल प्रमाण होता है ।

वैक्रियिकशरीर की संघातनकृति का अन्तर नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण होता है । एक जीव की अपेक्षा उसका अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अनन्त काल प्रमाण होता है, जो असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण होता है ।

आहारकशरीर के तीनों पदों का अन्तर नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से

जघन्येनान्तर्मुहूर्त, उत्कर्षेण अर्द्धपुद्गलपरिवर्त देशेन। तैजस-कर्मणसंघातनपरिशातनकृतेर्नानैकजीवं प्रतीत्य नास्त्यन्तरं निरन्तरं। परिशातनकृतेर्नानाजीवं प्रतीत्य जघन्येन एकसमयः, उत्कर्षेण षणमासाः। एकजीवं प्रतीत्य नास्त्यन्तरम्।

आदेशेन मार्गणासु पठितव्यं धवलाटीकायां।

एवमन्तरानुगमः समाप्तः।

अथ भावानुगमो निगद्यते —

तत्र भावानुगमेन सर्वपदानां सर्वमार्गणासु औदायिको भावः।

कुतः ?

शरीरनामकर्मोदयेन सर्वपदसमुत्पत्तेः। नवरि तैजस-कर्मणपरिशातनकृतिः क्षायिका, किं च अयोगिनि शरीरनामोदयक्षयेण तेषां परिशातनोपलंभात्।

एवं भावानुगमः समाप्तः।

अधुना अल्पबहुत्वानुगम उच्यते —

अयं अल्पबहुत्वानुगमः स्वस्थान-परस्थानभेदेन द्विविधः। तत्र स्वस्थानाल्पबहुत्वानुगमेन द्विविधो निर्देशः — ओघेनादेशेन च। तत्रौघेन सर्वस्तोका औदारिकपरिशातनकृतिः, असंख्यातश्रेणिमात्रत्वात्। संघातनकृतिरनन्तगुणा, सर्वजीवराशेरसंख्यातभागत्वात्। संघातन-परिशातनकृतिरसंख्यातगुणा, सर्वजीवराशेर-

वर्षपृथक्त्व काल प्रमाण होता है। एक जीव की अपेक्षा उनका अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल प्रमाण होता है।

तैजस और कर्मणशरीर की संघातन-परिशातनकृति का नाना व एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं होता, वह निरन्तर है। परिशातनकृति का अन्तर नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह मास प्रमाण होता है। एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं होता है।

आदेश के द्वारा सभी मार्गणाओं में इसका वर्णन धवला टीका में पढ़ना चाहिए।

इस प्रकार अन्तरानुगम समाप्त हुआ।

अब भावानुगम को कहते हैं —

भावानुगम की अपेक्षा सब पदों के सब मार्गणाओं में औदायिक भाव होता है।

प्रश्न — ऐसा क्यों है ?

उत्तर — क्योंकि सब पद शरीरनामकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। विशेष इतना है कि तैजस और कर्मणशरीर की परिशातनकृति क्षायिक है, क्योंकि अयोगकेवलीजिन में शरीरनामकर्म के उदयक्षय से उन दोनों शरीरों की क्षीणता पाई जाती है।

इस प्रकार भावानुगम समाप्त हुआ।

अब अल्पबहुत्वानुगम का कथन करते हैं —

अल्पबहुत्वानुगम स्वस्थान और परस्थान अल्पबहुत्व के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से स्वस्थान अल्पबहुत्वानुगम की अपेक्षा निर्देश दो प्रकार का है — ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश। इनमें से ओघ की अपेक्षा औदारिकशरीर की परिशातनकृति युक्त जीव सबसे स्तोक हैं, क्योंकि वे असंख्यात जगश्रेणी मात्र हैं। इनसे उक्त शरीर की संघातनकृति युक्त जीव अनन्तगुणे हैं, क्योंकि वे सब जीवराशि के असंख्यातवें भाग

संख्यातबहुभागप्रमाणत्वात्।

सर्वस्तोका वैक्रियिकपरिशातनकृतिरसंख्यातघनांगुलमात्रश्रेणिपरिमाणात्। संघातनकृतिरसंख्यातगुणा, जगत्श्रेण्या असंख्यातभागमात्रजगच्छ्रेणिप्रमाणत्वात्। संघातनपरिशातनकृतिरसंख्यातगुणा, स्वकोपक्रमकाल-संचिताशेषराशिग्रहणात्।

सर्वस्तोका आहारसंघातनकृतिः एकसमयसंचितत्वात्। परिशातनकृतिः संख्यातगुणा, अन्तर्मुहूर्तसंचितत्वात्। संघातनपरिशातनकृतिर्विशेषाधिका, मूलशरीरमप्रविश्य कालं क्रियमाणजीवमात्रेणाधिका एव।

सर्वस्तोका तैजसकर्मणपरिशातनकृतिः, संख्यातानामयोगिजीवानां ग्रहणात्। संघातनपरिशातनकृतिर-नन्तगुणा, अनंतराशिग्रहणात्।

आदेशेन मार्गणासु योजयितव्या।

एवं अल्पबहुत्वानुगमे स्वस्थानकथनं संजातम्।

अधुना परस्थानाल्पबहुत्वानुगमो निगद्यते —

परस्थाने कथनेन सर्वस्तोका आहारसंघातनकृतिः। परिशातनकृतिः संख्यातगुणा। संघातन-परिशातन-कृतिर्विशेषाधिका। तैजस-कर्मणपरिशातनकृतिः संख्यातगुणा। वैक्रियिकपरिशातनकृतिरसंख्यातगुणा। औदारिकपरिशातनकृतिर्विशेषाधिका। वैक्रियिकसंघातनकृतिरसंख्यातगुणा। वैक्रियिकसंघातन-परिशातन-

प्रमाण हैं। उनसे उक्त शरीर की संघातन परिशातनकृति युक्त जीव असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि वे सब जीवराशि के बहुभाग प्रमाण हैं।

वैक्रियिकशरीर की परिशातनकृति युक्त जीव सबसे स्तोक हैं, क्योंकि वे असंख्यात घनांगुल मात्र जगत्श्रेणियों के बराबर हैं। इनसे उक्त शरीर की संघातनकृति युक्त जीव असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि वे जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र जगत्श्रेणियों के बराबर हैं। इनसे उक्त शरीर की संघातन-परिशातनकृति युक्त जीव असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि इनमें अपने उपक्रमणकाल में संचित समस्त राशि का ग्रहण है।

आहारकशरीर की संघातन कृति युक्त जीव सबसे स्तोक हैं, क्योंकि वे एक समय में संचित हैं। इनसे उक्त शरीर की परिशातनकृति युक्त जीव संख्यातगुणे हैं, क्योंकि वे अन्तर्मुहूर्त में संचित हैं। इनसे उक्त शरीर की संघातन-परिशातनकृति युक्त जीव विशेष अधिक हैं, क्योंकि मूलशरीर में प्रवेश न कर मृत्यु को प्राप्त होने वाले जीव मात्र से अधिक ही हैं।

तैजस और कर्मणशरीर की परिशातनकृति युक्त जीव सबसे स्तोक हैं, क्योंकि इनमें केवल संख्यात अयोगिकेवली जीवों का ग्रहण है। इनसे उक्त दोनों शरीरों की संघातन परिशातनकृति युक्त जीव अनंतगुणे हैं, क्योंकि इनमें अनन्त राशि का ग्रहण है।

आदेश से सभी मार्गणाओं में इसे घटित कर लेना चाहिए।

इस प्रकार अल्पबहुत्वानुगम में स्वस्थान का कथन समाप्त हुआ।

अब परस्थान अल्पबहुत्वानुगम का कथन करते हैं —

परस्थान में अल्पबहुत्व कथन की अपेक्षा आहारकसंघातनकृति सबसे स्तोक है। उनसे इसकी परिशातनकृति युक्त जीव संख्यातगुणे हैं। उनसे उसकी संघातन परिशातनकृति युक्त जीव विशेष अधिक हैं। उनसे तैजस और कर्मणशरीर की परिशातनकृति युक्त जीव संख्यातगुणे हैं। उनसे वैक्रियिकशरीर की परिशातनकृति युक्त

कृतिरसंख्यातगुणा। औदारिकसंघातनकृतिरनन्तगुणा। संघातनपरिशातनकृतिरसंख्यातगुणा। तैजस-
कार्मणसंघातनपरिशातनकृतिर्विशेषाधिका।

कियन्मात्रोऽयं विशेष ?

वैक्रियिक-आहारत्रिपदसहितौदारिकसंघातन-औदारिकतैजसकार्मणपरिशातनमात्रः।

एवमेवादेशेनापि धवलाटीकायां पठितव्या भवतीयं कृतिव्यवस्था भवद्भरिति।

एवं परस्थानाल्पबहुत्वं समाप्तम्।

इति मूलकरणकृतिप्ररूपणा कृता।

अधुना उत्तरकृतिप्ररूपणार्थं श्रीभूतबलिसूरिवर्येण सूत्रमवतार्यते —

**जा सा उत्तरकरणकदी णाम सा अणेयविहा। तं जहा—असि-वासि-
परसु-कुडारि-चक्क-दंड-वेम-णालिया-सलाग-मट्टियसुत्तोदयादीण-
मुवसंपद-सण्णिज्जे।।७२।।**

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — या सा उत्तरकरणकृतिर्नाम सा अनेकविधा। तासां नामानि कथ्यन्ते — असि-
वासु-परशु-कुडारि-चक्र-दण्ड-वेम-नालिका-शलाका-मृत्तिका-सूत्र-उदकादीनां सामीप्यकार्येषु भवति।

जीव असंख्यातगुणे हैं। उनसे औदारिकशरीर की परिशातनकृति युक्त जीव विशेष अधिक हैं। उनसे वैक्रियिकशरीर की संघातनकृति युक्त जीव असंख्यातगुणे हैं। उनसे वैक्रियिकशरीर की संघातन परिशातनकृति युक्त जीव असंख्यातगुणे हैं। उनसे औदारिकशरीर की संघातनकृति युक्त जीव अनन्तगुणे हैं। उनसे औदारिकशरीर की संघातन परिशातनकृति युक्त जीव असंख्यातगुणे हैं। उनसे तैजस और कार्मणशरीर की संघातन परिशातनकृति युक्त जीव विशेष अधिक हैं।

शंका — यह विशेष कितने प्रमाण वाला है ?

समाधान — वह विशेष वैक्रियिक व आहारकशरीर के तीन पदसहित औदारिकशरीर की संघातनकृति वाले जीवों का प्रमाण औदारिक, तैजस और कार्मणशरीर के जीवों के परिशातन मात्र है।

इसी प्रकार से आदेश से भी अर्थात् सभी मार्गणाओं के द्वारा यह कृतिव्यवस्था आप सभी को धवला टीका में पढ़ना चाहिए।

इस प्रकार परस्थानाल्पबहुत्वं समाप्त हुआ।

यह मूलकरणकृति की प्ररूपणा की गई है।

अब उत्तरकरणकृति की प्ररूपणा हेतु श्री भूतबली आचार्य सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

जो वह उत्तरकरणकृति है वह अनेक प्रकार की है। यथा — असि, वासि, परशु, कुदाली, चक्र, दण्ड, वेम, नालिका, शलाका, मृत्तिका, सूत्र और उदक आदि का सामीप्य कार्यो में होता है।।७२।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — जो उत्तरकरणकृति नाम वाली कृति है, वह अनेक प्रकार की है। उनके नाम कहते हैं — असि, वासि, परशु, कुदाली, चक्र, दण्ड, वेम, नालिका, शलाका, मृत्तिका — मिट्टी, सूत्र, उदक आदि का सामीप्य कार्यो में होता है।

कथं मृत्तिकादीनामुत्तरकरणत्वं ?

पंचशरीराणां जीवादपृथग्भूतत्वेन सकलकरणकारणभावेन वा उपलब्धमूलकरणव्यपदेशानां करणत्वात्। अस्मिन् सूत्रे 'उत्तरकरणकदी अणेयविहा' इति प्रतिज्ञा वर्तते। 'असिवासियादीणमुवसंपदसण्णज्जे' इति साधनमस्ति, अस्य गर्भेऽन्यथानुपपत्तिर्विद्यमानास्ति। द्रव्यमुपसंपद्यते आश्रीयते एभिरिति उपसंपदानि कार्याणि तेषां सान्निध्यं उपसंपदसान्निध्यम्। तस्मादसि-वासि-परशु-कुडारि-चक्र-दण्ड-वेम-नालिका-शलाका-मृत्तिका-सूत्रोदकादीनामुपसंपदसान्निध्या-दुत्तरकरणकृतिरनेकधा। न कार्यसान्निध्यं करणभेदस्यागमकम् तद्विशेषाश्रयणे तदेकत्वानुपपत्तेः।

अधुना उत्तरकरणकृतिर्विभेदनिरूपणार्थं सूत्रमवतार्यते —

जे चामण्णे एवमादिया सा सव्वा उत्तरकरणकदी णाम॥७३॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — “जे च अमी अण्णे” एतेन करणानामियत्तावधारणस्य प्रतिषेधः कृतोऽस्ति। सा सर्वा उत्तरकरणकृतिर्नाम ज्ञातव्या।

संप्रति भावकरणकृतिप्रतिपादनार्थं श्रीभूतिबलियतिपुंगवेन सूत्रमवतार्यते —

जा सा भावकदी णाम सा उवजुत्तो पाहुडजाणगो॥७४॥

प्रश्न — मृत्तिका आदि को उत्तरकरणपना कैसे संभव है ?

उत्तर — चूँकि पाँच शरीरों के जीव से अपृथक् होने के कारण अथवा समस्त करणों के कारण होने से मूलकरण संज्ञा को प्राप्त हुए वे मृत्तिका — मिट्टी आदि उत्तरकरण हैं। इस सूत्र में “उत्तरकरणकृति अनेक प्रकार की है” ऐसी प्रतिज्ञा है। “असि, वासि, आदिकों की कार्यों में समीपता होने पर” यह साधन है, क्योंकि उसके गर्भ में अन्यथानुपपत्ति विद्यमान है अर्थात् उक्त साधनों के बिना कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। जो द्रव्य का आश्रय करते हैं वे उपसंपद अर्थात् कार्य कहलाते हैं, उनकी समीपता उपसंपद सान्निध्य है। इस कारण असि, वासि, परशु, कुदाली, चक्र, दण्ड, वेम, नालिका, शलाका, मृत्तिका, सूत्र और उदक आदि कार्यों की समीपता से उत्तरकरणकृति अनेक प्रकार की है। कार्य सान्निध्य करण भेद का आगमक नहीं है अर्थात् गमक ही है, क्योंकि करणभेद का आश्रय करने पर उसका एकत्व नहीं बन सकता है।

अब उत्तरकरणकृति के सभी भेदों का निरूपण करने हेतु सूत्र अवतरित होता है —

सूत्रार्थ —

इसी प्रकार और भी जो ये अन्य कारण हैं, वे सब उत्तरकरणकृति कहलाते हैं॥७३॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — “और जो ये अन्य हैं” इससे करणों की संख्या के निश्चय का निषेध किया गया है, वह सब उत्तरकरणकृति नाम से जानना चाहिए।

अब भावकरणकृति के प्रतिपादन हेतु श्री भूतबली यतिपुंगव सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

प्राभृत को जानने वाला जो उपयोग सहित जीव है, वह सब भावकरणकृति है॥७४॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — अत्र 'प्राभृतशब्दः' कृतेर्विशेषयितव्यः — कृतिविशेषणेन विशेषयितव्यः, प्राभृतसामान्येनाधिकाराभावात्। ततः कृतिप्राभृतज्ञायकः उपयुक्तो जीवो महामुनिरेव भावकृतिर्भवतीति सिद्धम्।

अत्र कश्चिदाह — नोआगमभावकृतिः किन्न प्ररूपिता ?

आचार्यः प्राह —

नैतद् वक्तव्यं, किं च औदयिकादिपञ्चभावोपलक्षित-नोआगमद्रव्याणां शेषकृतिषु अन्तर्भावात्।

भावकृतेर्विशेषकथनार्थं श्रीभूतबलिसूरिवर्येण सूत्रमवतार्यते —

सा सव्वा भावकदी णाम।।७५।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — सा सर्वापि भावकृतिरुच्यते।

कथमेकस्या भावकृतेर्बहुत्वसंभवः इति चेत् ?

नैतत्कथयितव्यं, कृतिप्राभृतज्ञायकेषु तत्रोपयुक्तजीवानां बहुत्वदर्शनात्।

तात्पर्यमत्र — भावकृतिं ज्ञात्वा स्वस्वभावप्राप्त्यर्थं रत्नत्रयमेवोपासनीयमिति।

एवं नवमस्थले भावकृतिनिरूपणत्वेन सूत्रद्वयं गतम्।

कतितमा कृतिः प्रयोजनीभूता इति प्रश्नोत्तरसूत्रमवतार्यते श्रीमद्भूतबलिसूरिपुंगवेन —

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — यहाँ 'प्राभृत' शब्द कृति विशेषण से विशेषित करना चाहिए, क्योंकि यहाँ प्राभृत सामान्य का अधिकार नहीं है। इस कारण कृतिप्राभृत का जानकार उपयोग सहित जीव — महामुनि ही भावकृति हैं, यह सिद्ध हुआ।

यहाँ कोई शंका करता है कि — यहाँ नोआगमभावकृति की प्ररूपणा क्यों नहीं की गई है ?

आचार्य इसका समाधान देते हैं कि —

ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि औदयिक आदि पाँच भावों से उपलक्षित नोआगमद्रव्यों का शेष कृतियों में अन्तर्भाव हो जाता है।

अब भावकृति का विशेष कथन करने हेतु श्री भूतबली सूरिवर्य सूत्र अवतरित करते हैं —

सूत्रार्थ —

वह सब भावकृति हैं।।७५।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — वह सभी भावकृति कही जाती हैं।

शंका — एक भावकृति में बहुत्व कैसे संभव है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कृतिप्राभृत के ज्ञायकों में से उसमें उपयोगयुक्त जीवों का बहुत्व देखा जाता है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि — भावकृति को जानकर अपने आत्मस्वभाव की प्राप्ति हेतु रत्नत्रय की ही उपासना करना चाहिए। अर्थात् रत्नत्रय को धारण करना चाहिए।

इस प्रकार नवमें स्थल में भावकृति का निरूपण करने वाले दो सूत्र पूर्ण हुए।

इन कृतियों में से कौन सी कृति प्रयोजनीभूत है, ऐसा प्रश्न होने पर श्री भूतबली सूरिपुंगव के द्वारा सूत्र अवतरित किया जा रहा है —

एदासिं कदीणं काए कदीए पयदं ? गणणकदीए पयदं ।।७६।।

सिद्धांतचिन्तामणिटीका — अत्राचार्यदेवेन श्रीमद्भूतबलिना स्वयमेव प्रश्नं कृत्वा तस्मिन्नेव सूत्रे उत्तरमपि दत्तम्।

एतासां कृतीनां मध्येऽत्र कथा कृत्या प्रकृतं — प्रयोजनं इति पृष्टे सति गणनाकृतेः प्रकृतं — प्रयोजनं वर्तते।

गणनायाः प्ररूपणा किमर्थमत्र क्रियते ?

गणनाया विना शेषानियोगद्वारप्ररूपणानुपपत्तेः।

उक्तं च —

जह चिय मोराण सिहा णायाणं लंछणं व सत्थाणं।

मुक्खारूढं गणियं तत्थब्भासं तदो कुज्जा^१ ।।१।।

यथा मयूराणां शिखा मुख्यतया रूढलक्षणं वर्तते तथैव न्यायशास्त्राणां लक्षणं मुख्यरूपेण गणितमस्तीति ग्रंथकाराः कथयन्ति अत एव गणितस्याभ्यासः कर्तव्यो भवति। यद्यपि मम क्षयोपशमो गणितविषयेऽतीव मंदोऽस्ति तथाप्येतेषां ग्रंथानां स्वाध्यायेन टीकालेखनेन पुनः पुनोऽभ्यासेन नियमेन कस्मिंश्चिद् दिवसे गणितग्रंथेऽपि ज्ञानलब्धिं लप्स्येऽहं इति विश्वासो मे वर्तते। सत्यमेव, सरस्वत्या मातुः प्रसादेन किं किं न सिद्ध्यति ? सर्वं मनोऽभिलषितं सेत्स्यत्येव।

सूत्रार्थ —

इन कृतियों में कौन सी कृति प्रकृत है ? गणनकृति प्रकृत है ।।७६।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — यहाँ आचार्यदेव श्री भूतबली ने स्वयमेव प्रश्न करके उसी सूत्र में उत्तर भी दिया है।

इन कृतियों के मध्य में यहाँ किस कृति से प्रयोजन है, ऐसा पूछने पर आचार्यदेव ने उत्तर दिया कि यहाँ गणनाकृति से प्रयोजन है।

प्रश्न — यहाँ गणना की प्ररूपणा किसलिए की गई है ?

उत्तर — चूँकि गणना के बिना शेष अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा नहीं बन सकती है, अतः उसकी प्ररूपणा की गई है।

कहा भी है —

गाथार्थ — जिस प्रकार मयूरों की शिखा उनका मुख्यता से रूढ़ लक्षण है, उसी प्रकार न्याय शास्त्रों का मुख्य लक्षण गणित है। अतएव इसका अभ्यास करना चाहिए।

जैसे मयूरों की शिखा मुख्यरूप से उनका रूढ़ लक्षण — सर्वप्रसिद्ध चिन्ह माना जाता है, उसी प्रकार न्यायशास्त्रों का लक्षण मुख्यरूप से गणित है, ऐसा ग्रंथकार कहते हैं। इसलिए गणित का अभ्यास — अध्ययन अवश्य करना चाहिए। यद्यपि गणित के विषय में मेरा क्षयोपशम बहुत मंद है, फिर भी इन ग्रंथों के स्वाध्याय से एवं टीका लेखन से पुनः पुनः अभ्यास से किसी न किसी दिन नियम से गणित ग्रंथों का भी ज्ञान प्राप्त होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। यह सत्य ही है कि सरस्वती माता के प्रसाद से — उनकी कृपा से क्या-क्या कार्य सिद्ध नहीं होते हैं ? अर्थात् सभी मनोवांछित कार्यों की सिद्धि होगी ही, यही मेरा मानना है।

इतो विस्तरः—षट्खण्डागमस्य ग्रंथराजस्य चतुर्थखण्डस्य वेदना नामास्ति। अस्मिन् खण्डे अग्रायणीय-पूर्वस्य पञ्चमवस्तुचयनलब्धेश्चतुर्थप्राभृतस्य कर्मप्रकृतेर्नाम्नः चतुर्विंशत्यनियोगद्वारेषु प्रथमद्वितीययोः कृतिवेदनयोः प्ररूपणा कृतास्ति। वेदनाधिकारस्य विस्तृतवर्णनापेक्षया संपूर्णखण्डस्य वेदनैव नाम वर्तते।

प्रस्तुतग्रंथे नवमपुस्तके कृत्यनियोगद्वारस्य प्ररूपणा कृतास्ति। अस्मिन् ग्रंथप्रारंभे “ओहिजिणाणमादिं कृत्वा चतुश्चत्वारिंशन्मंगलसूत्रैर्मंगलाचरणं कृतं श्रीभूतबलिभट्टारकेण। पंचचत्वारिंशत्तमे सूत्रेऽग्रायणीयपूर्वस्य पंचमवस्तुनश्चतुर्थप्राभृतस्य कर्मप्रकृतिर्नाम वर्तते। तत्र कृति-वेदना-स्पर्श-कर्म-प्रकृति आदिचतुर्विंशत्यनियोगद्वाराणि सन्ति। अस्मिन्नपि प्रथमं कृत्यनियोगद्वारं प्रकृतमासीत्।

षट्चत्वारिंशत्तमे सूत्रे नामकृति-स्थापनाकृति-द्रव्यकृति-गणनकृति-ग्रंथकृति-करणकृति-भावकृति-नामभिः सप्त कृतयो वर्णिताः।

अत्राधुना गणनकृतेः संक्षेपेणोपसंहारोऽयं वर्तते। इयं गणनकृतिर्नोकृति-अवक्तव्यकृति-कृतिभेदेन त्रिविधा, अथवा कृतिगतसंख्यात-असंख्यात-अनन्त भेदेनानेकधापि कथितास्ति। एषु मध्ये एकसंख्या नोकृतिः, द्विसंख्या अवक्तव्यकृतिः, त्र्यादिं कृत्वा संख्यातासंख्यातानन्तसंख्या कृतिः कथितास्ति।

अत्र ग्रंथे कृति-नोकृति-अवक्तव्यकृतीनामुदाहरणार्थं ओघानुगमः प्रथमानुगमश्चरमानुगमः संचयानुगमश्चेति चतुरनियोगद्वाराणि कथितानि। अस्मिन् संचयानुगमस्य प्ररूपणा सत्संख्याद्यष्टानियोगद्वारैर्विस्तृतं वर्णितं अस्ति।

तात्पर्यमत्र—अयं ग्रंथराजः षट्खण्डागमोऽस्य धवला टीका, अस्या आधारेण रचिता इयं सिद्धान्त-

इसका विस्तार करते हैं—

षट्खण्डागम ग्रंथराज के चतुर्थखण्ड का नाम है—वेदनाखण्ड। इस खण्ड में अग्रायणीय पूर्व की पंचम-वस्तु की चयनलब्धि के चतुर्थ कर्मप्रकृति प्राभृत में चौबीस अनुयोगद्वारों में प्रथम और द्वितीय कृति एवं वेदना की प्ररूपणा की गई है। वेदनाधिकार के विस्तृत वर्णन की अपेक्षा इस सम्पूर्ण खण्ड का नाम वेदना ही पड़ गया है।

प्रस्तुत ग्रंथ-नवम पुस्तक में कृति अनुयोगद्वार की प्ररूपणा की गई है। इस ग्रंथ के प्रारंभ में “ओहिजिणाणं” मंत्र को आदि में करके चवालिस मंगलसूत्रों के द्वारा आचार्य श्री भूतबली भट्टारक ने मंगलाचरण किया है। पुनः पैतालिसवें सूत्र में अग्रायणीय पूर्व की पंचम वस्तु के कर्मप्रकृति नामक चतुर्थ प्राभृत का वर्णन है। उसमें कृति-वेदना-स्पर्श-कर्म-प्रकृति आदि चौबीस अनियोगद्वार हैं। इसमें भी प्रथम कृत्यनियोगद्वार प्रकृत था।

छियालिसवें सूत्र में नामकृति-स्थापनाकृति-द्रव्यकृति-गणनकृति-ग्रंथकृति-करणकृति और भावकृति नाम से सात कृतियों का वर्णन है।

यहाँ अब गणनकृति का संक्षेप में यह उपसंहार है। यह गणनकृति—नोकृति, अवक्तव्यकृति और कृति के भेद से तीन प्रकार की है अथवा कृतिगत संख्यात-असंख्यात और अनन्त के भेद से अनेक प्रकार की भी कही गई है। उनके मध्य में एक अंक की संख्या नोकृति है, दो की संख्या अवक्तव्य कृति है और तीन संख्या को आदि में करके संख्यात, असंख्यात और अनन्तसंख्या को कृति कहा है।

यहाँ इस ग्रंथ में कृति-नोकृति और अवक्तव्य कृतियों के उदाहरण देने के लिए ओघानुगम, प्रथमानुगम, चरमानुगम और संचयानुगम ये चार अनियोगद्वार कहे गये हैं। इसमें संचयानुगम की प्ररूपणा सत्-संख्या आदि आठ अनियोगद्वारों के द्वारा विस्तृतरूप से वर्णित है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि—

यह षट्खण्डागम ग्रंथराज है इसकी धवला नाम की टीका विख्यात है। उसी धवला टीका के आधार से

चितामणिनामधेया टीका चापि या धवलायाः सारभूतास्ति, असौ एषा इयं च अस्माकं सज्ज्ञानवृद्धयै परिणामशुद्धयै रत्नत्रयसिद्धयै च भूयासुरिति याचनां विदधमहे वयम्।

सर्वभाषामयी वाणी जिनवाणी निगद्यते। केवलज्ञानमत्याप्यै नमस्तस्यै सहस्रशः॥१॥

एवं दशमस्थले प्रयोजनीभूतगणनकृतिकथनपरत्वेन एकं सूत्रं गतम्।

इति श्रीमद्भगवत्पुष्पदन्तभूतबलिप्रणीत-षट्खण्डागमग्रन्थस्य वेदनानाम्नि चतुर्थखण्डे श्रीमद्भूत-

बलि-सूरिवर्यकृतवेदनाखंडान्तर्गत-प्रथम कृति-अनियोगद्वारस्य श्रीवीरसेनाचार्य विरचित-

धवला-टीकादिनानाग्रंथाधारेण विरचितायां विंशतितमे शताब्दौ प्रथमाचार्यश्चारित्र-

चक्रवर्ती श्रीशांतिसागरस्तस्य प्रथमपट्टाधीशः श्रीवीरसागराचार्यस्तस्य शिष्या-

जम्बूद्वीप-रचना-श्रीऋषभदेवान्तर्राष्ट्रीयनिर्वाण-महामहोत्सवप्रेरिका-

गणिनी-ज्ञानमती-कृतसिद्धान्तचिंतामणिटीकायां सप्तविध-

कृतिसमन्वितः प्रथम कृत्यनुयोगद्वारनामायं

द्वितीयो महाधिकारः समाप्तः।

इति भद्रं भूयात्।

रचित यह सिद्धान्तचिंतामणिटीका यह धवला टीका का सारभूत है, यह षट्खण्डागम ग्रंथ, धवला टीका एवं सिद्धान्तचिंतामणिटीका हम सभी के सम्यग्ज्ञान की वृद्धि, परिणामशुद्धि तथा रत्नत्रय की सिद्धि के लिए होवे, ऐसी हम याचना करते हैं।

श्लोकार्थ—सम्पूर्ण भाषामयी वाणी भगवान् जिनेन्द्र की वाणी कहलाती है। उस जिनवाणी को केवलज्ञान की मति को प्राप्त करने हेतु मेरा सहस्रों बार नमस्कार है॥१॥

इस प्रकार दशवें स्थल में प्रयोजनीभूत गणनकृति का कथन करने वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ।

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् पुष्पदन्त-भूतबली द्वारा प्रणीत षट्खण्डागम ग्रंथ के वेदना नामक

चतुर्थ खण्ड में श्री भूतबली आचार्य द्वारा रचित वेदनाखण्ड के अन्तर्गत प्रथम कृति

नामके अनुयोगद्वार का श्री वीरसेनाचार्य रचित धवलाटीका आदि नाना ग्रंथों के

आधार से रचित बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर

महाराज के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर महाराज की शिष्या

जम्बूद्वीप रचना-श्री ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव

की प्रेरिका गणिनी ज्ञानमती माताजी द्वारा रचित

सिद्धान्तचिंतामणिटीका में सात प्रकार की

कृतियों से समन्वित प्रथम कृत्यनुयोग-

द्वार नाम का यह द्वितीय

महाधिकार समाप्त

हुआ।

उपसंहारः

अधुना उपसंहारः क्रियते —

युगादौ प्रथमतीर्थकर आदिब्रह्मा ऋषभदेवः सर्वविद्यानां कलानां च विधाता बभूव। पुनश्च प्रयागक्षेत्रे जैनेश्वरीदीक्षा गृहीत्वा सहस्रवर्षपर्यन्तं तपश्चरणं कृत्वा केवलज्ञानरश्मिभिः सर्वलोकालोकं जानीते स्म। प्रभोर्दिव्यध्वनिं श्रुत्वावधार्य श्रीऋषभसेनाख्यो गणधरदेवो द्वादशांगश्रुतमरचयत्। तस्यामेव तीर्थकरपरंपरायां श्रीमहावीर-स्वामिर्दिव्यध्वनिप्रकाशेन श्रीमद्गौतमगणधरदेवेन द्वादशांगश्रुतज्ञानेनासंख्यभव्या मोक्षमार्गोपदेशेन संतर्पिताः।

अद्यत्वे सर्वत्र पाठ्यपुस्तकेषु अन्यमतावलम्बिष्वपि मनाग् भ्रान्तिः संजाता यत् भगवान् महावीर एव जैनधर्मस्य संस्थापकोऽस्ति, अस्या निराकरणार्थं धर्मप्रभावनार्थं जिनधर्मस्यानादिनिधनत्वसिद्ध्यर्थं प्राचीनत्व-प्रदर्शनार्थं वा सर्वत्र क्षेमसुभिक्षशान्त्यर्थं पर्यावरणशुद्ध्यर्थमित्यादिनानाविधकार्यसंपादनायैव श्रीऋषभ-देवान्तराष्ट्रीय-निर्वाणमहामहोत्सव शुभारंभं कृत्वा 'निर्वाणमहामहोत्सववर्षस्य' घोषणा कृता मया।

वीरनिर्वाणसंवत् षट्विंशत्यधिकपंचविंशतिशततमे माघकृष्णाचतुर्दश्यां तिथौ दिनांकचतुःफरवरी-ईस्वी सन् द्विसहस्रतमे वर्षे भारतस्य प्रधानमंत्री श्रीअटलबिहारीवाजपेयीनामधेयो महानुभावः लालकिला-मैदानस्थले कैलाशपर्वतस्य नवनिर्मितस्य समक्षे आगत्य निर्वाणलङ्घुकं श्रीऋषभदेवभगवतः चरणसान्निध्ये समर्प्य अस्य महामहोत्सवस्य शुभारंभं चकार।

उपसंहार

अब ग्रंथ का उपसंहार किया जा रहा है —

युग की आदि में प्रथम तीर्थकर आदिब्रह्मा ऋषभदेव भगवान् सम्पूर्ण विद्याओं एवं कलाओं के विधाता हुए। पुनः उन्होंने प्रयाग क्षेत्र में जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करके एक हजार वर्ष तक तपश्चर्या करके केवलज्ञान की रश्मियों से समस्त लोक और अलोक को जान लिया था। उन प्रभु की दिव्यध्वनि को सुनकर श्री ऋषभसेन नाम के गणधरदेव ने उस दिव्यध्वनि को अवधारण करके द्वादशांगरूप श्रुत की रचना की थी। उसी तीर्थकरपरम्परा में अंतिम तीर्थकर श्री महावीर स्वामी की दिव्यध्वनिरूप प्रकाश के द्वारा श्रीमान् गौतम गणधर देव ने द्वादशांगरूप श्रुतज्ञान के द्वारा असंख्य भव्यप्राणियों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर संतर्पित किया।

वर्तमान में सर्वत्र पाठ्यपुस्तकों में और अन्य मतावलम्बियों में ऐसी कुछ भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं कि भगवान् महावीर ही जैनधर्म के संस्थापक हैं। इस भ्रान्ति का निराकरण करने हेतु, धर्म की प्रभावना हेतु, जिनधर्म की अनादिनिधनता को सिद्ध करने हेतु अथवा उसकी प्राचीनता को प्रदर्शित करने के लक्ष्य से मैंने सर्वत्र क्षेम-सुभिक्ष-शांति के लिए, पर्यावरण शुद्धि के लिए एवं इसी प्रकार से अनेक प्रकार के कार्य सम्पादन करने हेतु ही श्री ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाणमहामहोत्सव का शुभारंभ करके "निर्वाण महामहोत्सव वर्ष" मनाने की घोषणा की।

वीर निर्वाण संवत् पच्चीस सौ छब्बिस में माघ कृष्णा चतुर्दशी तिथि को दिनांक चार फरवरी ईसवी सन् दो हजार (४ जनवरी सन् २०००) को भारत के प्रधानमंत्री माननीय श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने लाल किला मैदान में नवनिर्मित अस्थाई कैलाशपर्वत के समक्ष आकर श्री ऋषभदेव भगवान् के चरण सान्निध्य में हजारों भक्तसमूह के साथ निर्वाणलाडू समर्पित करके इस महामहोत्सव का शुभारंभ किया।

अस्मिन् निर्वाणमहामहोत्सववर्षे हस्तिनापुरे जंबूद्वीपस्थले तृतीयपंचवर्षीय जंबूद्वीपमहामहोत्सवः संजातः। श्रीऋषभदेवकीर्तिस्तंभशिलान्यास-ऋषभसंगोष्ठी-ऋषभदेवमहावीरव्याख्यानमाला-ऋषभदेवविधान-इंद्रध्वजविधानादिनानाविधानानुष्ठान-इत्यादि बहुविधधर्मकार्याणि संपन्नानि बभूवुः।

राजधानीदिल्लीमध्ये प्रीतविहारक्षेत्रे श्रीऋषभदेवकमलमंदिरे मम संघसहितेनायं वर्षायोगः संजातः। अस्मिन् वर्षायोगमध्येऽत्रस्थप्रीतविहारक्षेत्रस्य जैनसमाजकार्यकर्तृजनैर्मम प्रेरणया 'कैलाशपर्वतमानसरोवरयात्रा' नाम्नातीव सुंदरं आयोजनं कृतं। अस्य पर्वतस्योपरि मध्ये मध्ये त्रैकालिकचतुर्विंशतिजिनमूर्तयः स्थापिताः पृथक्पृथग्मंदिरेषु सर्वोपरि अष्टापदनामधेये स्थाने श्रीऋषभदेवजिनप्रतिमा स्थापिता। आश्विनशुक्लातृतीयाया^१ आरभ्य दशमीपर्यन्तं इयं यात्रा कारिता।

अस्मिन् कार्यक्रमे आश्विनशुक्लाचतुर्थ्या^२ त्रैकालिकचतुर्विंशतितीर्थकराणां द्वाप्ततिरत्नप्रतिमानां महामस्तकाभिषेकः संजातः। आश्विनशुक्लापञ्चम्यां भक्तामरमहामंडलविधानस्य अष्टचत्वारिंशन्मंडलरचनाः सार्धमेव विनिर्मिताः मुख्यमंडले चक्रवर्तिकुबेरादिपदं गृहीत्वा भक्तिका विधानं अकुर्वन्। युगपदेव अष्टचत्वारिंशन्महामण्डलिकराजानो भूत्वा स्व-स्वमंडलस्थाने स्थित्वा भक्तामरमहामंडलविधानपूजनं विदधुः।

अस्य पर्वतस्योपरि आरुह्य आरुह्यानेकलक्षा भक्तश्रद्धालुजना जैना जैनेतराश्चापि जिनप्रतिमावंदनां कुर्वाणाः सन्तः महापुण्यसंचयं कारं कारं अस्या यात्रायाः प्रशंसां चक्रुः। इदं धर्मप्रभावनाकार्यं संप्रति अभूतपूर्वं सर्वजनश्लाघनीयं अभवत्।

इस निर्वाण महोत्सव वर्ष के अन्तर्गत जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में तृतीय पंचवर्षीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव सम्पन्न हुआ। देशभर में जगह-जगह ऋषभदेव कीर्तिस्तंभों के शिलान्यास, ऋषभदेव संगोष्ठी, ऋषभदेव-महावीर व्याख्यानमाला, ऋषभदेव विधान एवं इंद्रध्वज विधान आदि अनेक विधान-अनुष्ठान इत्यादि बहुत प्रकार के धर्मकार्य सम्पन्न हुए।

राजधानी दिल्ली के प्रीतविहार क्षेत्र (कालोनी) में श्री ऋषभदेव कमल मंदिर में मेरा संघ सहित यह (सन् २००० का) वर्षायोग हुआ। इस वर्षायोग के मध्य प्रीतविहार की जैनसमाज के कार्यकर्ताओं ने मेरी प्रेरणा से "कैलाश मानसरोवर यात्रा" नाम से अतीव सुन्दर वृहद् आयोजन किया। उस अस्थायी पर्वत के ऊपर बीच-बीच में ७२ मंदिरों में त्रैकालिक चौबीस तीर्थकर भगवन्तों की मूर्तियाँ स्थापित की गईं। उस पर्वत पर सबसे ऊपर अष्टापद नामक स्थान पर श्री ऋषभदेव भगवान की प्रतिमा स्थापित की गई। आश्विन शुक्ला तृतीया से प्रारंभ करके दशमी तिथि तक यह यात्रा कराई गई।

इस कार्यक्रम में आश्विन शुक्ला चतुर्थी के दिन त्रैकालिक चौबीस तीर्थकर भगवन्तों की बहतर रत्नप्रतिमाओं का महामस्तकाभिषेक सम्पन्न हुआ। आश्विन शुक्ला पंचमी को अड़तालिस मण्डलों की रचना के साथ भक्तामर महामण्डल विधान के मुख्य मण्डल पर चक्रवर्ती, कुबेर आदि पद ग्रहण करके भक्तों ने विधान सम्पन्न किया। एक साथ अड़तालिस महामण्डलिक राजा बनकर अपने-अपने मण्डल के सम्मुख बैठकर भक्तामर महामण्डलविधान की पूजन को सम्पन्न किया।

इस पर्वत पर चढ़-चढ़कर लाखों जैन-जैनेतर श्रद्धालु भक्तों ने वंदना करते हुए महान् पुण्य का संचय कर करके इस मानसरोवर यात्रा की बहुत प्रशंसा की। यह धर्मप्रभावना का कार्य अभूतपूर्व एवं सर्वजनों से प्रशंसित हुआ।

अस्मिन्नेव वर्षायोगमध्ये अमेरिकाविदेशो न्यूयार्कनामस्थले “ धार्मिक-आध्यात्मिकनेतृणां सहस्राब्दि-विश्वशांतिशिखरसम्मेलनं ” संजातं। तस्मिन् सम्मेलनमहोत्सवे शताधिकदेशानां पञ्चसप्ततिधर्माणां एकसहस्र-पञ्च-शताधिका धर्माचार्याः सम्मिलिता अभवन्। अस्मिन् सम्मेलने दिगंबरस्य धर्माचार्यप्रतिनिधिरूपेण ममाज्ञया कर्मयोगी ब्रह्मचारी रवीन्द्रकुमारोऽपि तत्रागच्छत्। विश्वस्य क्षितिजस्योपरि भगवतः ऋषभदेवस्य नाम सिद्धांतं च विस्तारयितुं या मम भावनासीत् सा सफलीजाता। तत्र सर्वत्र विदेशमध्ये प्रभोः श्रीऋषभदेवस्य चर्चा वार्ता ब्रह्मचारिरवीन्द्रकुमारेण कारिता।

इदं शिखरसम्मेलनं भाद्रपदकृष्णाचतुर्दशीतः प्रारभ्य भाद्रपदशुक्लाद्वितीयापर्यंतं (दिनांकेऽष्टाविंशति-अगस्त मासात् प्रारभ्य एकत्रिंशदगस्तपर्यन्तं ईसवी सन् द्विसहस्रतमे) संजातम्।

अस्मिन् महोत्सववर्षेऽधुना नूतनं प्रयागतीर्थं प्रथमतीर्थकरस्य दीक्षास्थलं विनिर्माप्यते। अस्य नवतीर्थनिर्माणकृते दिगंबरजैनत्रिलोकशोधसंस्थानस्य अध्यक्षो ब्रह्मचारी रवीन्द्रकुमारस्तत्र इलाहाबादनगरे एकं क्षेत्रं क्रीणाति स्म। तत्र वटवृक्षस्थापना तस्याधः दीक्षामुद्रांकिता प्रभोः श्रीऋषभदेवस्य सपादपंचफुट खड्गासनप्रतिमा स्थापिता भविष्यति। पुनश्च केवलज्ञानकल्याणकसूचकस्य समवसरणस्थितगंधकुटीमध्ये चतुःऋषभदेवप्रतिमाः स्थापिता भविष्यन्ति।

अनयोर्द्वयोर्मन्दिरयोर्मध्ये कैलाशपर्वतस्य रचनाया उपरि श्रीऋषभदेवदेवस्य माणिक्यवर्णसदृशी कमलासनस्योपरि एकादशफुट-उत्तुंगपद्मासनप्रतिमायाः स्थापना करिष्यते।

अस्मिन् निर्वाणभूमिकैलाशपर्वतस्योपरि भरतचक्रवर्तिना रत्नमया जिनालयाः कारिताः, एतदार्षग्रंथेषु

इसी वर्षायोग के मध्य न्यूयार्क-अमेरिका में धार्मिक और आध्यात्मिक नेताओं की उपस्थिति में “सहस्राब्दि विश्वशांति शिखर सम्मेलन” का आयोजन हुआ। उस सम्मेलन महोत्सव में शताधिक देशों के पचहत्तर धर्मों के लगभग पन्द्रह सौ धर्माचार्य सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में दिगम्बर जैनधर्म के धर्माचार्य के प्रतिनिधिरूप में मेरी आज्ञा से मेरे शिष्य कर्मयोगी ब्रह्मचारी रवीन्द्र कुमार भी वहाँ गये। विश्व के क्षितिज पर भगवान् ऋषभदेव के नाम एवं सिद्धान्त को प्रचारित करने की जो मेरी भावना थी, वह सफल हुई। वहाँ विदेश में ब्रह्मचारी रवीन्द्र कुमार ने सर्वत्र भगवान् ऋषभदेव की चर्चा वार्ता की, जिससे सभी लोगों ने भगवान् ऋषभदेव के साथ-साथ जैनधर्म की विशेषता को समझा।

यह शिखर सम्मेलन भाद्रपद कृष्णा चतुर्दशी से प्रारंभ होकर भाद्रपद शुक्ला द्वितीया तक (२८ अगस्त से ३१ अगस्त सन् २००० तक) सम्पन्न हुआ।

इस महोत्सव वर्ष में प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव की दीक्षाभूमि प्रयाग — इलाहाबाद (उत्तरप्रदेश) में नूतन दीक्षास्थल प्रयाग तीर्थ का निर्माण किया गया। इस नव तीर्थ के निर्माण हेतु दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अध्यक्ष ब्रह्मचारी रवीन्द्र कुमार ने इलाहाबाद नगर में (इलाहाबाद-बनारस हाइवे रोड पर) एक खेत — जमीन का क्रय किया। वहाँ धातु का वटवृक्ष बनाकर स्थापित किया जायेगा, जिसके नीचे दीक्षा की मुद्रा वाली (पिच्छी-कमण्डलु सहित) प्रभु ऋषभदेव की सवा पाँच फुट खड्गासन प्रतिमा विराजमान होंगी। पुनश्च केवलज्ञानकल्याणक के सूचक समवसरण रचना में स्थित गंधकुटी के मध्य में ऋषभदेव भगवान की चार प्रतिमाएँ स्थापित होंगी।

इन दोनों मंदिरों के बीच में कैलाशपर्वत के ऊपर श्री ऋषभदेव तीर्थकर की माणिक्य वर्ण के सदृश ग्यारह फुट उत्तुंग पद्मासन प्रतिमा कमलासन पर स्थापित की जायेंगी।

इस निर्वाणभूमि कैलाशपर्वत के ऊपर भरत चक्रवर्ती ने रत्नमयी जिनालय निर्मित कराये थे, ऐसा आर्ष

श्रूयते। अतएव मत्प्रेरणया तत्रापि कृत्रिमपर्वते त्रैकालिकचतुर्विंशतितीर्थकराणां द्वासप्ततिजिनालयास्तत्र जिनप्रतिमाश्चापि स्थापयिष्यन्ते।

अस्य कैलाशपर्वतस्याभ्यन्तरेऽपि एकं जिनमंदिरं निर्माप्यते।

पद्मपुराणे लिखितं वर्तते —

प्रजाग इति देशोऽसौ प्रजाभ्योऽस्मिन् गतो यतः।

प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः प्रयागस्तेन कीर्तितः॥२८१॥

आपृच्छन् ततः कृत्वा पित्रोर्बधुजनस्य च।

नमः सिद्धेभ्य इत्युक्त्वा श्रामण्यं प्रत्यपद्यत॥२८२॥^१

अद्यत्वे प्रतिद्वादशवर्षं सनातनधर्मानुयायिनां महाकुंभनाम महापर्व आगच्छति। अनेकलक्षाः कोटिजनाश्च साधवो महात्मानः तत्र गत्वा त्रिवेण्यां नद्यां धर्मबुद्ध्या स्नात्वा महाकुंभस्नानं करिष्यन्ति। महाकुंभस्नानं कृत्वा स्व-स्वजीवनं सफलमिति मन्यमाना स्वेषां पुण्यभागिनो गण्यन्ते।

संप्रति प्रथमतीर्थकरऋषभदेवदीक्षाकल्याणकभूमिमुद्धर्तुमनसा मया प्रभोः श्रीऋषभदेवस्य अष्टोत्तरसहस्रमहाकुंभैः महाकुंभमस्तकाभिषेकं कारयितुं प्रेरणा दत्ता।

अग्रे वीरनिर्वाणसंवत् सप्तविंशत्यधिकपंचविंशतिशततमे माघशुक्लापञ्चम्याः आरभ्य पूर्णिमापर्यन्तं जैन महाकुंभमहोत्सवो भविष्यति। तत्र माघशुक्लापूर्णिमायां तिथौ (दिनांकेऽष्टफरवरी द्विसहस्र-एकतमे

ग्रंथों में सुना जाता है। इसलिए मेरी प्रेरणा से वहाँ भी (प्रयाग तीर्थ पर) कृत्रिम निर्मित होने वाले पर्वत पर त्रैकालिक चौबीस तीर्थकरों के बहत्तर जिनालय और जिनप्रतिमाएँ भी स्थापित की जायेंगी।

इस कैलाशपर्वत के अंदर भी (गुफा में) एक जिनमंदिर निर्मित किया जायेगा।

पद्मपुराण में लिखा है कि —

श्लोकार्थ — भगवान् ऋषभदेव प्रजा — जनसमूह से दूर हो उस तिलक नामक उद्यान में पहुँचे थे, इसलिए उस उद्यान का नाम 'प्रजाग' प्रसिद्ध हो गया अथवा भगवान् ने उस स्थान पर प्रकृष्टरूप से याग अर्थात् त्याग किया था इसलिए उसका नाम 'प्रयाग' भी प्रसिद्ध हुआ॥२८१॥

वहाँ पहुँचकर भगवान् ने माता-पिता तथा बंधुजनों से दीक्षा लेने की आज्ञा ली और फिर 'नमः सिद्धेभ्यः-' सिद्धों के लिए नमस्कार हो यह कहकर दीक्षा धारण कर ली॥२८२॥

अभी सनातन धर्मानुयायियों का प्रत्येक बारह वर्ष में आयोजित होने वाला महाकुंभ नाम का महापर्व आ रहा है। जिसमें लाखों-करोड़ों लोगों का जनसमूह तथा बहुत सारे हिन्दू साधु महात्मा वहाँ जाकर त्रिवेणी नदी में (गंगा-यमुना-सरस्वती का संगमस्थल प्रयाग में त्रिवेणी नदी बहती है) धर्मबुद्धि से नहाते हुए महाकुंभ स्नान करेंगे। वे लोग इस महाकुंभ स्नान को करके अपने-अपने जीवन को सफल मानते हुए स्वयं को पुण्यशाली — भाग्यवान् समझते हैं।

इन दिनों प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव दीक्षाकल्याणक भूमि का उद्धार करने की इच्छा से मैंने ऋषभदेव का एक हजार आठ महाकुंभों से महाकुंभ मस्तकाभिषेक कराने की प्रेरणा प्रदान की है।

आगे वीर निर्वाण संवत् पच्चीस सौ सत्ताइस में माघ शुक्ला पंचमी से प्रारंभ करके पूर्णिमा तक जैन महाकुंभ महोत्सव आयोजित होगा। वहाँ माघ शुक्ला पूर्णिमा तिथि में (दिनांक ८ फरवरी २००१ ईसवी सन्

ईस्वीसन् प्रसिद्धे ख्रिष्टाब्दे) गुरुवासरे प्रभोः प्रथमतीर्थकरस्य महाकुंभमहामस्तकाभिषेको भविष्यति। तत्रापि लक्षाधिका जिनधर्मानुयायिनो भक्तश्रद्धालुजनाः प्रभोर्महाकुंभैर्मस्तकाभिषेकं कारं कारं महाकुंभपर्व सार्थकं कृत्वा मनुष्यजन्मसफलं विधास्यन्ति।

अस्या अवसर्पिण्यास्तृतीयकालस्यान्ते हुंडावसर्पिणीनामदोषेण प्रथमतीर्थकरस्य जन्म बभूव। एकदा आदिब्रह्मणा भगवता ऋषभदेवेन दक्षिणांकं उपवेश्य ब्राह्मीपुत्र्यै लिपिविद्यां वामांके च सन्निवेश्य सुन्दरीपुत्र्यै अंकविद्यां च प्रदाय सर्वपुत्रेभ्यः प्रजाभ्यश्च संपूर्ण विद्याः सर्वकलाश्चापि प्रदीयन्ते स्म। असौ देवदेवः प्रथमतीर्थकरोऽस्माभिर्नम्यते।

श्रीदेवाधिदेवेनादिदेवेन कर्मभूमिप्रारंभे असि-मषि-कृषि-विद्या-वाणिज्य-शिल्पनामषट्क्रियाणामुपदेशं दत्त्वा प्रजाभ्यो जीवनयापनकलाः शिक्षिताः, दयाधर्मस्यापि उपदेशः प्रदत्तः।

उक्तं च श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिना—

पुरगामपट्टणादी लोहियसत्थो य लोयववहारो।

धम्मो वि दयामूलो विणिम्मियो आदिबह्णेण॥^१

अस्यादिप्रभोरनन्तोपकारस्मारणार्थमेव श्रीऋषभदेवकुलपतिसम्मेलन-निर्वाणमहामहोत्सव-कैलाशपर्वत-मानसरोवरयात्रा-प्रयागक्षेत्रनवनिर्वाण-ऋषभदेवमहाकुंभमस्तकाभिषेक-ऋषभदेवसंगोष्ठी-ऋषभदेवविधानादि-भिर्येन केन प्रकारेण ऋषभदेवभक्तिर्विधीयते।

एषु सर्वेषु कार्येषु केचित् स्वं धर्मात्मानं मन्यमाना अस्मान् निन्दन्ति, अहं मन्ये एतन्निन्द्यकार्यं केवलं

में) गुरुवार को प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव का महाकुंभ महामस्तकाभिषेक होगा। वहाँ पर भी लाखों जिनधर्मानुयायी भक्त श्रद्धालुजन महाकुंभों से प्रभु का मस्तकाभिषेक कर-करके महाकुंभ पर्व को सार्थक करके मनुष्य जन्म को सफल करेंगे।

हुण्डावसर्पिणी नामक दोष के कारण इस अवसर्पिणी के तृतीय काल के अन्त में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का जन्म हो गया। एक बार आदिब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव ने अपने दाहिनी ओर की गोद में अपनी ब्राह्मी पुत्री को बिठाकर उसे लिपिविद्या तथा बाईं ओर गोद में सुन्दरी पुत्री को बिठाकर उसे अंकविद्या प्रदान करके और सभी पुत्रों को तथा प्रजा को सम्पूर्ण विद्या एवं कलाएं प्रदान की थीं। ऐसे उन देवाधिदेव प्रथम तीर्थकर भगवान् को हमारा बारम्बार नमस्कार है।

श्री देवाधिदेव आदिनाथ भगवान् ने कर्मभूमि के प्रारंभ में असि-मषि-कृषि-विद्या-वाणिज्य और शिल्प नाम की षट् क्रियाओं का उपदेश देकर प्रजा को जीवन जीने की कला सिखाई, दयाधर्म का भी उपदेश दिया। जैसा कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य ने भी कहा है—

गाथार्थ—नगर-ग्राम-पत्तन आदि की रचना, लौकिक शास्त्र, असि, मषि, कृषि आदि लोक व्यवहार और दयाप्रधान धर्म की स्थापना आदिब्रह्मा श्री ऋषभनाथ तीर्थकर ने किया है॥

उन आदिप्रभो के अनन्त उपकारों का स्मरण कराने के लिए ही श्री ऋषभदेवकुलपति सम्मेलन, निर्वाणमहामहोत्सव, कैलाशपर्वत मानसरोवरयात्रा-प्रयाग तीर्थक्षेत्र का नवनिर्माण-ऋषभदेव महाकुंभ मस्तकाभिषेक-ऋषभदेव संगोष्ठी-ऋषभदेव विधान आदि के द्वारा जिस किसी प्रकार से ऋषभदेव की भक्ति मेरे द्वारा की जा रही है।

इन सभी कार्यों में कुछ लोग अपने को धर्मात्मा मानते हुए मेरी निंदा करते हैं, किन्तु वे केवल

मत्सरभावेनैव। अतएवाहं भावये यत् नानाविधनिन्दावचनं श्रुत्वा मम हृदि क्षोभो माभूयात्, तान् प्रति विद्वेषभावनां अपि न कदाचित् जागृयात्, तान् प्रति समभावो मे भवेत्। मया एवमेव चिन्तयितव्यम् यत्—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्।

लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति॥

पुनश्च — ये बहवो धर्मनिष्ठनराः मत्प्रेरणया संजातानि धर्मप्रभावनाकार्याणि अवलोक्यमाना धर्मप्रेम्णा हृष्टा भूत्वा प्रशंसन्त्यस्मान्। धर्मवत्सलभावेन तान् प्रति ममानुरागो वर्धते किंच अधुना मयि वीतरागता न वर्तते तथा च ते धर्मानुरागिणोऽत एव तान् प्रति प्रमोदभावो भवितुमर्हत्येव। एतेभ्यो धर्मवात्सल्येन मया धर्मवृद्धिरूपेण मंगलकामनारूपाशीर्वादः विद्वेषिणां निन्दकानां कृते अपि धर्मलाभरूपाशीर्वाद एव न तु मम दुर्भावनास्ति।

किं च सज्जना दुर्जना अपि स्व-स्वकार्याण्येव कुर्वन्ति नैतदाश्चर्यमिति।

यद्यप्ययं दुःषमकालस्तथापि अद्य प्रभृति वीरांगजमहामुनिपर्यन्तं 'एषोऽहिंसापरमो धर्मो' अविच्छिन्नतया चलिष्यति एतन्निश्चयेन मम हृदयेऽपि यावज्जीवं संयमभावना तिष्ठेत् स्वप्नेऽपि सम्यक्त्वच्युतिर्न भवेदिति भावनया अनन्तानन्तवारान् चतुर्विंशतितीर्थकरचरणारविन्देषु प्रणतिर्विधीयते मया।

मत्सरभाव के कारण ही निंदा करते हैं, ऐसा मेरा मानना है। इसलिए मैं यह सदैव भावना भाती हूँ कि नाना प्रकार के निंदाजनक वचनों को सुनकर मेरे हृदय में किसी प्रकार का क्षोभ न उत्पन्न होने पावे, उन निंदकों के प्रति कभी विद्वेष भावना न जागृत होने पावे, उनके प्रति मेरा समभाव रहे। मैं सदैव यही चिन्तन करती रहूँ कि—

श्लोकार्थ — तृण-घास, जल और संतोष वृत्ति से अपना जीवन व्यतीत करने वाले क्रमशः मृग-हिरण आदि वन्य पशु, मीन-मछलियों और सज्जन पुरुषों के प्रति संसार में लुब्धक-शिकारी, धीवर-जाल में मछली पकड़ने मछुआरे और पिशुन-निन्दक ईर्ष्यालु जन अकारण ही वैर भाव धारण करके इन्हें कष्ट देते हैं॥

किन्तु जो अनेकों धर्मनिष्ठ सज्जन श्रावक हैं वे मेरी प्रेरणा से सम्पन्न होने वाले धर्मप्रभावना के कार्यों को देखकर धर्मप्रेम से खूब प्रसन्न होकर हम लोगों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। धर्मवात्सल्य के भाव से उन धर्मानुरागियों के प्रति मेरा धर्मप्रेम वृद्धिगत होता है, क्योंकि अभी मुझमें वीतरागभाव प्रगट नहीं हुआ है तथा वे धर्मानुरागी हैं अतः उनके प्रति प्रमोद भाव होना उचित ही है। इन सभी के लिए धर्मवात्सल्यपूर्वक मेरा धर्मवृद्धिरूप मंगलकामनामयी आशीर्वाद है तथा विद्वेषी निन्दक महानुभावों के प्रति भी धर्मलाभरूप मंगल आशीर्वाद ही है, मेरी उनके प्रति कोई दुर्भावना नहीं है।

क्योंकि सज्जन और दुर्जन सभी अपना-अपना कार्य ही करते हैं इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

यद्यपि यह दुःषमकाल है फिर भी आज से लेकर वीरांगजमहामुनिपर्यन्त पंचमकाल के अन्त तक “यह अहिंसा परमोधर्म” अविच्छिन्नरूप से चलेगा इस प्रकार के निश्चयपूर्वक मेरे हृदय में भी जीवन भर संयम की भावना बनी रहे, स्वप्न में भी सम्यग्दर्शन छूटने न पावे, इस भावना से चौबीस तीर्थकर भगवन्तों के चरणकमलों में मेरा अनन्तानन्त बार नमन है।

जम्बूद्वीपवन्दना

उपजातिछंदः —

सुदर्शनान्द्रिं प्रणिपत्य मूर्ध्ना, तत्रस्थितान् षोडशचैत्यगेहान्।
 तेषु स्थिताश्च प्रतिमा जिनानां, वंदे विशुद्ध्या शिवसौख्यसिद्धयै॥१॥
 चतुःप्रमा ये गजदंतशैलाः, तेषु त्रिलोकाधिपमंदिराणि।
 तत्राप्तरूपाणि नमोऽस्तु तेभ्यः, स्वात्मोत्थसौख्यं ममशीघ्रमस्तु॥२॥
 जिनालयाः षट्कुलपर्वतेषु, ह्यकृत्रिमा रत्नमयाः विरेजुः।
 जैनेन्द्रबिम्बानि विभांति तेषु, नमामि भूत्यै किल तानि मोदात्॥३॥
 विदेहदेशस्थितषोडशेषु, वक्षारशैलेषु जिनालयाः स्युः।
 तत्र स्थितास्ताः प्रतिमाः प्रवंदे, भवाग्निशान्त्यै शिरसा त्रिसंध्यं॥४॥
 ये प्राग्विदेहेषु सुपश्चिमेषु, द्विःषोडशप्राकृतिकाः सुदेशाः।
 सर्वेषु मध्ये विजयार्ध-शैलाः, तत्रस्थ-जैनेन्द्रगृहाणि वंदे॥५॥
 ऐरावते यौ भरतेऽपि कांतौ, रूप्याचलौ द्वौ च तयोः जिनानां।
 निकेतने तत्र जिनेश्वरार्चाः, मनःप्रसन्न्यै किल ताः प्रणमामि॥६॥

जम्बूद्वीप वंदना

श्लोकार्थ — जम्बूद्वीप के बीचों बीच में स्थित सुदर्शनमेरु पर्वत (सुमेरु पर्वत) को शीश झुकाकर नमन करके वहाँ स्थित सोलह जिनगृहों को तथा उनमें विराजमान जिनप्रतिमाओं को भक्तिभाव से शिवसुख की सिद्धि हेतु मैं बारम्बार वंदन करता हूँ॥१॥

उस मेरु की चारों विदिशाओं में चार गजदन्त पर्वत हैं उन पर त्रिभुवनपति सिद्ध भगवन्तों के मंदिर हैं। उन मंदिरों में आप्त प्रभु की प्रतिमाएँ शाश्वत विराजमान हैं उन सभी को मेरा नमस्कार होवे, वे मेरे स्वात्मजन्य सुख की प्राप्ति के लिए निमित्त होवें॥२॥

जम्बूद्वीप में छह कुलपर्वत हैं, उन षट्कुलपर्वतों पर रत्नमयी अकृत्रिम जिनालय बने हुए हैं। जिनमें अकृत्रिम जिनबिम्ब विराजमान हैं। उन सब जिनबिम्बों को मेरा नमस्कार होवे, ये मेरे लिए शिवसौख्य को प्रदान करने वाले हैं॥३॥

जम्बूद्वीप में स्थित विदेह क्षेत्रों में (पूर्व-पश्चिम विदेह क्षेत्र में) सोलह वक्षार पर्वतों पर जो अकृत्रिम जिनालय हैं, उनमें स्थित समस्त प्रतिमाओं को भव अग्नि की शांति हेतु मैं तीनों कालों में शिर झुकाकर नमन करता हूँ॥४॥

पूर्वापर — पूर्व और पश्चिम के ३२ विदेह क्षेत्रों में ३२ विजयार्ध पर्वत हैं, उन विजयार्ध पर्वतों पर स्थित जिनेन्द्र मंदिरों को मेरा वंदन है॥५॥

भरत और ऐरावत इन दो क्षेत्रों में दो विजयार्ध पर्वत हैं। उन पर दो जिन मंदिर हैं, उनमें विराजमान जिनवर प्रतिमाओं को मन की प्रसन्नता हेतु मैं नमस्कार करता हूँ॥६॥

जम्बूद्वीपे शाल्मलि-शाखिनि द्वौ, चैत्यालयौ तौ प्रणमामि नित्यं।
तत्रस्थचैत्यानि भवांतकानां, संस्तौमि भक्त्या भवदुःखशान्त्यै॥७॥

आर्याछंदः—

मेरौ षोडशशैले, गजदंते ये चतुःप्रमाः जिननिलयाः।
कुलशैले षड् मान्या, विदेहजे वक्षारगिरिषु ते षोडश॥८॥
रूप्याद्रिचतुस्त्रिंशत्, तेषु गृहाः जंबूद्वौ शाल्मलिवृक्षे।
एतान् सर्वान् मान्यान्, अष्टासप्तति-जिनालयान् प्रणमामि॥९॥

अनुष्टुप्छन्दः—

चतुर्विंशतितीर्थेशा, भारते वृषभादयः।
ऐरावतेऽपि ये जातास्तेभ्यो नित्यं नमोऽस्तु मे॥१०॥
सीमंधरादिचत्वारो, जिनेन्द्रास्तान् नमाम्यहं।
वर्तमानान् विदेहेषु, केवलिनो मुनयश्च तान्॥११॥
जम्बूद्वीपेऽत्र यावन्तो-ऽर्हद्गणभृद्-यतीश्वराः।
सिद्धाः सिद्ध्यन्ति सेत्स्यन्ति, तान् तत्क्षेत्राणि च स्तुवे॥१२॥
पंचकल्याणमेदिन्यः, सातिशयस्थलानि च।
वंदे कृताकृतांश्चापि, जिनचैत्यजिनालयान्॥१३॥

जम्बूद्वीप के अंदर सुमेरु पर्वत की उत्तर दिशा में जम्बूवृक्ष है एवं दक्षिण दिशा में शाल्मलि वृक्ष है, उन दोनों पृथ्वीकायिक वृक्षों की एक-एक शाखा पर १-१ जिनमंदिर हैं। उनमें विराजमान भव अन्तक प्रतिमाओं की मैं भवदुःख की मैं शान्ति हेतु भक्तिपूर्वक स्तुति करता हूँ॥७॥

इस प्रकार सुदर्शनमेरु पर्वत के १६ जिनमंदिर, गजदंत पर्वत के ४, कुलाचलपर्वत के ६, विदेह क्षेत्र में वक्षार पर्वतों के १६ चैत्यालय हैं।

तथा रजताचल-विजयार्ध पर्वतों के ३४ और जम्बू-शाल्मलि वृक्षों के २ इस प्रकार कुल मिलाकर १६+४+६+१६+३४+२=७८ अकृत्रिम चैत्यालय जम्बूद्वीप में हैं, इन सभी को मेरा नमस्कार है॥८-९॥

भरतक्षेत्र में भगवान् वृषभदेव आदि चौबीस तीर्थकर हुए हैं तथा ऐरावत क्षेत्र में भी जो चौबीस तीर्थकर भगवान् हैं उन सभी को मेरा नित्य नमस्कार होवे॥१०॥

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सीमंधर-युगमंधर-बाहु-सुबाहु नाम के चार तीर्थकर भगवान् विद्यमान हैं, उन सभी को तथा वहाँ विराजित केवली और मुनियों को नमन है॥११॥

जम्बूद्वीप में जितने भी तीर्थकर, गणधर एवं यतिगण हैं। जो सिद्ध हो चुके हैं, हो रहे हैं और आगे होंगे, उन सभी को तथा उनके मुक्ति गमन के क्षेत्रों की मैं स्तुति करता हूँ॥१२॥

समस्त पंचकल्याणक भूमियों को और अतिशयस्थलों को तथा कृत्रिम-अकृत्रिम जिनचैत्य-चैत्यालयों की मैं वंदना करता हूँ॥१३॥

नमोऽस्तु जिनसद्धाने त्रितयलोकसंपद्भूते।
 नमोऽस्तु परमात्मने सकललोकचूडामणे॥
 नमोऽस्तु जिनमूर्तये सकलदोषविच्छिन्नये।
 पुनीहि मम रागमोह-सहितं मनोऽज्ञानवत्॥१४॥
 जम्बूद्वीपस्तुतिर्भक्त्या, क्रियते नियतं मुदा।
 भूयात् सा मेऽचिरायार्ह-ज्ज्ञानमत्यै श्रियै ध्रुवं॥१५॥

अन्त्यमंगलम्

द्विसहस्रकरोत्तुंगो, वृषभो वृषलाञ्छनः।
 सर्वा विद्याकला यस्मा-दाविर्भूता महीतले॥१॥
 शासनाधिपतिं वीरं, महावीरं जिनान्तिमम्।
 सन्मतिं वर्द्धमानं च, वन्दे भक्त्या पुनः पुनः॥२॥
 संप्रति प्रथमाचार्यं, चारित्रचक्रवर्तिनं।
 श्रीशांतिसागरं वन्दे, यो गुरुणां गुरुर्मतः॥३॥
 प्रथमः पट्टसूरिर्यः, गुरुः श्री वीरसागरः।
 महाव्रतप्रदाता मे, तस्मै श्रीसूरये नमः॥४॥
 भारतराजधानीयं, दिल्लीनामा महापुरी।
 अत्र प्रीतविहाराख्ये-ऽनिलजैनेन कारिते॥५॥

त्रैलोक्य की सम्पत्तिभर्ता अकृत्रिम जिनमंदिर को मेरा नमस्कार होवे। सम्पूर्ण लोक के चूडामणिस्वरूप परमात्मा को मेरा नमस्कार होवे। सम्पूर्ण दोषों के नाश हेतु सभी जिनप्रतिमाओं को मेरा नमस्कार होवे तथा हे भगवन्! राग-मोह से सहित मुझ अज्ञानी का मन शीघ्र पवित्र करो॥१४॥

जम्बूद्वीप रचना की हम प्रसन्नतापूर्वक भक्ति के साथ स्तुति करते हैं, हमारी यह भक्ति शीघ्र ही हमें (मुझ ज्ञानमती को) अर्हन्त भगवान की ज्ञान लक्ष्मी प्रदान करे, यही मंगलकामना है॥१५॥

अन्त्य मंगल

श्लोकार्थ — जिनके शरीर की ऊँचाई पाँच सौ धनुष — दो हजार हाथ (५००×४=२०००) प्रमाण (एक धनुष में चार हाथ होते हैं) थी, जिनका चिन्ह बैल था और जिनका शासन अमृतमय है, ऐसे तीन लोक के नाथ भगवान आदिनाथ सदा जयवन्त होवें॥१॥

उसी श्रृंखला में अंतिम तीर्थंकर एवं वर्तमान शासनाधिपति भगवान महावीर, जो सन्मति और वर्द्धमान नाम से भी संयुक्त हैं, उन्हें मेरा भक्तिपूर्वक बारम्बार नमस्कार है॥२॥

जो इस युग — बीसवीं सदी के प्रथम आचार्य हुए, गुरुणां गुरु के रूप में प्रसिद्ध हुए उन चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर आचार्य गुरुदेव के लिए मेरा वंदन है॥३॥

उनके प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर महाराज जो मुझे महाव्रत प्रदान करने वाले हैं उन आचार्य गुरुदेव के चरणों में शतशः नमन है॥४॥

भारत देश की राजधानी दिल्ली महानगरी की प्रीतविहार नामक कालोनी में श्रावकरत्न अनिल कुमार जैन नाम के भक्तशिष्य द्वारा निर्मित किये गये “तीर्थंकर ऋषभदेव कमल मंदिर” में मुझ गणिनी ज्ञानमती ने

तीर्थकृत् ऋषभेशस्य, कमलमंदिरे शुभे।

गणिन्या ज्ञानमत्येयं, टीका पूर्णकृता मया॥६॥

षट्खण्डागमग्रंथस्य, चतुर्थे खण्डनामके।

कृत्यनियोगद्वारस्य, स्यात् सिद्धान्तचिन्तामणिः॥७॥

षट्द्विपंचद्विख्यातांके, वीराब्द आश्विने सिते।

शरत्पूर्णातिथौ टीका, पूर्वाण्हे परिपूर्यते॥८॥

‘अहिंसा परमो धर्मो’, यावज्जगति वत्स्यते।

यावन्मेरुश्च टीकेयं, तावन्नद्याच्च नः श्रियै॥९॥

इति श्रीमद्भगवत्पुष्पदन्तभूतबलिप्रणीत-षट्खण्डागमग्रन्थस्य वेदनानाम्नि चतुर्थखण्डे श्रीमद्भूत-

बलि-सूरिवर्यकृतवेदनाखंडान्तर्गत-प्रथम कृति-अनियोगद्वारस्य श्रीवीरसेनाचार्य विरचित

धवला-टीकादिनानाग्रंथाधारेण विरचितायां विंशतितमे शताब्दौ प्रथमाचार्यश्चारित्र-

चक्रवर्ती श्रीशांतिसागरस्तस्य प्रथमपट्टाधीशः श्रीवीरसागरचार्यस्तस्य शिष्या-

जम्बूद्वीपरचना-श्रीऋषभदेवान्तर्राष्ट्रीयनिर्वाण-महामहोत्सवप्रेरिका-

गणिनीज्ञानमती-कृतसिद्धान्तचिन्तामणिटीकायां चतुर्विंशत्य-

नुयोगद्वारेषु श्री गणधरवल्यमंत्रसमन्वित-प्रथम-

कृत्यनुयोगद्वारं समाप्तम्।

समाप्तोऽयं नवमो ग्रन्थः

इस षट्खण्डागम के नवम ग्रंथ की टीका लिखकर परिपूर्ण की है॥५-६॥

षट्खण्डागम के चतुर्थ खण्ड में कृति अनुयोगद्वार नामक प्रकरण की इस सिद्धान्तचिन्तामणिटीका को वीर निर्वाणसंवत् पच्चीस सौ छब्बिस (२५२६) सन् २००० में आश्विन शुक्ला पूर्णिमा — शरदपूर्णिमा तिथि को पूर्वाण्हे काल में पूर्ण किया है॥७-८॥

जब तक इस संसार में “अहिंसा परमो धर्म” प्रवर्तित होता रहेगा और जब तक मेरु पर्वत धरातल पर स्थित रहेगा, तब तक यह सिद्धान्तचिन्तामणिटीका संसार में हम सभी को ज्ञानलक्ष्मी और परमानंद प्रदान करती रहे, यही भगवान् जिनेन्द्र से मेरी प्रार्थना है॥९॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् पुष्पदन्त-भूतबली द्वारा प्रणीत षट्खण्डागम ग्रंथ के वेदना नामक चतुर्थ खण्ड में श्रीमान् भूतबली आचार्य द्वारा रचित वेदना खण्ड के अन्तर्गत प्रथम-कृति अनुयोगद्वार

का श्रीवीरसेनाचार्य विरचित धवला टीका आदि नाना ग्रंथों के आधार से रचित टीका में

बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर महाराज, उनके प्रथम

पट्टाधीश श्री वीरसागर आचार्य, उनकी शिष्या जम्बूद्वीप रचना, श्री ऋषभदेव

अन्तर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव की प्रेरिका गणिनी ज्ञानमती माताजी

द्वारा रचित सिद्धान्तचिन्तामणिटीका में चौबीस अनुयोगद्वारों

में श्रीगणधरवल्य मंत्र समन्वित प्रथम

कृत्यनुयोगद्वार समाप्त हुआ।

॥नवमा ग्रंथ समाप्त॥

नवमग्रंथस्य प्रशस्तिः

नमः ऋषभदेवाय, धर्मतीर्थप्रवर्तिने।

सर्वा विद्याकला यस्मा-दाविर्भूता महीतले॥१॥

अथास्मिन् मध्यलोके आद्यानामाद्ये जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे भारतदेशस्य राजधानी इन्द्रप्रस्थ-नाममहानगरं यदधुना दिल्लीनाम्ना प्रसिद्धमस्ति। अत्र वीराब्दे पंचविंशत्यधिकपंचविंशतिशततमे^१ शरत्पूर्णिमायां ख्रिष्टाब्दे नवनवत्यधिक-एकोनविंशतिशततमे^२ चतुर्विंशति-अक्टूबरमासे जैसिंहपुरानामकालोनीमध्ये 'कनाटप्लेस' इति विख्याते अग्रवालदिगम्बरजैनमंदिरे स्थित्वा अस्य षट्खण्डागमस्य चतुर्थखण्डस्य नवमग्रन्थस्य सिद्धान्त-चिंतामणिटीकां प्रारभे स्म।

अस्य ग्रन्थस्य टीकालेखनकाले दिल्लीराजधान्यां आदिब्रह्मणः श्रीऋषभदेवस्य अन्तर्राष्ट्रीयनिर्वाणमहामहोत्सवकरणार्थं महती रूपरेखा निर्धारिता। किंच अन्तिमतीर्थकरो भगवान् महावीरस्वामी न जैनधर्म-संस्थापकः, प्रत्युत जैनधर्मोऽयमनादिनिधनः शाश्वतोऽस्ति। संप्रति वर्तमानकालीन-अवसर्पिणीकाले प्रथम-तीर्थकरो भगवान् ऋषभदेवो बभूव। एष भगवानपि न जैनधर्मस्य संस्थापकः, एभ्यश्चतुर्विंशतितीर्थकरेभ्यः प्राक् अपि अनन्तानन्त-तीर्थकरा बभूवुः। अनन्तानन्ताश्चाग्रे भविष्यन्ति।

एतत्प्रचारप्रसारार्थमेवायं निर्वाणमहामहोत्सव आयोजितः। वीराब्दे षड्विंशत्यधिकपंचविंशतिशततमे^३ माघकृष्णाचतुर्दश्यां प्रभुः ऋषभदेवस्य निर्वाणकल्याणकतिथौ प्रातःकाले ध्वजारोहणं कारितं।

नवम ग्रंथ की प्रशस्ति

श्लोकार्थ — जिन्होंने इस धरती पर सम्पूर्ण विद्याओं एवं कलाओं का शुभारंभ किया था, उन धर्मतीर्थ के प्रवर्तक श्री ऋषभदेव तीर्थकर भगवान को नमस्कार है॥१॥

इस मध्यलोक में सर्वप्रथम द्वीप जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में भारत देश की राजधानी इन्द्रप्रस्थ नाम का महानगर है, जो आज दिल्ली इस नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ वीर निर्वाण संवत् पच्चीस सौ पचिस में शरदपूर्णिमा के दिन २४ अक्टूबर ईसवी सन् उत्रिस सौ नित्यानवे में जैसिंहपुरा नाम की कालोनी के मध्य 'कनाटप्लेस' नामक स्थान पर अग्रवाल दिगम्बर जैन मंदिर में बैठकर मैंने इस षट्खण्डागम के चतुर्थखण्ड के नवमें ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणिटीका लिखना प्रारंभ किया था।

इस ग्रंथ की टीका के लेखन काल में राजधानी दिल्ली में आदिब्रह्मा श्री ऋषभदेव का अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव करने हेतु विशाल रूपरेखा निर्धारित की गई। क्योंकि अंतिम तीर्थकर भगवान महावीर स्वामी जैनधर्म के संस्थापक नहीं हैं, प्रत्युत यह जैनधर्म अनादिनिधन शाश्वत है। इस वर्तमानयुगीन अवसर्पिणी काल में प्रथम तीर्थकर भगवान ऋषभदेव हुए हैं। ये ऋषभदेव भगवान् भी जैनधर्म के संस्थापक नहीं हैं, इन चौबीस तीर्थकरों से पूर्व भी अनन्तानन्त तीर्थकर हो चुके हैं और आगे भविष्यकाल में भी अनन्तानन्त तीर्थकर होंगे।

इस बात का प्रचार-प्रसार करने हेतु ही यह निर्वाणमहामहोत्सव आयोजित किया गया है। वीर संवत् पचिस सौ छबिस में माघ कृष्णा चतुर्दशी को प्रभु ऋषभदेव के निर्वाणकल्याणक की तिथि में प्रातःकाल महोत्सव का ध्वजारोहण कराया गया। लाल किला मैदान में निर्मित विशाल पाण्डाल में नवनिर्मित कैलाशपर्वत

१. शरदपूर्णिमा वीर निर्वाण संवत् २५२५। २. दिनौक-२४-१०-१९९९। ३. माघ कृ. १४, वीर निर्वाण संवत् २५२६, दिनौक ४ फरवरी २०००।

लालकिलामैदानस्थले बृहन्महामण्डपे नवनिर्मितकैलाशपर्वते त्रैकालिकचतुर्विंशतितीर्थकराणां द्वासप्ततितीर्थकरत्नप्रतिमाः प्रतिष्ठेया अस्याष्टापदपर्वतशिखरे श्रीऋषभदेवप्रतिमा च स्थापिताः आसन्। तत्रैव मूलनायकप्रतिष्ठितऋषभदेवप्रतिमा च विराजते स्म।

अत्रैव मध्याह्नकाले वित्तराज्यमंत्री-धनंजयकुमारजैनस्याध्यक्षतायां भारतदेशस्य प्रधानमंत्रीश्री-अटलबिहारीवाजपेयी महामनाः आगत्य निर्वाणमहामहोत्सवे बृहन्निर्वाणमहामोदकं भगवतां समीपे समर्पयत्। श्रीमद् धनंजयकुमारेणापि सह अष्टोत्तरसहस्रनिर्वाणलङ्कान् समर्प्य पंचविंशतिसहस्राधिकजैनधर्मावलंबिनः महतीं पूजां चक्रुः। एतत्प्रभावनादृश्यं “न भूतो न भविष्यति” इति प्रसिद्धिर्जाता।

पुनश्च माघशुक्लाप्रतिपत्तिथेः प्रारभ्य पंचमीपर्यंत रत्नप्रतिमानां पंचकल्याणकप्रतिष्ठा बभूव।

अस्य महामहोत्सवमध्ये बहूनि कार्याणि जातानि। ‘श्रीऋषभदेवमेला’ मण्डपे बहुविधचित्राणि आसन्, भगवत्ऋषभदेवादितिर्थकरजीवनपरिचय-अहिंसा-शाकाहार-व्यसनमुक्तजीवनसंबन्धि-चित्र- (ज्ञांकीनाम्ना) पुत्तलिकादीनि च। जैनस्त्रीपुरुषाः जैनैतराश्च एताः चित्रावली अवलोक्य ‘जैनधर्म एवं अहिंसा परमो धर्मः’ इति प्रशंसन्तः अनेके आमिषभोजिनः शाकाहारिणः पापभीरवः संजाताः।

कविसम्मेलनं, जैनबृहद्दुवासम्मेलनं, अखिलभारतीयमहिलासम्मेलनं ऋषभदेवसर्वधर्मसभा इत्यादिषु कार्यक्रमेषु राजनेताकविवृन्द-पुरातत्त्वविदादयोऽपि आगच्छन्।

केन्द्रीयराज्यमंत्री-श्रीराजनाथसिंह-मध्यप्रदेशीय सांसदश्रीराघवजैन-पुरातत्त्वविद् डॉ. श्री मुनीश जोशी-इंजीनियर-श्री दिग्विजयसिंह जैन-आचार्य डॉ. प्रभाकर मिश्र-आचार्य अमरेन्द्रमुनि-उपराज्यपाल श्री

पर त्रिकाल चौबीस तीर्थकरों की रत्नमयी प्रतिष्ठेय प्रतिमाएँ एवं उस अष्टापदपर्वत के शिखर पर श्री ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित की गई थीं। वहीं पर मूलनायक भगवान ऋषभदेव की प्रतिष्ठित प्रतिमा विराजमान की गई थीं।

यहीं मध्याह्नकाल में वित्तराज्यमंत्री धनंजय कुमार जैन की अध्यक्षता में भारत देश के प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी महोदय ने पधारकर निर्वाणमहामहोत्सव के अवसर पर विशालकाय निर्वाण महालाडू भगवान के सम्मुख समर्पित किया था। पुनः श्री धनंजय कुमार के भी साथ पच्चीस हजार से अधिक जैनधर्मावलम्बियों ने एक हजार आठ निर्वाणलाडू समर्पित करके महती पूजा सम्पन्न की। यह प्रभावना का अभूतपूर्व दृश्य “न कभी हुआ है और न भविष्य में हो पाएगा” ऐसी प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।

पुनश्च माघ शु. एकम् से पंचमी तक रत्नप्रतिमाओं की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई।

इस महामहोत्सव के मध्य अनेक कार्य हुए। “श्री ऋषभदेवमेला” के पाण्डाल-परिसर में बहुत प्रकार के चित्र लगाए गए। भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थकरों के जीवन परिचय, अहिंसा, शाकाहार, व्यसनमुक्त जीवन से संबंधित अनेकों चित्र-झाकियाँ, इलेक्ट्रॉनिक झाँकियाँ दिखाई गईं। हजारों जैन स्त्री-पुरुष एवं जैनैतर लोगों ने इन झाँकी आदि को देखकर जैनधर्म एवं अहिंसा परमो धर्म की प्रशंसा करते हुए आनंद प्राप्त किया तथा अनेक मांसाहारी लोगों ने इन दृश्यों को देख-देखकर पापभीरुता से शाकाहारी जीवन जीने का संकल्प लिया।

कवि सम्मेलन, जैन वृहद् युवा सम्मेलन, अखिल भारतीय महिला सम्मेलन एवं ऋषभदेव सर्वधर्मसभा आदि कार्यक्रमों में राजनेतागण, कविगण, पुरातत्त्ववेत्ता आदि भी आए।

केन्द्रीय राज्यमंत्री श्री राजनाथ सिंह, मध्यप्रदेशीय सांसद श्रीराघव जैन, पुरातत्त्व वेत्ता श्री मुनीश जोशी, इंजीनियर श्री दिग्विजयसिंह जैन, आचार्य डॉ. प्रभाकर मिश्र, आचार्य अमरेन्द्रमुनि,

विजयकपूर-(दिल्ली प्रदेश)-विधिवेत्ता श्री एल.एम. सिंघवी जैन-राष्ट्रीय कवि श्री हरिओम पवार-श्रीसुरेन्द्रशर्मा-श्री ओ.पी. जैन-श्रीअरुणजैमिनी-डॉ. विनय विश्वास-श्री गजेन्द्रसोलंकी-श्री महेन्द्र अजनबी-डॉ. मंजू दीक्षित-श्री धर्मचंद्र 'अशेष'-श्री ओमप्रकाश आदित्य-श्री वेदप्रकाश-डॉ. कीर्तिकाले-संगीत-कलाकार-राजेन्द्रजैन-इत्यादयः अस्मिन् महामहोत्सवे आगत्य 'अहिंसाधर्मस्य' महतीप्रशंसां चक्रुः।

कुमारी-तन्वीतनेजाबालिकया भरतनाट्यं दर्शयित्वा जनानां मनःप्रसन्नीकृतं।

जैनसमाजस्य साहूरमेशचंद्र-निर्मलकुमारसेठी-इत्यादयोऽपि आगत्य पंचकल्याणकप्रतिष्ठायां धर्मप्रभावनाकार्येषु सहभागिनो बभूवुः।

भारतदेशेषु सर्वत्र पत्रपत्रिकादिषु दूरदर्शनादिनापि जैनधर्मप्रभावना संजाता। पुनश्च विदेशेषुपि टोरंटो-न्यूजर्सी-इत्यादिषु महामहोत्सवो बभूव। ईमेल-इंटरनेट-इत्यादि-निमित्तेन अन्तर्राष्ट्रीय-महामहोत्सवेन श्रीऋषभदेवस्य नाम्नः सर्वत्र प्रसारोऽभवत्।

इतश्च ऋषभदेव-अंतर्राष्ट्रीय निर्वाणमहामहोत्सवेन धर्मप्रभावनाऽभवत्। पुनश्च सर्वत्र भारतदेशे श्रीऋषभदेव-समवसरणश्रीविहारोऽपि द्विवर्षात् प्राक् श्रीअटलबिहारीवाजपेयी प्रधानमंत्री करकमलाभ्यां प्रवर्तित आसीत्। तस्य समवसरणस्य श्रीविहारोऽपि सर्वत्र भारते चलन्नासीत्, तदानीं तु गुजरातप्रदेशऽभवत्।

अनंतरं दक्षिणभारते वेणूरनाम-तीर्थे पंचत्रिंशत् फुटोत्तुंगबाहुबलीप्रतिमाया महामस्तकाभिषेकमहोत्सवे श्रीधनंजयकुमारजैनप्रेरणया कर्मयोगीब्रह्मचारी-रवीन्द्रकुमारः माघशुक्लैकादशीतिथौ वायुयानेन एकाशीतिजैनैः

उपराज्यपाल श्री विजय कपूर (दिल्ली प्रदेश), विधिवेत्ता श्री एल.एम. सिंघवी जैन, राष्ट्रीय कवि श्री हरिओम पवार, श्री सुरेन्द्र शर्मा, श्री ओ.पी. जैन, श्री अरुण जैमिनी, डॉ. विनय विश्वास, श्री गजेन्द्र सोलंकी, श्री महेन्द्र अजनबी, डॉ. मंजूदीक्षित, श्री धर्मचंद्र 'अशेष', श्री ओमप्रकाश आदित्य, श्री वेदप्रकाश, डॉ. कीर्तिकाले, संगीत कलाकार राजेन्द्र जैन आदि ने इस महोत्सव में पधारकर 'अहिंसा धर्म' की खूब प्रशंसा-प्रभावना की।

कुमारी तन्वी तनेजा नाम की बालिका ने भरतनाट्यम् नृत्य को दिखाकर लोगों का मन प्रसन्न किया।

जैनसमाज के वरिष्ठ कार्यकर्ता साहू रमेशचंद्र जैन एवं निर्मल कुमार जैन सेठी इत्यादि भी आकर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के धर्मप्रभावनात्मक कार्यों में सहभागी बने।

सम्पूर्ण भारत में सर्वत्र पत्र-पत्रिका आदि समाचार प्रकाशन के माध्यम से एवं दूरदर्शन (इलेक्ट्रॉनिक मीडिया) आदि से भी जैनधर्म की प्रभावना हुई। उसके बाद विदेश में भी टोरंटो, न्यूजर्सी आदि स्थानों पर महामहोत्सव हुआ। ईमेल, इंटरनेट इत्यादि माध्यमों से अंतर्राष्ट्रीय महामहोत्सव के द्वारा भगवान ऋषभदेव के नाम का सर्वत्र प्रसार हुआ।

इस ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव के द्वारा भगवान ऋषभदेव के नामकी खूब धर्मप्रभावना हुई। इसके साथ ही जो दो वर्ष पूर्व समवसरण श्रीविहार नाम का रथ प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी के करकमलों द्वारा प्रवर्तित हुआ था। उस समवसरण का श्रीविहार भी भारत में सर्वत्र चल रहा था, वह उस समय (सन् २००० में निर्वाणमहोत्सव के समय) गुजरात प्रदेश में था।

इस महोत्सव के अनंतर दक्षिण भारत में "वेणूर" नामक तीर्थ पर पैतिस फुट उत्तुंग भगवान् बाहुबली की प्रतिमा के महामस्तकाभिषेक महोत्सव में श्री धनंजय कुमार जैन की प्रेरणा से कर्मयोगी ब्रह्मचारी रवीन्द्र

सार्धं तत्र गत्वा महामस्तकाभिषेकं कृत्वा कारयित्वा च श्रवणबेलगुल-धर्मस्थल-मूडबिद्री-हलेविड-वेणूर-हुम्मचपद्मावती-तीर्थदर्शनं कृत्वा प्रत्यागच्छत्।

अस्य मध्ये दिल्लीराजधान्यां इन्द्रध्वजविधान-शांतिविधानादयो संजाताः श्रीऋषभदेवसंगोष्ठीप्रभृति-कार्याणि च। तदानीं फाल्गुनशुक्लासप्तम्यां^१ कनाटप्लेस-अग्रवाल-दिगम्बरजैनमंदिरस्य प्रांगणे श्री ऋषभदेवकीर्तिस्तंभस्य शिलान्यासोऽभवत्।

तदनंतरं दिल्लीराजधान्याः हस्तिनापुरतीर्थं प्रति मंगलविहारो जातः चैत्रशुक्लैकादश्याः तिथेः^२। मार्गे गाजियाबाद-मोदीनगर-मेरठ-मवानादिनगरेषु धर्मप्रभावनां विदधानाहं ससंघा चैत्रशुक्लादश्यां तिथौ^३ हस्तिनापुरं तीर्थं समागच्छम्।

अत्र तीर्थे जम्बूद्वीपपरिसरे चैत्रशुक्लात्रयोदश्यां ध्वजारोहणपूर्वकं रथयात्रा, सहस्रकूटमंदिरस्य शिलान्यास-प्रवचनसभा-अष्टोत्तरसहस्रकलशैः अवगाहनाप्रमाण-कल्पवृक्षस्वरूप-भगवन्महावीरमस्तकाभिषेक-कादिमहोत्सवोऽभवत्। तदानीं बुलारियाविदेशराज्यदूतादयोऽपि आगत्य जम्बूद्वीपदर्शनं चक्रुः।

अत्र हस्तिनापुरे तृतीयजम्बूद्वीपमहामहोत्सवे वैशाखकृष्णाप्रतिपत्तिथेः आरभ्य पंचमीपर्यंतं पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा बभूव। त्रिमूर्तिमंदिरस्य शिखरस्याभ्यन्तरमंदिरे भगवत्ऋषभदेवप्रतिमा स्थापिता वैशाखकृष्णापंचम्यां जम्बूद्वीपस्थ-सुदर्शन-मेरुपर्वतस्य पांडुकशिलाया उपरि भगवतां अष्टोत्तरसहस्रकलशैर्महाभिषेके सह महामहोत्सवोऽभवत्।

अस्मिन् मध्ये वैशाखकृष्णाद्वितीयायां ममार्यिकादीक्षातिथौ^४ विद्वज्जनैः ऋषभदेवसंगोष्ठीप्रभृति

कुमार ने माघ शुक्ला एकादशी (१६ फरवरी सन् २००० को) हवाई जहाज से इक्यासी लोगों के साथ वहाँ जाकर महामस्तकाभिषेक करके एवं सबसे करवाके, श्रवणबेलगोल-धर्मस्थल-मूडबिद्री-हलेविड-वेणूर और हुम्मचपद्मावती तीर्थों के दर्शन करके वापस आए।

इसके बीच में राजधानी दिल्ली में इन्द्रध्वज विधान, शांति विधान आदि सम्पन्न हुए एवं श्री ऋषभदेव संगोष्ठी आदि कार्य हुए। उसी समय फाल्गुन शुक्ला सप्तमी को कनाट प्लेस में अग्रवाल दिगम्बर जैन मंदिर के प्रांगण में श्री ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ का शिलान्यास हुआ।

उसके पश्चात् राजधानी दिल्ली से हस्तिनापुर तीर्थ की ओर मेरा मंगल विहार चैत्र शुक्ला एकादशी को हुआ। मार्ग में गाजियाबाद-मोदीनगर-मेरठ-मवाना आदि नगरों में धर्मप्रभावना करते हुए ससंघ चैत्र शुक्ला दशमी तिथि को मेरा ससंघ हस्तिनापुर में (जम्बूद्वीप स्थल पर) पदार्पण हुआ।

यहाँ तीर्थ पर जम्बूद्वीप परिसर में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (महावीर जयंती) के दिन ध्वजारोहण के साथ रथयात्रा, सहस्रकूट मंदिर का शिलान्यास, प्रवचनसभा, एक हजार आठ कलशों से अवगाहना प्रमाण कल्पवृक्षस्वरूप भगवान महावीर का मस्तकाभिषेक आदि महोत्सव सम्पन्न हुए। उस दिन विदेश के राजदूत सुगेरेव बुलारिया आदि ने भी पधारकर जम्बूद्वीप का दर्शन किया।

यहाँ हस्तिनापुर में तृतीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव में वैशाख कृष्णा एकम् तिथि से आरंभ करके वैशाख शुक्ला पंचमी तिथि तक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई। त्रिमूर्ति मंदिर के शिखर के अन्दर मंदिर में भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित हुई। वैशाख कृष्णा पंचमी को जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित सुदर्शनमेरु पर्वत (सुमेरुपर्वत) की पाण्डुकशिला के ऊपर भगवान का एक हजार आठ कलशों द्वारा महाभिषेकपूर्वक महामहोत्सव सम्पन्न हुआ।

इस मध्य वैशाख कृष्णा द्वितीया को मेरे आर्यिका दीक्षा दिवस के अवसर पर विद्वानों के द्वारा

१. १२ मार्च २०००। २. ३१ मार्च २०००। ३. १३ अप्रैल २०००। ४. वैशाख कृ. २, मेरा ४५वाँ दीक्षा दिवस, २० अप्रैल २०००।

धर्मप्रभावना कृता। तृतीयायां भगवद् दीक्षाकल्याणकदिवसे केन्द्रीयवित्तराज्यमंत्री धनंजयकुमारजैनः अत्र समागत्य कीर्तिस्तंभशिलान्यासं अकरोत्।

पंचम्यां तिथौ केन्द्रीयवाणिज्य-उद्योगमंत्री डॉ. रमणलालः आगत्य जम्बूद्वीपस्य दर्शनं ममाशीर्वादं च गृहीत्वा पुलकितोऽभवत्।

अनंतरं ज्येष्ठशुक्लादशम्यां एकादश्यां^१ च श्रीऋषभदेवसंगोष्ठी अभवत्। यत्तु राष्ट्रीयविद्यालयेषु पाठ्यपुस्तकेषु “भगवान् महावीरो जैनधर्मसंस्थापकः” इति पाठ्यते, तन्निराकरणार्थं “जैनधर्मोऽयं शाश्वतः सार्वभौमोऽनादि-निधनोऽस्ति न च कैश्चिदपि संस्थापना कृता” इत्येतत्सिद्ध्यर्थं खिल्लीमलजैन (एडवोकेट)-प्रो. विजयपाण्डे (अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद)-डॉ. शुभचंद्र जैन-मैसूर-प्रीतीश प्राचार्य (एन.सी.आई.-आर.के. रीडर) इत्यादयोऽनेके विद्वान्सः सम्मिलिता बभूवुः।

तथा चात्र हस्तिनापुरतीर्थेऽनेकविधानपूजादिकार्याणि संजातानि। अत्रैवाष्टापदपर्वतस्थापनार्थं मर्कटादिभिः सुरक्षाकरणार्थं चाष्टापदमंदिरस्य शिलान्यासं कारयित्वा धर्मप्रभावनार्थमेव पुनरपि दिल्ली-राजधान्यां वर्षायोगस्थापनार्थं च मम संघसहितेन हस्तिनापुरतीर्थात् आषाढकृष्णातृतीयातिथेः^२ मंगलविहारोऽभवत्। मार्गे मवाना-मेरठ-मोदीनगर-गाजियाबाद-इत्यादिनगरेषु धर्मकार्याणि कारं कारं आषाढशुक्लादशम्यां^३ दिल्लीमहानगरे प्रीतविहारनामकालोनीमध्ये श्रीऋषभदेवकमलमंदिरं समागत्य तत्रैव निवासोऽभवत्। अत्रैव आषाढशुक्लाचतुर्दश्यां वर्षायोगोऽस्माभिः स्थापितः।

अस्मिन् मध्ये महाकुंभनाम्नि प्रयागनगरे (इलाहाबादनगरे) आश्विनशुक्ला तृतीयायां^४ श्रीऋषभदेव-ऋषभदेव संगोष्ठी आदि करके धर्मप्रभावना की गई। पंचकल्याणक के मध्य तृतीया को भगवान के दीक्षाकल्याणक दिवस पर केन्द्रीय वित्तमंत्री धनंजय कुमार जैन ने यहाँ आकर कीर्तिस्तंभ का शिलान्यास किया।

पंचमी तिथि को केन्द्रीय वाणिज्य-उद्योगमंत्री डॉ. रमणलाल आकर जम्बूद्वीप के दर्शन करके एवं मेरा आशीर्वाद ग्रहण करके बहुत प्रसन्न हुए।

इसके पश्चात् ज्येष्ठ शुक्ला दशमी और एकादशी को ऋषभदेव संगोष्ठी हुई। राष्ट्रीय विद्यालयों में पाठ्यपुस्तकों में पढ़ाया जाता है कि “भगवान महावीर जैनधर्म के संस्थापक हैं” इस भ्रान्ति का निराकरण करने हेतु आयोजित की गई इस संगोष्ठी में “यह जैनधर्म शाश्वत, सार्वभौम एवं अनादिनिधन है, वह किसी के द्वारा स्थापित नहीं किया गया है” यह सिद्ध करने हेतु खिल्लीमल जैन एडवोकेट, प्रो. विजय पाण्डे (अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद), डॉ. शुभचंद्र जैन-मैसूर, प्रीतीश प्राचार्य (एन.सी.ई.आर.टी. के रीडर) इत्यादि अनेक विद्वान् सम्मिलित हुए।

तथा च यहाँ हस्तिनापुर तीर्थ पर अनेक विधान पूजा आदि कार्य सम्पन्न हुए। यहीं पर अष्टापद पर्वत की स्थापना करने हेतु (अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महोत्सव के समय निर्मित किये गये अस्थाई पर्वत की) और बंदर आदि पशुओं से उसे सुरक्षित करने हेतु अष्टापद मंदिर का शिलान्यास कराकर पुनः धर्मप्रभावना के निमित्त से दिल्ली राजधानी में वर्षायोग स्थापना करने के लिए मेरा हस्तिनापुर तीर्थ से मंगल विहार आषाढ कृष्णा तृतीया तिथि को हुआ। मार्ग में मवाना-मेरठ-मोदीनगर-गाजियाबाद इत्यादि नगरों में धर्मकार्य सम्पन्न कराते हुए आषाढ शुक्ला दशमी को दिल्ली महानगर की प्रीतविहार कालोनी में श्री ऋषभदेव कमलमंदिर में पहुँचकर वहीं निवास हुआ। पुनः वहीं आषाढ शुक्ला चतुर्दशी को हमने विधिपूर्वक वर्षायोग स्थापित किया।

इस वर्षायोग के मध्य महाकुंभ नाम से प्रसिद्ध प्रयाग नगर में (वर्तमान में इलाहाबाद नाम से प्रसिद्ध

१. ११ जून २०००। २. आषाढ कृ. ३, २० जून २००० को विहार हुआ। ३. १० जुलाई २०००, सोमवार।

दीक्षाभूमि-केवलज्ञानभूमिषु नूतनतीर्थनिर्माणार्थं तत्रैव भूमिक्रयं कृत्वा ब्रह्मचारिरवीन्द्रकुमारोऽत्रागत्य श्रीतीर्थकरऋषभदेवतपःस्थलीतीर्थनिर्माणशिलान्यास हेतु-आश्विनशुक्लासप्तमी तिथिः निर्धारिताः।

ब्रह्मचारिरवीन्द्रकुमारस्य विदेशयात्रा — अमेरिकानाम्नि विदेशे (न्यूयार्क) स्थाने “विश्वशांतिशिखर-सम्मेलननाम्नि” विशेषे कार्यक्रमे दिगम्बरजैनधर्मावलम्बिनां प्रतिनिधिरूपेण-जैनधर्माचार्यरूपेण ब्रह्मचारि-रवीन्द्रकुमारजैनस्य (दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थानस्याध्यक्षस्य) भाद्रपदकृष्णाद्वादश्याः पश्चिमरात्रौ सपादत्रिवादनसमये दिल्लीराजधानीतः वायुयानेन प्रस्थानमभवत्। मया अस्य प्रतिदिनमभिषेकपूजा-दर्शनकरणार्थं सार्धं नेतुं जिनप्रतिमा प्रदत्ता।

भाद्रपदकृष्णाचतुर्दश्याः आरभ्य (२८ अगस्त २०००) भाद्रपदशुक्लाद्वितीयापर्यन्तं (३१ अगस्त २००० पर्यन्तं) एतत्सम्मेलनमासीत्। तस्मिन् सम्मेलने पंचसप्तति धर्मपंथ-संप्रदायानां अनुमानतः पंचदशशत-गुरुगण-प्रतिनिधिजनाः सम्मिलिता बभूवुः। अस्मिन्नद्वितीयसम्मेलने संयुक्तराष्ट्रस्याध्यक्षटेडटर्नरमहानुभावः (टाइम वार्नर के वाइस चेयरमेन) अस्यायोजनस्य मानद अध्यक्ष आसीत्। अन्येऽपि जनाः संयुक्तराष्ट्रसंघस्य महासचिवः “कोफीअन्नान-राजनयिकप्रसिद्धविद्वान्-लक्ष्मीमलसिंघवीइत्यादयः तथा सम्मेलनस्य महासचिवः भारतीयः न्यूयार्कप्रवासीश्रीबावाजैनः, श्रीमतीसाहूइंदुजैनः, इत्यादिभिः ‘अहिंसा परमो धर्मः’ इत्यादिप्रकारेण विश्वशांतिहेतोः अहिंसायाः महती आवश्यकतास्ति, अस्य विषयस्य प्रचारः प्रसारश्चाभवत्। तथा च-

माघमासे पूर्णिमातिथिपर्यन्तं (४ फरवरी से ८ फरवरी २००१ में) नूतनप्रयागतीर्थक्षेत्रे ‘पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महाकुंभमस्तकाभिषेकः’ प्रभोः आदिब्रह्मणः ऋषभदेवस्य दीक्षाभूमौ अष्टोत्तर-सहस्रमहाकुंभैः

नगर में) आश्विन शुक्ला तृतीया को श्री ऋषभदेव दीक्षाभूमि और केवलज्ञान भूमि पर नूतन तीर्थ के निर्माण हेतु वहीं पर भूमि क्रय करके ब्रह्मचारी रवीन्द्र कुमार ने आकर वहाँ श्री तीर्थकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ निर्माण के शिलान्यास हेतु आश्विन शुक्ला सप्तमी की तिथि निर्धारित की।

ब्रह्मचारी रवीन्द्र कुमार की विदेशयात्रा — अमेरिका नाम के विदेश में न्यूयार्क के अंदर “विश्वशांति शिखर सम्मेलन” नामक विशेष कार्यक्रम में दिगम्बर जैन धर्मावलम्बियों के प्रतिनिधिरूप से-जैनधर्माचार्य के रूप में दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अध्यक्ष ब्रह्मचारी रवीन्द्र कुमार जैन का विदेशयात्रा हेतु भाद्रपद कृष्णा द्वादशी की पिछली रात्रि में सवा तीन बजे दिल्ली से वायुयान के द्वारा प्रस्थान हुआ। मैंने इन्हें प्रतिदिन अभिषेक-पूजा एवं दर्शन करने हेतु एक जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा साथ में ले जाने के लिए प्रदान की।

भादों कृष्णा चतुर्दशी से प्रारंभ होकर (२८ अगस्त २००० से) भादों शुक्ला द्वितीया तक (३१ अगस्त २००० तक) यह सम्मेलन था। उस सम्मेलन में ७५ धर्मपंथ-सम्प्रदायों के लगभग १५०० धर्मगुरुओं ने भाग लिया। इस अद्वितीय सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के अध्यक्ष टेड टर्नर नाम के महानुभाव (टाइम वार्नर के उपाध्यक्ष) इस आयोजन के अध्यक्ष थे। अन्य और भी मान्य जनों में संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव कोफी अन्नान, राजनयिक प्रसिद्ध विद्वान एवं प्रसिद्ध विधिवेत्ता डॉ. लक्ष्मीमल जैन सिंघवी आदि तथा सम्मेलन के महासचिव भारत निवासी न्यूयार्क प्रवासी बावा जैन, श्रीमती साहू इन्दू जैन इत्यादि लोगों के द्वारा “अहिंसा ही परम धर्म है” इत्यादि प्रकार से विश्वशांति के लिए अहिंसा की अति आवश्यकता है इस विषय का प्रचार-प्रसार हुआ।

तथा च-माघ मास में पूर्णिमा तिथि तक (४ फरवरी से ८ फरवरी २००१ तक) नूतन प्रयागतीर्थक्षेत्र में “पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं महाकुंभ मस्तकाभिषेक” नामक कार्यक्रम के माध्यम से प्रभु आदिब्रह्मा ऋषभदेव

भविष्यतीति प्रचारोऽपि तत्र विदेशेऽभवत्।

राजधान्यां मानसरोवरयात्रा — प्रीतविहार (दिल्ली) वर्षायोगे श्रीऋषभदेवशासनप्रभावनाथं बृहद्-भूमिस्थले दिव्यां कैलाशपर्वतस्य रचनां कारयित्वा मानसरोवरयात्रायाः कार्यं अतीव महत्वपूर्णमभवत्।

आश्विनशुक्लातृतीयायां (३० सितम्बर २०००) ध्वजारोहणं, चतुर्थ्यां प्रातः दिल्लीप्रदेशस्य 'मुख्यमंत्री श्रीमती शीलादीक्षित' महिला अत्रागत्यास्य मानसरोवर-यात्रायाः उद्घाटनमकरोत्। अस्मिन् पर्वते त्रिकालचतुर्विंशतितीर्थकराणां प्रतिमाः द्वासप्ततिप्रमाः श्री ऋषभदेव-प्रतिमा च स्थापिताः। आश्विनशुक्लापंचम्यां (२ अक्टूबर २०००) अष्टचत्वारिंशत् महामण्डलानि कारयित्वा भक्तामरस्तोत्रविधानानि कारितानि। अस्याः यात्रायाः कार्यक्रमः आश्विनशुक्लाष्टम्याः पर्यंतं बभूव।

लक्षाधिकभाक्तिकाः पर्वतस्योपरि चटित्वा चटित्वा भगवतां दर्शनं पूजनादिकं कारं कारं संतुष्टा बभूवुः।

अस्मिन्मध्ये एव आश्विनशुक्लासप्तम्यां (४ अक्टूबर २०००) दिवसे प्रयागक्षेत्रे "तीर्थकरऋषभदेवतपः-स्थलीतीर्थस्य शिलान्यासं कारयित्वा ब्रह्मचारी रवीन्द्रकुमारोऽत्रागत्य शुभसमाचारोऽश्रावयत्।

इत्थं नानाविधधर्मप्रभावनाकार्यपूर्वकं अत्र वर्षायोगे आश्विनशुक्लापूर्णिमा-शरदपूर्णिमातिथौ वीराब्दे षड्विंशत्यधिकपंचविंशतिशततमे शुक्रवासरे (१३ अक्टूबर २०००) मया एतत् महाग्रन्थराजस्य नवमग्रन्थस्य चतुर्थखंडांतर्गत कृतिनामानुयोगद्वारसमन्वितस्य वेदनाखंडस्य सिद्धान्तचिंतामणिनामटीकां पूर्णमकार्षम्।

संप्रति भारतदेशस्य राष्ट्रपति-महामहिम श्री आर.के. नारायणन-प्रधानमंत्री अटलबिहारीवाजपेयी-

की दीक्षाभूमि में एक हजार आठ महाकुंभों के द्वारा महामस्तकाभिषेक होगा, यह प्रचार विदेश में हुआ।

राजधानी में मानसरोवर यात्रा-प्रीतविहार-दिल्ली के वर्षायोग में श्री ऋषभदेव शासन की प्रभावना करने हेतु विशाल स्थान पर दिव्य कैलाशपर्वत की दिव्य रचना करवाकर मानसरोवर यात्रा का अतीव महत्वपूर्ण कार्य हुआ।

आश्विन शुक्ला तृतीया (३० सितम्बर २०००) को इस यात्रा कार्यक्रम का ध्वजारोहण हुआ, चतुर्थी को प्रातः दिल्ली प्रदेश की "मुख्यमंत्री श्रीमती शीला दीक्षित" ने आकर इस मानसरोवर यात्रा का उद्घाटन किया। इस पर्वत पर त्रिकाल चौबीसी तीर्थकर भगवन्तों की बहत्तर प्रतिमाएँ तथा श्री ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित की गई। आश्विन शुक्ला पंचमी (२ अक्टूबर २०००) को भक्तामर के अड़तालिस महामण्डल बनाकर भक्तामर स्तोत्र के विधान करवाए। इस यात्रा का कार्यक्रम आश्विन शुक्ला अष्टमी तक सम्पन्न हुआ।

लाखों भक्तों ने पर्वत के ऊपर चढ़-चढ़ करके भगवन्तों के दर्शन-पूजन आदि कर-करके खूब सन्तुष्टि का अनुभव किया।

इसके मध्य में ही आश्विन शुक्ला सप्तमी को (४ अक्टूबर २००० को) प्रयाग क्षेत्र में 'तीर्थकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ' का शिलान्यास करवाकर ब्रह्मचारी रवीन्द्र कुमार ने वापस आकर शुभ समाचार सुनाया।

इस प्रकार के अनेक धर्मप्रभावनात्मक कार्यों के साथ यहाँ वर्षायोग में आश्विन शुक्ला पूर्णिमा-शरदपूर्णिमा तिथि को वीर निर्वाण संवत् पच्चीस सौ छब्बीस में शुक्रवार (१३ अक्टूबर २०००) को मैंने इस षट्खण्डागम ग्रंथराज की नवमीं पुस्तक चतुर्थखण्ड के अन्तर्गत कृति नामक अनुयोगद्वार से सहित वेदनाखण्ड की सिद्धान्तचिंतामणि टीका को पूर्ण किया।

इस समय भारत देश के राष्ट्रपति महामहिम श्री आर.के. नारायणन, प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी

महानुभावाः दिल्लीप्रदेशस्य महामहिमराज्यपाल श्री विजयकपूर-मुख्यमंत्री श्रीमती शीलादीक्षितनामाभिः प्रसिद्धाः शासका गणतंत्रशासनं रक्षन्ति।

अस्मिन् ग्रन्थे गीर्वाणीटीकायां मया धवलाटीकाधारेण लिखन्त्या प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी-पार्श्वीभ्युदयकाव्य-तिलोपपण्णत्ति-तत्त्वार्थवृत्ति-तत्त्वार्थराजवार्तिक-प्रवचनसारोद्धार-आदिपुराण-पद्मपुराण-कसायपाहुड़-मूलाचार-गोम्मटसारजीवकाण्ड-जयधवलाटीका-प्राकृतश्रुतभक्ति-अनगारधर्माभूत-आचारसार-त्रिलोकसारादीनां एतेषां ग्रन्थानां उद्धरणानि तत्तद्विषयेषु गृहीतानि। दिल्लीराजधान्यां टीकालेखनं प्रारभ्य मध्ये ततः विहृत्य हस्तिनापुरतीर्थक्षेत्रे श्रीशांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरनाथतीर्थकराणां चतुश्चतुःकल्याणकैः पवित्रीकृते तीर्थे आगत्य अष्टषष्टिदिवसान् स्थित्वा टीकां लिखन्त्या महान् आनन्दानुभवः प्राप्तः। पुनश्च राजधान्यामेव प्रत्यागत्य राष्ट्रीयप्रभावनां श्रीऋषभदेवदेवस्य कुर्वन्त्या एकस्मिन् वर्षे इयं “सिद्धान्तचिंतामणि” टीका पूर्णीकृता। गीर्वाणीटीकासमन्वितोऽयं ग्रन्थराजोऽस्मिन् भूतले चिरकालं तिष्ठतु, नन्दतु, भव्यानां मनःपंकजं विकासयतु।

श्रीषट्खण्डागमग्रन्थान् अस्मिन् ग्रन्थे उद्धृत-श्रीगौतमगणधररचितगणधरवलयमंत्रान् श्रीधरसेनाचार्य-कृपाप्रसादात् सिद्धान्तज्ञानप्राप्तषट्खण्डागमसूत्रकारान् श्रीपुष्पदंतभूतबलिसूरिवर्यान् धवलाटीकाकार-श्रीवीरसेनाचार्याश्चाहं कोटिशो नमामि। परंपरागतसर्वाचार्योपाध्यायासाधुपरमेष्ठिनश्च प्रणमामि त्रियोगशुद्ध्या।

वर्तमानकाले श्रीकुन्दकुन्दाम्नाये सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे विंशतितमे शताब्दौ प्रथमाचार्यः चारित्रचक्रवर्ती-श्रीशांतिसागरमुनीन्द्रः, तस्य प्रथमशिष्यः प्रथमपट्टाचार्यश्च श्रीवीरसागरगुरुवर्यो ममार्यिका-

वाजपेयी, दिल्ली प्रदेश के महामहिम राज्यपाल श्री विजय कपूर, मुख्यमंत्री श्रीमती शीला दीक्षित नाम के प्रसिद्ध शासक गणतंत्र शासन की रक्षा कर रहे हैं।

इस ग्रंथ में संस्कृत टीका में मैंने धवला टीका के आधार से लिखते हुए प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी, पार्श्वीभ्युदय-काव्य, तिलोपपण्णत्ति, तत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थराजवार्तिक, प्रवचनसारोद्धार, आदिपुराण, पद्मपुराण, कसायपाहुड़, मूलाचार, गोम्मटसार जीवकाण्ड, जयधवला टीका, प्राकृतश्रुतभक्ति, अनगारधर्माभूत, आचारसार, त्रिलोकसार आदि ग्रंथों के उद्धरण उन-उन विषयों में ग्रहण किये हैं। दिल्ली राजधानी में टीका लेखन प्रारंभ करके पुनः वहाँ से विहार करके हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र में श्री शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ तीर्थकरों के चार-चार कल्याणकों से पवित्र तीर्थ पर आकर वहाँ अड़सठ दिन तक रहकर टीका लिखते हुए महान् आनन्द का अनुभव प्राप्त हुआ। पुनश्च राजधानी दिल्ली में ही वापस आकर ऋषभदेव भगवान की राष्ट्रीय प्रभावना करते हुए एक वर्ष में इस “सिद्धान्तचिंतामणि” टीका को पूर्ण किया। गीर्वाणी — संस्कृत टीका से समन्वित यह ग्रंथराज इस पृथ्वीतल पर चिरकाल तक स्थित रहे। सबको आनन्दित करे तथा भव्यात्माओं के मन कमल को विकसित करें, यही मंगल भावना है।

श्री षट्खण्डागम ग्रंथ को, इसमें उद्धृत श्री गौतम गणधर द्वारा रचित गणधरवलय मंत्रों को, श्री धरसेनाचार्य की कृपा प्रसाद से सिद्धान्तज्ञान को प्राप्त करके षट्खण्डागम के सूत्र रचने वाले श्री पुष्पदंत-भूतबली आचार्यद्वय को तथा धवला टीका के रचयिता श्री वीरसेनाचार्य को मैं कोटिशः नमन करती हूँ। परम्परागत सभी आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठियों को मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक प्रणमन करती हूँ।

वर्तमानकाल में श्री कुन्दकुन्दाम्नाय के सरस्वती गच्छ बलात्कारगण में बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर मुनीन्द्र हुए हैं और उनके प्रथम शिष्य एवं प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर गुरुवर्य

ज्ञानमतीदीक्षागुरुः^१ सदैव जयतु। आभ्यां गुरुभ्यां मम सिद्धश्रुताचार्यभक्तिपूर्वकं कृतिकर्मविधिना शतशो नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु।

चारित्रचक्रवर्ति-श्रीशांतिसागराचार्यशिष्यपरम्परायां आचार्यदेशभूषणमुनीन्द्रोऽभवत्। तस्य करकमलाभ्यां वीराब्दे एकोनाशीत्यधिकचतुर्विंशतिशततमे चैत्रकृष्णाप्रतिपत्तिथौ मया क्षुल्लिकादीक्षा प्राप्ता। तस्य गुरोरपि कीर्ति-दिग्दिगन्तव्यापिनी भूयात्।

वीराब्दे षष्ठ्यधिकचतुर्विंशतिशततमे शरत्पूर्णिमायां यस्याः मोहिनीमातुः जन्म गृहीत्वाहं स्वजन्म-संयमनिधिना सफलमकार्षम्। पुनश्च सा जननी अपि वीराब्देऽष्टनवत्यधिकचतुर्विंशतिशततमे^२ मार्गशीर्ष-कृष्णातृतीयायां आर्थिकादीक्षां गृहीत्वा रत्नमती आर्थिकाभवत्। तस्याः कीर्तिपताका पृथिवीतले चिरं स्थेयात्।

मम संघस्थ-प्रज्ञाश्रमणी-आर्थिकाचन्दनामती-जम्बूद्वीपपीठाधीश-क्षुल्लकमोतीसागर-कर्मयोगी ब्रह्मचारि-रवीन्द्रकुमार जैन (जम्बूद्वीप अध्यक्ष)-ब्रह्मचारिणी कुमारी बीना-कु.आस्था-कु.सारिका-चन्द्रिका-इन्दु-अलका-प्रीति-स्वाति-इत्यादि संघस्थव्रतिगणानामनुकूलत्वमपि मम टीकालेखनकार्ये निमित्तमस्ति।

दिल्ली-अन्तर्गत-प्रीतविहारकालोनी मध्ये श्रीअनिलकुमारजैन (कागजी) श्रावकेण स्वगृहस्य प्रांगणे कमलमंदिरं निर्माप्य पंचविंशतिइंचप्रमाणा-श्रीऋषभदेवजिनप्रतिमां प्रतिष्ठाप्य स्थापिता। पुनः अयं गुरुभक्त्या ससंघं मम स्वप्रासादं निवासार्थं प्रदाय वर्षायोगं कारयित्वा स्वयमन्यत्र लघुगृहं गत्वा न्यवसत्। अयमेक इतिहासोऽभवत्। तस्मै तस्य परिवारजनेभ्यश्च मम शुभाशीर्वादोऽस्ति। अत्र मानसरोवरयात्रादिकार्येषु ये

मुझ आर्थिका ज्ञानमती के दीक्षा गुरु हैं। ये सदैव जयशील होवे।

चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर आचार्य की शिष्य परम्परा में आचार्य श्री देशभूषण जी मुनिराज हुए। उनके करकमलों से वीर निर्वाण संवत् चौबीस सौ उन्यासी (सन् १९५३) में चैत्र कृष्णा प्रतिपदा तिथि के दिन मैंने क्षुल्लिका दीक्षा प्राप्त की। उन गुरुदेव की भी कीर्ति दिग्दिगन्तव्यापी होवे।

वीर निर्वाण संवत् चौबीस सौ साठ (सन् १९३४) में शरत्पूर्णिमा को जिन माता मोहिनी से जन्म लेकर मैंने संयम निधि प्राप्त करके अपने जन्म को सफल किया है। पुनः वह माता भी वीर निर्वाण संवत् चौबीस सौ अठानवे (सन् १९७१) में मगसिर कृष्णा तृतीया को आचार्य श्री धर्मसागर महाराज के करकमलों से आर्थिका दीक्षा ग्रहण कर रत्नमती आर्थिका हुई। उन माता रत्नमती जी की कीर्तिपताका पृथ्वीतल पर चिरकाल तक स्थिर रहे।

मेरी शिष्या संघस्थ प्रज्ञाश्रमणी आर्थिका चंदनामती, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर, जम्बूद्वीप के अध्यक्ष कर्मयोगी ब्रह्मचारी रवीन्द्र कुमार जैन, ब्रह्मचारिणी कुमारी बीना, कु. आस्था, कु. सारिका, कु. चन्द्रिका, कु. इन्दू, कु. अलका, कु. प्रीति, कु. स्वाति इत्यादि संघस्थ व्रतीजनों की अनुकूलता भी मेरे टीका लेखनकार्य में निमित्त है।

दिल्ली के अन्तर्गत प्रीतविहार कालोनी में श्री अनिल कुमार जैन (कागजी) श्रावक ने अपने घर के प्रांगण (लॉन) में कमल मंदिर का निर्माण करके उसमें पच्चीस इंच प्रमाण अष्टधातु निर्मित श्री ऋषभदेव जिनप्रतिमा की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करके विराजमान किया। पुनः इस गुरुभक्त श्रावक ने ससंघ मुझे अपने मकान में निवास कराकर वहीं वर्षायोग स्थापना कराकर स्वयं अन्यत्र छोटे घर (फ्लैट) में जाकर निवास

१. वैशाख कृ. द्वितीया, वीर निर्वाण संवत् २४८२, ईसवी सन् १९५६ में आर्थिका दीक्षा हुई। २. सन् १९५३।

३. २२ अक्टूबर सन् १९३४।

जैनभाक्तिकाः कार्यकर्तारो दातारश्च महत्-पुण्यशालिनोऽभवन्, सर्वेभ्यः मम मंगलाशीर्वादोऽस्ति। ते नित्यमेव धर्मानुरागिणो भवेयुरिति भाव्यते।

तीर्थवृक्चक्रभृत्काम-देव त्रिपदधारिणः।
 शान्तिकुन्ध्वरतीर्थेशा, भवद्भ्योऽनन्तशो नमः॥१॥
 जिनबिम्बानि वन्देऽहं, कमलाकारमंदिरे।
 स्थेयात् ग्रन्थोऽपि तावद्धि, यावत् जैनेन्द्रशासनम्॥२॥
 गणिनीज्ञानमत्येयं, कृता टीका चिरं भुवि।
 नद्याद् भव्याय दद्याच्च, सम्यग्ज्ञानमतिं श्रियम्॥३॥

इति प्रशस्तिः

॥वर्धतां जिनशासनम् ॥

किया। यह एक इतिहास बन गया। उन अनिल कुमार जैन के लिए तथा उनके परिवार जनों के लिए मेरा शुभाशीर्वाद है। यहाँ मानसरोवर यात्रा आदि कार्यों में जो महान् पुण्यशाली जैन भक्तगण, कार्यकर्तागण और दानदाताजन थे उन सभी के लिए मेरा मंगल आशीर्वाद है। वे सदैव धर्म के प्रति अनुरागी बने रहें, यही मेरी भावना है।

श्लोकार्थ—तीर्थकर, चक्रवर्ती और कामदेव इन तीन पदों के धारी जो श्री शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ तीर्थकर हैं, उन आप तीनों तीर्थकर भगवन्तों के लिए अनन्तबार मेरा नमस्कार है॥१॥

कमलाकार मंदिर—कमल मंदिर में विराजमान समस्त जिनबिम्बों की मैं वंदना करती हूँ। जब तक जिनेन्द्र भगवान का शासन रहे, तब तक यह ग्रंथ भी अवस्थित रहे, ऐसी भगवान से मंगल प्रार्थना है॥२॥

मुझ गणिनी ज्ञानमती आर्थिका द्वारा रचित यह षट्खण्डागम की सिद्धान्तचिंतामणिटीका इस पृथ्वी तल पर समस्त भव्यात्माओं के लिए ज्ञानानंद प्रदान करने वाली हो तथा समीचीन ज्ञानरूपी लक्ष्मी को प्रदान करे, यही भावना है॥३॥

इति प्रशस्तिः

॥ जिनशासन सदैव वृद्धिगंत होवे॥



नवम ग्रंथ की हिन्दी टीकाकर्त्री की प्रशस्ति

-प्रज्ञाश्रमणी आर्थिका चन्दनामती

—शंभु छंद—

श्री शांतिकुंथुअर तीर्थकर के चरण कमल में नमन करूँ।
नवनिधियों की प्राप्ति हेतू इनके गुण को स्मरण करूँ॥
तीनों की पावन जन्मभूमि हस्तिनापुरी को वन्दन है।
चउ चउ कल्याणक से पवित्र उस तीरथ की रज चन्दन है॥१॥

इस तीर्थक्षेत्र पर जम्बूद्वीप नाम का सुन्दर परिसर है।
जहाँ तेरहद्वीप व तीनलोक रचनाएँ भी अति सुंदर हैं।
इतिहास और भूगोल जहाँ साकार धरा पर दिखता है।
जहाँ त्रय तीर्थकर प्रतिमा के सम्मुख हर मानव झुकता है॥२॥

यह पावन अतिशय क्षेत्र धरा का स्वर्ग आज कहलाता है।
इस जम्बूद्वीप तीर्थ से हस्तिनापुर पहचाना जाता है॥
श्री गणिनीप्रमुख ज्ञानमति माताजी की मिली प्रेरणा है।
सर्वोच्च सर्वप्राचीन आर्थिकारूप में जिनकी महिमा है॥३॥

बीसवीं सदी के प्रथम सूरि शान्तीसागर मुनिराज हुए।
उन प्रथम शिष्य श्री वीरसिंधु मुनि प्रथम हि पट्टाचार्य हुए॥
श्री वीरसागराचार्य की शिष्या गणिनी माता ज्ञानमती।
इनकी शिष्या प्रज्ञाश्रमणी आर्थिका हूँ मैं चंदनामती॥४॥

षट्खण्डागम के नवम ग्रंथ का हिन्दी में अनुवाद किया।
सिद्धान्तसुचिंतामणि टीका का संस्कृत में स्वाध्याय किया॥
पच्चिस सौ सैंतिस वीर संवत् वैशाख कृष्ण दुतिया तिथि में।
हिन्दी टीका परिपूर्ण किया गुरुचरण बैठकरके मैंने॥५॥

श्री ज्ञानमती माताजी का छप्पनवाँ दीक्षा दिवस आज।
आर्थिका बनीं सन् उन्निस सौ छप्पन में वह ही दिवस आज॥
उन्निस दिनाँक अप्रैल माह सन् दो हजार ग्यारह में है।
शुभ दीक्षा दिन का समारोह आयोजित जम्बूद्वीप में है॥६॥

हिन्दी अनुवाद पूर्ण करके मुझ मन में अति आल्हाद हुआ।
श्रुतज्ञान दिवस के रूप में यह दुतिया तिथि मैंने याद किया॥
दो सहस सात ईसवी सन् में श्री ज्ञानमती माताजी ने।
सोलह ग्रंथों युत षट्खण्डागम पूर्ण किया था इस तिथि में॥७॥

यह दीक्षातिथि श्रुतज्ञान तिथी बन गई तभी से सार्थक है।
 श्रुतपंचमि तिथि की तरह इसे भी मानो सदा सुखास्पद है॥
 जिस^१ माँ ने इनको जन्म दिया उनको मैं वंदन करती हूँ।
 जिस^२ गुरु से जीवन धन्य हुआ, उनको शत वन्दन करती हूँ॥८॥

मैंने अब तक षट्खण्डागम के सात^३ ग्रंथ अनुवाद किये।
 आगे भी है चल रहा कार्य मन में गुरु आशिर्वाद लिये॥
 है यही प्रार्थना जिनवर से निर्विघ्न कार्य की पूर्ती हो।
 “चन्दनामती” इस ज्ञानार्जन से आत्मज्ञान संपूर्ती हो॥९॥



१. माँ मोहिनी जो आर्यिका श्री रत्नमती माताजी बनी थीं, वे पूज्य ज्ञानमती माताजी की एवं मेरी भी जन्मदात्री माँ हैं।
 २. ज्ञानमती माताजी के दीक्षागुरु आचार्य श्री वीरसागर महाराज।
 ३. १-२-३-४-५-७-९ इन सात ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद किया है।

षट्खण्डागम पुस्तक-9—संस्कृत टीका लेखन की तिथि, स्थान एवं दिनांक

क्र.	तिथि	वीर संवत्	ग्राम (स्थान)	दिनांक
प्रारंभ—				
1.	शरदपूर्णिमा	2525	कनॉट प्लेस, नई दिल्ली (अग्रवाल दि. जैन मंदिर)	24-10-1999 (प्रातः 8.15, गुरुवार)
2.	कार्तिक कृ. 6	2525	कनॉट प्लेस, नई दिल्ली	29-10-1999
3.	कार्तिक कृ. 7	2525	कनॉट प्लेस दिल्ली	30-10-1999
4.	कार्तिक कृ. 9	2525	महेन्द्रप्रसाद जी की कोठी, दिल्ली	1-11-1999
5.	कार्तिक कृ. 10	2525	दिल्ली	2-11-1999
6.	कार्तिक शु. 1	2526	कनॉट प्लेस, दिल्ली	9-10-1999
7.	मगसिर शु. 11	2526	कम्मो जी की धर्मशाला-दिल्ली	19-12-1999
8.	पौष कृ. 1	2526	कम्मो जी की धर्मशाला-दिल्ली	23-12-1999
9.	पौष कृ. 3	2526	दिल्ली	25-12-1999
10.	पौष कृ. 4-5	2526	दिल्ली	26-12-1999
11.	पौष कृ. 9	2526	दिल्ली	30-12-1999
12.	पौष कृ. 10	2526	दिल्ली	1-1-2000
13.	पौष कृ. 11	2526	दिल्ली	2-1-2000
14.	पौष कृ. 12	2526	दिल्ली	3-1-2000
15.	पौष कृ. 13	2526	दिल्ली	4-1-2000
16.	पौष शु. 2	2526	दिल्ली	8-1-2000
17.	पौष शु. 5	2526	दिल्ली	11-1-2000
18.	पौष शु. 6	2526	दिल्ली	12-1-2000
19.	पौष शु. 11	2526	दिल्ली	17-1-2000
20.	पौष शु. 12	2526	दिल्ली	18-1-2000
21.	पौष शु. 13	2526	दिल्ली	19-1-2000
22.	माघ कृ. 7	2526	दिल्ली	27-1-2000
23.	माघ शु. 3	2526	दिल्ली-ऋषभदेव पंडाल में	8-2-2000
24.	फाल्गुन कृ. 3	2526	कम्मो जी की धर्मशाला, दिल्ली	22-2-2000
25.	फाल्गुन कृ. 4	2526	कम्मो जी की धर्मशाला, दिल्ली	23-2-2000
26.	फाल्गुन कृ. 5	2526	कम्मो जी की धर्मशाला, दिल्ली	25-2-2000
27.	फाल्गुन कृ. 7	2526	कम्मो जी की धर्मशाला, दिल्ली	26-2-2000
28.	फाल्गुन कृ. 9	2526	कम्मो जी की धर्मशाला, दिल्ली	28-2-2000

क्र.	तिथि	वीर संवत्	ग्राम (स्थान)	दिनांक
29.	फाल्गुन कृ. 10	2526	कम्मो जी की धर्मशाला, दिल्ली	29-2-2000
30.	फाल्गुन कृ. 11	2526	कम्मो जी की धर्मशाला, दिल्ली	1-3-2000
31.	फाल्गुन कृ. 13	2526	जयसिंगपुरा, दिल्ली	3-3-2000
32.	फाल्गुन शु. 1	2526	दिल्ली	7-3-2000
33.	फाल्गुन शु. 4	2526	कनॉट प्लेस, दिल्ली	9-3-2000
34.	फाल्गुन शु. 5	2526	कनॉट प्लेस, दिल्ली	10-3-2000
35.	फाल्गुन शु. 6	2626	कनॉट प्लेस, दिल्ली	11-3-2000
36.	चैत्र कृ. 2	2526	कनॉट प्लेस, दिल्ली	21-3-2000
37.	चैत्र कृ. 3	2526	कनॉट प्लेस, दिल्ली	22-3-2000
38.	चैत्र कृ. 9	2526	कनॉट प्लेस, दिल्ली	29-3-2000
39.	चैत्र कृ. 12	2526	प्रीतविहार, दिल्ली	1-4-2000
40.	चैत्र कृ. 13	2526	ऋषभविहार, दिल्ली	2-4-2000
41.	चैत्र शु. 1	2526	ऋषभांचल (उ.प्र.)	5-4-2000
42.	चैत्र शु. 2	2526	मोदीनगर	6-4-2000
43.	चैत्र शु. 3	2526	परतापुर	7-4-2000
44.	चैत्र शु. 4	2526	शांतिनगर, मेरठ	8-4-2000
45.	चैत्र शु. 5	2526	मेरठ (ढोलकी मोहल्ला)	9-4-2000
46.	चैत्र शु. 6	2526	डिफेंस कालोनी, मेरठ (मनोज जैन की कोठी)	10-4-2000
47.	वैशाख कृ. 2	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	21-4-2000
48.	वैशाख कृ. 6	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	25-4-2000
49.	वैशाख कृ. 7	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	26-4-2000
50.	वैशाख कृ. 9	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	28-4-2000
51.	वैशाख कृ. 10	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	29-4-2000
52.	वैशाख कृ. 12	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	1-5-2000
53.	वैशाख कृ. 13	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	2-5-2000
54.	वैशाख शु. 2	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	5-5-2000
55.	वैशाख शु. 3	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	6-5-2000
56.	वैशाख शु. 4	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	7-5-2000
57.	वैशाख शु. 5	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	8-5-2000
58.	वैशाख शु. 6	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	9-5-2000

क्र.	तिथि	वीर संवत्	ग्राम (स्थान)	दिनांक
59.	वैशाख शु. 7	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	10-5-2000
60.	वैशाख शु. 9	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	12-5-2000
61.	वैशाख शु. 10	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	13-5-2000
62.	ज्येष्ठ कृ. 9	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	27-5-2000
63.	ज्येष्ठ शु. 5	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	6-6-2000
64.	ज्येष्ठ शु. 6	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	7-6-2000
65.	ज्येष्ठ शु. 7	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	8-6-2000
66.	ज्येष्ठ शु. 9	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	10-6-2000
67.	ज्येष्ठ शु. 12	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	13-6-2000
68.	आषाढ कृ. 1	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	17-6-2000
69.	आषाढ कृ. 2	2526	हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप	18-6-2000
70.	आषाढ कृ. 3	2526	मवाना	20-6-2000
71.	आषाढ कृ. 4	2526	मसूरी	21-6-2000
72.	आषाढ कृ. 5	2526	डिफेंस कालोनी, मेरठ (मनोज जैन की कोठी)	22-6-2000
73.	आषाढ कृ. 6	2526	पल्लवपुरम्, मेरठ	23-6-2000
74.	आषाढ कृ. 7	2526	पल्लवपुरम्, मेरठ	24-6-2000
75.	आषाढ कृ. 9	2526	आनंद जैन की कोठी, मेरठ (कबाड़ी बाजार)	26-6-2000
76.	आषाढ कृ. 10	2526	शास्त्रीनगर, मेरठ	27-6-2000
77.	आषाढ कृ. 11	2526	जैन वार्डिंग, मेरठ	28-6-2000
78.	आषाढ कृ. 11	2526	प्रेमपुरी, मेरठ (अमरचंद जैन की कोठी)	28-6-2000
79.	आषाढ कृ. 13	2526	कमलानगर, मेरठ	29-6-2000
80.	आषाढ शु. 1	2526	मोदीनगर	2-7-2000
81.	आषाढ शु. 2	2526	मुरादनगर, सतलोक आश्रम	3-7-2000
82.	आषाढ शु. 3	2526	दुहाई कन्या इंटर कॉलेज	4-7-2000
83.	आषाढ शु. 5	2526	कविनगर, गाजियाबाद	5-7-2000
84.	आषाढ शु. 6	2526	घंटाघर-गाजियाबाद (अशोक जैन की कोठी)	6-7-2000
85.	आषाढ शु. 7	2526	मैगनम कागज फैक्ट्री, साहिबाबाद	7-7-2000
86.	श्रावण कृ. 1	2526	प्रीतविहार, दिल्ली (वीरशासनजयंती) (कमल मंदिर)	17-7-2000

क्र.	तिथि	वीर संवत्	ग्राम (स्थान)	दिनांक
87.	श्रावण कृ. 2	2526	प्रीतविहार मंदिर, दिल्ली	18-7-2000
88.	श्रावण कृ. 3	2526	प्रीतविहार मंदिर, दिल्ली	19-7-2000
89.	श्रावण कृ. 4	2526	प्रीतविहार मंदिर, दिल्ली	20-7-2000
90.	श्रावण कृ. 5	2526	प्रीतविहार मंदिर, दिल्ली	21-7-2000
91.	श्रावण कृ. 6	2526	प्रीतविहार मंदिर, दिल्ली	22-7-2000
92.	श्रावण कृ. 7	2526	प्रीतविहार मंदिर, दिल्ली	23-7-2000
93.	श्रावण कृ. 12	2526	प्रीतविहार मंदिर, दिल्ली	28-7-2000
94.	श्रावण कृ. 13	2526	प्रीतविहार मंदिर, दिल्ली	29-7-2000
95.	आश्विन शु. 3	2526	प्रीतविहार, दिल्ली (मानसरोवर यात्रा स्थल)	30-9-2000
96.	आश्विन शु. 13	2526	प्रीतविहार ऋषभदेव कमल मंदिर दिल्ली	11-10-2000
समापन—				
97.	आश्विन शु. 15	2526	प्रीतविहार ऋषभदेव कमल मंदिर दिल्ली (अनिल जी की कोठी)	13-10-2000 (प्रातः 9.15 बजे)



चतुर्थ-वेदनाखण्डस्य सूत्राणि

सूत्र सं.	सूत्र	पृष्ठ सं.
-----------	-------	-----------

वेदनानामधेयः चतुर्थखण्डः

अन्तर्गतं

कृति-अनुयोगद्वारम्

(चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारेषु प्रथमानुयोगद्वारस्य मंगलाचरणम्)

नवमो ग्रन्थः

गणधरवलयमंत्रसमन्वितः मंगलाचरणनाम

प्रथमो महाधिकारः

१.	णमो जिणाणं।	११
२.	णमो ओहिजिणाणं।	२१
३.	णमो परमोहिजिणाणं।	२३
४.	णमो सव्वोहिजिणाणं।	२४
५.	णमो अणंतोहिजिणाणं।	२६
६.	णमो कोट्टबुद्धीणं।	२७
७.	णमो बीजबुद्धीणं।	२९
८.	णमो पदाणुसारीणं।	३३
९.	णमो संभिण्णसोदाराणं।	३५
१०.	णमो उजुमदीणं।	३७
११.	णमो विउलमदीणं।	३९
१२.	णमो दसपुव्वियाणं।	४१
१३.	णमो चोद्दसपुव्वियाणं।	४२
१४.	णमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाणं।	४४
१५.	णमो विउव्वणपत्ताणं।	४७
१६.	णमो विज्जाहराणं।	४९
१७.	णमो चारणाणं।	५०
१८.	णमो पण्णसमणाणं।	५३
१९.	णमो आगासगामीणं।	५६
२०.	णमो आसीविसाणं।	५७
२१.	णमो दिट्ठिविसाणं।	५९
२२.	णमो उग्गतवाणं।	६०
२३.	णमो दित्ततवाणं।	६३
२४.	णमो तत्ततवाणं।	६४

सूत्र सं.	सूत्र	पृष्ठ सं.
२५.	णमो महातवाणं।	६५
२६.	णमो घोरतवाणं।	६६
२७.	णमो घोरपरक्कमाणं।	६७
२८.	णमोघोरगुणाणं।	६८
२९.	णमोऽघोरगुणबंभचारीणं।	६९
३०.	णमो आमोसहिपत्ताणं।	७१
३१.	णमो खेलोसहिपत्ताणं।	७३
३२.	णमो जल्लोसहिपत्ताणं।	७४
३३.	णमो विट्ठोसहिपत्ताणं।	७४
३४.	णमो सव्वोसहिपत्ताणं।	७६
३५.	णमो मणबलीणं।	७९
३६.	णमो वचिबलीणं।	८०
३७.	णमो कायबलीणं।	८१
३८.	णमो खीरसवीणं।	८७
३९.	णमो सप्पिसवीणं।	८९
४०.	णमो महुसवीणं।	८९
४१.	णमो अमडसवीणं।	९०
४२.	णमो अक्खीणमहाणसाणं।	९१
४३.	णमो लोए सव्वसिद्धायदणाणं।	९३
४४.	णमो वद्धमाणबुद्धरिसिस्स।	९५

अथ कृति-अनुयोगद्वारम्

(चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारेषु प्रथमानुयोगद्वारम्)

द्वितीयो महाधिकारः

४५.	अग्गेणियस्स पुव्वस्स पंचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयडी णाम।	१३५
४६.	कदि ति सत्तविहा कदी — णामकदी ठवणकदी दव्वकदी गणणकदी गंधकदी करणकदी भावकदी चेति।	१८४
४७.	कदिणयविभासणदाए को णओ काओ कदीओ इच्छदि ?।	१८५
४८.	णइगम-ववहार-संगहा सव्वाओ।	१८८
४९.	उजुसुदो टुवणकदिं गेच्छदि।	१९०
५०.	सद्दादओ णामकदिं भावकदिं च इच्छंति।	१९२
५१.	जा सा णामकदी णाम सा जीवस्स वा, अजीवस्स वा, जीवाणं वा, अजीवाणं वा, जीवस्स च अजीवस्स च, जीवस्स च अजीवाणं च, जीवाणं च अजीवस्स च, जीवाणं च अजीवाणं च।	१९३

सूत्र सं.	सूत्र	पृष्ठ सं.
५२.	जा सा ठवणकदी णाम सा कट्टकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा पोत्तकम्मेसु वा लेप्पकम्मेसु वा लेण्णकम्मेसु वा सेलकम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा दंतकम्मेसु वा भेंडकम्मेसु वा अक्खो वा वराडओ वा जे चामण्णे एवमादिया ठवणाए ठविज्जंति कदि त्ति सा सव्वा ठवणकदी णाम।	१९४
५३.	जा सा दव्वकदी णाम सा दुविहा आगमदो दव्वकदी चेव णोआगमदो चेव।	१९७
५४.	जा सा आगमदो दव्वकदी णाम तिस्से इमे अट्ठाहियारा भवंति—ट्टिदं जिदं परिजिदं वायणोपगदं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं णामसमं घोससमं। एवं णव अहियारा आगमस्स होंति।	१९७
५५.	जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्ठणा वा अणुपेक्खणा वा थय-थुदि-धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया।	२१३
५६.	णेगम-ववहारणमेगो अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी अणेया वा अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी।	२१४
५७.	संगहणयस्स एयो वा अणेया वा अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी।	२१५
५८.	उजुसुदस्स एओ अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी।	२१५
५९.	सदणयस्स अवत्तव्वं।	२१६
६०.	सा सव्वा आगमदो दव्वकदी णाम।	२१६
६१.	जा सा णोआगमदो दव्वकदी णाम सा तिविहा—जाणुगसरीरदव्वकदी भवियदव्वकदी जाणुगसरीर-भवियवदिरित्तदव्वकदी चेदि।	२१७
६२.	जा सा जाणुगसरीरदव्वकदी णाम तिस्से इमे अत्थाहियारा भवंति ट्टिदं जिदं परिजिदं वायणोवगदं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं णामसमं घोससमं।	२१८
६३.	तस्स कदिपाहुडजाणयस्स चुद-चइद-चत्तेहस्स इमं सरीरमिदि सा सव्वा जाणुगसरीरदव्वकदी णाम।	२१९
६४.	जा सा भवियदव्वकदी णाम—जे इमे कदि त्ति अणिओगद्वारा भविओवकरणदाए जो ट्टिदो जीवो ण ताव तं करेदि सा सव्वा भवियदव्वकदी णाम।	२२१
६५.	जा सा जाणुगसरीर-भवियवदिरित्तदव्वकदी णाम सा अणेयविहा। तं जहा-गंधिम-वाइम-वेदिम-पूरिम-संघादिम-अहोदिम-णिक्खोदिम-ओवेल्लिम-उव्वेल्लिम-वण्ण-चुण्ण-गंधविलेवणादीणि जे चामण्णे एवमादिया सा सव्वा जाणुगसरीर-भवियवदिरित्तदव्वकदी णाम।	२२३
६६.	जा सा गणणकदी णाम सा अणेयविहा। तं जहा—एओ णोकदी, दुवे अवत्तव्वा कदि त्ति वा णोकदि त्ति वा, तिप्पहुडि जाव संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा कदी, सा सव्वा गणणकदी णाम।	२२४
६७.	जा सा गंधकदी णाम सा लोए वेदे समए सदपबंधणा अक्खरकव्वादीणं जा च गंधरचणा कीरदे सा सव्वा गंधकदी णाम।	२३४
६८.	जा सा करणकदी णाम सा दुविहा मूलकरणकदी चेव उत्तरकदी चेव। जा सा मूलकरणकदी णाम सा पंचविहा—ओरालियमूलकरणकदी वेउव्वियसरीरमूलकरणकदी आहारसरीर-मूलकरणकदी तेया सरीरमूल-करणकदी कम्मइयसरीरमूलकरणकदी चेदि।	२३६
६९.	जा सा ओरालिय-वेउव्विय-आहारसरीरमूलकरणकदी णाम सा तिविहा-संघादणकदी परिसादणकदी संघादण-परिसादणकदी चेदि। सा सव्वा ओरालिय-वेउव्विय-आहारसरीरमूलकरणकदी णाम।	२३७

सूत्र सं.	सूत्र	पृष्ठ सं.
७०.	जा सा तेजा कम्मइयसरीरमूलकरणकदी णाम सा दुविहा-परिसादणकदी संघादण-परिसादणकदी चेदि। सा सव्वा तेजा-कम्मइयसरीरमूलकरणकदी णाम।	२३९
७१.	एदेहि सुत्तेहि तेरसण्हं मूलकरणकदीणं संतपरूवणा कदा।	२३९
७२.	जा सा उत्तरकरणकदी णाम सा अणेयविहा। तं जहा—असिवासि-परसु-कुडारि-चक्क-दंड-वेम-णालिया-सलाग-मट्टियसुत्तोदयादीणमुवसंपदसण्णिज्झे।	२६१
७३.	जे चामण्णे एवमादिया सा सव्वा उत्तरकरणकदी णाम।	२६२
७४.	जा सा भावकदी णाम सा उवजुत्तो पाहुडजाणगो।	२६२
७५.	सा सव्वा भावकदी णाम।	२६३
७६.	एदासिं कदीणं काए कदीए पयदं ? गणणकदीए पयदं।	२६४

नवमग्रन्थे सूत्रसंख्या: — ७६

